रामशरण जोशी

कठघरे में

कठघरे में

कठघरे में

रामशरण जोशी

सारांश

प्रयोगधर्मी पत्रकारों की छाँह
माया शर्मा
को
सादर

आभार

रा. श. जोशी : *साक्षात्कारों को पुस्तक की शक्ल देने का श्रेय किसे देना चाहेंगे?*

लेखक : अरविन्द जैन को। वह पेशे से वकील है, लेकिन साहित्यकारों-पत्रकारों की दुनिया में ताक-झाँक करना उसकी आदत है। रद्दी के नसीब से बँधे ये साक्षात्कार उसकी नज़र से बच न सके। उसने उकसा दिया, मैंने कार्रवाई शुरू कर दी और मोहनजी ने दबोच लिया। अरविन्द-मोहन कारस्तानी का नतीजा आपके हाथों में है। वैसे अपनों के प्रति आभार व्यक्त करना, दूसरे शब्दों में खाली खानों को भरना है। तो भी · · ·

रा. श. जोशी : *उन पात्रों को कैसे भुला सकते हैं जिन्हें आपने साक्षात्कारों के लिए चुना है ?*

लेखक : ठीक मौके पर याद दिलाया। मैं इन साक्षात्कारों के लिए डॉ. शंकरदयाल शर्मा, श्रीपाद अमृत डाँगे, चौ. देवीलाल, चन्द्रशेखर, राजीव गाँधी, अर्जुन सिंह, प्रणव मुखर्जी, वी. सी. शुक्ल, सुन्दरलाल पटवा, शरद यादव, गोविंदाचार्य, संत भिंडराँवाले, न्यायाधीश पी. एन. भगवती, कृष्णा अय्यर, डा. ब्रह्मदेव शर्मा, श्रीलता स्वामीनाथन, आर. के. करंजिया, विष्णु प्रभाकर, डा. देवेन्द्र कौशिक आदि के प्रति आभारी हूँ। इन्होंने बेहिचक समय देकर साक्षात्कारों को साकार किया है।

रा. श. जोशी : *पत्र-पत्रिकाएँ अगर माध्यम न बनतीं, तो क्या ये साक्षात्कार और रिपोर्ताज पाठकों तक पहुँच सकते थे ?*

लेखक : कतई नहीं। इसके लिए मैं *दिनमान, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दुनिया, नई दुनिया विशेषांक* और *नवभारत टाइम्स* के प्रति आभारी हूँ; और अन्त में, अपने दोनों सहयोगियों–आनन्द दत्त एवं भगवानदास के प्रति भी।

विषय-क्रम

प्रस्तावना

साक्षात्कार लेना मेरे लिए हमेशा एक रोमांचक अनुभव रहा है। जहाँ तक मुझे याद है, सक्रिय पत्रकारिता में कूदने के पश्चात मेरी पहली मुठभेड़ तत्कालीन युवा तुर्कनेता चंद्रशेखर से हुई थी। इसके पश्चात मुठभेड़ों का सिलसिला चल पड़ा। एस.एम. जोशी, मोरारजी देसाई, कृष्णकांत, मोहन धारिया, चंद्रजीत यादव, गायत्री देवी, तारकेश्वरी सिन्हा, इंद्रकुमार गुजराल जैसे अनेक नाम मुठभेड़ों की फेहरिस्त में जुड़ते रहे। यह वक़्त था 1969-71 का, जब भारतीय राजनीति में उथल-पुथल मची हुई थी। कांग्रेस के विभाजन का दौर था। बैंक-राष्ट्रीयकरण, पूर्वनरेशों के प्रिवीपर्सों की समाप्ति, गरीबी हटाओ जैसे नारों ने इंदिरा गाँधी को आसमान में उछाल रखा था।

ऐसे थ्रिल भरे वातावरण में मुठभेड़ यानी साक्षात्कार एक प्रभावशाली हथियार सिद्ध होता है, पत्रकार के लिए। तब से लेकर अब तक जब भी मुझे मौका मिला, मैंने इस हथियार का इस्तेमाल किया। लेकिन, इसे मैंने सिर्फ राजनीतिज्ञों तक ही सीमित नहीं रखा, दूसरे क्षेत्रों की विभूतियों के भी साक्षात्कार लिये। इस संबंध में एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगा। *दिनमान* के तत्कालीन संपादक स्व. रघुवीर सहाय ने एक चुनौतीपूर्ण 'एसाइनमेंट' मुझे दिया। मुझसे कहा गया था कि मैं रोगग्रस्त शंभु महाराज का साक्षात्कार लूँ। वे तब ऑल इंडिया मैडीकल इंस्टीट्यूट में इलाज करा रहे थे। वे देश के प्रसिद्ध नर्तक थे और मेरे लिए यह क्षेत्र बिल्कुल अजनबी था। खैर ! संपादक ने मेरी उलझन को भाँपकर मुझे कुछ गुर बतलाए; इसके बाद शंभु महाराज का साक्षात्कार लिया गया। ऐसे और भी कई अवसर आए जब मैंने गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में घुसपैठ करके साक्षात्कार लिए। वैसे भी मैं साक्षात्कार-विधा को राजनीति तक सीमित रखने के खिलाफ

हूँ। साक्षात्कार का एक व्यापक फलक है; राजनीति उसका एक महत्वपूर्ण कोना अवश्य है, लेकिन वह सर्वस्व नहीं है। चूँकि राजनीतिज्ञों का सीधा संबंध सत्ता से रहता है, इसलिए उनके साथ होनेवाली मुठभेड़ें मीडिया की सबसे प्रिय 'कॅमोडिटी' जरूर बन जाती हैं। शायद यही वजह है कि औसत पत्रकार नेताओं के साक्षात्कार के लिए हमेशा प्रयासरत रहता है। इसका नतीजा यह निकलता है कि वह साक्षात्कार-जगत के अन्य पक्षों से वंचित रह जाता है; वह नेताओं के प्रश्न-उत्तर में स्वयं को क़ैद कर डालता है। फलतः उसकी साक्षात्कार के क्षेत्र में प्रयोगधर्मिता बुरी तरह से प्रभावित हो जाती है। यह अस्वस्थता की निशानी है।

वास्तव में, आज साक्षात्कार-विधा को राजनीतिज्ञों तक ही सीमित करके नहीं रखा जा सकता। जनसंचार एवं सूचनाओं के विस्फोट ने साक्षात्कार के क्षेत्र में भी क्रांति ला दी है; इसमें भी कई तरह के प्रयोग किये जा रहे हैं; प्रश्न-उत्तर के ढर्रे से इसे बाहर निकाला जा रहा है, इसमें नए-नए आयाम जुड़ रहे हैं। समाजशास्त्रीय क्षेत्रों में तो साक्षात्कार एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में विकसित हो चुका है। एक समाजशास्त्री या नृतत्वशास्त्री के लिए जरूरी है कि वह क्षेत्र में उतरने से पहले इंटरव्यू की टैकनीक का ठीक तरह से अध्ययन कर ले। बाज़ार-सर्वेक्षकों के लिए तो इस विधा में पारंगत होना नितांत आवश्यक है। विस्तार में जाने से पहले, सुविधा की दृष्टि से, साक्षात्कार-जगत को मोटे रूप से निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

क : पत्रकारिता एवं साहित्यिक साक्षात्कार।
ख : गैर-पत्रकारिता एवं समाजशास्त्रीय साक्षात्कार।

साक्षात्कार की इन उपर्युक्त श्रेणियों को मैं निजी अनुभव के आधार पर निम्न उप-श्रेणियों में विभाजित करना चाहूँगा :

क : पत्रकारिता एवं साहित्यिक साक्षात्कार

पत्रकारिता-साक्षात्कार

1. *राजनीतिक साक्षात्कार* : इस श्रेणी के अंतर्गत राजनीतिज्ञों के साक्षात्कार रखे जा सकते हैं। लेकिन राजनीतिज्ञों की भी कई श्रेणियाँ होती हैं : अतिविशिष्ट राजनीतिज्ञ, विशिष्ट राजनीतिज्ञ और सामान्य राजनीतिकर्मी। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, विदेशी अतिथि, राज्यपाल जैसे व्यक्तियों को अतिविशिष्ट व्यक्तियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनके साक्षात्कार सहज ढंग से उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। इनके साक्षात्कारों को एक घटना के रूप में देखा जाता है।

राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और राज्यपालों के साक्षात्कार तो दुर्लभ ही माने जाते हैं। ये स्वयं को राजनीतिक विवादों से दूर रखते हैं, इसलिए पत्रकारों को औपचारिक साक्षात्कार देने में अत्यंत सावधानी एवं संकोच से काम लेते है। वैसे ये गैर-राजनीतिक विषयों पर खुलकर अपने विचार व्यक्त करने से हिचकते नहीं हैं। लेकिन, सब कुछ व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करता है। साक्षात्कारों के मामले में स्व. ज्ञानी जैल सिंह को काफी उदार माना जाता था। डा. शंकरदयाल शर्मा भी औपचारिक साक्षात्कार के लिए चर्चित रहे हैं। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि पत्रकार का संबंधित अतिविशिष्ट व्यक्तियों से कैसा संबंध है। मिसाल के तौर पर, स्व. पंडित जवाहरलाल नेहरू का ब्लिट्ज के संपादक आर.के. करंजिया के साथ आत्मीय संबंध था। श्री करंजिया उनसे आमतौर पर प्रतिमास एक साक्षात्कार लिया करते थे। उक्त साक्षात्कार से भारत के प्रधानमंत्री के देश-विदेश की घटनाओं के प्रति ताज़ा दृष्टिकोण का पता चलता था। इंदिरा गाँधी ने भी कमोबेश यही परिपाटी जारी रखी। उन्होंने विदेशी पत्रकारों को भी उदारता के साथ साक्षात्कार दिए। इस दृष्टि से राजीव गाँधी ने भी संकोच नहीं बरता। संक्षेप में, महत्वपूर्ण अवसरों एवं घटनाओं पर प्रधानमंत्री के साक्षात्कार उपलब्ध हो जाते हैं।

विशिष्ट राजनीतिक व्यक्तियों में केंद्रीय मंत्रियों, विभिन्न प्रदेशों के मुख्यमंत्रियों और मंत्रियों, लोकसभा अध्यक्ष, राज्यसभा के उपसभापति, विधानसभाध्यक्षों, प्रतिपक्षी नेताओं और सत्तारूढ़ एवं विरोधी दलों के अध्यक्षों को सम्मिलित किया जा सकता है। इस श्रेणी के राजनीतिज्ञों से साक्षात्कार आमतौर पर सुलभ हो जाते हैं। लोकसभा-अध्यक्ष अवश्य सुलभ नहीं हो पाते हैं; क्योंकि उनकी भूमिका राजनीतिक प्रतिबद्धताओं से ऊपर समझी जाती है, इसलिए अध्यक्ष से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वह व्यावहारिक राजनीति से संबंधित साक्षात्कार देने में सावधानी से काम ले। सामान्यतया लोकसभा-अध्यक्ष अपने सदन के अनुभवों के संबंध में साक्षात्कार देते रहते हैं। यह मेरा निजी अनुभव भी रहा है। विधानसभाध्यक्षों की भी लगभग यही स्थिति मानी जाती है। लेकिन, लोकसभा-अध्यक्ष तथा राज्यसभा के सभापति एवं उपसभापति की तुलना में विधानसभाओं के अध्यक्ष अधिक उदार माने जाते हैं। वे साक्षात्कार देते रहते हैं, और विवादों से घिरे भी रहते हैं।

केंद्रीय मंत्रियो, मुख्यमंत्रियों और विभिन्न पार्टी-अध्यक्षों के सामने साक्षात्कार को लेकर कोई संवैधानिक या तकनीकी अड़चन नहीं रहती है, इसलिए इनके साक्षात्कार सहज ढंग से उपलब्ध हो भी जाते हैं। बल्कि, मेरा अनुभव तो यह रहा है कि इस श्रेणी के नेताओं में साक्षात्कार देने के लिए एक प्रच्छन्न व्यग्रता भी रहती है। यह सच है कि ये विशिष्ट राजनीतिज्ञ इस पहलू के प्रति सचेत

रहते हैं कि साक्षात्कार लेनेवाला पत्रकार किस स्तर का है, और किस पत्र-पत्रिका के लिए ले रहा है। यदि लेनेवाला व्यक्ति एक वरिष्ठ पत्रकार है और किसी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिका से संबद्ध है तो उसे किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा। कई दफे तो मुझे ऐसे भी अनुभव हुए हैं जब मंत्रियों ने स्वयं पहल करके अपने साक्षात्कार दिए हैं। इस संबंध में एक घटना याद आती है।

1984 में प्रधानमंत्री बनने से पहले राजीव गाँधी कांग्रेस के महासचिव हुआ करते थे और देश-विदेश के पत्रकार उनका साक्षात्कार लेने के लिए लालायित रहते थे। मैंने भी उनसे अपने अखबार के लिए साक्षात्कार देने का अनुरोध किया। लेकिन, करीब डेढ़-दो वर्ष बाद उन्होंने मेरा अनुरोध स्वीकार किया और सिर्फ पंद्रह मिनट का साक्षात्कार दिया। इस प्रतीक्षा का एक लाभ अवश्य हुआ और वह यह कि इस अवधि में वे महासचिव से भारत के प्रधानमंत्री बन चुके थे। सोवियत संघ की यात्रा से लौटते समय उन्होंने मुझे अपने केबिन में बुलाकर साक्षात्कार दिया; इत्तफाक से मैं भी इस यात्रा में उनके साथ था।

डा. शंकरदयाल शर्मा के मामले में मेरा अनुभव दूसरा ही रहा है। उन्होंने तीन-चार दिन के भीतर ही मुझे साक्षात्कार के लिए समय दे दिया। वे उस समय उपराष्ट्रपति हुआ करते थे। करीब एक घंटे तक उन्होंने जवाहरलाल नेहरू के संबंध में आत्मीयता के साथ चर्चा की। लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष बलराम जाखड़ भी वर्ष में एक बार साक्षात्कार के लिए समय दे दिया करते थे। औपचारिक एवं अनौपचारिक ढंग से वह अपने सदन के अनुभव सुनाया करते थे।

सामान्य श्रेणी के राजनीतिकर्मियों में सांसदों, विधायकों और अन्य नेताओं को रखा जा सकता है। इन लोगों के साक्षात्कार लेने में विशेष अड़चन नहीं होती है। बल्कि, ये लोग अपनी बात कहने के लिए लालायित रहते हैं। विशेष रूप से इनकी रुचि घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने में अधिक रहती है। लेकिन, कई बार ऐसा भी होता है जब चर्चित सांसदों या विधायकों का साक्षात्कार लेना कठिन हो जाता है। कई बार ऐसा भी देखा गया है जब नेता का कोई औपचारिक पद नहीं होता है, लेकिन वह अतिविशिष्ट व्यक्ति बन जाता है। ऐसे व्यक्तित्व का साक्षात्कार लेना गर्व की बात होती है, लेकिन यह काम आसान नहीं होता। ऐसी विभूतियाँ समाज और राजनीति को समान रूप से प्रभावित करती हैं। इनका साक्षात्कार लेना स्वयं में एक अनुभव है।

2. *गैर-राजनीतिक साक्षात्कार* : यह सच है कि वर्तमान पत्रकारिता पर राजनीतिक साक्षात्कार की संस्कृति छाई हुई है। इस संस्कृति पर सवार होकर पत्रकार सत्ता के गलियारे में बड़ी सुगमता से घुसपैठ कर लेता है। राष्ट्रीय राजधानी और प्रादेशिक राजधानियों में नियुक्त औसत संपादक, ब्यूरो प्रमुख,

विशेष संवाददाता और संवाददाता राजनीतिक साक्षात्कार का शिकार करने की ताक में रहते हैं। राजनीतिक साक्षात्कार का सबसे बड़ा लाभ पत्रकार को यह मिलता है कि वह कम समय में नेताओं और प्रबंधकों की निगाह में चढ़ जाता है। जनता के बीच भी वह चर्चा का केंद्र बन जाता है। विवादास्पद राजनीतिज्ञ के साक्षात्कार तो पत्रकार को पर लगा देते हैं। कुल मिलाकर राजनीतिक साक्षात्कार में ग्लैमर के तत्व निहित रहते हैं, इसलिए पत्रकार गैर-राजनीतिक साक्षात्कारों से परहेज करते हैं या इन्हें दोयम दरजे का समझते हैं।

लेकिन, ऐसे भी पत्रकार हैं जिन्हें गैर-राजनीतिक साक्षात्कारों में अधिक आनंद आता है। वे ऐसी विभूतियों के साक्षात्कार लेना पसंद करते हैं जो गैर-राजनीतिक कार्यों के प्रति समर्पित हैं। इन विभूतियों में मदर टैरेसा, बाबा आमटे, मेधा पाटकर, सुंदरलाल बहुगुणा, डा. ब्रह्मदेव शर्मा, सुब्बा राव आदि को शामिल किया जा सकता है। ऐसी विभूतियों का साक्षात्कार ग्लैमर तो नहीं देता है लेकिन एक आत्मिक संतोष अवश्य प्रदान करता है। इस तरह के साक्षात्कारों के लिए 'कमिटमेंट' की आवश्यकता होती है। जब तक पत्रकार सामाजिक मुद्दों के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, तब तक वह इनसे अच्छा साक्षात्कार नहीं ले सकता। पर्यावरण के प्रति प्रतिबद्ध पत्रकार ही पर्यावरण-नेताओं से अच्छा साक्षात्कार ले सकता है।

इस संदर्भ में मैं एक-दो नामों की चर्चा करना जरूरी समझता हूँ। भारत डोगरा, अनुपम मिश्र, प्रभाष जोशी, उषा राय जैसे कुछेक ऐसे सक्रिय पत्रकार हैं जो ग्रामीण एवं पर्यावरण की समस्याओं के प्रति प्रतिबद्ध रहते हैं। इन्होंने ऐसे ही व्यक्तियों के साक्षात्कार अधिक लिए हैं जो गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में सक्रिय हैं। मैं इस तरह के साक्षात्कारों को सार्थक पत्रकारिता की श्रेणी में रखना चाहूँगा।

वैसे गैर-राजनीतिक साक्षात्कारों का दायरा काफी व्यापक है। इसके अन्तर्गत कई विशेषीकृत साक्षात्कारों को रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, उद्योगपति, व्यापारी, शेयर-विशेषज्ञ, खिलाड़ी व खेल-विशेषज्ञ जैसे व्यक्तियों के साक्षात्कारों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इस श्रेणी के साक्षात्कारों को व्यवसायप्रधान साक्षात्कार या व्यावसायिक साक्षात्कार कहा जा सकता है।

इस श्रेणी में विभिन्न अधिकारियों को भी रखा जा सकता है। नगर निगम आयुक्त, पुलिस आयुक्त, एयरपोर्ट प्राधिकरण प्रमुख, स्वास्थ्य महानिदेशक, यातायात पुलिस प्रमुख, अनुसूचित जाति/जनजाति आयुक्त, सार्वजनिक क्षेत्रों के अध्यक्ष आदि ऐसे व्यक्ति हैं जिनके छोटे-बड़े साक्षात्कार आमतौर पर प्रकाशित होते रहते हैं। चूँकि ये विभाग जन-समस्याओं से संबंधित रहते हैं इसलिए इनके प्रमुखों को पत्रकार

घेरे रहते हैं। समय व आवश्यकता को ध्यान में रखकर इनके साक्षात्कार छपते रहते हैं।

आठवें दशक के प्रारम्भ में मैंने *धर्मयुग* के लिए देश के प्रमुख अखिल भारतीय प्रशासनिक अधिकारियों के साक्षात्कार लिए थे। वे साक्षात्कार पूरी तरह से गैर-राजनीतिक थे। साक्षात्कारों का संबंध देश में बदलते प्रशासन के स्वरूप, प्रशासकों की समस्याओं और राजनीतिक शासकों के साथ उनके रिश्तों को लेकर था। मुझे याद है, लगभग सभी वरिष्ठ अधिकारियों से उत्साहपूर्ण रेसपॉन्स मिला था। करीब एक दर्जन अधिकारियों में एक-दो ही अधिकारी ऐसे थे जिन्होंने अपने नाम को प्रकाशित करने की अनुमति नहीं दी थी। लेकिन, उन्होंने अनौपचारिक वार्ता में वर्तमान व्यवस्था के संबंध में अपने विचार खुलकर व्यक्त किये थे।

मेरा यह मत है कि व्यावसायिक साक्षात्कारों के लिए पत्रकार को संबंधित क्षेत्र का ज्ञान होना चाहिए। किसी भी वैज्ञानिक या उद्योगपति से तब तक अच्छा साक्षात्कार संभव नहीं है जब तक कि साक्षात्कार लेनेवाला व्यक्ति उनके क्षेत्र से अच्छी तरह से परिचित नहीं है।

साहित्यिक साक्षात्कार

आधुनिक पत्रकारिता में गैर-राजनीतिक एवं व्यावसायिक साक्षात्कारों का महत्व बढ़ता जा रहा है। इस दृष्टि से साहित्यिक साक्षात्कारों का विशेष स्थान है। बल्कि, पूर्व-1947 की हिन्दी पत्रकारिता में साहित्यकारों के साक्षात्कार काफी चर्चित रहे हैं। आजादी के बाद भी साहित्यिक साक्षात्कारों का महत्व कम नहीं हुआ है। विशेषरूप से पत्रकार-लेखक मनोहर श्याम जोशी के साहित्यिक साक्षात्कार तो काफी चर्चित रह चुके हैं। धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान, आलोचना, ज्ञानोदय, सारिका, पहल, हंस, कहानी, प्रतीक, साक्षात्कार, पूर्वग्रह जैसी पत्रिकाओं ने साहित्यिक साक्षात्कारों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया है।

यह सच है कि साहित्यिक साक्षात्कार मूलत: साहित्यिक पत्रिकाओं तक ही सीमित रहे हैं। चूँकि ऐसे साक्षात्कारों के पाठक मूलत: साहित्य-प्रेमी होते हैं इसलिए सामान्य वर्ग इनके प्रति आकर्षित नहीं हो पाता है; एक तरह से वह साहित्यिक साक्षात्कारों से कटा रहता है। शायद दैनिक अखबारों में ऐसे साक्षात्कारों को कम स्थान दिये जाने की यह प्रमुख वजह होगी।

पर एक सत्य यह भी है कि जब भी लोकप्रिय दैनिकों में किसी सुप्रसिद्ध साहित्यकार का कोई साक्षात्कार प्रकाशित होता है तो उसे पाठक बड़ी रुचि से पढ़ते भी हैं। अब तो दिल्ली, प्रदेश राजधानियों और संभागीय मुख्यालयों से प्रकाशित होनेवाले दैनिकों में साहित्यिक परिशिष्ट भी रहता है। कई समाचारपत्रों ने दैनिक पत्रिका

की अवधारणा को स्वीकार कर लिया है। अत: वे साहित्य, संस्कृति, मनोरंजन, खेल-कूद आदि से संबंधित साक्षात्कार प्राय: छापते रहते हैं। साहित्यकार की भी इच्छा रहती है कि किसी प्रतिष्ठित दैनिक में उसका साक्षात्कार प्रकाशित हो, जिससे कि वह पाठकों के व्यापक वर्ग तक पहुँच सके। यह सच है कि वह गहन एवं गंभीर किस्म का साक्षात्कार साहित्यिक पत्रिका को ही देना पसंद करता है, लेकिन साहित्य की राजनीति के मामले में वह दैनिकों में स्थान की तलाश करेगा।

साहित्य एवं संस्कृति के स्तम्भ इतने लोकप्रिय बनते जा रहे हैं कि कई दैनिकों ने इसे एक स्वतंत्र बीट ही घोषित कर दिया है। इसके लिए अलग से संवाददाताओं की नियुक्ति की जाती है जिससे कि वे साहित्य एवं संस्कृतिकर्मियों से अधिकार के साथ साक्षात्कार ले सकें। अंग्रेजी अखबारों में तो बहुत पहले से यह व्यवस्था है।

आज साहित्य के साथ-साथ कला-संस्कृति के क्षेत्र में भी गतिविधियों का विस्फोट हुआ है। विशेषरूप से महानगरों और बड़े नगरों में नाटकों का मंचन, नृत्य-संगीत आयोजन, कला-प्रदर्शनियाँ, साहित्य-सिनेमा गोष्ठियाँ विशिष्ट वर्गीय जीवन का एक आवश्यक अंग बनते जा रहे हैं। इसलिए कुशल संपादक का प्रयास यही रहता है कि वह अनुभवी पत्रकार से संबंधित क्षेत्रों की विभूतियों के साक्षात्कार प्राप्त करे। विख्यात साहित्यकारों, नाट्यकर्मियों, चित्रकारों, कलाकारों आदि के साक्षात्कार या उन पर आलेख उनके जन्मदिन पर प्रकाशित होते रहते हैं। अत: गैर-राजनीतिक साक्षात्कारों के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। बल्कि, पत्रकारिता व्यवसाय की दृष्टि से गैर-राजनीतिक पत्रकारिता एक विशेषीकृत क्षेत्र बन चुकी है। इसलिए इस क्षेत्र के विशेषीकृत साक्षात्कार के लिए विशेषीकृत पत्रकार ही प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं।

काल्पनिक एवं आत्मकथात्मक साक्षात्कार

क श्रेणी के साक्षात्कारों में मैं काल्पनिक एवं आत्मकथात्मक साक्षात्कारों को भी रखना चाहूँगा। वैसे ये गैर-राजनीतिक भी हो सकते हैं, और राजनीतिक भी हो सकते हैं; यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करता है।

सर्वप्रथम काल्पनिक साक्षात्कार को लिया जाए। इसे एक तरह की 'फैंटेसी' भी कहा जा सकता है। कोई भी पत्रकार या लेखक किसी राजनीतिज्ञ, साहित्यकार या किसी भी अन्य व्यक्ति का काल्पनिक साक्षात्कार लिख सकता है। होली-दीवाली या अन्य विशेष अवसरों पर इस तरह के साक्षात्कार प्रकाशित किये जाते हैं। स्वर्ग में विष्णु, शंकर, इन्द्र या नारद के काल्पनिक साक्षात्कार बहुत लिखे जा चुके हैं। लेकिन गाँधीजी, नेहरूजी, शास्त्रीजी, इंदिराजी आदि नेताओं के भी अनेक

काल्पनिक साक्षात्कार लिखे जा चुके हैं। इस तरह के साक्षात्कार व्यंग्यप्रधान होते हैं। इन काल्पनिक साक्षात्कारों के माध्यम से व्यवस्था को एक्सपोज किया जा सकता है; नेताओं की खिल्ली उड़ाई जाती है। पौराणिक पात्रों के साक्षात्कारों के माध्यम से किसी घटना विशेष पर फोकस डाला जाता है। दैनिक हिन्दुस्तान में गोपालप्रसाद व्यास के नारदजी के साक्षात्कार काफी चर्चित रह चुके हैं। उन्होंने 'नारदजी खबर लाए हैं' स्तम्भ के अन्तर्गत काल्पनिक साक्षात्कारों के माध्यम से समसामयिक घटनाओं पर तीखा व्यंग्य किया है। रमेश बख्शी के संपादन में वर्षों तक प्रकाशित हिन्दी की शंकर्स वीकली में भी ऐसे साक्षात्कार छपते रहे हैं।

काल्पनिक साक्षात्कार लिखने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक-पत्रकार अपने काल्पनिक पात्र के जीवन-संसार से भली-भाँति परिचित हो। यदि लेखक कल्पना में देश-विदेश की किसी मशहूर हस्ती से साक्षात्कार करता है तो उसे इसका पुख्ता ज्ञान होना चाहिए कि उसकी रचना के नायक की जीवन-शैली क्या है? उसके बोलने, चलने, पहनने, खाने-पीने का ढंग कैसा है? वह किस भाषा में बोलता है? उसका चिन्तन-संसार कैसा है? उसकी रुचियाँ क्या हैं? विभिन्न महत्वपूर्ण मुद्दों पर उसकी क्या प्रतिक्रियाएँ रही हैं? अत: काल्पनिक साक्षात्कार में जीवन्तता तभी पैदा की जा सकती है जब संबंधित पात्र अपने समूचे परिवेश के साथ उसमें उपस्थित किए जाएँ।

ऐसे भी साक्षात्कार हैं जिनके माध्यम से साक्षात्कार देनेवाले ने अपने जीवन के बारे में काफी कुछ कहा है। ऐसे साक्षात्कारों में आत्मकथात्मकता के तत्व निहित रहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के एक अध्याय में चौधरी देवीलाल का एक साक्षात्कार 'ताऊ बोल्या' है। इस साक्षात्कार में देवीलाल ने अपने जीवन की विगत घटनाओं के संबंध में काफी कुछ बतलाया है। यह आंशिक रूप से आत्मकथात्मक साक्षात्कार है। पुस्तक के 'चुनौतियों से चुनौतियों तक', 'यात्रा अधूरी है', 'हम थक रहे हैं', 'कौन कहता है नेहरू तानाशाह थे', 'आत्म-तर्पण आत्मपाखण्ड भी है' जैसे अध्यायों में आत्मकथात्मक साक्षात्कार के तत्वों को देखा जा सकता है। इन साक्षात्कारों के नायकों – अर्जुन सिंह, प्रणव मुखर्जी, डा. शंकरदयाल शर्मा, आर. के. करंजिया, विष्णु प्रभाकर ने अपने उत्तरों में अपनी जीवन-कथा के कई महत्वपूर्ण अंश भी पिरोये हैं। अत: संदर्भित साक्षात्कारों को आत्मकथापरक साक्षात्कार कहना अनुचित नहीं होगा।

आत्मकथापरक साक्षात्कार लेना तभी संभव है जब दोनों पक्षों के बीच फुरसत के साथ जीवन्त संवाद स्थापित हो; दोनों बराबर का रेसपोंस दें। किसी एक पक्ष की उदासीनता से इसकी तारतम्यता प्रभावित हो सकती है। आमतौर पर ऐसे साक्षात्कार लम्बे होते हैं, और इनके लिए अच्छे 'डिसप्ले' की जरूरत होती है।

ख : गैर पत्रकारिता एवं समाजशास्त्रीय साक्षात्कार

प्राय: यह माना जाता है कि साक्षात्कार-विधा पर पत्रकारिता का एकाधिकार है; पत्रकार ही साक्षात्कार ले सकते हैं। लेकिन, यह धारणा गलत है। पत्रकारिता से बाहर भी साक्षात्कार का एक व्यापक संसार है। विभिन्न अनुशासनों के व्यक्ति इससे जुड़े रहते हैं, और उसे समृद्ध करते रहते हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले साक्षात्कारों की तात्कालिक प्रकाशन उपयोगिता नहीं रहती है, लेकिन ये एक बड़े अध्ययन के आवश्यक हिस्से होते हैं। इन साक्षात्कारों के माध्यम से समाज में मौजूद विभिन्न प्रवृत्तियों, समस्याओं, तनावों, अन्तर्विरोधों, मतों, रुझानों, भावी संकेतों आदि का पता लगाया जाता है; इसके पश्चात कार्रवाई की एक उपयुक्त रणनीति तैयार की जाती है। इस तरह के साक्षात्कार विकसित और गैर-विकसित, दोनों ही राष्ट्रों में समान रूप से लोकप्रिय हैं।

एक अच्छे समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, मानवविज्ञानशास्त्री, राजनयिकविज्ञानशास्त्री आदि के लिए यह आवश्यक है कि वे साक्षात्कार-विधा में दखल रखते हों। ये समाजशास्त्री इस बात पर जोर देते हैं कि 'प्री-फील्ड स्टडी' शुरू करने से पहले सर्वेक्षक को साक्षात्कार-विधा का पुख्ता ज्ञान होना चाहिए।

'सर्वेक्षण परियोजनाओं' में तो साक्षात्कार माध्यम का भरपूर उपयोग किया जाता है। लेकिन, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षात्कार के तरीके अलग-अलग होते हैं। शहरी क्षेत्रों में जहाँ एक औपचारिक समाज से सामना होता है वहीं ग्रामीण क्षेत्रों का परिवेश मूलत: अनौपचारिक होता है। अत: इन दोनों क्षेत्रों में साक्षात्कार लेते समय अलग-अलग विधियाँ अपनाई जाती हैं।

ये साक्षात्कार संक्षिप्त भी होते हैं, और लम्बे भी होते हैं। यह विषय की आवश्यकता पर निर्भर करता है। बाज़ार-सर्वेक्षण के दौरान किये जानेवाले साक्षात्कार संक्षिप्त किस्म के होते हैं, जबकि समाज एवं नृतत्वविज्ञान से संबंधित सर्वेक्षणों में काम आनेवाले साक्षात्कार अक्सर विस्तृत होते हैं। संबंधित व्यक्तियों से घंटों संवाद करना पड़ता है, तब जाकर समाजशास्त्रीय साक्षात्कार पूरा होता है।

संयोग से मुझे पत्रकारिता के साथ-साथ समाजशास्त्रीय साक्षात्कारों का अनुभव रहा है। विशेषरूप से मैंने ग्रामीण व आदिवासी क्षेत्रों में कई तरह के सर्वेक्षण किये थे। उक्त सर्वेक्षणों में एक-एक व्यक्ति के साथ कई-कई घंटे बिताने पड़ते थे, और अनौपचारिक साक्षात्कार के माध्यम से वस्तुस्थिति का अध्ययन किया जाता था। इस तरह के साक्षात्कारों को 'संवाद-अवलोकन साक्षात्कार' भी कहा जा सकता है। क्योंकि इस तरह के साक्षात्कारों में जहाँ संबंधित व्यक्ति से संवाद के माध्यम से जानकारियाँ एकत्रित करनी होती हैं वहीं अवलोकन के माध्यम

से उसके परिवेश का भी अध्ययन किया जाता है। क्योंकि यह संभव है कि वस्तुस्थिति और तथ्यों में अन्तर रहे, साक्षात्कार देनेवाला बतला कुछ रहा हो, और उसके परिवेश की स्थिति उससे भिन्न रहे। इसलिए संवाद के साथ-साथ अवलोकन की विधि भी अपनाई जानी चाहिए।

उपभोक्ता संस्कृति के विस्फोट ने बाज़ार अर्थव्यवस्था में गतिशीलता ला दी है। इसलिए वस्तुनिर्माता सदैव इस प्रयास में रहता है कि उसे अपने उत्पाद के साथ-साथ अपने प्रतिस्पर्धी के उत्पाद की बाज़ार-स्थिति की नियमित रूप से सही-सही जानकारी मिलती रहे। इसलिए आजकल 'मार्केट सर्वे' यानी बाज़ार सर्वेक्षण का कार्य काफी लोकप्रिय होता जा रहा है। विकसित देशों में तो यह कार्य बहुत पहले से ही प्रचलित है; अब विकासशील देशों में भी इसकी माँग बढ़ती जा रही है। जाहिर है कि इस कार्य का सफलतापूर्वक निष्पादन तभी किया जा सकता है जब उपभोक्ता का सही-सही साक्षात्कार प्राप्त हो सके। इस तरह के साक्षात्कार के लिए विशेष दक्षता की जरूरत पड़ती है। क्योंकि, महानगरों की भागमभाग जिन्दगी में किसी के पास भी इतना वक्त नहीं होता कि वह लम्बे समय तक सर्वेक्षक को अपना साक्षात्कार देता रहे। अल्पावधि में अधिकाधिक जानकारी एकत्रित करने की दक्षता सर्वेक्षक में होनी चाहिए। इसमें भी प्रश्न-उत्तर की विधि का सहारा लिया जाता है।

चुनाव-सर्वेक्षण में तो इस तरह के 'त्वरित साक्षात्कार' बहुत कराये जाते हैं। संगठित सर्वेक्षण एजेंसियों द्वारा शहरों और गाँवों में मतदाताओं के लिए त्वरित साक्षात्कारों का जाल फैलाया जाता है। राजनीतिक दलों और नेताओं के संबंध में उनके मतों को एकत्रित किया जाता है। प्रधानमंत्री, आम बजट और किसी प्रमुख घटना के संबंध में जनता की राय जानने के लिए 'त्वरित साक्षात्कार सर्वेक्षण पद्धति' को काफी कारगर माना जा रहा है। इस कार्य के लिए समाजशास्त्री और पत्रकार, दोनों की ही सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं। दोनों मिलकर प्रश्नावली तैयार करते हैं, और अनुभवी सर्वेक्षक को इस कार्य में लगा दिया जाता है।

पत्रकारिता के लिए भी त्वरित साक्षात्कार उपयोगी रहते हैं। सर्वप्रथम, त्वरित साक्षात्कारों पर आधारित सर्वेक्षण-निष्कर्षों को प्रकाशन के लिए विधिवत रूप से प्रसारित किया जाता है। इन निष्कर्षों पर आधारित लेख व टिप्पणियाँ लिखी जाती हैं। पत्र-पत्रिकाओं में इन निष्कर्षों को प्रमुखता से प्रकाशित किया जाता है।

इसके अतिरिक्त शुद्ध पत्रकार भी त्वरित साक्षात्कारों के माध्यम से रपट और रिपोर्ताज़ लिखते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने कई जगह त्वरित साक्षात्कारों को अपनी रिपोर्ताजों का माध्यम बनाया है। उदाहरण के लिए, पंजाब, असम और राजस्थान से संबंधित रिपोर्ताजों में इस विधा का जमकर इस्तेमाल किया है। मेरा

यह मानना है कि त्वरित साक्षात्कार की पद्धति के बिना इन रिपोर्ताजों को लिखना संभव नहीं होता। इन रिपोर्ताजों में त्वरित साक्षात्कार समाज के विभिन्न व्यक्तियों से संबंधित हैं। विशेष परिस्थितियों और घटनाओं की पृष्ठभूमि में ये साक्षात्कार लिये गये थे।

इन साक्षात्कारों में समाज की त्रासदी, इंसान की पीड़ा और व्यवस्था के अन्तर्विरोध व्यक्त हुए हैं।

आमतौर पर गैर-पत्रकारिता व समाजशास्त्रीय साक्षात्कारों में साक्षात्कार देने वाला व्यक्ति गौण रहता है। प्रश्नावली के माध्यम से सिर्फ उससे संबंधित जानकारियों (डेटा) के एकत्रीकरण पर जोर दिया जाता है। शोधकर्ता इन जानकारियों का विश्लेषण करता है, और निष्कर्ष निकालता है। इसके विपरीत पत्रकारिता-साक्षात्कार में उत्तरकर्ता और प्रश्नकर्ता, दोनों ही पक्ष फोकस में रहते हैं।

लेकिन, इस मामले में कोई 'हार्ड एण्ड फास्ट रूल' नहीं है। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि साक्षात्कारकर्ता को क्या चाहिए। समाजशास्त्रीय साक्षात्कारों में भी उत्तरकर्ता को फोकस में रखा जाता है; उसकी विधिवत पहचान स्थापित की जाती है। एक तरह का यह 'परिचयात्मक साक्षात्कार' होता है। साक्षात्कार के माध्यम से व्यक्ति विशेष या परिवार का 'प्रोफाइल' तैयार किया जाता है। इसलिए समाजशास्त्रीय साक्षात्कारों में भी लचीली पद्धति से काम लिया जाता है।

बस्तर के बैलाडीला क्षेत्र में आदिवासियों पर औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव और विभिन्न प्रदेशों में बंधक श्रमिक प्रथा के सर्वेक्षण में मैंने ऐसा ही किया था; जहाँ त्वरित साक्षात्कार एकत्रित किये थे वहीं 'गहन साक्षात्कार' भी लिये। मेरी पुस्तक *आदमी, बैल और सपने* के कुछ महत्वपूर्ण अध्याय गहन साक्षात्कारों पर आधारित हैं। अत: त्वरित व गहन साक्षात्कारों की उपयोगिता व्यक्ति और विषय पर निर्भर करती है। दोनों का अपना-अपना महत्व है। दोनों तरह के साक्षात्कारों के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता भी है। समाजशास्त्रीय या नृतत्वशास्त्रीय साक्षात्कारों के लिए विद्यार्थियों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है।

टेली इन्टरव्यूज

आजकल टेली इन्टरव्यूज यानी दूरभाष साक्षात्कार की उपयोगिता भी बढ़ती जा रही है। 'दूर-साक्षात्कार' को इलैक्ट्रोनिक और प्रिंट मीडिया, दोनों ही समान रूप से अपना रहे हैं; दोनों ने ही इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि प्रिंट मीडिया ने इसे पहले अपनाया। लेकिन, टेलीविज़न-खबर संसार का

यह अभिन्न हिस्सा बन चुका है।

जहाँ तक प्रिंट मीडिया का प्रश्न है वहाँ भी इसकी उपयोगिता रोज़ाना बढ़ती जा रही है। बड़े-बड़े समाचारपत्र और वरिष्ठ पत्रकार टेलीफोन पर ही विशिष्ट व्यक्तियों के साक्षात्कार ले लेते हैं। पहले टेली-इन्टरव्यूज को रिकार्ड किया जाता है, इसके बाद उन्हें ट्रांसक्राइब किया जाता है। जब यह लिपिबद्ध कर लिये जाते हैं तब इन्हें प्रकाशित किया जाता है। लेकिन इस तरह के साक्षात्कारों का आयोजन विशेष अवसरों पर ही किया जाता है। उदाहरण के लिए विशेष घटनाओं के संबंध में राजनीतिज्ञों, विचारकों और समाजशास्त्रियों की प्रतिक्रियाएँ प्रायः फोन पर ही ली जाती हैं। जरूरत पड़ने पर फोन पर लम्बे-लम्बे साक्षात्कार ले लिये जाते हैं। इस तरह के साक्षात्कारों से समय, श्रम और धन, तीनों की ही बचत होती है। लेकिन इस तरह के साक्षात्कारों की उपयोगिता 'अत्यावश्यकता' से जुड़ी रहती है।

इस संबंध में कुछ निजी अनुभवों का उल्लेख करना प्रासंगिक रहेगा। मैंने दिल्ली से फोन पर लाहौर, इस्लामाबाद, रावलपिंडी और कराची के नेताओं एवं बुद्धिजीवियों के साक्षात्कार कई दफे लिये। सबसे पहले पाकिस्तान के तानाशाह राष्ट्रपति ज़िया की विमान दुर्घटना में मृत्यु के कुछ घंटे बाद ही फोन पर त्वरित साक्षात्कार लेना शुरू कर दिया था। रात्रि के दस बजे से लेकर सुबह डेढ़-दो बजे तक फोन पर पाकिस्तान के प्रमुख नगरों में स्थित पत्रकारों, लेखक-बुद्धिजीवियों और राजनीतिक कर्मियों के त्वरित साक्षात्कार चलते रहे। जैसे ही त्वरित साक्षात्कार प्राप्त होता, उसे तत्काल फोन पर ही इन्दौर लिखा दिया जाता। भारतीय अखबारों में इन्दौर स्थित नई दुनिया ही एक ऐसा दैनिक था जिसने राष्ट्रपति की दुर्घटना में सन्देहास्पद हत्या के संबंध में पाक नागरिकों के विचार अगली सुबह छाप दिये थे। यह प्रयोग सफल रहा। पाठकों का अच्छा रेसपोंस मिला। इसके बाद भी इस सिलसिले को जारी रखा गया। प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर दिल्ली से फोन पर पाकिस्तानी बुद्धिजीवियों के त्वरित साक्षात्कार आयोजित किये जाते हैं।

दूर-त्वरित साक्षात्कार के लिए एक अच्छी तैयारी की जरूरत पड़ती है। क्योंकि प्रत्येक सैकिंड मूल्यवान होता है, इसलिए पत्रकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह कम से कम समय व शब्दों का प्रयोग करके ज्यादा से ज्यादा जानकारी एकत्रित करे। इसलिए अन्तर्राज्यीय या समुद्रपारीय फोन करने से पहले पत्रकार को चाहिए कि वह अपने उद्देश्य-बिन्दु के संबंध में स्पष्ट रहे। अस्पष्टता त्वरित साक्षात्कार के उद्देश्यों को प्रभावित कर सकती है। अतः साक्षात्कार लेनेवाले में समय, शब्द और विचारों के साफ-सुथरे संयोजन की क्षमता होनी चाहिए।

2

साक्षात्कारों की पृष्ठभूमि

प्रस्तुत पुस्तक के प्रत्येक साक्षात्कार की अपनी एक कहानी है। साक्षात्कार से पूर्व और दौरान कई किस्म के दिलचस्प अनुभव हुए : कभी साक्षात्कार के लिए संबंधित व्यक्ति को तैयार करते समय लम्बी व उबाऊ प्रतीक्षा से गुजरना पड़ा, कभी साक्षात्कार देनेवाले की तुनकमिजाजी व गुस्से का सामना करना पड़ा, तो कभी साक्षात्कार के प्रकाशित होने के बाद फोन पर गालियाँ खानी पड़ीं। कुछ मामलों में तो प्रशंसा और आलोचना एक साथ बटोरनी पड़ी। एक मुख्यमंत्री ने पहले तो साक्षात्कार में अपने विचारों के यथावत प्रकाशन की तारीफ की, उसके लिए बधाई दी, लेकिन फिर यानी एक सप्ताह बाद इस भेंटकर्ता की खिंचाई भी कर डाली; क्योंकि अगले सात दिनों के दौरान मुख्यमंत्री के कुछ विचारों को लेकर उसकी खूब आलोचना हुई और मुख्यमंत्री ने अपनी खाल बचाने के लिए इसका सारा दोष भेंटकर्ता पर थोप दिया। कभी-कभी ऐसे भी अनुभव हुए हैं जब नेता अपनी कही हुई बातों से मुकर गये, जबकि उनके साक्षात्कारों को बाकायदा कैसेट में रिकार्ड किया गया था। इस तरह के हादसे, इस पेशे के ज़रूरी सबक़ होते हैं। ऐसे सबक़ से कोई भी सक्रिय पत्रकार बच नहीं सकता।

भेंटकर्ता के लिए गर्व के क्षण भी होते हैं; साक्षात्कारों ने मुझे भी गर्व के क्षण दिये हैं। मेरी दृष्टि में साक्षात्कार देनेवाले की प्रशंसा या आलोचना भेंटकर्ता के गर्व की कसौटी नहीं हो सकती, बल्कि सामान्य पाठक की प्रतिक्रियाएँ ही उसे गर्व की अनुभूति कराती हैं। यदि कोई साक्षात्कार आम पाठक को आन्दोलित करने में सफल रहता है तो इसे 'गर्व के क्षण' के रूप में लिया जाना चाहिए। पाठकों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर यह भेंटकर्ता कह सकता है कि तकरीबन सभी सन्दर्भित साक्षात्कार विवाद एवं चर्चा का केन्द्र बने हैं। कतिपय वरिष्ठ नेताओं को साक्षात्कारों की वजह से राजनीतिक कीमत भी चुकानी पड़ी है; कुछ साक्षात्कार देकर पछताए भी; कुछ ने अपने कार्यों में सुधार भी किया। कुछ साक्षात्कारों ने स्वयंसेवियों और आन्दोलनकारियों में अच्छी-खासी हलचल पैदा की। इस हलचल की वजह से संबंधित नेता या मंत्री को तीखी आलोचना का सामना करना पड़ा। कुछ मामलों में नेता को पाठकों के साथ-साथ अपने पार्टी-सहयोगियों के भी आक्रमण झेलने पड़े। पार्टी में साक्षात्कार के कुछ

संवेदनशील कथनों को लेकर खासा विवाद भी चला। एक भेंटकर्ता के लिए इस प्रकार के अनुभव किसी गर्व से कम नहीं हैं।

यूँ तो प्रत्येक साक्षात्कार की छोटी-बड़ी कहानी है, लेकिन यहाँ कुछ चुनिंदा साक्षात्कारों की रचना-पृष्ठभूमि पर बात करना उपयोगी रहेगा। उदाहरण के लिए, इस पुस्तक का आरम्भिक साक्षात्कार 'रूबरू : अवाम और प्रधानमंत्री' एक अनूठा अनुभव है। यह अध्याय तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी से संबंधित है। यह एक प्रयोगात्मक साक्षात्कार है। इसमें स्व. राजीव गाँधी से भेंटकर्ता की सीधी बातचीत नहीं है, लेकिन सामान्य जन या भेंटकर्ता के माध्यम से उनका साक्षात्कार प्रस्तुत किया गया है। प्रधानमंत्री और अवाम के बीच संवाद-संयोजन जहाँ काफी कष्टसाध्य रहा, वहीं यह एक समृद्ध अनुभव भी सिद्ध हुआ।

1988 के मध्य में *नई दुनिया* के सम्पादक ने मुझे प्रधानमंत्री के 'जनता-दर्शन कार्यक्रम' पर लिखने के लिए कहा। उन दिनों राजीव गाँधी अपने सरकारी निवास 7-रेसकोर्स रोड पर प्रायः प्रतिदिन जनता से मिला करते थे; यह कार्यक्रम करीब दो-तीन घंटा चलता था। प्रधानमंत्री से मिलने के लिए देश के कोने-कोने से दर्शनार्थी आते थे। वे निर्भय व निःसंकोच होकर अपनी लिखित या मौखिक बात राजीव गाँधी से कहते थे। यह सिलसिला देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने शुरू किया था। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भी प्रधानमंत्री-जनता संवाद जारी रखा। राजीव गाँधी ने भी पूर्व प्रधानमंत्री की इस स्वस्थ परम्परा को आगे बढ़ाया। वे जब भी दिल्ली में होते थे, रोज़ सुबह जनता के साथ संवाद किया करते थे। यह कार्यक्रम खास किस्म की 'थ्रिल' से ओतप्रोत रहता था; कभी इसमें तकरार देखने को मिलती, कभी मनुहार, कभी शिकायत, कभी निष्ठा की भौंडी नुमाइश, कभी विलासिता में सने वर्ग के नुमाइंदों की भिनभिनाहट, कभी चीथड़ों में जीवित धरा के दलितों की त्रासदियाँ।

जब मुझसे कहा गया कि मैं इसे कवर करूँ, तब इस 'ॲसाइन्मेन्ट' को लेकर मेरे दिमाग में एक हलचल मची। ऐसा नहीं था कि मैंने राजीव गाँधी को पहले कभी कवर नहीं किया था; बल्कि, 1985 में विदेश-यात्रा के दौरान मास्को से लौटते हुए विमान में उनका विशेष साक्षात्कार भी लिया था। इसके बाद भी उनके साथ कई मर्तबा देश-विदेश की यात्राएँ कीं; उनके साथ अनौपचारिक बातचीत की। लेकिन, जनता-दर्शन का कवरेज निश्चित ही एक चुनौतीपूर्ण ॲसाइन्मेन्ट लगा। मैं इस ॲसाइन्मेन्ट को सिर्फ रिपोर्टिंग की शक्ल नहीं देना चाहता था; इसे एक खबर के रूप में भी लिखा जा सकता था; इसकी एक

न्यूज़-रिपोर्ट बनाई जा सकती थी। लेकिन, मैं इससे हटकर कुछ करना चाहता था। मैंने इस अवसर के कवरेज के लिए विभिन्न विधाओं के संबंध में सोचा। अन्त में तय किया कि इसे प्रयोगात्मक बनाया जाए, और तीन-चार विधाओं का एक साथ प्रयोग किया जाए।

सर्वप्रथम, मैंने तय किया कि इसके माध्यम से इतिहास, शासक और जनता के रिश्तों के संबंध में पाठकों से कुछ कहा जाए, और यह आत्मकथन वैज्ञानिक चिन्तन से रिक्त नहीं होना चाहिए। अत: इसमें आरम्भ से अन्त तक एक अघोषित सूत्रधार की शैली का सहारा लिया गया है। कवरेज में 'प्रभाव' पैदा करने के लिए 'लाइव कॉमेंटरी' शैली का प्रयोग किया गया है। शब्दों के माध्यम से 'विजुअल इम्पेक्ट' पैदा करना आसान नहीं, फिर भी कोशिश की गई है। मैंने ऐसा करना जरूरी समझा।

इस अध्याय में प्रधानमंत्री और जनता के बीच एक जीवन्त संवाद दिखाने की कोशिश की गई है। जरूरत पड़ने पर प्रधानमंत्री को कठघरे में खड़ा भी दिखाया गया है। इसके लिए दोनों पक्षों के संवादों को पूरी तरह से रिकार्ड किया गया; जरूरी सन्दर्भ-सामग्री जुटाई गई। इसके बाद रिकार्ड की गई सामग्री का प्रतिलेखन यानी ट्रासंक्रिप्शन कराकर यह साक्षात्कार तैयार किया गया। इसमें रिपोर्ताज भी है, साक्षात्कार भी और न्यूज़ भी। इस त्रिआयामी साक्षात्कार को एक 'थीम' में पिरोया गया है। स्पष्ट शब्दों में, धरा के अभागों को केन्द्र में रखा गया है, और उसके इर्द-गिर्द प्रधानमंत्री, उनके निज़ाम, उनके हुक्काम को रखा गया है।

भारतीय जनता पार्टी के मुख्यमंत्री सुन्दरलाल पटवा के साथ भी रोमांचकारी अनुभव हुआ। प्राय: यह देखा गया है कि लिखित प्रश्न-उत्तर साक्षात्कार से वास्तविकता उभर कर नहीं आ पाती है। लिखित या औपचारिक साक्षात्कार एक तरह से यांत्रिक बन जाता है। अत: यांत्रिकता से बचने के लिए मैंने तय किया कि मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री सुन्दरलाल पटवा के साथ एक प्रयोग किया जाए। यह किस्सा 1992 का है। वह वर्ष पटवा की लोकप्रियता का शिखर-काल था। दिल्ली स्थित मध्यप्रदेश भवन में उनके साथ रात्रि-भोज पर साक्षात्कार का समय तय हुआ। मैं अपने साथ सिर्फ टेप-रिकार्डर और खाली कैसेट ले गया। बतौर सावधानी एक नोटबुक भी जेब में डाल ली। मैंने तय किया कि मुख्यमंत्री से कोई भी लिखित सवाल न किया जाए; भोजन के साथ-साथ सहज व सामान्य ढंग से बातचीत करनी है। मैं नहीं चाहता था कि मेरे शिकार को सतर्क होने का तनिक भी संकेत मिले। इसलिए साक्षात्कार का सिलसिला खान-पान से शुरू किया। धीरे-धीरे मैं आगे बढ़ता चला गया। उन्हें इस बात

का अहसास ही नहीं होने दिया कि मेरा निशाना क्या है। मुख्यमंत्री की भोजन-रुचि, पाचन-प्रक्रिया और उनके स्वप्न संसार को स्पर्श करता हुआ मैं उन्हें भूखों की दुनिया में ले गया और छत्तीसगढ़ के श्रमिक नेता शंकर गुहा नियोगी की हत्या, नर्मदा-बचाओ आन्दोलन, जगदलपुर में प्रसिद्ध आदिवासी समाज-सेवक डा. ब्रह्मदेव शर्मा को नग्नावस्था में घुमाना, उदर रोग से गरीब बच्चों की मौतें आदि सवालों के कठघरे में उन्हें खड़ा कर दिया। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि साक्षात्कार में कोई तारतम्यता नहीं थी। संदर्भित साक्षात्कार – "मुझे कभी सपना नहीं आता : सुन्दरलाल पटवा" में तारतम्यता अन्तर्निहित है। सतह पर यह बेतरतीब दिखाई दे सकता है, लेकिन इसकी स्कीम में एक सोची-विचारी थीम पिरोई गई है। साक्षात्कार लेने से पहले ही मस्तिष्क में इसका ताना-बाना बुन लिया गया था; वैकल्पिक प्रश्न सोच लिए गए थे। और सब कुछ योजना के अनुरूप सम्पन्न हुआ।

दरअसल, सुन्दरलाल पटवा के साथ इस तरह का यह दूसरा साक्षात्कार था। इसका पूर्वाभ्यास मैं करीब डेढ़ वर्ष पहले 1990 में उनके साथ कर चुका था। 'रथ के संग-संग' साक्षात्कार में मैंने टेप-रिकार्डर का प्रयोग नहीं किया था, सिर्फ नोटबुक और पेंसिल का उपयोग किया। इस साक्षात्कार में भी प्रश्न लिखित नहीं थे। लिखित प्रश्नों के लिए अवसर भी नहीं मिला था। यह साक्षात्कार महज एक इत्तफाक था; भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा के साथ-साथ चलते हुए मुख्यमंत्री पटवा से यह साक्षात्कार लिया गया था। चूँकि मुझे अप्रत्याशित रूप से उनके साथ कार में यात्रा करने का अवसर मिल गया था, इसलिए मस्तिष्क में साक्षात्कार का कोई सुनियोजित खाका नहीं तैयार कर सका था। लेकिन जैसे-जैसे बातचीत का सिलसिला बढ़ता गया, साक्षात्कार की थीम की लकीरें स्वतः मस्तिष्क-पटल पर खिंचती चली गईं। लेकिन, इसकी शुरूआत भी मैंने अस्वाभाविक या औपचारिक ढंग से नहीं की। साक्षात्कार से पिछली रात उनकी कार दुर्घटनाग्रस्त होते-होते बची थी। बस! मेरे लिए यही घटना अप्रत्याशित साक्षात्कार की उड़ान-पट्टी सिद्ध हुई; कार में यात्रा करते हुए उनसे तमाम तरह के सवाल कर डाले। यह साक्षात्कार काफी चर्चित रहा। इस साक्षात्कार को "मुझे कभी सपना नहीं आता : सुन्दरलाल पटवा" साक्षात्कार की बुनियाद कहा जा सकता है।

मैं साक्षात्कार लेते समय मूड का विशेष ध्यान रखता हूँ। जब तक साक्षात्कार के दोनों छोरों – लेनेवाले और देनेवाले के बीच 'ट्यूनिंग' न हो, तब तक कोई बात बनती नहीं है। एक अच्छे व संतोषजनक साक्षात्कार के लिए दोनों के बीच अदृश्य व अबोले संवाद का होना जरूरी है। इसलिए साक्षात्कार लेने

से पहले मैं इस बात से पूरी तरह आश्वस्त होने की कोशिश करता हूँ कि संबंधित व्यक्तित्व के साथ ट्यूनिंग है या नहीं ? साक्षात्कार देनेवाले का मूड कैसा है ? और मेरा स्वयं का मूड कैसा है ? कभी-कभी ऐसा भी हुआ है जब नेता या मंत्री साक्षात्कार देने के लिए तैयार है, और मैं मानसिक रूप से इसके लिए प्रस्तुत नहीं हूँ। 1994 के अन्त में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह टकरा गए। मैंने उनसे साक्षात्कार के लिए वक्त माँगा। उन्होंने कहा : "अभी चलिए; ओखला रैस्ट हाउस में एक घंटे के लिए बैठ जाएँगे।" मेरे लिए साक्षात्कार की यह स्वीकृति अप्रत्याशित थी। मैंने सोचा था कि मेरे अनुरोध को स्वीकार करने में समय लगेगा, लेकिन उन्होंने तुरन्त ही मुझे उपकृत कर दिया। मेरे लिए यह दुविधा के क्षण थे, क्योंकि मेरा मूड उखड़ा-उखड़ा था, कुछ दूसरी बातें अथवा योजनाएँ दिमाग पर डेरा जमाए हुए थीं। यदि मैं बेमन से उनका साक्षात्कार लेता तो स्वयं के और उनके प्रति अन्याय करता। अत: मैंने उनसे क्षमा माँगी, और अनुरोध किया कि वे साक्षात्कार के लिए फिर कभी समय दें।

साक्षात्कार के लिए मैं अनुकूल वातावरण बनाना भी जरूरी समझता हूँ। एक सम्पूर्ण साक्षात्कार के लिए यह भी जरूरी है कि साक्षात्कार देनेवाले को अलग-अलग स्थितियों में रखकर उससे बातचीत की जाए। उदाहरण के लिए मैंने प्रसिद्ध साहित्यकार विष्णु प्रभाकर को अलग-अलग स्थितियों में रखकर उनका साक्षात्कार लिया। 'आत्म-तर्पण, आत्म-पाखंड भी है' साक्षात्कार में मैंने प्रभाकरजी के दो अलग-अलग मूडों को 'कैप्चर' करने की कोशिश की है। इस साक्षात्कार का एक हिस्सा उनके घर पर पूरा किया गया, और दूसरा शाम को कनाट प्लेस स्थित कॉफी हाउस में। वे रोज सुबह कुछ घंटे लेखन करते हैं, इसलिए उनके अजमेरी गेट स्थित घर में मैं उनसे सर्जन के क्षणों के बीच बातचीत करना चाहता था। उनका कॉफी हाउस के साथ दशकों पुराना याराना है; मैं चाहता था कि संदर्भित साक्षात्कार में उनकी इस 'यारी' को भी समेटा जाए, और लगे हाथ दिल्ली के बदलते स्वरूप पर भी चर्चा कर ली जाए। इसके लिए जरूरी था कि मैं उनके साथ कॉफी हाउस के माहौल में भी बात करता। अत: मैंने उनसे अनुरोध किया कि साक्षात्कार के शेष हिस्से के लिए कॉफीघर में कुछ वक्त बिताना जरूरी है। वे इसके लिए सहर्ष तैयार हो गए। दो-तीन दिन के बाद कॉफी-पियक्कड़ों के बीच उनसे बातचीत की गई। इस तरह एक संतोषजनक साक्षात्कार तैयार हो गया।

देवीलाल के साथ काफी रोचक अनुभव हुआ। वे मस्तमौला और मूडी किस्म के नेता हैं; बड़ी मुश्किल से समय देते हैं, और देते हैं तो खूब देते हैं। ऐसा ही मेरे साथ हुआ; तीन-चार बार अनुरोध करने के बाद उन्होंने साक्षात्कार के लिए

समय दे दिया। चूँकि वे किसान भी हैं, इसलिए समय उनके अनुसार चलता है। उन्होंने सबह-सुबह बुला लिया। लॉन में चारपाई लगा दी गई; चाय की जगह छाछ का गिलास हाथ में थमा दिया गया। चारपाई के पास ही गाय-भैंसें रँभाती रहीं। देवीलाल उर्फ ताऊ ने बेतकल्लुफी से कहा : "हाँ तो भाई, शुरू होजा।" उनके स्वर में खुरदरापन जरूर था, लेकिन आत्मीयता की भी अनुभूति हो रही थी। करीब तीन घंटे तक टेप-रिकार्डर चलता रहा। चूँकि ताऊ वृद्ध हैं इसलिए उनके स्मृति-दोष के प्रति काफी चौकस रहना पड़ा। वे तीन घंटे के साक्षात्कार में घटनाओं को दोहराते रहे, और स्वयं की बात काटते भी रहे; इसलिए 'ताऊ बोल्या' साक्षात्कार को लिखते समय काफी कठिनाई हुई। ऐसी स्थिति में भेंटकर्ता को चाहिए कि वह तथ्यों एवं घटनाओं की इतिहास से पुष्टि कर ले।

संत भिंडराँवाले के साथ मुझे भय एवं हर्षमिश्रित अनुभव हुआ। मैंने उनका साक्षात्कार तब लिया था जब उनकी लोकप्रियता शिखर पर थी, और पंजाब आतंकवादी गतिविधियों की गिरफ्त में आ चुका था; सरकार और पुलिस संतजी से थर्राती थीं। वे अमृतसर स्थित स्वर्णमंदिर परिसर के नानक निवास में अपना डेरा जमाये हुए थे। कुछ सम्पर्कों के माध्यम से मैं नानक-निवास पहुँचा। चारों ओर हथियारबंद मरजीवड़े तैनात थे; तनिक से सन्देह पर वे किसी का भी जीवन ले सकते थे। पत्रकार उनसे भयभीत या आतंकित नहीं थे, लेकिन वे सुरक्षित भी महसूस नहीं करते थे; संतजी से मिलते समय मन में भय जरूर बैठा रहता था। सुरक्षा-असुरक्षा के भावों के बीच मैंने उनका साक्षात्कार लेने का फैसला किया।

संतजी पढ़े-लिखे बिल्कुल नहीं थे; ठेठ पंजाबी बोलते थे। मेरे जैसे महानगरीय पत्रकार के लिए उनका उच्चारण समझ पाना कठिन था; अत: एक स्थानीय सम्पर्क के माध्यम से उनके साथ संवाद शुरू हुआ। जब तक साक्षात्कार चलता रहा, तब तक मैं उनके हथियारबंद अनुयायियों से घिरा रहा; उनकी निगाहें मुझ पर गड़ी रहीं। साक्षात्कार "सभी अपने-अपने धर्म को पालें" के अन्त में भिंडराँवाले ने पूछा भी है कि क्या मुझे उनसे भय नहीं लगता ? मैंने उनके प्रश्न का उत्तर नकारात्मक दिया है। मैंने उनसे कहा है कि मैं भी एक शक्तिशाली विचारधारा के हथियार से लैस हूँ; यह विचारधारा मुझे 'भयमुक्त' रखती है। लेकिन सच कहूँ, दिमाग के किसी कोने पर भय दस्तक जरूर दे रहा था; यह अलग बात है कि संतजी से मुक्त होकर मैं एक घंटा और नानक निवास में रहा। वहाँ संतजी के एक प्रसिद्ध जुझारू अनुयायी एवं पूर्व नक्सलवादी नेता हरमिंदर संधू से मुलाक़ात हुई। स्वयं संधू ने अपने कमरे में बैठाकर भिंडराँवाले के आन्दोलन के संबंध में विस्तार से चर्चा की। उन्होंने

उस समय कहा था कि मैं इस आन्दोलन को धार्मिक नहीं बनने दूँगा; इसे धीरे-धीरे वर्ग-संघर्ष के रास्ते पर ले जाऊँगा।

लेकिन, जब भेंटकर्ता ऐसी संवेदनशील स्थिति में फँस जाए, तब उसे बेहद सावधानी से काम लेना चाहिए; कोई ऐसी बात कहने या प्रश्न करने से बचना चाहिए जिसमें भड़काने या कपट की 'बू' आती हो। दूसरे शब्दों मे, भेंटकर्ता के प्रश्न 'स्पष्ट एवं निर्मल' होने चाहिए; वे किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं प्रतीत होने चाहिए; ऐसा प्रतीत होते ही भेंटकर्ता को 'सन्देह के घेरे' में खड़ा कर दिया जाएगा।

अर्जुन सिंह के मामले में मुझे कई प्रकार के अनुभव हुए। प्रस्तुत पुस्तक में उनके पाँच चुनिंदा साक्षात्कार शामिल किए गए हैं। ये साक्षात्कार राजभवन, कार और विमान-यात्राओं में लिए गए हैं। एक साक्षात्कार में वे पंजाब के राज्यपाल हैं, दूसरे में कांग्रेस पार्टी के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष और तीसरे साक्षात्कार अर्थात "सत्ता-संघर्ष ही आखिरी क्षितिज नहीं है : अर्जुन सिंह" के दौरान उनका रोल ही बदल जाता है। जब यह साक्षात्कार आरम्भ किया था तब वे राजीव गाँधी-सरकार में संचार मंत्री थे। लेकिन साक्षात्कार का अंतिम चरण लिखते-लिखते वे अचानक मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री बना दिए गए। चूँकि यह साक्षात्कार मूलत: वैचारिक है, और दुनिया का राजनीतिक एवं वैचारिक फलक सामने रखकर उन्होंने अपनी बात कही है, इसलिए इसे पूरा करने में समय लगा : साक्षात्कार एक 'सिटिंग' में नहीं, कई किश्तों में पूरा किया गया; उनके साथ कई दफे बैठना पड़ा। अर्जुन सिंह ने साक्षात्कार के आरम्भ में ही कह दिया था कि वे पूरे सोच-विचार के साथ प्रश्नों का जवाब देना चाहते हैं, अत: इसमें समय लग सकता है। वे यह भी चाहते थे कि प्रत्येक प्रश्न-उत्तर किश्त की 'ट्रांसक्राइब्ड कापी' उन्हें दिखाई जाए जिससे कि वे उसमें संशोधन कर सकें। इस प्रक्रिया में डेढ़-दो महीने लग गए और इस अवधि में उनका राजनीतिक रोल ही बदल दिया गया; उन्हें दिल्ली से उठाकर भोपाल फेंक दिया गया।

इस तरह के लम्बे खिंचनेवाले साक्षात्कार में भेंटकर्ता को कई तरह की दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। सर्वप्रथम तो उसे स्वयं के मूड और थीम-आधारित प्रश्नों की तारतम्यता बनाए रखनी पड़ती है। विशिष्ट व्यक्तियों की अपनी सनकें होती हैं, इसलिए कभी-कभी भेंटकर्ता को तदनुसार स्वयं को 'एडजस्ट व रीएडजस्ट' करना पड़ता है; यह बेहद पीड़ादायक प्रक्रिया होती है। यद्यपि अर्जुन सिंह तुनकमिजाज नेता नहीं हैं; वे बेहद व्यवस्थित और एक 'रिद्ममयी साक्षात्कार' देनेवाले नेता हैं। लेकिन वे स्वभाव से अल्पभाषी हैं;

उनके वाक्य 'टेलीग्राफिक शैली' के होते हैं; कभी-कभी वे द्वयर्थी होते हैं। ऐसी स्थितियों में भेंटकर्ता को सावधानी से काम लेना होता है।

अर्जुन सिंह के एक साक्षात्कार ने तो काफी गुल खिलाया। उन्होंने मुझे 1986 में एक साक्षात्कार "चुनौतियों से चुनौतियों तक" दिया था। इस साक्षात्कार का एक वाक्य उनके लिए जोखिमभरा सिद्ध हुआ। तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के समक्ष उनकी पेशी हो गई। हुआ यह कि कांग्रेस अध्यक्ष एवं प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने उन्हें कांग्रेस का राष्ट्रीय उपाध्यक्ष नियुक्त किया था। उपाध्यक्ष पद का कार्यभार सम्हालने के तुरन्त बाद उन्हें कलकत्ता-यात्रा पर जाना पड़ा। उन्होंने मुझे कलकत्ता की विमान-यात्रा में यह विवादास्पद साक्षात्कार दिया। इस साक्षात्कार के आरम्भ में उन्होंने कहा था : "मैंने लिखा था कि पंडितजी, मैंने फैसला किया है कि जनसेवा के माध्यम से अपने भाग्य से प्रतिशोध लूँ, व्यक्ति से नहीं ... ।" उनके इस 'प्रतिशोध' शब्द ने कांग्रेस क्षेत्रों में राजनीतिक विवाद खड़ा कर दिया। उनके विरोधियों ने इस वाक्य को भ्रष्ट करके इसके कई अर्थ निकाल डाले। उनके दिल्ली तथा भोपाल स्थित राजनीतिक विरोधियों ने प्रचारित किया कि अर्जुन सिंह ने कहा है : "नेहरू परिवार से प्रतिशोध लूँ ... " उन्हें कई जगह इसकी सफाई देनी पड़ी, 'भाग्य से प्रतिशोध लूँ' वाक्य का मर्म समझाना पड़ा। कुछ लोगों ने अर्जुन सिंह को यह सुझाव भी दिया कि वे इस वाक्य का खण्डन जारी कर दें। उन्होंने मुझसे कहा भी कि इस तरह के सुझाव दिये जा रहे हैं। मैंने उनसे पूछा : "आपने क्या सोचा है ? आप चाहें तो खण्डन जारी कर सकते हैं। लेकिन आपने यह वाक्य कहा जरूर था।" उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा : " जोशीजी, खण्डन जारी करने का मेरा कोई विचार नहीं है। आपने जो लिखा है वह ठीक लिखा है। मैं स्थिति सम्हाल लूँगा।"

अर्जुन सिंह चाहते तो अपनी बात से मुकर सकते थे, क्योंकि विमान में ली गई भेंट-वार्ता रिकार्ड नहीं की गई थी, इसके सिर्फ नोट लिए गए थे; वे आसानी से भेंटकर्ता को चुनौती दे सकते थे, क्योंकि 1986 में राजीव गाँधी से सामना करने का अर्थ था राजनीतिक आत्महत्या के लिए तैयार होना। पर उन्होंने अपनी राजनीतिक स्थिति की सुरक्षा के खातिर इस भेंटकर्ता को परेशानी में नहीं डाला। यह मेरे लिए एक 'दुर्लभ अनुभव' था, क्योंकि आम राजनीतिज्ञ अपनी जान छुड़ाने के लिए आसानी से कह देता है कि यह 'फेक इन्टरव्यू' है, "मेरा इससे कोई वास्ता नहीं है।" इसलिए साक्षात्कार के दोनों छोरों के मध्य विश्वास होना जरूरी है।

कभी-कभी यह भी होता है कि संबंधित राजनीतिज्ञ या प्रशासक भेंटकर्ता को

विश्वास में लेकर कई प्रकार की संवेदनशील बातें कह जाता है, जिनका तत्काल प्रकाशन संबंधित व्यक्ति और उद्देश्य के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता है। इसलिए संवेदन-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले भेंटकर्ता को चाहिए कि वह तत्काल प्रकाशन के मोह से बचे। पंजाब के राज्यपाल के रूप में अर्जुन सिंह ने मुझे कई बार औपचारिक तथा अनौपचारिक साक्षात्कार दिए। ये साक्षात्कार पंजाब के राजीव-लोंगोवाल समझौते से पूर्व एवं बाद के कालों से संबंधित हैं। इन साक्षात्कारों के दौरान उन्होंने मुझे कई प्रकार की संवेदनशील जानकारियाँ संकेतों में दीं, लेकिन इस हिदायत और शर्त के साथ कि इन्हें सार्वजनिक नहीं किया जाएगा। मैंने वचन का पालन किया। यदि कोई भेंटकर्ता एक बार विश्वास भंग कर देता है तो उसकी साख पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है। यही बात साक्षात्कार देनेवाले व्यक्ति पर लागू होती है। राज्यपाल की भूमिका निभाते हुए अर्जुन सिंह से लिए गए तीन चुनिंदा साक्षात्कारों – 'घेराबंदी', 'घेराबंदी से मुक्ति' और 'एक नाविक विश्वास'–को इस दायरे में रखा जा सकता है।

विश्वास अर्जित करने के लिए मैं यह भी जरूरी समझता हूँ कि भेंटकर्ता अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता स्पष्ट कर दे। वैसे इस संबंध में कोई 'हार्ड एण्ड फास्ट रूल' नहीं है, यह भेंटकर्ता के मिजाज पर निर्भर करता है। लेकिन, मेरा निजी अनुभव रहा है कि जब भी मैंने साक्षात्कार देनेवाले से अपनी वैचारिक स्थिति स्पष्ट की है, मुझे उससे अपेक्षित लाभ ही हुआ है; दोनों के बीच इस स्पष्टता ने एक विश्वास-सेतु की भूमिका निभाई है। इस संबंध में एक घटना का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक रहेगा।

भारतीय जनता पार्टी के तत्कालीन महासचिव एवं विवादास्पद नेता गोविंदाचार्य से एक बार मुठभेड़ हो गई। मैं उनका एक बड़ा साक्षात्कार करना चाहता था, लेकिन साक्षात्कार से पहले उन्हें ठीक तरह से समझ लेना चाहता था। मैं यह भी चाहता था कि वे भी मुझे ठीक से जान लें। इसके लिए दो-तीन अनौपचारिक मुलाक़ातें कीं, उन्हें एक बार भोजन पर निमंत्रित किया। इन अनौपचारिक चर्चाओं में हम दोनों को एक-दूसरे को समझने का मौका मिला। मैंने उन्हें अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि से अवगत कराया। इससे उन्हें बेहद प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा : "मेरे छात्र-जीवन की भी यही वैचारिक पृष्ठभूमि रही है जो आज आपकी है।" हम दोनों के लिए यह एक सुखद संयोग था। इसके बाद 'मोहम्मदपंथी हिन्दू और ईसापंथी हिन्दू' साक्षात्कार लिया गया। इस साक्षात्कार में उनके साथ कोई रियायत नही की गई है, बल्कि कई निर्मम सवाल किए गए हैं; उन्होंने ईमानदारी के साथ जवाब भी दिए हैं। वैसे कुछ बातें उन्होंने 'ऑफ दि रिकार्ड' भी कहीं, जिन्हें मैंने प्रकाशित नहीं किया

है। यदि मैं ऐसा करता तो दोनों के लिए असुविधाजनक स्थिति पैदा हो सकती थी।

प्रणव मुखर्जी और शरद यादव के साक्षात्कारों के मामले में भी मैंने ऐसा ही किया; दोनों के साथ अनौपचारिक संवाद हुए। इस प्रक्रिया में वैचारिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हुई, और उनके संकोच भी सामने आए। पर विधिवत साक्षात्कार में दोनों पक्षों ने साफगोई दिखाने में कोई कोताही नहीं बरती।

मैं यह भी मानता हूँ कि प्रत्येक मामले में अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता स्पष्ट करना जरूरी नहीं है। कई नेताओं-मंत्रियों के सामान्य ढंग से साक्षात्कार लिए गए हैं; साक्षात्कार से पहले उनके साथ किसी प्रकार की वैचारिक चर्चा नहीं की गई; उन्हीं व्यक्तियों के साथ वैचारिक संवाद करना जरूरी समझा, जिनका अपना एक वैचारिक परिप्रेक्ष्य है। लेकिन, यह जरूरी नहीं है कि उनके विचारों से भेंटकर्ता की सहमति भी रहे। और फिर, सहमति-असहमति की मुठभेड़ों से साक्षात्कार में जीवन्तता पैदा हो जाती है। चन्द्रशेखर, डा. ब्रह्मदेव शर्मा, अर्जुन सिंह, प्रणव मुखर्जी, शरद यादव, श्रीलता स्वामीनाथन, गोविंदाचार्य, विष्णु प्रभाकर, कृष्णा अय्यर, पी. एन. भगवती, संत भिंडराँवाले जैसे व्यक्तियों के साक्षात्कारों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

साक्षात्कारों की इस शृंखला में ऐसे भी साक्षात्कार रखे गए हैं जो मूलतः तथ्यात्मक एवं सूचनात्मक हैं। इस श्रेणी में हरिकिशनलाल भगत का साक्षात्कार 'जन संचार : शैतान भी और देवता भी' तथा अजितकुमार पांजा का साक्षात्कार 'आँखों में झूलते बेशुमार स्वप्न' रखे जा सकते हैं। इस तरह के साक्षात्कारों का अपना एक महत्व है। ये मूलतः घटना, सूचना और परिणाम एवं प्रभाव-प्रधान होते हैं; इनकी प्रासंगिकता तात्कालिकता से जुड़ी रहती है। दोनों तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्रियों से उनके साक्षात्कार ऐसे दौर में लिए गए थे जब देश में टीवी के विस्तारीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई थी, और छोटे पर्दे पर रामायण, महाभारत जैसे धार्मिक सीरियलों ने धूम मचा रखी थी; समाज के एक बड़े वर्ग की चेतना को इन्होंने झकझोर रखा था। अतः मैंने यह जरूरी समझा कि इन तत्कालीन मंत्रियों के साथ मुठभेड़ की जाए और तथ्यों पर आधारित साक्षात्कार लिया जाए। ऐसा नहीं है कि इन साक्षात्कारों का कोई वैचारिक परिप्रेक्ष्य नहीं है; इनका अपना एक परिप्रेक्ष्य है, पर मूलतः ये सूचना-प्रधान ही हैं।

इस श्रेणी का एक और साक्षात्कार उल्लेखनीय है–'आदिवासी कल्याण का सपना, सबका अपना-अपना', जो मूलतः एक प्रयोगात्मक साक्षात्कार है; इसमें एक साथ मुख्यमंत्री, सांसद एवं ग्रामीणों के साथ संवाद किया गया। यह सम्पूर्ण साक्षात्कार तथ्यों पर आधारित है, और आदिवासी-विकास की पृष्ठभूमि में लिया

गया है। इसके पात्रों से अलग-अलग स्थानों पर संवाद किये गये हैं; लेकिन, साक्षात्कार की पृष्ठभूमि एक ही है। इस साक्षात्कार को मैंने टीवी शैली में लिया है। सर्वप्रथम मैंने चुनिंदा आदिवासी गाँवों का दौरा किया; आदिवासियों के साथ बात की; गाँवों के विकास के संबंध में जरूरी जानकारियाँ एकत्रित कीं। इसके बाद भोपाल लौटकर तत्कालीन मुख्यमंत्री मोतीलाल वोरा का साक्षात्कार लिया, आदिवासी नेता अरविन्द नेताम और दिलीप सिंह भूरिया के साथ भी चर्चा की; एकत्रित तथ्यों के आधार पर इन तीनों पक्षों के कथनों और स्वयं के अनुभव को एक-दूसरे के सामने रखा और इस प्रकार चारों पक्षों ने मिलकर इस साक्षात्कार की रचना की। अतः इसे एक बहुपक्षीय साक्षात्कार कहा जा सकता है। फिर भी मैं इसे एक सफल प्रयोग नहीं मानता। यह और अच्छा बन सकता था, लेकिन समयाभाव के कारण इसे झटपट और संक्षिप्त रूप में तैयार करना पड़ा। नतीजतन यह संतोषजनक नहीं बन सका। इसे एक नमूने के रूप में लिया जाना चाहिए।

इस अध्याय में विद्याचरण शुक्ल के साथ हुई मुठभेड़ का भी उल्लेख जरूरी है, क्योंकि उनके साक्षात्कार की बड़ी रोचक पृष्ठभूमि है। एक बार उन्होंने अपने यहाँ पत्रकारों को बुलाया था। मैं भी निमंत्रित था। मैंने उनकी खबर को रिपोर्ट करने के साथ-साथ उनके कक्ष का शब्द-चित्र भी लिख मारा। इससे वे कुछ उखड़ गए। उन्होंने मुझे फोन दे मारा; अपनी शिकायत दर्ज कराई। अन्त में तय हुआ : "चलो एक अच्छी गपशप हो जाए।" बस ! हम दोनों उसी कक्ष में साक्षात्कार के लिए बैठ गए, जिसका मैं शब्दों में खाका उतार चुका था। इस साक्षात्कार की विशेषता इसका परिवेश-चित्रण है। यदि मैं ऐसा नहीं करता तो शायद सन्दर्भित साक्षात्कार 'ढीली पकड़ और निस्तेज संवाद के बीच' इतना न उभरता। यह दो हिस्सों में विभाजित है। पहले हिस्से में पृष्ठभूमि एवं परिवेश का चित्रण है, और दूसरे हिस्से में संवाद है। कभी-कभी साक्षात्कार के लिए 'प्रोवोक' करना जरूरी हो जाता है। इसका उदाहरण है विद्याचरण शुक्ल का साक्षात्कार।

इस पुस्तक में ऐसे भी साक्षात्कार हैं जिनमें भेंटकर्ता को लगभग लुप्त रखा गया है, यद्यपि प्रश्नों के माध्यम से उत्तर उभारे गए हैं। ऐसे साक्षात्कारों को आलेख-शैली में लिखा गया है। इस श्रेणी में डा. शंकरदयाल शर्मा, आर. के. करंजिया, पी. एन. भगवती, डा. देवेन्द्र कौशिक के साक्षात्कारों को रखा जा सकता है। ऐसा कभी-कभी व्यक्ति, विषय, स्थान और समय-सीमा को देखकर किया जाता है। कई साक्षात्कारों में लम्बे-लम्बे उत्तर हैं, और प्रश्न नितान्त छोटे हैं। प्रश्नकर्ता ने जानबूझकर ऐसा किया है, क्योंकि प्रश्नकर्ता उत्तर को

प्रमुखता देना चाहता था। संक्षेप में, भेंटकर्ता और सम्पादक को स्वयं यह तय करना पड़ता है कि उत्तर और प्रश्न के बीच कितना संतुलन रखा जाए। कई दफा ऐसा भी होता है जब प्रश्न महत्वपूर्ण होता है, लेकिन उसका उत्तर बहुत ही लचर रहता है। कभी-कभी साक्षात्कार देनेवाला व्यक्ति विवादास्पद प्रश्नों से कन्नी भी काट जाता है; वह सांकेतिक उत्तर या चुप्पी से काम चलाता है। अत: काफी कुछ भेंटकर्ता पर निर्भर करता है कि वह किस ढंग से सामनेवाले व्यक्ति से उत्तर उगलवाता है। इसमें कभी सफलता भी मिलती है, और कभी असफलता भी। कुल मिलाकर साक्षात्कार एक 'परस्पर उत्तेजक प्रक्रिया' है।

आकस्मिक साक्षात्कार, रिपोर्ताज और शब्दचित्रात्मक टिप्पणियाँ

पुस्तक का अंतिम भाग विविधापूर्ण है। इसमें रिपोर्ताज है; चलते-फिरते या समाचार-साक्षात्कार हैं; शब्द-चित्रात्मक टिप्पणियाँ हैं; शब्दचित्र हैं; यादें है; यादों के सहारे उभरे आकार हैं। कुल मिलाकर इसे एक 'कॅलाइडस्कोप' भी कहा जा सकता है।

वैसे संकीर्ण विधा-विधान की दृष्टि से इस भाग की रचनाओं को गैर-साक्षात्कार विधाओं के साथ रखा जा सकता है; यह कहा जा सकता है कि इनका साक्षात्कार विधा से कोई संबंध नहीं है। लेकिन मैं साक्षात्कार को व्यापकता में देखता हूँ; उसे औपचारिक प्रश्न-उत्तर के साँचे में नहीं ढालता। वस्तुत: पत्रकारिता में साक्षात्कार कई रूपों में प्रतिबिम्बित होता है। संदर्भित रचनाओं में भी साक्षात्कार के विभिन्न 'शेड' मौजूद हैं। रिपोर्ताज में इसका आकस्मिक या बेहद अनौपचारिक शेड दिखाई देगा, जबकि कुछ में इसका खबर-शेड उभरता हुआ मिलेगा; कहीं यह सूक्ष्म रूप में दिखाई देगा, क्योंकि जब भी किसी घटना के पात्रों में मुठभेड़ होगी, संवाद का संचार हुए बिना नहीं रहेगा। रिपोर्ताज, फीचर, निबंध और शब्द-चित्रों में समाहित रहते हैं ये सूक्ष्म शेड, साक्षात्कार के। उदाहरण के लिए, इस पुस्तक का प्रथम अध्याय ही एक गैर-पारम्परिक साक्षात्कारीय शैली में लिखा गया है। आरम्भिक अध्याय—रूबरू : अवाम और प्रधानमंत्री – में आरम्भ से अन्त तक संवाद है; प्रधानमंत्री और अवाम के बीच संवाद होता रहता है; प्रश्न-उत्तर की प्रक्रिया चलती रहती है। कड़े अनुशासन की दृष्टि से देखें तो इसे साक्षात्कार की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। लेकिन, मैंने शास्त्रीय अनुशासन को लाँघकर इस तरह के साक्षात्कारों को प्रस्तुत पुस्तक में शामिल करने की जोखिम ली है। शुरू में यह योजना थी

कि इस अध्याय को दूसरे भाग का प्रारम्भिक अध्याय बनाऊँ; थीम की तारतम्यता की दृष्टि से यह ठीक रहता; यह कॅलाइडस्कोप में फब सकता था; पर बाद में यह विचार त्याग दिया। मैं पुस्तक की शुरूआत अनुशासित तरीके से नहीं करना चाहता था। मैं चाहता था कि पाठक एक शॉक के साथ साक्षात्कारों की यात्रा शुरू करें। अत: थीम का अनुशासन तोड़कर इस अध्याय को दूसरे भाग से निकालकर पहले भाग के प्रथम अध्याय के रूप में रखा। एक प्रकार से इस अध्याय में 'इन्टर-डिसिप्लिनरि एप्रोच' से काम लिया गया है। इसमें यह लेखक प्रश्नकर्ता कहीं नहीं है, लेकिन साक्षात्कार के सभी तत्व इसमें मौजूद हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जनता ने प्रधानमंत्री का साक्षात्कार लिया; साथ ही, सूत्रधार की शैली भी इसमें है।

दूसरे भाग के प्रथम अध्याय –'देखी जमाने की यारी' में पहले भाग के प्रथम अध्याय की थीम दूसरे रूप में जारी रखी गई है। 'देखी जमाने की यारी' में कथात्मक शैली है, फ्लैशबैक है, संवाद हैं, शब्दचित्र हैं, टिप्पणियाँ हैं; एक तरह से यह कई विधाओं का 'कोलाज' है। जब यह प्रकाशित हुआ तो इसे पाठकों से अच्छा-खासा रेसपॉन्स मिला था। इसके अगले अध्याय 'जयचन्द और मीरजाफरों की सियासत में एक पारदर्शी आदमी' में भी कमोबेश यही ॲप्रोच अपनाई गई है; इसमें एक संक्षिप्त सामाचार-साक्षात्कार भी है।

इन दोनों अध्यायों के बाद के चार अध्याय लगभग समान थीम एवं शैली के हैं। लेकिन इनके विषय, पात्र और स्थान अलग-अलग हैं। 'राजनीतिक पक्षाघात से जूझते चरण सिंह', 'राजीव को गप्पियों के क्रमांक', 'बाँह पर ताबीज बाँधे कम्प्यूटरवाले गए विदेश' और 'कोई हारा कोई जीता, दिल्ली के दिल पर यह बीता' घटना-प्रधान एवं विवरणात्मक टिप्पणियाँ हैं। इन चारों में से शुरू की तीन रचनाएँ नवें दशक की हैं, जबकि अंतिम रचना 1971 की है। लेकिन चारों के पात्र राजनीतिज्ञ हैं और इन चारों में चलते-फिरते साक्षात्कार हैं। इनमें नेता भी हैं, और सामान्य जन भी। चारों अध्यायों का मूल स्वर व्यंग्य है, जिसे 'रनिंग कॅमेंट्रि' के जरिये उभारा गया है।

उपरोक्त चार अध्यायों के बाद के ज्यादातर अध्याय रिपोर्ताज शैली में लिखे गए हैं। इसमें दो रचनाएँ आठवें दशक की हैं। अगस्त 1970 में मैंने अजमेर में ख्वाज़ा साहब का 757वाँ वार्षिक उर्स कवर किया था। *दिनमान* के तत्कालीन संपादक स्व. रघुवीर सहायजी ने मुझे हिदायत दी थी कि उर्स का कवरेज सिर्फ न्यूज-रिपोर्ट नहीं होनी चाहिए बल्कि उसमें समाज, लोग, उनकी जिन्दगी, उनका संघर्ष–संक्षेप में, उनका समूचा संसार बोलना चाहिए। आज इसे लिखे करीब 25 बरस बीत चुके हैं; लेकिन, लगता है मैं इससे आगे नहीं बढ़ सका

हूँ। यह मुझे अपने जीवन का बहुत प्यारा 'पीस' लगता है। दरअसल, यह मेरा पहला हस्तक्षेप था सार्थक पत्रकारिता के क्षेत्र में।

दिनमान के लिए ही मैंने रेगिस्तान के अकाल का सर्वेक्षण किया। यह किस्सा भी उसी वर्ष का है। इसमें यह लेखक सामान्य जन से मुखातिब है। यह मेरे जीवन की पहली बड़ी सर्वे-रपट थी; इसमें जहाँ अकाल का प्रभाव दिखाने की कोशिश की गई है, वहीं रेगिस्तानी दुनिया के लोकदेव बाबा रामदेव और उनके मेले को भी कवर किया गया है। अजमेर के उर्स और रामदेव के मेले की आत्मा एक है; दोनों ही भारत की साझी सांस्कृतिक विरासत के जानदार प्रतीक हैं; रिपोर्ताज शैली में लिखे गए इस अध्याय में यह पक्ष उभारा गया है। इसके लिए जरूरी था कि आकस्मिक जन-साक्षात्कार की पद्धति अपनाई जाए, और यह प्रयोग अच्छा रहा।

आगे के शेष अध्याय पंजाब और असम परिदृश्य से संबंधित हैं। इन दोनों राज्यों के त्रासदीग्रस्त परिदृश्य पर ये रिपोर्ताज अलग-अलग समय पर लिखे गए थे। 1983 के असम-आन्दोलन और नेल्ली-नरसंहार के 'कवरेज' के दौरान कई प्रकार की अनुभूतियाँ हुई : मानवता की त्रासदी को समीप से देखा; समाज के साथ खिलवाड़ करती विभिन्न शक्तियों को देखा; राजसत्ता की जड़ता देखी; सम्वेदना से रिक्त इंसान देखा; घटना-स्थल की यात्रा करते समय भूमिगत आन्दोलन के नेताओं से सामना हुआ। मैंने इन सबको समेटा है 'असम आन्दोलन : ताम्बूल के वनों में मौत की फसल' शीर्षक लम्बे रिपोर्ताज में। तत्कालीन भूमिगत नेताओं—प्रफुल्ल कुमार मंहत और नूरुल हुसैन के साक्षात्कारों पर आधारित एक अध्याय अलग से शामिल किया गया है। इस अध्याय में आठवें दशक के असम-आन्दोलन और हिन्दू-मुसलमानों के अन्तर्संबंधों में झाँकने का प्रयास है।

पंजाब-परिदृश्य पर लिखे गए रिपोर्ताजों में 10-11 वर्ष के काल-कैनवास को समेटा गया है। इस अवधि में मैंने बहु-आयामी त्रासदी से ग्रस्त पंजाब की अनेक यात्राएँ कीं; कई खबरें भेजीं, कई रिपोर्ताज लिखे। प्रस्तुत पुस्तक में सात चुनिंदा रिपोर्ताज शामिल किए गए हैं। ये 1984 से आरभ होते हैं, और 1994 तक समाप्त होते हैं। पंजाब की रिपोर्ताज-श्रृंखला की शुरूआत उत्तर-त्रासदी परिदृश्य से होती है, और समाप्ति 'त्रासदियों का पटाक्षेप : आगाज एक नई सुबह की' रिपोर्ताज पर होती है। ये तमाम रिपोर्ताज त्वरित जन-साक्षात्कारों पर आधारित हैं। कुछ नेताओं के औपचारिक साक्षात्कार भी शामिल किए गए हैं। पर मेरा यह मानना है कि त्वरित एवं अनौपचारिक संक्षिप्त साक्षात्कारों के बिना एक अच्छा रिपोर्ताज नहीं लिखा जा सकता। रिपोर्ताज को मैं केवल

घटनाओं तथा चीजों के यथावत चित्रण के रूप में नहीं देखता। इसे 'जीवन्त एवं प्रामाणिक' बनाने के लिए यह भी जरूरी है कि घटना से जुड़े लोगों के विचारों को जाना जाए : त्रासदी का उनके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा ? उन्होंने त्रासदी को कैसे झेला ? या, उन्होंने किसी खास स्थिति में कैसे रिएक्ट किया ? इसके लिए त्वरित, अलिखित, अनौपचारिक और संक्षिप्त शैली के साक्षात्कार उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अत: मैंने अपने रिपोर्ताजों में इस शैली के साक्षात्कारों का खूब प्रयोग किया है। साक्षात्कार-यात्रा में पाठक इस शैली की सार्थकता अनुभव करेंगे।

और अन्त में –

प्रस्तुत पुस्तक के साक्षात्कार तथा रिपोर्ताज सिर्फ शौक़ या व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं लिखे गए हैं, बल्कि मेरा यह प्रयास भी रहा है कि ये रचनाएँ संदर्भित काल के दस्तावेज बनें। साक्षात्कार एक अक्षर-आईना होता है व्यक्ति का, और समाज के प्रति उसके सरोकारों का। किस तरह की घटनाएँ पैदा करते हैं समाज व सत्ता के नियंता, घटनाओं के प्रति वे किस प्रकार 'रिएक्ट' करते हैं, इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का गवाह साक्षात्कार है। अत: इन साक्षात्कारों के कठघरे में लोग भी हैं, नियंता भी हैं, और स्थितियाँ भी हैं। बस ! कठघरे की जिरह से कहीं हरक़त हो जाए, लेखक के लिए यह काफी है।

105, समाचार एपार्टमेन्ट्स,
मयूर विहार, फेज-एक,
दिल्ली–110091

रामशरण जोशी

कठघरे में

रूबरू : अवाम और प्रधानमंत्री

काल कैसा भी रहे, शासक और शासित के मध्य संवाद-स्थिति किसी भी समाज, किसी भी देश की गतिशीलता की बुनियादी शर्त है।

संवाद, राजा व प्रजा और जनता व नेता के संबंधों को एक आकार देता है। जीवंत संवाद, जीवंत राष्ट्र की रचना करते हैं और आधे-अधूरे संवाद लुंज-पुंज राष्ट्र को जन्म देते हैं। इतिहास साक्षी है—परिवर्तन, बड़े-बड़े विप्लव संवाद की कोख से जन्मे हैं। समाज की नाड़ी पर अँगुली रखने का सिलसिला सामंती काल में भी था। मौर्य-साम्राज्य की सफलता का राज़ चाणक्य के नेतृत्व में चन्द्रगुप्त और प्रजा के बीच संवाद व संबंधों को गतिशील आकार देना था। अशोक ने इसे एक नया आयाम दिया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, अकबर आदि सिंहासन और प्रजा की संवाद-यात्रा के ऐतिहासिक पड़ाव हैं। रस्सी खिंचती है, घंटा बजता है, महलों में कोलाहल होता है और एक अदना औरत जहाँगीर को हिलाकर रख देती है। मिसाल बनती है यह घटना एक सरोकार की तख्त और रियाया के बीच। जनता और नेता के बीच संवाद होता है, समाज आंदोलित होता है, राष्ट्र दहल उठते हैं, क्रांतियाँ आती हैं। अमेरिका, फ्रांस, रूस, चीन, वियतनाम इतिहास को एक नया अर्थ देते हैं। आधी धोती, पतली लाठी और जीवंत संवाद के साथ एक निर्बल काया सूर्यास्तरहित साम्राज्य को हिन्दुस्तान से उखाड़कर फेंक देती है। पर, जब संवादशून्यता होती है, इतिहास जोखिम भरा बन जाता है। दुर्घटनाएँ होती हैं। राजा, परकोटों में सिकुड़ना शुरू कर देता है। जनता के साथ रोगग्रस्त संवाद होने पर नेता को पलायनवादी प्रवृत्ति दबोच लेती है। लोक-साक्षात्कार का सुख नहीं, संगीनों के साये में रहना रास आने लगता है। टूटे संवाद और बीमार रिश्ते जन्म देते हैं—अराजकता, फासीवाद, नस्लवाद, तानाशाही, आपातकाल और राज्य-आतंकवाद

व प्रति-आतंकवाद को। एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के कई देशों में संवादहीनता का दौर आज भी मौजूद है।

मगर जब एक स्वस्थ-निर्मल साक्षात्कार होता है, एक गुदगुदी जन और प्रतिनिधि में अंकुरित होने लगती है। दोनों परस्पर प्रतिबिम्बित दिखते हैं। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे में गुँथा हुआ। आकांक्षाओं का रेला उमड़ा होता है। जब प्रधानमंत्री के निवासस्थान पर राजीव गाँधी और जनता का परस्पर साक्षात्कार देखता हूँ, इन विचारों की रेलमपेल में स्वयं को घिरा पाता हूँ।

लोकतंत्र में, प्रधानमंत्री का जनता से मिलना एक 'कृपा' नहीं, उत्तरदायित्व है, एक जरूरी 'कर्ज' है, जिसे जन-साक्षात्कार के जरिए अदा किया जाता है। जनता का प्रधानमंत्री से मिलना एक कर्तव्य नहीं, बल्कि एक 'अपरिहार्य हक' है। इस कर्ज और हक का एक अद्‌भुत संगम सात रेसकोर्स मार्ग स्थित प्रधानमंत्री निवास पर देखने को मिला। समाज के सभी वर्गों, संपन्न व विपन्न, वंचक व वंचित, नेता व अभिनेता, बुद्धिजीवी व निरक्षर, अभिजात व सामान्य, अधिकारी व व्यापारी, साधु-संन्यासी व भक्तगण, शिक्षक व छात्र, सवर्ण व असवर्ण के प्रतिनिधि अपनी-अपनी मंडलियों में मौजूद थे। संभव है, यह जमावट विचित्र विरोधाभास पूर्ण दृश्य रेखांकित करे। परन्तु, दूब के मखमली आँगन में सभी वर्गों की एक ही तान थी-अपने जनप्रतिनिधि राजीव गाँधी के दर्शन और उनके साथ संवाद।

प्रधानमंत्री के आने से पहले अधिकांश के हाथों में अर्जियाँ हैं। हर किसी के हाथ में पुस्तक, हार, दुशाले, प्रमाण-पत्र, अदालती फैसले की प्रति, व्यक्ति बॉयोडॉटा, ज्ञापन, मुख्यमंत्रियों, मंत्रियों, प्रदेशाध्यक्षों आदि के खिलाफ शिकायती पर्चियाँ, निमंत्रणपत्र और न जाने क्या-क्या चीजें हैं। अभी प्रधानमंत्री के आने में कुछ मिनटों की देरी है। क्यूँ न परिचय ले लिया जाए। सबसे आगे दो-तीन श्वेताम्बर मुनियों की टोली है। फिर इसके बाद उत्तरप्रदेश के मुसलमान हैं। कुछ ईसाई हैं। असंतुष्ट कांग्रेसी हैं। बिहार सेवादल की महिला सदस्याएँ हैं। यह लीजिए, प्रधानमंत्री आ रहे हैं। बिल्कुल श्वेत वस्त्रों में। साथ में हैं उनके सतीश शर्मा, जे.के. जैन, जनार्दन द्विवेदी, मणिशंकर अय्यर, और कुछ अधिकारी। जाहिर है वे पहली मंडली के पास पहुँच रहे हैं। संवाद आरम्भ :

श्वेताम्बर प्रतिनिधि अभिवादन करते हैं। करीब सत्तर साला मुनि उन्हें एक प्रति विमोचन के लिए देते हैं। प्रधानमंत्री विमोचन करते हैं।

मुनि : आपको मैं यह प्रति भेट करूँगा। आपने मेरे हिन्दी आंदोलन की पुस्तक का विमोचन किया था। जे.के. जैन (पूर्व सांसद) साथ में थे।

प्रधानमंत्री : हाँ-हाँ याद आया।

मुनि : मैं इंदिराजी से भी मिल चुका हूँ।

(मुनिजी राजीवजी को एक कोने में ले जाते हैं। कुछ मिनट गुफ़्तगू करते हैं। सुनाई नहीं देता। कुछ क्षण पश्चात मुनिजी ऊँची आवाज में कहने लगते हैं) आपके और हमारे बीच उन्होंने गलतफहमी पैदा कर दी थी। अब दूर हो गई है। हम तो पं. नेहरू से अब तक आपके साथ हैं। *(मुनिजी नेहरू के साथ खिंचे अपने चित्र दिखाते हैं। प्रधानमंत्री देख रहे हैं।)* इंदिराजी भी हमें बहुत मानती थीं। *(प्रधानमंत्री के चेहरे पर मुस्कान बिखर जाती है और वे नमस्कार करते हुए आगे बढ़ जाते हैं)।*

कुछ दूरी पर एक ईसाई महिला नमस्कार करते हुए कहती हैं :

महिला : प्रधानमंत्रीजी, क्रिसमस की छुट्टी होनी चाहिए।

प्रधानमंत्री : धर्म के मामले में एक कमेटी बैठती है, वही तय करती है।

महिला : न्यू इयर डे (वर्ष के पहले दिन) की छुट्टी नहीं होती है। दुनिया में होती है।

प्रधानमंत्री : दुनिया में कहीं नहीं होती। इंग्लैंड में भी नहीं होती। अमेरिका में भी नहीं होती। कहीं नहीं होती।

(महिला यह सुनकर खामोश हो जाती है। फिर साहस बटोरकर कहती है।)

महिला : अच्छा, दूसरी बात यह है कि यू.पी. साइड में क्रिश्चियंस की कोई आवाज नहीं है। इस ओर कुछ ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि उन्हें भी कुछ मिले।

प्रधानमंत्री : देख लेंगे ...

(इसी बीच एक मुस्लिम हस्तक्षेप करते हुए)

एक : साहब उर्दू के बारे में भी सोच लीजिए। देख लीजिए, दूसरी भाषा के रूप में। हम लोगों को 'मामडन' आबादी के बीच में जाना पड़ता है और वे पूछते हैं।

प्रधानमंत्री : ठीक है, मैं ध्यान रखूँगा।

दूसरा : पीएसी (उत्तरप्रदेश की सशस्त्र पुलिस) बदनाम हो चुकी है। इसमें हर कम्युनिटी का आदमी रखा जाए।

प्रधानमंत्री : अन्दर से तो हमने काफी बदल दिया है।

सभी : कुछ और कर दीजिए।

दूसरा : इसका नाम भी बदल दीजिए। इसके नाम से ही हम भयभीत हो गए हैं।

प्रधानमंत्री : इसको हम देख लेंगे।

तीसरा : माइनरटीज (अल्पसंख्यक) कांग्रेस से बहुत दूर चले गए हैं। कुछ करिए ना...

प्रधानमंत्री हँसते हुए आगे बढ़ रहे हैं। अब उद्योगपतियों की मंडली के सामने ठहर गए हैं। मंडली के सदस्य उन्हें एक ज्ञापन देते हैं। राजीव गाँधी तुरन्त हिदायत देते हैं-इन लोगों की मनटेकसिंह (आर्थिक सलाहकार) से मुलाकात करा दीजिए।

हिदायत देकर प्रधानमंत्री आगे बढ़ रहे हैं। सहारनपुर के वृद्ध सज्जन आगे आकर उन्हें इलायची पेश करते हैं। वे चट से खाना शुरू कर देते हैं। अब अरुणाचल के कार्यकर्ताओं की टोली के सामने हैं। ये सभी असंतुष्ट हैं। शिकायतें सामने रखते हैं (हिन्दी में संवाद)

एक युवक : वास्तव में हम लोगों को असंतुष्ट के रूप में देखा जाता है। हमारी बात भी सुनी जानी चाहिए। हम आलाकमान के फैसले को मंजूर करेंगे। पर बात हमारी सुनी जाए।

एक युवती : हमारे नेता हमसे मिलते नहीं हैं। टाइम नहीं देते हैं। मुख्यमंत्री और पी.सी.सी. प्रेसीडेंट अपने घरों में बैठते हैं।

प्रधानमंत्री : मुझे बात बताओ, क्या है?

युवती : ऊपर आपका कांग्रेस मंत्री... मिनिस्टर ठीक चल जाएगा। पर नीचे हालत बहुत खराब है। आब्जर्वर ठीक नहीं है। एक सस्पेंड एम.एल.ए. को मिनिस्टर बनाया गया है। नए मंत्रियों में हमारे किसी आदमी को नहीं लिया गया है।

प्रधानमंत्री : ठीक है, मैं ध्यान रखता हूँ।

युवती : आप लोग को हम लोग कम्प्लैन (शिकायत) करने आया है, ऐसा मत सोचिए।

प्रधानमंत्री : तकल्लुफ मत करो, आया करो।

युवक : हमको गाली दी जाती है कि आप लोगों को पार्टी से निकाला जाएगा।

युवती : हम आपसे मिला है, सफाई माँगी जाएगी।

राजीव गाँधी हँस देते हैं। इसके साथ आगे बढ़ जाते हैं। अब वे अधिकारियों की एक टोली के सामने हैं। नेहरू शताब्दी वर्ष के कार्यक्रम पर चर्चा होती है। अधिकारीगण उन्हें बाल-अपराधियों की समस्या से अवगत कराते हैं।

अधिकारी : सर, बाल-कानून तो बन गया है, परन्तु उस पर अमल नहीं हो पा रहा है। राज्यों के पास ढाँचा नहीं है।

प्रधानमंत्री : राज्यों के पास पैसे नहीं हैं।

अधिकारी : इसमें कितने पैसे लगते हैं? बाल-न्यायालय बनाने होंगे ना?

प्रधानमंत्री : पर होस्टल तो बनाने होंगे ना। उसमें पैसा लगता है।

अधिकारी : बाल-श्रमिकों व अपराधियों का मामला है। बड़ा मामला है। कानून तो बन गया है, परन्तु अमल के स्तर पर स्थिति बहुत खराब है।

प्रधानमंत्री : ओके ओके... *(खाँस उठते हैं)*

अब प्रधानमंत्री बिहार से आए कांग्रेस सेवादल की टोली से मुखातिब हैं–

राँची की एक युवती : *(बेधड़क तर्ज में)* हम आपसे मिलने के लिए जिन्दगी में पहली बार दिल्ली आई हुई हैं। 1980 से 85 के बीच में राँची में कांग्रेस की स्थिति बहुत ही मजबूत थी। हम इसमें सावधान/सक्रिय थे। वर्तमान अधिकारीगण, वे हम लोगों के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार करते हैं। आपने, इंदिराजी ने हम लोगों को जो सम्मान दिया था, अब नहीं रहा। सब लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे हुए हैं। हम लोगों की संख्या 1200 थी। सही मार्गदर्शन नहीं मिलने के कारण कम हो रही है।

प्रधानमंत्री : अब बताएँ क्या चाहते हैं? अब क्या करना चाहिए? *(युवती उन्हें एक पुर्जा थमा देती है, कहती है, इसको पढ़ लीजिए।)* ठीक है।

युवती : सर... सर... एक बात और... सर, हम भाभीजी से मिलना चाहते हैं... सर, पहली बार आई हैं...

प्रधानमंत्री : *(हँसते हैं)* वे मिलती तो हैं नहीं... आप लोग...

युवक : सर, इनको मिला दीजिए *(एक साथ कई युवक-युवतियों की मनुहार)*।

प्रधानमंत्री : अच्छा, कोशिश करूँगा।

महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के असंतुष्ट शिकायत करते हैं। मध्यप्रदेश की एक महिला विधायक दस्तावेज के साथ सांसद सुभाष यादव के विरुद्ध शिकायत करती है। कहती है, जिलाध्यक्ष तंग हैं।

प्रधानमंत्री : मैं दिखाता हूँ अभी...

युवती नेता : हम कांग्रेसवाले कैसे जिन्दा रहेंगे?

विधायिका : भ्रष्टाचार के आरोप लग गए हैं। *(अखबार की कतरनों का बंडल थमा देती हैं। प्रधानमंत्री एक हाथ से लेकर दूसरे हाथ से, पास खड़े किसी सहायक को थमा देते हैं। विधायिका पथराई आँखों से देखती रह जाती हैं।)*

अब वे दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों से मुखातिब हैं। कुछ छात्र माँग करते हैं कि उन्हें युवा कांग्रेस में काम करने का अवसर दिया जाए। कुछ बातचीत के बाद वे आगे बढ़ जाते हैं। एक वृद्ध उन्हें बुद्ध की प्रतिमा भेंट करते हैं। एक बूढ़ी औरत सामने आकर दरख्वास्त देती है।

वृद्धा : हमारा पति काम करते रहत...

प्रधानमंत्री : कौन गाँव में !

वृद्धा : पी.डब्ल्यू.डी. में काम करते रहत ना... आर.के. पुरम। आठ साल काम किए। बस से टकराके खतम हो गई... न बसवालों ने कुछ दिया और ना ही नौकरिया ही कुछ मिली। हमारे मरद की जगह दूसरे को लगाई दिया। लड़का को भी कुछ नहीं दिया।

(प्रधानमंत्री गंभीरता से सुनते हैं। फिर उन्हें जे.के. जैन के पास भेज दिया जाता है) देखो इन्हें कहीं लगा दो... तुम्हारी दरख्वास्त मैं देख लूँगा। अब तुम जैन साहब से बात करो।

प्रधानमंत्री मध्यप्रदेश के एक दसवर्षीय बालक से मिलते हैं। पतला-दुबला पर बोलने में होशियार। राजीव गाँधी के पास पहुँचते ही वह फटाफट बोलना शुरू कर देता है।

बालक : नमस्कार, श्रीमानजी। मैं नैनसिंह बादामी। मैं कविता रचता हूँ।

प्रधानमंत्री : तो एक सुनाओ।

बालक : *(भरे गले से)* श्रीमानजी, जब मेरे फादर ड्यूटी पर जाते हैं तो लेट हो जाते हैं और मैं यह चाहता हूँ कि हम एक...

प्रधानमंत्री : *(बीच में काटते हुए)* लेट क्यों हो जाते हैं ?

बालक : मेरी माताजी गुजर चुकी हैं। मेरी माताजी जब गुजरीं, तब मैं दो साल का था। मेरी उमर अभी सात साल छह महीने है। *(आँखों में आँसू)* और श्रीमान, वे इसलिए लेट हो जाते हैं, क्योंकि वे हमारी रोटी बनाते हैं और स्कूल भेजते हैं। *(रोते हुए)*

प्रधानमंत्री : कहाँ काम करते हैं वो ?

बालक : श्रीमान, जिला धार में। *(रोते हुए)* मुझे बुखार आ रहा है *(प्रधानमंत्री फौरन बालक के माथे पर हाथ रखते हैं।)*

प्रधानमंत्री : दिखाओ। इसका माथा गरम है... बुखार क्यों आ रहा है ?

बालक : क्या मालूम श्रीमानजी ? *(रोने लगता है, हाथ में होती है नई दुनिया की प्रति। प्रधानमंत्री उससे अखबार लेते हैं और एक नजर डालते हैं ।)*

प्रधानमंत्री : जरा इनसे *(पास खड़े संयुक्त सचिव जनार्दन द्विवेदी की ओर संकेत करते हुए)* बात करो और डॉक्टर को दिखाओ।

द्विवेदी उसे बाहर ले जाते हैं। दवाई दिलवाई जाती है। परन्तु जाने से पहले बालक कहता है –

बालक : श्रीमानजी, मैं चाहता हूँ कि एक खुद का कारखाना लेकर कुछ करूँ।

प्रधानमंत्री : कुछ मदद करेंगे... अभी तुम अपने को दिखाओ... *(लड़का चला जाता है।)*

प्रधानमंत्री : सात साल का है, कितना बोल्ड है लड़का।

दूब पर पसरे सफेदपोश दर्शनार्थियों के अंतिम छोर पर एक सूरदास युगल प्रधानमंत्री से मिलने के लिए आतुर है। सही मायनों में वंचितों का प्रतिनिधि। ईश्वर की कृपा से वंचित और व्यवस्था से पिटा। गनीमत यह है कि पत्नी की गोद में सोते एक महीने के बच्चे को विरासत में कोख से अंधत्व नहीं मिला है। परन्तु व्यवस्था द्वारा लादे गए कुपोषण का शिकार वह भी है। राजीव गाँधी उनके पास पहुँचे रहे हैं।

पत्नी : हम ब्लाइंड मैन हैं।

प्रधानमंत्री : दोनों ?

पत्नी : हाँ। सर, यहाँ हमें पन्द्रह दिन हो गए हैं। आपसे मिल नहीं सके। रेलवे प्लेटफॉर्म पर पड़े हैं। हमें दुकान चाहिए। कार्पोरेशन से दुकान माँगी थी, नहीं मिली।

पति : *(कुछ कागजात दिखाता है)* हमको किसी का सपोर्ट नहीं है, सर। घर रहने के लिए नहीं है, सर। बहुत प्रांबलम है। धंधा करने के लिए पैसा नहीं है।

प्रधानमंत्री किसी फाल्गुनीराम यादव को बुलाते हैं और दोनों को उनसे बात करने के लिए कहते हैं।

डालियों पर चिड़ियाँ चहचहाने लगती हैं। प्रधानमंत्री जल्दी में दिखाई देने लगते हैं। परन्तु, मिलनेवालों का उतावलापन बढ़ता ही रहता है। संगठन में पद पाने के लिए पर्चियाँ दी जाती हैं। कारखाना लगाने के लिए अमेठी के लोग गुहार लगाते हैं। और इस तरह से एक सुबह समाप्त होती है। प्रधानमंत्री फुर्ती के साथ लौट जाते हैं। शीला दीक्षित फाइल लेकर पहुँच जाती हैं।

जनता से रूबरू होने का यह सिलसिला प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के जमाने से चला आ रहा है। वे तीनमूर्ति भवन में रोज सुबह लोगों से मिला करते थे। तब भी इतनी ही भीड़ हुआ करती थी। संवादों का सिलसिला तब भी ऐसा ही चला करता था।

तीन-तीन पीढ़ियों की सुरक्षा में तैनात रहनेवाले श्री दत्ता कहते हैं : "नेहरूजी के जमाने में शरणार्थियों की भीड़ काफी हुआ करती थी। तीनमूर्ति के बाहर आए दिन प्रदर्शन हुआ करते थे। गरीब लोग तब भी आया करते थे। पंडितजी को बच्चों के साथ चित्र खिंचवाने में काफी आनन्द आया करता था। पंडितजी के साथ इंदिराजी भी अक्सर लोगों से मिलने आया करती थीं।

"उस समय सुरक्षा की कोई खास व्यवस्था नहीं हुआ करती थी। पंडितजी को सुरक्षा के बंदोबस्त से अक्सर चिढ़ हुआ करती थी। किसी प्रकार हम मना लिया करते थे। लोगों से मिलने में इंदिराजी काफी रुचि लेती थीं। वे खुद लोगों की दरख्वास्तें सम्हालकर रखा करती थीं। ऑफिस जाते समय उन्हें देखा करती थीं। दौरे के समय मिलनेवाली दरख्वास्तों के बारे में वे काफी चौकस रहा करती थीं। एक भी खो गई तो समझो आफत। लोगों से मिलने में हम लोगों ने सुरक्षा के नाम पर रुकावट पैदा कर दी, तो वे चिढ़ जाया करती थीं। इस मामले में नेहरूजी और इंदिराजी हमेशा निर्देश देते थे कि लोगों से मिलने और सुबह के दर्शन में कोई रुकावट पैदा न की जाए।

"1977 में प्रधानमंत्री पद से हटने के बाद भी इंदिराजी से मिलनेवालों का ताँता लगा रहा करता था। जब वे दौरे पर जातीं, तब भी पहले जैसा हाल था। तब उनसे मिलने जनता आया करती थी, नेता नहीं आते थे। जनता-शासन में पश्चिम बंगाल की कम्यूनिस्ट सरकार को छोड़कर कहीं भी पूर्व प्रधानमंत्री के नाते इंदिराजी को पर्याप्त सुरक्षा व्यवस्था नहीं दी गई। आपातकाल में प्रधानमंत्री निवास पर सुरक्षा व्यवस्था बढ़ा दी गई थी। जून 1984 की अमृतसर घटना के बाद कुछ और सख्ती की गई। परन्तु, जनता-दर्शन निरंतर चलता रहा और आज भी चल रहा है। प्रधानमंत्री और जनता के बीच सीधा संबंध रहे, इसका ध्यान राजीवजी भी रखते हैं। उन्हें भी सुरक्षाकर्मियों से चिढ़ होती है। मुझे अच्छी तरह याद है, 1981 में जब उन्होंने अमेठी से उपचुनाव लड़ा था तब सभी सुरक्षाकर्मियों को अस्वीकार कर दिया था। अधिकारियों ने कहा भी, आप सुरक्षा के साथ जाएँ, परन्तु राजीवजी ने कहा–इसकी कोई जरूरत नहीं है। बस, सुरक्षा के नाम पर बमुश्किल मैं साथ गया।"

चालीस सालों में बहुत कुछ बदल गया। राजीवजी की इच्छाओं के विरुद्ध सुरक्षा इंतजामों को कड़ा करना पड़ा है। इतिहास-चक्र की गति विलक्षण है। साक्षी है

काल, जीवन और मृत्यु की एक झीनी पारदर्शी रेखा भी जनता तथा उस काया के बीच नहीं थी। एक निश्छल व निर्मल और सीधा सरोकार जनता के साथ रहे, इसलिए प्रार्थना-सभा में उसने उत्सर्ग को चुना था और राज्य-संगीनों के साए को अस्वीकार किया था। धर्मनिरपेक्षता पर तंग दिमागी का धब्बा न लगे, उत्सर्ग-महायात्रा के एक और सहयात्री ने अपने ही अंगरक्षकों के हाथों उत्सर्ग का वरण किया था।

काल के महासागर में कितना पानी बह चुका है। संगीनों के साए में निवास स्थान जिंदा है। जगह-जगह कड़ी सुरक्षा-जाँच के पश्चात दर्शनस्थल तक पहुँचा जा सकता है। पर प्रधानमंत्री सुरक्षा-परिधि को लाँघने की ताक में हमेशा रहते हैं। उनका यह उतावलापन दिल्ली-बाहर के दौरों में ज्वार बन जाता है। दौरे तमिलनाडु के हों या अमेठी के या कहीं और के, मचल उठते हैं वे लोगों से मिलने के लिए। लोग उन पर, और वे लोगों पर टूट पड़ते हैं। लोक-संवाद के लिए निरंतर सत्रह-अठारह घंटों की यात्राएँ, सफर में प्रधानमंत्री की दिनचर्या बन गई हैं। संवाद-यात्राओं के दौरान सबसे अधिक चिढ़ उन्हें सुरक्षा तथा अन्य तामझामों से होती है।

एक वाकया है। अमेठी यात्रा के दौरान रात को ग्यारह-बारह बजे सुनसान जंगल में कारों का काफिला रुकवा दिया। न जाने क्या सनक सवार हुई, राजीव गाँधी पीछे आनेवाली एक कार में टॉर्च मारकर झाँकने लगे। टॉर्च की लाइट हमारे चेहरों पर पड़ी तो हैरत हुई, भारत का प्रधानमंत्री सामने खड़ा है। दरयाफ्त किया—राजीवजी, क्या हुआ ? आप इस प्रकार बगैर अंगरक्षक के भटक रहे हैं?

प्रधानमंत्री : कारों ने परेशानी पैदा कर दी है। इतनी कारें साथ में चल रही हैं। कोई जरूरत नहीं है।

यह कहकर एक झटके के साथ आगे बढ़ गए। उनके अंगरक्षक पीछे छूट गए। बाद में पुलिसवालों ने बताया कि काफिले में सौ से अधिक कारें थीं। अंत में, प्रधानमंत्री ने स्वयं आदेश दिया कि बारह कारों से अधिक कारें साथ में नहीं रहेंगी। यह वाकया एक बार नहीं, दो बार हुआ। अन्य यात्राओं में भी उनकी यह झुँझलाहट उबली। उनके एक सुरक्षा-अधिकारी का कहना था कि सोनियाजी बीच में न पड़ें तो प्रधानमंत्री सुरक्षा की धज्जियाँ उड़ा दें। जनता और उनके बीच कोई दीवार न रहे, वे यह चाहते हैं। इसीलिए न सुबह का दर्शन, जनता-दर्शन जैसे संबोधन बदलकर अब सुबह के साक्षात्कार को 'जनसंपर्क' नाम दिया गया है। जनसंपर्क या जन-संवाद को प्रधानमंत्री एक विशाल अनुभव के रूप में देखते हैं। उनके अनुभवों की स्लेट काफी साफ एवं खाली है, इसलिए उनकी कोशिश रहती है कि जन-साक्षात्कार के माध्यम से अनुभवों की नई इबारत लिखें। भारतीय समाज की

ज्यादातर सच्चाइयाँ उनके लिए एक नया सबक है। इसलिए जब उनका पाला ऐसी सच्चाइयों से पड़ता है, वे अवाक् रह जाते हैं। एक ऐसी ही घटना है।

उनके निवास पर हरियाणा के सौ-एक हरिजन स्त्री-पुरुष जमा थे। हरियाणा में उनके साथ अन्याय हुआ था। हत्या और बलात्कार के साथ वे जिंदा थे। उन्हें सुरक्षा और इंसाफ चाहिए था।

प्रधानमंत्री उनके पास पहुँचते हैं। शोर मच रहा है। बच्चे चीख रहे हैं। वे अपनी यातना-कथा प्रधानमंत्री को सुना रहे हैं।

हरिजन : हमारे साथ पूरा न्याय किया जाए। पूरा बाल्मीकि समाज कांग्रेस के साथ रहा है। हमारे साथ हरियाणा में अत्याचार हो रहा है। आज इसीलिए हमें प्रधानमंत्री तक पहुँचने का समय मिला है और यहाँ तक हम पहुँचे। तीन हजार का जुलूस लेकर डी.सी. तक पहुँचे थे, परन्तु कोई कार्रवाई नहीं की।

प्रधानमंत्री : मंत्री से भी मिले?

हरिजन : जी हाँ। परंतु कुछ नहीं हुआ। *(इसी बीच एक बच्चा चीखने लगता है। शायद भूख-प्यास के कारण, प्रधानमंत्री उसकी तरफ देखते हैं।)* हमारी अपील है कि इसे देखा जाए। *(बच्चे का रोना जारी है।)*

प्रधानमंत्री : बच्ची क्यों रो रही है? *(हरिजन इस सवाल पर ध्यान नहीं देते हैं। रोते हुए कहते हैं–)*

हरिजन : समर्थ लोग हैं वे, हमारी इज्जत लूटते हैं। हमें मार दिया जाता है। हमारी बहू-बेटियों की सरे-आम इज्जत लूट ली जाती है। मनीषा जैसा कांड होता है तो देश के सारे अखबारवाले बड़ी-बड़ी सुर्खियों में छाप देते हैं। परंतु हमारी इस बात के बारे में अखवारवाले भी चुप रहे। कोई अखबारवाला इसे नहीं निकाल सका। अब हमारी आखिरी दरख्वास्त आपसे है, क्योंकि हम अपनी बहू-बेटियों की इज्जत लुटते हुए कैसे देखें?

प्रधानमंत्री : *(शिकायतभरे अंदाज में मेरी ओर देखते हैं)* देखा आपने? आपकी प्रेस क्या करती है? *(प्रधानमंत्री उनसे अर्जियाँ लेते हैं। उनके साथ चित्र खिंचवाते हैं।)*

एक नंग-धड़ंग साधु राजीव गाँधी से टकराता है। पचास-साठ साल का है। रस्सी की लँगोटी बाँध रखी है। हाथ में लाठी है। खुद बैठा रहता है, राजीव झुककर उसकी बात सुनते हैं। बीच-बीच में साधु उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद भी देता है।

साधु : इंदिराजी की समाधि के पास मैं बेटा एक पारसनाथ मंदिर बना रहा हूँ।

तो बेटा मैं थक गया हूँ । तेरा साथ हो गया है, मैं किसी से कुछ नहीं माँगता । मैंने आपके पास चिट्ठी भी दी है । मैं फलाहारी बाबा हूँ । अपना सदा आशीर्वाद दे रखा है सबको । संजयजी को भी । तो बच्चा आपको मिलने आया हूँ । रामायण चलाता हूँ । इंदिराजी भी जानती थीं । तो किसी दिन आप आओ ।

प्रधानमंत्री : हाँ, मैं किसी दिन ...

(राजीवजी जल्दी में होते हैं, पिंड छुड़ाने की मुद्रा में ।)

साधु : मेरा स्थान इंदिरा-जवाहरलालजी के बीच में है । तो बच्चा, मैं पारसनाथ शंकरबाबा बनाना चाहता हूँ । सदा मैं तेरे नाम से जपता हूँ ।

प्रधानमंत्री : क्या सरकार की जमीन है ?

साधु : वो सब जमीन आपकी ही है, मेरा कुछ नहीं है । *(प्रधानमंत्री फिर मुस्कुराते हैं)* मेरा तो प्रेम और शांति है । भारत में तेरी जय हो । बेटा, तेरी सदा जय हो ।

प्रधानमंत्री : *(हँसते हुए)* ध्यान में रखेंगे ।

साधु : तू सदा मौज करेगा । मेरा सदा आशीर्वाद है । पूरे परिवार के लिए है । *(आत्मीयता के साथ प्रधानमंत्री के सिर पर हाथ रखता है । दोनों हँसते हैं । साधु अपनी अक्खड़ी धुन में दृश्य से गायब हो जाता है ।)*

अब दृश्य में श्रीनिवास तिवारी, रामेश्वर नीखरा, दिलीपसिंह भूरिया, सुश्री बिमला वर्मा प्रकट होती हैं । सुश्री बिमला वर्मा राजीव गाँधी को चंद सेकंडों के लिए एक ओर ले जाती हैं । कान में कुछ फुसफुसाती हैं ।

और इस तरह से संपर्क व संवाद का निरंतर सिलसिला चलता रहता है प्रधानमंत्री के साथ । संवाद में दरार न पड़े इसकी जिम्मेदारी शासक की है । दिलीपसिंह भूरिया जैसे वंचित वर्ग के कई सांसदों को इस बात की पीड़ा है कि जोरावर वर्ग के प्रतिनिधि प्रधानमंत्री को घेरे रहते हैं । उन्हें आसानी से मिलने का वक्त दे दिया जाता है । दूरदराज के पिछड़े व निर्धन लोग कई-कई दिन तक राजधानी में भटकते रहते हैं । वे राजीव गाँधी से मिलने में असफल रहते हैं, प्रधानमंत्री के साथ दिल की बात नहीं कर पाते हैं । बड़े लोग बात भी करते हैं, और अपनी माँगें मनवा भी लेते हैं । प्रधानमंत्री को चाहिए कि वे दूरदराज के गाँवों के लोगों और खासतौर पर वंचित वर्गों के प्रतिनिधियों के लिए मिलने का समय निश्चित कर दें । उस दिन वे किसी और से न मिलें । राजीव गाँधी को इस ओर चौकस रहने की आवश्यकता है ।

यह सच भी है, संवाद जब टूटता है, शून्यता उसका स्थान ले लेती है, तब शासक निरंकुश होने लगता है । वह हर चेहरे में स्वयं को प्रतिबिम्बित देखना चाहता है ।

उसे साथी या सहयोगी की जरूरत नहीं होती है, खवास या खवासिन को जमा करना उसका राज-धर्म बन जाता है। ऐसे में प्रजा या जनता मनुष्य नहीं, सत्ताभोग की 'वस्तु' बन जाती है। किसी समाज या राष्ट्र की ऐसी त्रासदी पर दुष्यंत कुमार से बेहतर कौन टिप्पणी कर सकता है :

न हो कमीज
तो पाँवों से पेट ढँक लेंगे
ये लोग कितने मुनासिब हैं
इस सफर के लिए।

ऐसा सफर टूटे, संवाद न टूटे, जनता को गूँगी, बहरी और शॉर्टमेमरी में न बदला जाए, ऐसी एक न्यूनतम उम्मीद प्रधानमंत्री से करना गैरमुनासिब माना जाएगा?

12 फरवरी, 1989

'सत्ता-संघर्ष ही आखिरी क्षितिज नहीं'

पिछले दिनों दिल्ली-रायपुर यात्रा में श्री अर्जुनसिंह ने चौंकाया : आहिस्ता से अपना ब्रीफकेस खोला और सोवियत नेता गोर्बाचोव की पुस्तक 'पेरोस्त्रोइका' निकालकर चुपचाप पढ़ने लगे। इस दशक की चर्चित पुस्तकों में से एक 'पेरोस्त्रोइका' तब तक आम सुलभ नहीं थी। सीमित संख्या में पहुँची हुई थी। इस भारी-भरकम पुस्तक पर तत्कालीन संचारमंत्री की आँखें रायपुर तक जमी रहीं।

'एक, कम्युनिस्ट नेता की ऐसी पुस्तक पढ़ने का सबब ?' मैं जिज्ञासा बाँध नहीं सका, पूछ ही लिया।

'क्यों कोई ऐतराज? भारत जैसे देश के लिए समाजवादी देशों में परिवर्तन की ताजा प्रक्रियाओं को समझना उपयोगी होगा। इस दृष्टि से यह पुस्तक एक सार्थक पहल से परिचित कराती है।' और एक गर्वीली मुस्कान के साथ अपना वाक्य पूरा करने लगे, 'जानते हैं, इसे मेरी बेटी ने जन्मदिन पर प्रजेंट किया है।'

अर्जुनसिंह के साथ यह एक असामान्य घटना नहीं थी। चुपचाप खिसककर बुकस्टालों पर पहुँच जाना और ढेर सारी पुस्तकें खरीद लेना उनकी यात्राओं का एक सहज पक्ष रहा है। उनके निजी पुस्तकालय में राजनीतिक दर्शन संबंधी अनेक पुस्तकें देखी जा सकती हैं। विश्व राजनेताओं की राजनीतिक पेचीदगियों को समझना और ताजा वैचारिक व राजनीतिक उथल-पुथल से परिचित रहना, उनके लिए यह जरूरी खुराक है। 'पेरोस्त्रोइका' यानी पुनर्निर्माण उनके लिए एक ताजा 'टॉनिक' थी।

नई दुनिया के भोपाल संस्करण के उद्घाटन-अवसर पर अर्जुनसिंह ने शासन व शासक की एक परिभाषा की थी। नागरिकों पर हुकूमत करना और उपलब्धियों

की लंबी फेहरिस्त तैयार करना ही काफी नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि शासक व शासन कितना संवेदनशील है? उनका परिप्रेक्ष्य व दृष्टि क्या है? समाज में गुणात्मक परिवर्तन लाने के लिए दोनों कितने प्रतिबद्ध हैं? इस सन्दर्भ में स्व. इंदिरा गाँधी के बँधुआ मुक्ति व ऋणग्रस्तता उन्मूलन कार्यक्रम और 1980-84 के मुख्यमंत्री अर्जुनसिंह के झुग्गी-झोंपड़ीवासियों एवं रिक्शा चालकों को मालिकाना हक देने के कदम सतही तौर पर चुनावी स्टंट या सस्ती लोकप्रियता के हथकंडे लग सकते हैं। परन्तु, एक ठहरे समाज में ऐसी पहलकदमियों से पेंदे और सतह पर हलचल पैदा हुई है, नई लहरें उठी हैं। धरा के अभागों में स्वामित्व का बोध एक साथ कई प्रक्रियाओं को शुरू कर डालता है।

भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में इस कंपन की आवश्यकता है। अर्जुनसिंह से तीसरी दुनिया के नेतृत्व और मौजू मुद्दों पर साक्षात्कार नहीं, बल्कि एक संवाद किया गया। यह संवाद दो-तीन चरणों में पूरा हुआ। इसका सरोकार रोजमर्रा की राजनीति से नहीं था। बल्कि संवाद के बिंदु थे- विकसित पूँजीवाद, सामंतवाद, उपनिवेशवाद, समाजवादी देशों में परिवर्तन, फासीवाद, पिछड़े देशों का मजहबी फासीवाद, संक्रमण काल का नेतृत्व व परिवर्तन की रणनीति, नेतृत्व की विकल्पहीनता की त्रासदी आदि। सहमति व असहमति संवाद में बराबर बनी रही।

जोशी : *क्या आज तीसरी दुनिया विकल्पहीनता के दौर से गुजर रही है ?*

अ. सिं : तीसरा विश्व 'विकल्पहीनता' में जीवित है, मैं इससे असहमत हूँ। बल्कि मैं यह कहना चाहूँगा कि औपनिवेशिक काल में भी विकल्पहीनता नहीं थी। नेतृत्व का संकट भी कभी नहीं रहा। इतिहास साक्षी है माओ, गाँधी, नेहरू, होची मिन्ह जैसे युग पुरुष औपनिवेशिक काल की ही देन हैं। नेतृत्व की दृष्टि से औपनिवेशिक काल में ही अफ्रीका ने इतिहास में नए अध्याय जोड़े हैं। यदि विकल्पहीनता या नेतृत्व-संकट के सिद्धांत को स्वीकार करें, तब हमें दक्षिण अफ्रीका और लातिनी देशों के मुक्ति-संघर्षों के अस्तित्व को भी अस्वीकार करना पड़ेगा। मैं समझता हूँ, ऐसा करना इतिहास के साथ अन्याय होगा।

सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष ही तीसरे विश्व की ऐतिहासिक विशेषता कही जाएगी। विकल्पहीनता या नेतृत्वहीनता के वातावरण में इस प्रकार के संघर्षों का होना संभव नहीं है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो पिछड़े, उत्पीड़ित और विकासशील देशों के लिए संघर्ष ही एक विकल्प है। बदलते संदर्भों में विश्व में नई अर्थव्यवस्था को जन्म देने के लिए तीसरी दुनिया के संघर्ष को 'नव-विकल्प' की संज्ञा दी जा सकती है। एशिया, अफ्रीका, लातिनी देशों का नव-नेतृत्व इस विकल्प को अमली रूप देने के लिए प्रयत्नशील भी है।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन (दक्षेस) जैसी गतिविधियाँ इस दिशा के महत्वपूर्ण सोपान हैं। नासिर, इंदिरा गाँधी, कास्त्रो, जूलियस न्यरेरे, नेल्सन मंडेला जैसे नेताओं ने तीसरे देशों के नेतृत्व में नए आयाम जोड़े हैं, क्या इससे इंकार किया जा सकता है? इन देशों का युवा नेतृत्व भी संघर्षशील विरासत को समृद्ध बनाने में प्रयत्नशील है।

यह सच है कि सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक धरातलों पर काफी कुछ किया जाना शेष है क्योंकि औपनिवेशिक शासन ने तीसरे विश्व के समाजों के जीवंत तत्वों को खोखला करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है; उसे बुरी तरह से झकझोरा है। फलस्वरूप इन देशों में कई विसंगतियाँ दिखाई देती हैं। प्राचीनता और आधुनिकता का विवेकपूर्ण समन्वय नहीं हो पाया है। उपभोक्ता संस्कृति का विस्फोट हो चुका है जबकि समाज इसका सामना करने के लिए पूरी तौर पर तैयार नहीं है। इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि भारत, अफगानिस्तान, पाकिस्तान जैसे तीसरी दुनिया के देशों में विसंगतिपूर्ण विकास-व्यवस्थाएँ मौजूद हैं; औद्योगीकरण के साथ-साथ कबीलाई व आदिवासी अर्थव्यवस्थाएँ विद्यमान हैं।

यह संभव है कि इस विरोधाभास ने नए तनावों और अंतर्विरोधों को जन्म दिया है। तीसरे विश्व के राजनीतिक मैनेजमेंट के सामने निश्चित ही ये तनाव एक चुनौती हैं क्योंकि संक्रमण काल की कई समस्याएँ होती हैं; कभी इनका हल शीघ्र मिल जाता है, और कभी विलंब से। जब विलंब होगा तो कोलाहल होना स्वाभाविक है।

इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि तीसरी दुनिया की जनता की अपेक्षाएँ भी तेजी से बढ़ी हैं। वे नेतृत्व से शीघ्रता की अपेक्षा रखती हैं। जब अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं होती है तब नेतृत्व के प्रति कई प्रकार की आशंकाएँ पैदा हो जाती हैं। वैसे संक्रमण काल में निरंतर अनिश्चितता, अस्थिरता और आशंकाओं का वातावरण रहता भी है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया भी है। विकास के विभिन्न मॉडलों को लेकर प्रयोग चलते रहते हैं; कभी भी प्राथमिकताएँ स्पष्ट नहीं रहतीं। शार्टकट से प्रगति के शिखर पर पहुँचने का लोभ भी समाज में पैदा हो जाता है और पिछड़े देश इन दबावों के कारण किसी भी शक्तिशाली खेमे से जुड़ने के लिए विवश हो जाते हैं। यदि नेतृत्व जमीन से जुड़ा है तो संक्रमण काल की विसंगतियों को सुलझाया जा सकता है पर इसके लिए राजनीतिक इच्छा-शक्ति का होना आवश्यक है।

जोशी : *क्या आज तीसरे विश्व का नेतृत्व विशिष्ट वर्गीय नहीं है?*

अ. सिं. : यह मत आंशिक रूप से सच है कि पिछड़े देशों का नेतृत्व विशिष्ट वर्गीय है। नेतृत्व-वर्ग की दृष्टि व लोक-दृष्टि में अंतर भी है। नेतृत्व-वर्ग की जीवन-शैली भिन्न होती है। जनमानस व राजमानस के बीच 'परायापन' भी

दिखाई दे सकता है। ये सब बातें सही भी हो सकती हैं। पर इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि तीसरी दुनिया के देशों का नेतृत्व-वर्ग पश्चिम का पिट्ठू है या नकलची है। भारत इसका उदाहरण है। यहाँ के नेतृत्व ने स्वतंत्रता के पश्चात यथार्थवाद को अपनाया और विकास की एक देसी दिशा निर्धारित की है। भारत में कई अभूतपूर्व प्रयोग भी हुए हैं। नेहरूजी को इनका सूत्रधार कहा जा सकता है। मैं नहीं समझता कि हम अपने प्रयोगों में बिलकुल ही फेल हुए हैं। कमियाँ अवश्य रही हैं। परंतु देश के नेतृत्व-वर्ग ने उनमें संशोधन के द्वार कभी बंद नहीं किए। वास्तव में भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था इस बात का प्रमाण है कि आजादी के बाद का नेतृत्व विकास के तनावों को कम करना चाहता था। यह समय की माँग भी थी। देश के पुनर्निर्माण में मिश्रित व्यवस्था ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई भी है । समाजवादी निर्माण के लिए नेतृत्व प्रतिबद्ध भी है।

इसके साथ ही यह जरूर स्वीकार किया जाना चाहिए कि मिश्रित अर्थव्यवस्था की कुछ सीमाएँ हैं। आरोप लगाए जा सकते हैं कि इसके अपेक्षित परिणाम नहीं निकले। पर इस अर्थव्यवस्था को बिलकुल 'ब्लैक एण्ड ह्वाइट' में देखना भी ठीक नहीं है।

जोशी : *विकसित योरपीय पूँजीवादी तथा समाजवादी शिविरों के राष्ट्रों में काफी हद तक परस्पर विश्वास है। योरपीय आर्थिक समुदाय काफी प्रभावशाली है, पर एशियाई व अफ्रीकी देशों में इस विश्वास की कमी है। क्या इसकी यह वजह नहीं है कि इन देशों का नेतृत्व परस्पर भयग्रस्त है और स्वतंत्र निर्णय लेने में अक्षम है?*

अ. सिं. : यह कहना एक जल्दबाजी का निष्कर्ष होगा। नवस्वतंत्र राष्ट्रों की कई बुनियादी समस्याएँ हैं। पूर्व साम्राज्यवादी शासकों ने इन देशों को हर स्तर पर विभाजित रखने की पूरी कोशिश की है। उसमें वे सफल भी रहे हैं। इसलिए एक स्वाभाविक विश्वास का अभाव उनमें दिखाई देता है। इन देशों में विकास के तनाव भी हैं। राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी अंतर है। भारत की अर्थव्यवस्थाओं की बुनियाद आत्मनिर्भरता है, जबकि कुछ देशों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। एशिया के कई देश योरपीय-अमेरिकी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के उपग्रह या ग्राहक-देश बनकर रह गए हैं।

परंतु इस स्थिति से मुक्ति की दिशा में दक्षेस को एक महत्वपूर्ण कदम कहा जा सकता है। दक्षेस भारतीय उप-महाद्वीप के बीच सहयोग की भावना की एक साकार अभिव्यक्ति है। यह सही है कि इसकी तुलना योरपीय आर्थिक समुदाय के साथ नहीं की जा सकती। वह विकसित राष्ट्रों का एक आर्थिक जमघट है। दक्षेस की अभी केवल शुरूआत है। यह पहल निश्चित ही दक्षेस राष्ट्रों में दीर्घकालीन विश्वास पैदा करेगी। यदि यह पहल सफल रही तो इसके दूरगामी परिणाम निकलेंगे। दक्षेस की

सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसके सदस्य-राष्ट्र नव-साम्राज्यवाद से मुक्त रहें : क्षेत्रीय अंतर्विरोधों का समाधान क्षेत्रीय दायरे में किया जाए; महाशक्तियों के दरवाजों पर दस्तक देने के मोह से बचा जाए। यदि दक्षेस प्रयोग सफल रहा तो निश्चित ही कालांतर में पिछड़े देशों का नेतृत्व अधिक सुदृढ़ होगा। विकासशील देशों के साथ कोई खिलवाड़ नहीं कर सकेगा।

जोशी : *विश्व में विकास के दो मॉडल हैं– पूँजीवादी और समाजवादी। समझ में नहीं आता कि भारत का रास्ता कौन-सा है? ऐसा नहीं लगता कि हम विसंगतियों और विरोधाभासों के दौर से गुजर रहे हैं ?*

अ. सिं. : विकास एक सपाट मैदान नहीं है, पेचीदा प्रक्रिया है। इस दृष्टि से भारत अपवाद नहीं है। हमारे देश में प्रयोगों की पूरी गुंजाइश है। आप जानते ही हैं कि प्रयोग सभी देशों में हो रहे हैं। समाजवादी देश भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। तब भारत में इससे परहेज नहीं किया जाना चाहिए। परंतु, शर्त यह है कि मूलभूत आदर्श और लक्ष्य के संबंध में कोई भटकाव नहीं होना चाहिए।

आप जानते ही हैं कि संविधान की दृष्टि से भारत का रास्ता समाजवादी है। एक मिश्रित अर्थव्यवस्था का मॉडल हमारे नेताओं ने स्वीकार किया है।

जोशी : *मगर चालीस वर्ष के अनुभव इस सच्चाई के साक्षी हैं कि भारत समाजवाद के लक्ष्य से काफी दूर है। भारत में न तो एक उन्नत पूँजीवादी व्यवस्था है, और न ही गतिशील समाजवाद है। मिश्रित अर्थव्यवस्था का लाभ एक सीमित वर्ग तक पहुँचता है। क्या आप इससे इंकार करते हैं ?*

अ. सिं. : यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं है कि इस व्यवस्था का लाभ केवल सीमित वर्ग तक पहुँचा है। मेरे मत में इसका विस्तार हुआ है। परंतु, जनसंख्या के विस्फोट ने इसके लाभों को धुँधला कर दिया है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि समाज के कई वर्ग ऊपर उठे हैं; बल्कि पिछड़ों में भी समृद्ध वर्ग पैदा हुआ है। समाजशास्त्रीय अध्ययनों का यह निष्कर्ष है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की विभिन्न उपलब्धियों के बावजूद इसमें आंशिक सत्यता है कि विषमता दूर नहीं हुई है। सदियों से दलित व उत्पीड़ित वर्गों के साथ अपेक्षित सामाजिक व आर्थिक न्याय नहीं हो सका है। इसके कई ऐतिहासिक कारण भी हैं। भारत में आज भी सामंती और महाजनी मानसिकता हावी है। यद्यपि सामंतवाद और महाजनी पूँजीवाद एक संस्था के रूप में समाप्त हो चुके हैं, पर संस्कार के रूप में अवश्य जीवित हैं। परिणाम यह है कि हमारी आधुनिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संस्थाओं में अपेक्षित गतिशीलता का अभाव है। देश का राजनीतिक नेतृत्व ठहराववादी मानसिकता को तोड़ने तथा समाज में [illegible] ने में आंशिक

रूप से विफल रहा है। सभी दल इस विफलता के लिए जिम्मेदार हैं। तभी आजादी के चार दशकों के बावजूद मंदिरों में हरिजनों का प्रवेश-निषेध, सती प्रथा, दहेज प्रथा, जातिवाद, सांप्रदायिकता जैसी समस्याएँ देश को हिलाए रखती हैं। आदिवासी समाज आज भी कई लाभों से वंचित है। व्यवस्था में निहित विसंगतियों के कारण ही औद्योगीकरण का अपेक्षित लाभ नीचे तक नहीं पहुँच सका है। केंद्र और प्रदेशों के बीच विभिन्न क्षेत्रों में असंतुलन बना हुआ है। केंद्र का शासनतंत्र अधिक गतिशील व चुस्त माना जाता है।

विभिन्न विफलताओं के बाद भी मिश्रित अर्थव्यवस्था के मॉडल को मैं भारत के लिए उपयुक्त मानता हूँ। वैसे इसमें सुधार की आवश्यकता है। सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों को समाज के प्रति जवाबदेह बनाने की आवश्यकता है। निजी क्षेत्र में भी समाज के प्रति संवेदनशीलता का अभाव है। किसी भी क्षेत्र को समाज के प्रति उत्तरदायित्व की कीमत पर विकास व लाभ की अनुमति नहीं दी जा सकती।

याद रखिए किसी भी व्यवस्था का मूल उद्देश्य आर्थिक या राजनीतिक उपलब्धियाँ ही नहीं हैं, बल्कि समाज के व्यक्तित्व का समतावादी व सर्वांगीण विकास भी है। इस दृष्टि से समाजवाद या पूँजीवाद की समीक्षा करना अनुचित नहीं होगा। निःसंदेह समाजवाद विकास की सबसे बेहतर अवस्था है। उसमें कमियाँ हैं तो उन्हें दूर किया जाना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि पूँजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना की गई थी। दोनों व्यवस्थाओं ने अपने-अपने अनुभवों से सीखा है। नए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दबावों के वातावरण में आज इन व्यवस्थाओं में संशोधन भी आवश्यक हो गए हैं। परंतु भारत के संबंध में विकास का स्वदेशी मॉडल जरूरी है। निश्चित ही पूँजीवादी रास्ते से भारत अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेगा।

जोशी : *मान लीजिए कभी देश के तीनों सर्वोच्च पदों पर आदिवासी, हरिजन और पिछड़ों का वर्चस्व कायम हो जाए, तब सवर्ण नेताओं की मनोदशा क्या होगी? क्या इससे गुणात्मक परिवर्तन आएगा ?*

अ. सिं. : सवाल काफी सामयिक है। इसमें दो मत नहीं, इसका एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव अवश्य पड़ेगा। आर्थिक और राजनीतिक नेतृत्व पर जिस वर्ग का पुश्तैनी अधिकार रहा है, हो सकता है उन्हें यह परिदृश्य रास न आए। उत्पीड़ित व दलित वर्ग का वर्चस्व कभी नहीं रहा। इसका दुष्परिणाम यह निकला है कि समाज की समूची ऊर्जा व सृजनशीलता को पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी। संविधान के अंतर्गत ऐसे वर्गों को संरक्षण प्राप्त है। परंतु केवल मंत्री, सांसद, विधायक और अधिकारी बनने से ही काम नहीं चलता। प्रश्न यह है कि आदिवासी-हरिजनों में से कितने वैज्ञानिक, लेखक, कलाकार, दार्शनिक, समाजशास्त्री बन सके। इन वर्गों

की सृजनशील ऊर्जा को जागृत करना आवश्यक है। केवल अधिकारी या नेता बनने से ही काम नहीं चलेगा। जरूरी है कि इतिहास सवर्ण नायकों के समान आदिवासी-हरिजन वर्गों के नायकों को भी स्वीकार करे; समाज में उन्हें उचित मान्यता मिले।

इस दृष्टि से मेरे मंत्रालय (अर्थात संचार मंत्रालय) ने एक छोटी-सी पहल की है। पिछले वर्ष राजीवजी ने छत्तीसगढ़ के शहीद आदिवासी वीर नारायण सिंह की स्मृति में डाक-टिकट जारी किया है। अन्य आदिवासी स्वतंत्रता सेनानियों की स्मृति में भी डाक टिकट जारी किए जा रहे हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य है कि समाज के विकास में इन वर्गों की भूमिका को भी वांछित मान्यता मिले।

जोशी : *आपने देखा, देश की तपस्वी राजनीतिक पीढ़ी समाप्त हुई, संक्रमण काल की पीढ़ी भी लुप्त होने को है। वर्तमान पीढ़ी किस परिप्रेक्ष्य में जीवित है, यह स्पष्ट नहीं है। भावी पीढ़ी का क्या परिप्रेक्ष्य हो सकता है, यह अनिश्चित है। इस संबंध में आपकी टिप्पणी ?*

अ. सिं. : देखिए, परिप्रेक्ष्य की बिलकुल शून्यता है, ऐसा मैं नहीं मानता। एक परिप्रेक्ष्य अवश्य है; गाँधीजी और नेहरूजी भारत के लिए एक आधारभूत परिप्रेक्ष्य तैयार कर चुके हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम नए संदर्भों, नई परिस्थितियों में इस परिप्रेक्ष्य को लागू करें। इंदिराजी ने बदले संदर्भों के मुताबिक इसे ढाला; परंतु वे मूल-मार्ग से कभी विचलित नहीं हुईं। क्या भारत धर्मनिरपेक्षता, गुटनिरपेक्षता, समाजवाद, गरीबी के विरुद्ध लड़ाई, सर्वहारा वर्ग के कल्याण जैसे सिद्धांतों को छोड़ सकता है ? यदि ऐसा होता है तो वह दिन भारत के लिए आत्मघाती दिन होगा। भावी पीढ़ी के लिए भी यही आधारभूत परिप्रेक्ष्य होगा। यह जरूरी है कि समय-समय पर प्राथमिकता बदलती रहे। प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी भी यही चाहते हैं कि भारत में जड़ता पैदा नहीं होने दी जाए। भारत को नई परिस्थितियों, नई चुनौतियों के लिए तैयार किया जाना चाहिए। देश के राजनीतिक नेतृत्व को भी एक ढर्रावादी शैली से मुक्ति लेनी होगी, परिवर्तन के जेनुइन विकल्प खोजने होंगे। केवल सत्ता संघर्ष से ही काम नहीं चलेगा। सत्ता के आगे भी एक क्षितिज है। वर्तमान और भावी पीढ़ियों को इसे नहीं भूलना चाहिए।

जोशी : *पिछले दिनों आपकी पार्टी के वयोवृद्ध नेता श्री उमाशंकर दीक्षित ने एक अँगरेजी साप्ताहिक को दिए गए अपने साक्षात्कार में कहा है कि ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान पार्टी और देश के लिए अच्छा है। क्या इस तरह के वक्तव्यों से पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा नहीं मिलेगा ?*

अ. सिं. : जहाँ तक मुझे याद है, वे इस कथन का खंडन कर चुके हैं। फिर भी यह

स्पष्ट है कि पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ समाज की गतिशीलता को क्षीण बनाती हैं; उसे जड़ बनाती हैं; कालांतर में फासीवाद को जन्म देती हैं। पुनरुत्थान, कट्टरता, संकीर्णता जैसी ताकतों से किसी भी देश का आज तक भला नहीं हुआ है; बल्कि ऐसे देश कई प्रकार की ट्रेजडियों की चपेट में आ चुके हैं। जर्मनी इसकी मिसाल है। कुछ पड़ोसी देश भी आधुनिक संदर्भों में इसके प्रतीक हैं। इन देशों में एक मजहबी फासीवाद का वातावरण मौजूद है। दोनों ही सामाजिक और राजनीतिक संकट के दौर से गुजर रहे हैं। भारत और वे एक ऐसे भँवर में कभी न फँसें, इसके लिए सावधानी बरती जानी चाहिए। बिहार के जाति-संघर्ष, रामजन्मभूमि, बाबरी मस्जिद, मेरठ आदि के सांप्रदायिक दंगे सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक संकीर्णता और कट्टरवादिता के परिणाम ही कहे जाएँगे। ऐसी घटनाओं से प्रतिगामी ताकतों को ही बल मिलेगा; देश के जीवन में गतिशीलता कभी पैदा नहीं होगी।

जोशी : *देखने में आया है कि निजी एवं सार्वजनिक अवसरों पर जन-प्रतिनिधियों का व्यवहार सामंती व शाही किस्म का होता है। शासक दल भी इसका अपवाद नहीं है। ऐसा क्यों ?*

अ. सिं. : सामंती संस्कारों और प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष सिर्फ कानून के बल पर नहीं किया जा सकता। इसके लिए एक सामाजिक-राजनीतिक चेतना की आवश्यकता है। रूस और चीन में क्रांतियाँ हुए कई दशक बीत चुके हैं, परंतु बुर्जूआ संस्कारों के विरुद्ध आज भी वहाँ संघर्ष चल रहा है। ऐसे ही सांस्कृतिक संघर्ष की भारत में भी आवश्यकता है। मेरा यह मत है कि देश के प्रत्येक जागरूक नागरिक, विशेषकर जन-प्रतिनिधि को ऐसी प्रवृत्तियों या संस्कारों के सार्वजनिक प्रदर्शन से परहेज करना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रदर्शनों से कोई नए मूल्यों की स्थापना नहीं होती; कोई नया इतिहास नहीं बनता। पूर्व शासक रहें या सामान्य जनता, इतना निश्चित जानिए कि अब इस देश में सामंती व्यवस्था फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकती।

21 फरवरी, 1988

अर्जुन सिंह से साक्षात्कार - 2

चुनौतियों से चुनौतियों तक

"इतिहास की कैसी विडम्बना है ! कैसा भाग्यचक्र है ! उन्नीस सौ बावन में नेहरू द्वारा पिताश्री शिवबहादुर सिंह का सार्वजनिक अपमान और आज उन्हीं के नाती द्वारा मुझे संगठन के महत्वपूर्ण पद पर बैठाना, सब कुछ कितना विचित्र और संयोग-भरा लगता है। ... मैंने लिखा था कि पंडितजी, मैंने फैसला किया है कि जनसेवा के माध्यम से अपने भाग्य से प्रतिशोध लूँ, व्यक्ति से नहीं ...।"

राजनीतिक जीवन की कदाचित सबसे बड़ी विडम्बना ही यह होती है कि उसके लिए स्वयं को समर्पित कर देनेवाले लोग, अमूमन जरूरतों से ऊपर, लेकिन आकांक्षाओं के नीचे रह जाते हैं। केवल कुछ ही ऐसे लोग होते हैं, जो साहस को एक निरंतर उम्मीद में बदलते हुए, ध्येय को किसी भी कीमत पर नहीं भूलते। अर्जुनसिंह उन्हीं में से एक हैं। उन्होंने 1952 में चुरहट से मात्र एक छात्र नेता के रूप में अपने जीवन की शुरूआत की थी। बहरहाल, यह बात गौरवपूर्ण ही कही जाएगी कि एक भरी-पूरी शताब्दी तक 'लोगों की एकमात्र उम्मीद' बनी रही पार्टी के संगठन का दायित्व, पिछले दिनों उन्हें सौपा गया है। वैसे, संगठन और सत्ता की कार्य-शैली में थोड़ा-सा अंतर होता है। मसलन, जब आप किसी भी तरह का फैसला लेने की स्थिति में नहीं होते, तभी आपको सबसे अहम फैसले लेने होते हैं। लेकिन, ऐसी ही ढेरों कठिन घड़ियों में, ऐतिहासिक निर्णय लेते हुए, श्री सिंह नें अपने संयम की दृढ़ता के कई सबूत दिए हैं। पार्टी उपाध्यक्ष के नये रोल में अर्जुनसिंह से एक मुठभेड़।

सरकार और संगठन दोनों की सीमाएँ हैं

"देखिए, संगठन या सरकार की सर्वोच्चता के प्रश्न को पूरे परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। किसकी सर्वोच्चता किस पर है, इसे परिप्रेक्ष्य से [illegible] समझा जा

सकता है।" अर्जुनसिंह बौद्धिक अंदाज में कहने लगे, "असल बात यह है कि सरकार और संगठन दोनों की भूमिकाएँ प्रभावशाली दिखाई देनी चाहिए। पार्टी का आदेश रोज-रोज तो सरकार को दिया नहीं जा सकता। और वह उस पर हमेशा चले, ऐसा भी जरूरी नहीं है। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ और कार्यशैलियाँ हैं। फिर भी मैं यह निश्चित रूप से कहना चाहूँगा कि पार्टी की सर्वोच्चता कायम करने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। पार्टी अध्यक्ष व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने इस दिशा में प्रयास शुरू कर दिए हैं। अब समय तो लगेगा ही।"

"माना समय लगेगा। पर सर्वोच्चता या पार्टी की पहलकदमी को मान्यता तभी मिल सकती है, जब शिखर-नेतृत्व और धरातल-नेतृत्व के बीच स्वस्थ संवाद के रिश्ते हों। देखा यह जा रहा है कि दिल्ली के नेताओं और ब्लॉक स्तर के कार्यकर्ताओं के बीच समझदारी एवं कार्यशैली में बुनियादी अंतर है। दोनों की दृष्टियों में कई विसंगतियाँ हैं। इन्हें कैसे दूर करेंगे?" चर्चा बढ़ाने के लिए मैंने सवाल किया।

"मैं इससे पूरी तरह सहमत हूँ। नेतृत्व के दोनों वर्गों के बीच अंतराल है, किंतु इसे दूर करने के लिए ठोस प्रयास किए जा रहे हैं। प्रशिक्षण शिविर लगाए जा रहे हैं। नीचे से ऊपर तक संवाद की प्रक्रिया शुरू की जा रही है। जनता से संबंधित मुद्दों के प्रति मंडल स्तर से लेकर दिल्ली स्तर तक का नेतृत्व संवेदनशील बने, यह चेष्टा की जा रही है। हम चाहते हैं कि शिखर-नेतृत्व और निचले स्तर के नेतृत्व के बीच निरंतर विचारों तथा कार्यक्रमों का आदान-प्रदान होता रहे। इससे जुड़े व्यावहारिक पहलुओं पर विचार शुरू हो चुका है।"

"कांग्रेस में स्वच्छता की बात कही जा रही है। जैसे राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था है, उसमें क्या यह संभव है?"

"दृष्टि, प्रयास और परिणाम से ही हम सिद्ध कर सकते हैं कि पार्टी में स्वच्छता से हमारा क्या आशय है।" वे फिर अपनी पुरानी बात दोहराते हुए बोले, "आप जानते ही हैं कि आचार-संहिता बनाई जा रही है। स्वीकृत आचार-संहिता के खिलाफ जो भी जाएगा, उसके खिलाफ कार्रवाई की जाएगी। आपने अभी देखा, राजस्थान के जोशी-मंत्रिमंडल से पशुपालन मंत्री रामसिंह बिश्नोई को हटा दिया गया। आचार-संहिता में ऐसी सभी बातों को शामिल किया जाएगा। संपत्ति का सवाल भी आचार-संहिता में शामिल किया जाएगा।" उपाध्यक्ष ने एक महत्वपूर्ण बात यह जोड़ी, "आप जानते ही हैं कि समाज में आर्थिक विषमता है। हम चाहते हैं कि ग्रामीण-शहरी सीलिंग सख्ती से लागू की जानी चाहिए। दोनों ही क्षेत्रों में एक निर्धारित सीमा से अधिक जायदाद रखने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। यदि कोई कांग्रेसी इसे तोड़ता है तो आचार-संहिता के तहत उसके खिलाफ जाँच के बाद कार्रवाई की जाएगी।"

पहला फ्लैशबैक

इतिहास का एक बीता सफा। बरस 1952। स्वतंत्र भारत का पहला चुनाव। तत्कालीन विंध्य प्रदेश में मतदान की एक पूर्व संध्या।

प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू रीवाँ-क्षेत्र की एक चुनाव सभा को संबोधित करने मंच पर पहुँच चुके हैं। साथ में हैं (स्वर्गीय) शंभूनाथ शुक्ल और कप्तान अवधेश प्रताप सिंह। मंच के नीचे, पंक्ति में नेहरूजी के स्वागत के लिए खड़ा है एक छात्र नेता - रीवाँ के दरबार महाविद्यालय छात्रसंघ का अध्यक्ष। भाषण आरंभ होने से पहले स्थानीय नेता प्रधानमंत्री से कुछ बतियाते हैं। नेहरूजी तमतमाते हैं। वे अपने भाषण में घोषणा करते हैं–"चुरहट से खड़ा होनेवाला कांग्रेसी उम्मीदवार कांग्रेस का नहीं है। ताज्जुब है, जिस इंसान के खिलाफ हाईकोर्ट में मुकदमा चल रहा है, उसे पार्टी से टिकट कैसे दे दिया गया? वह हमारा अधिकृत उम्मीदवार नहीं है।" चारों तरफ खामोशी, ताज्जुब भरी। ऐन मौके पर प्रधानमंत्री का ऐसा ऐलान अपनी ही पार्टी के एक उम्मीदवार के खिलाफ ? किसकी हिम्मत जो नेहरूजी को चुनौती देता !

नेहरूजी फुर्ती से मंच से नीचे उतरते हैं। सबका अभिवादन स्वीकार करते हैं। छात्र-नेता से परिचय कराया जाता है– ये उक्त उम्मीदवार के बड़े पुत्र हैं। नेहरूजी युवक को गौर से देखते हैं। पीठ पर थपकी जमाते हैं, और दृश्य से चले जाते हैं। वह उम्मीदवार करीब एक हजार वोटों से हार जाता है। अदालती फैसला भी उसके खिलाफ जाता है।

सफा बदलता है। 1957 के चुनाव। इस दृश्य में डॉ. सुशीला नैयर उपस्थित होती हैं। तब का छात्र-नेता और अब का भरा-पूरा प्रौढ़ युवक। कानूनी डिग्री से लैस, अदालतों में प्रेक्टिस के लिए तैयार। सामंती विरासतवाले परिवार की तमाम जिम्मेदारियों को उठाए। इतिहास दोहराया जाता है। विंध्यप्रदेश के पुराने नेता, डॉ. नैयर से उक्त युवक को टिकट देने की सिफारिश करते हैं। कांग्रेस पर्यवेक्षक डॉ. नैयर, वकील युवक को बुलाती हैं। युवक से कहा जाता है, "प्रदेश के वरिष्ठ नेता चाहते हैं कि तुम ही चुरहट से चुनाव लड़ो। कांग्रेस का टिकट तुम्हें दिया जाएगा।" परंतु, युवक विनम्रता के साथ टिकट लेने से इनकार कर देता है। 1952 के इतिहास की याद दिलाते हुए, डॉ. नैयर से कहता है, "पहलेवाले चुनाव में भी मेरे स्वर्गीय पिता को टिकट दिया गया था। अदालत में उनके विरुद्ध केस चल रहा था। उन्होंने टिकट लेने से इनकार किया था। परंतु, षड्यंत्र करके टिकट दिलवाया गया, और मतदान के मौके पर सार्वजनिक रूप से उन्हें ज़लील करवाया गया। मैं वह इतिहास नहीं दोहराना चाहता। कांग्रेस का हूँ, कांग्रेस के साथ हमेशा रहूँगा। पर चुनाव कांग्रेस उम्मीदवार के रूप में नहीं लड़ूँगा। वचन देता हूँ, जीतने

के बाद कांग्रेस में शामिल हो जाऊँगा।" डॉ. नैयर युवक की टीस को अनुभव करती हैं। दोनों के बीच पत्र-व्यवहार भी होता है। वह युवक निर्दलीय प्रत्याशी के नाते चुरहट से खड़ा होता है और करीब ढाई हजार वोटों की जीत के साथ राजनीतिक अखाड़े में मँजे पहलवान की तरह पैर अड़ा देता है। कांग्रेस के अधिकृत उम्मीदवार मुनिप्रसाद शुक्ल की जमानत जब्त हो जाती है। परंतु, दोनों की चुनावी दुश्मनी यहीं से व्यक्तिगत मित्रता में बदल जाती है।

सफे कई बदलते हैं। 1952 का छात्र-नेता एक लंबा सफर तय करते हुए बजरिए भोपाल, चंडीगढ़ से दिल्ली पहुँचता है। सभी दाँव-पेंचों से लैस एक सफल रणनीतिज्ञ के रूप में उभरनेवाले इस राजनेता को 19 जनवरी 1986 की सुबह पं. नेहरू की तीसरी पीढ़ी के प्रतिनिधि राजीव गाँधी बुलाते हैं। संगठन की कुंजी थमा देते हैं। तब के युवक और आज के अर्जुनसिंह को कांग्रेस पार्टी का उपाध्यक्ष बना दिया जाता है। पार्टी के नए उपाध्यक्ष के लिए 1952 की घटना आज भी एक 'दुखद स्वप्न' है।

"इतिहास की कैसी विडंबना है, कैसा भाग्यचक्र है! 52 में नेहरूजी द्वारा पिता श्री शिवबहादुर सिंह का सार्वजनिक अपमान और आज उन्हीं के नाती द्वारा मुझे संगठन के महत्वपूर्ण पद पर बैठाना, सब कुछ कितना विचित्र और संयोग भरा लगता है! 1952 की घटना मेरे लिए राजनीतिक षड्यंत्र की पहली शिक्षा थी। उस समय के दो बड़े नेताओं ने पंडितजी को भड़काया और पिताजी को अपमानित करने के लिए षड्यंत्र की रचना की।" इस तरह से शुरू होती है अर्जुनसिंह की चुरहट से नई दिल्ली तक की यात्रा। सुखद और दुखद, दोनों तरह के पड़ावों से बारी-बारी गुजरते हुए उपाध्यक्ष अर्जुनसिंह इस प्रतिनिधि से पदों के महत्व को परिभाषित करते हुए कहते हैं, "आपने पूछा है कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में मंत्री-पद को सर्वोच्च माना जाता है। क्या उपाध्यक्ष बनने के पश्चात इस मान्यता में बुनियादी परिवर्तन हुआ है? मैं समझता हूँ पद का महत्व काफी कुछ देखनेवालों की दृष्टि पर निर्भर है। पदों को नापने के अलग-अलग मापदंड हैं। असली सवाल तो यह है कि पद ग्रहण करनेवाला व्यक्ति उस पद को किस दृष्टि से देखता है? पद का महत्व और उसकी उपयोगिता संबंधित व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर करती है। सच्चाई यह है कि पद अपने आपमें कुछ नहीं है। आप इसे क्या बनाना चाहते हैं, यह महत्वपूर्ण है। सीधी भाषा में कहूँ तो संगठन का पद मंत्री-पद से कम नहीं है।"

सत्तारूढ़ दल के उपाध्यक्ष के साथ यह बातचीत हो रही थी जमीन से 30 हजार फुट की ऊँचाई पर तैरते हुए विमान में। बगल की सीट पर बैठे थे केंद्रीय विधि मंत्री ए. के. सेन। उपाध्यक्ष, 14 फरवरी को पश्चिम बंगाल कांग्रेस की खोज-खबर लेने कलकत्ता की ओर जा रहे थे। कांग्रेस के कुछ नेता बीच-बीच में आते, चिट्ठी-पत्री,

शिकायत-सुझाव श्री सिंह को थमाते रहते। बातचीत आगे बढ़ती है।

दूसरा फ्लैश बैक

1954 के सफे वापस सामने हैं। अदालत का फैसला हो चुका है। युवा अधिवक्ता अर्जुनसिंह 5 मई को अपने पिता को रीवाँ सेंट्रल जेल के सुपुर्द करते हैं। सीखचों के अंदर पिता और बाहर पुत्र। सलाखों के इस पार से अर्जुनसिंह संकल्प लेते हैं, "आज जो कलंक परिवार पर लगा है, उसे जनता की सेवा के माध्यम से एक दिन धो डालूँगा।"

एक और याद। "1960 में मैंने पंडितजी को दिल्ली पत्र लिखा।" अर्जुनसिंह काफी कुछ भावुक हो उठे थे, फिर भी संयत थे; आगे बोले, "पत्र भावनाओं से ओतप्रोत था – मैंने लिखा था कि पंडितजी, मैंने फैसला किया है कि जनसेवा के माध्यम से अपने भाग्य से प्रतिशोध लूँ, व्यक्ति से नहीं। उनका जवाब भी आया। विधानसभा में मैंने इसी बीच एक प्रस्ताव रखा कि सभी जन-प्रतिनिधियों को अपनी संपत्ति की घोषणा करनी चाहिए। मैंने अपनी जायदाद का ब्यौरा तत्कालीन सभापति श्री कुंजीलाल दूबे को पत्र में दे दिया, जिसे उन्होंने सदन में पढ़कर सुना दिया। सदस्यों ने भारी विरोध किया। तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. काटजू से अपील की गई कि इस हिस्से को सदन की कार्रवाई से निकाल दिया जाए। मैंने इस संदर्भ में पंडितजी को भी पत्र लिखा। पत्र मिलते ही नेहरूजी ने दिल्ली बुलाया। उन्होंने संपत्ति-घोषणा की बात पसंद की। इसके बाद उसी साल ए. आइ. सी. सी. ने एक परिपत्र जारी किया, जिसमें निर्देश दिए गए कि निर्वाचित कांग्रेस प्रतिनिधि अपनी संपत्ति का विवरण पार्टी-अध्यक्ष को दें।

"इसी मुलाकात में पंडितजी से मैंने यह भी कहा कि जब-जब मैंने कांग्रेस में आने की कोशिश की, तब-तब कोई अप्रिय घटना घटती रही। प्रवेश टलता रहा। पंडितजी ने डॉ. काटजू से संपर्क किया। उसके बाद मैं विधिवत कांग्रेस में शामिल हो गया। आज भी मैं उसी संकल्प को पूरा करने में जुटा हूँ।"

हम वापस आज में लौटे–

"क्या ऐसा संभव हो सकेगा? प्रधानमंत्री के मुताबिक कांग्रेस में बिचौलियों और दलालों की भरमार है। सामंती तत्व हावी हैं। आप सामंतवाद से कैसे लड़ पाएँगे?" जवाब में वे अपनी विख्यात शालीनता व विनम्रता के साथ कहने लगे, "मैं समझता हूँ कांग्रेस में सामंतवाद या सामंतीवर्ग जैसी कोई चीज नहीं है। परंतु, सामंती मानसिकता अवश्य है। राजीवजी का भी इसी मानसिकता से आहत था।"

फिर कुछ क्षणों के लिए हमारी चर्चा साम्यवादी देशों के अनुभवों के आसपास घूमने लगी। "आप अच्छी तरह जानते हैं कि साम्यवादी देशों में सामंती एवं पूँजीवादी वर्ग तो समाप्त हो जाते हैं, परंतु वैसी मानसिकता लंबे समय तक बनी रहती है।" (याद आया, माओत्से तुंग ने कुछ ऐसा ही अनुभव किया था। उनकी मान्यता थी कि बुर्जुआ वर्ग की समाप्ति के बावजूद 'बुर्जुआ-मानसिकता' के खिलाफ संघर्ष लंबे समय तक जारी रहता है।) "कांग्रेस की भी ऐसी ही स्थिति है।" उपाध्यक्ष ने मत दिया। उनका तर्क था, "कांग्रेस ने सामंतवाद समाप्त कर दिया है, सामंत-वर्ग को तोड़ दिया है। इसलिए यह कहना कि सामंत-वर्ग पार्टी पर हावी है, सही नहीं है। यदि ऐसा होता तो कांग्रेस इतने प्रगतिशील कदम नहीं उठा सकती थी।" फिर जागीरदारी प्रथा, बंधुआ प्रथा, ऋण-मुक्ति, प्रीवीपर्स की समाप्ति, बैंकों का राष्ट्रीयकरण जैसे प्रगतिशील कदमों का उल्लेख हुआ। मध्यप्रदेश में झुग्गी-झोंपड़ी निवासियों और रिक्शाचालकों को मालिकाना हक देना ऐसे कदम थे जिससे जायदादधारी और जायदादहीन वर्गों के बीच स्थायी तनाव के बिन्दु पैदा हुए हैं। क्या ऐसे कदम कोई सामंती-वर्ग ले सकता था?" श्री सिंह ने सवाल किया।

उपाध्यक्ष ने अपनी बात जारी रखी, "राजीवजी सामंती मानसिकता को समाप्त करना चाहते हैं। इस दिशा में एक ठोस कदम यह रहेगा कि निर्णय लेने की प्रक्रिया का व्यापक विस्तार हो, उसका अधिक लोकतंत्रीकरण किया जाए, क्योंकि सामंती मानसिकता निर्णय लेने की प्रक्रिया को सीमित कर देती है। ऐसे ही कदम राजनीतिक-सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उठाए जाएँगे।"

"पिछले एक लंबे अरसे से हो यह रहा है कि कांग्रेस पार्टी केवल राजनीति में ही गुम होकर रह गई है। जीवन के दूसरे क्षेत्रों में क्या होना चाहिए, इससे उसका कोई सरोकार नहीं रहा। मिसाल के तौर पर संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्र में कांग्रेस की भूमिका बिलकुल गोल है। ऐसा क्यों ?" मैंने पूछा।

"आपका कहना बिलकुल सही है। कुछ भी नहीं हुआ है। हालाँकि ए.आई.सी.सी. में इस प्रकार के कई विभाग हैं। परंतु उनकी कोई सार्थक भूमिका सामने नहीं आ रही है। हमारी कोशिश अब यह रहेगी कि कांग्रेस गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में भी गतिशील बने। मैं इससे भी सहमत हूँ कि पार्टी में एक लंबे समय से वैचारिक बहसें बंद हैं। मैं चाहता हूँ कि वैचारिक अभियान पार्टी में चलाया जाए।"

"आप इसे कैडर आधारित पार्टी क्यों नहीं बनाते?" मैंने सवाल किया। उपाध्यक्ष अपना पक्ष रखते हैं, "कांग्रेस कैडरवाली पार्टी कभी नहीं बन सकती; उसका 'मास करेक्टर' (जनसमूहवादी चरित्र) ही बना रहेगा। शायद यह ठीक भी है। इसके पीछे एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया है। जन्म से लेकर आज तक इसमें विभिन्न धाराएँ बहती चली आ रही हैं। यदि इसे कैडरवाली पार्टी बनाते हैं तो कई धाराएँ सूख

जाएँगी; कई लोकतांत्रिक वर्गों के लिए कांग्रेस के दरवाजे बंद करने पड़ेंगे। हम नहीं चाहते कि कांग्रेस के जन-आधार सिकुड़ें। फिर भी मैं इससे सहमत हूँ कि एक सीमा तक कैडर तो होना ही चाहिए। पहले भी रहा है। इसके बगैर काम नहीं चलेगा। इसलिए कैडर तैयार करने के लिए प्रशिक्षण शिविर लगाए जा रहे हैं।"

"ठीक है। पर क्या आप ऐसा नहीं मानते कि कैडर के अभाव में पार्टी को नुकसान भी हुआ है। जिन प्रदेशों में कांग्रेस हारी है वहाँ वापस सत्ता में नहीं लौटी है। पश्चिम बंगाल सहित दक्षिण के प्रदेश इसके उदाहरण हैं। अब वह केवल हिन्दी क्षेत्र में सीमित हो गई है।"

"पहले तो मैं इस धारणा को ही गलत मानता हूँ कि चुनाव में हार-जीत से ही किसी पार्टी का राष्ट्रीय या प्रादेशिक चरित्र तय होता है। और जिन प्रदेशों में कांग्रेस हारी भी है, तो केवल 5-6 प्रतिशत से ही। अत: विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि गैर-कांग्रेसी राज्यों में भी कांग्रेस के आधार अभी तक हैं। यह सही है कि तमिलनाडु में लंबे समय से कांग्रेस सत्ता-दृश्य पर नहीं है। आंध्र प्रदेश और कर्नाटक तो ताजा घटनाएँ हैं।" उपाध्यक्ष ने प्रतिवाद किया।

"पश्चिम बंगाल को आप क्यों भूल रहे हैं! ऐसा भी तो हो सकता है कि तमिलनाडु का इतिहास दूसरे प्रदेशों में दोहरा दिया जाए ?" मैंने एक सवाल और किया । श्री सिंह कुछ क्षण चुप रहे; फिर बोले, "हम जनता से जुड़े मुद्दों के बल पर फिर से उन प्रदेशों में सक्रिय होंगे। आप इतना तो मानेंगे कि गरीबी, बेरोजगारी, आर्थिक विषमता जैसे सवालों पर क्षेत्रीयता की दृष्टि अलग नहीं हो सकती। क्षेत्रीय दलों की तुलना में कांग्रेस अधिक शक्ति के साथ इन मुद्दों को उठा सकती है; ऐसी समस्याओं का निराकरण कर सकती है । अत: कांग्रेस की भूमिका को गैर-कांग्रेस प्रदेशों में कम करके नहीं आँका जाना चाहिए।"

"अर्जुनसिंहजी, पिछले कुछ समय से यह भी देखा जा रहा है कि राजनीति पर नौकरशाही हावी होती जा रही है। राजनीतिक प्रशासक (पॉलीटिकल एक्जीक्यूटिव्ज़) नौकरशाहों पर आश्रित होते जा रहे हैं। अधिकारी वर्ग से अधिक सलाह ली जाती है। राजनीतिक प्रबंध या राजनीतिक कार्यशैली एक कंपनी प्रबंध की तरह बनती जा रही है। इस संबंध में आपकी क्या प्रतिक्रिया है?"

"आपका यह कहना काफी हद तक सही है। किसी भी लोकतंत्र के लिए ये स्वस्थ लक्षण नहीं हैं। मेरा तो यही मत है कि निर्णय-प्रक्रिया में पॉलीटिकल एक्जीक्यूटिव की सर्वोच्चता रहनी चाहिए, अधिकारियों की नहीं। संक्षेप में, राजनीतिक कार्यपालिका का अधिकार, प्रयोग और उत्तरदायित्वों के मामले में अंतिम रहना चाहिए। आज जो चल रहा है, उसे बदलना होगा।"

"क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि भारत की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था में कई विसंगतियाँ हैं, कई विरोधी प्रक्रियाएँ एक साथ चल रही हैं ? एक तरफ कट्टर सांप्रदायिकता है और दूसरी ओर तकनीकी क्रांति, सुपर कम्प्यूटर युग में प्रवेश कर रही है। शासक दल के उपाध्यक्ष के नाते ऐसी स्थिति में देश का राजनीतिक व बौद्धिक नेतृत्व कैसा होना चाहिए ?" दमदम हवाई अड्डा छूने से पहले यह मेरा आखिरी सवाल था।

"जोशीजी, मानव सभ्यता को ये झटके तो झेलने ही पड़ेंगे। अमेरिकी लेखक एलविन टाफ्लर की प्रसिद्ध पुस्तक 'फ्यूचर शॉक' तो पढ़ी ही होगी। असलियत यह है कि पिछड़े देशों में ऐसी समस्याएँ आम हैं। चारों तरफ देख लीजिए, जितने पिछड़े व गरीब देश हैं वहाँ धार्मिक कट्टरता व धर्मान्धता भी है और तकनीकी विकास भी; दो विपरीत दिशाएँ एक साथ अस्तित्व में हैं । भारत आज संक्रमण काल से गुजर रहा है।

"बहुत नाजुक क्षण हैं परंतु अभिव्यक्ति के अपने-अपने तरीके हैं। मगर यह भी सच है कि जब सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक चेतना पैदा होगी और उस पर आधारित सही ढंग के आंदोलन तेज होंगे, उस स्थिति में सांप्रदायिक शक्तियाँ और लोगों की धर्मांधता जैसे मुद्दे अपने आप लुप्त हो जाएँगे" तब तक विमान हवाई अड्डे पर उतर चुका था। विमान के बाहर इंका सांसद प्रियरंजन दास मुंशी और सैकड़ों कार्यकर्ता मालाएँ लेकर खड़े हुए थे। मैं सोचने लगा कि श्री अर्जुनसिंह का यह उपाध्यक्ष पद पड़ाव है, या पूर्ण विराम ? इतिहास के आनेवाले सफे इसका जवाब देंगे।

19 फरवरी, 1986

अर्जुन सिंह से साक्षात्कार - 3

घेराबंदी

"अकबर साहब, मुझे उम्मीद है आप अपनी बुक--*दी सीज़ विदिन* – का अगला चेप्टर *लिपिंटग ऑव दी सीज विदिन* लिखने के लिए तैयार रहेंगे।"

पिछले महीने, चंडीगढ़ में एक दोपहर-भोज पर मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री और वर्तमान में पंजाब के राज्यपाल अर्जुनसिंह ने यह विश्वास-भरा वाक्य कलकत्ता से प्रकाशित अँगरेजी साप्ताहिक 'संडे' के युवा संपादक एम. जे. अकबर से पंजाब की ताजा स्थिति पर बातचीत करते हुए कहा था। पिछले रविवार चंडीगढ़ में जब मैं उनसे कुछ सवाल पूछ रहा था तो बाताचीत के आखिरी छोर पर उन्होंने मेरे लिए भी, इन शब्दों को दोहराना प्रासंगिक समझा। इसलिए मैंने इस साक्षात्कार के आलेख का आरंभ उसके अंत से करना पसंद किया है। राज्यपाल के साथ दो किस्तों में हुई बातचीत के दौरान उभरे आत्मविश्वास की यह झलक–लिपिंटग ऑव दी सीज़ विदिन यानी भीतरी घेराबंदी का अंत–सहसा पहले दिखाई दी। अकबर की पुस्तक–*दी सीज विदिन* इन दिनों काफी चर्चा में है। पूर्व मुख्यमंत्री श्री सिंह इस पुस्तक का आजकल आनंद ले रहे हैं और सामने है पंजाब की समस्या का परिप्रेक्ष्य।

पंजाब की कमान सँभालने के पश्चात चंडीगढ़ में श्री सिंह का मध्यप्रदेश के किसी अखबार के साथ यह पहला साक्षात्कार था। श्री सिंह की व्यस्तता के कारण बातचीत दो किस्तों में पूरी हो सकी। एक तरह से यह ठीक ही रहा। साक्षात्कार का पहला हिस्सा तत्काल हो गया, परन्तु दूसरा हिस्सा समस्याग्रस्त राज्य के विभिन्न शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के तीन-रोजा दौरे के पश्चात पूरा हुआ। अतः मौके पर उभरनेवाले नए सवालों पर श्री सिंह के साथ बेबाक बातचीत की जा सकी।

कहते हैं, जब किसी सक्रिय राजनेता से मुक्ति लेनी हो तो उसे राजनीति से वैराग दिलाकर राज्यपाल बना दो। राजनीतिक प्राणियों के बीच राजभवन एक तरह से

संन्यासाश्रम माना जाता है। परन्तु, श्री सिंह के मामले में इस फार्मूले को बहुत माकूल नहीं कहा जा सकता।

पंजाब-भूमि में श्री सिंह लीक से हटे राज्यपाल के रूप में धीरे-धीरे प्रसिद्ध हो रहे हैं। उनकी राजनेता-राज्यपाल की एक स्वतंत्र पहचान बनने लगी है। पूर्ववर्ती राज्यपाल श्री सतारावाला की कार्यशैली बिल्कुल भिन्न थी। कहा जाता है, पंछी को भी उनके दर्शन दुर्लभ रहते थे। बमुश्किल,एक दिन में तीन-चार व्यक्तियों से वे मिलना पसंद किया करते थे। चाहे एक घंटे का सफर क्यों न हो, कैरियर से सैनिक अफसर श्री सतारावाला को हवाई यात्राएँ खूब रास आती थीं। दोपहर के भोजन के पश्चात विश्राम के समय, कोई कार राज-भवन में दाखिल नहीं हो सकती थी।

लेकिन, श्री सिंह ने अपने द्वार सभी के लिए खोल रखे हैं। एक दिन में कई-कई बैठकें और पच्चीस-पच्चीस-तीस-तीस व्यक्तियों से मुलाकातें। सुबह आठ बजे से रात के ग्यारह बजे तक बातचीत के दौर। हवाई यात्रा के बजाय,भरपूर कार-यात्राएँ। बल्कि, ऐसा लगता है, वे पंजाब में आकर अधिक मुखर हो गए हैं। मध्यप्रदेश में वे जितने अपने में सिमटे हुए दिखाई देते थे, चंडीगढ़ में उतने ही खुले-खुले लगते हैं। राजभवन में उनकी सुरक्षा के लिए हिंदू और सिख दोनों ही तैनात हैं। अफवाह यह थी कि उनके स्टाफ में कोई भी सिख नहीं है। लेकिन राजभवन के मुख्यद्वार का प्रहरी ही सिख है। निजी सेवा में भी कई सिख हैं।

उनसे हुई बातचीत के प्रमुख अंश–

जोशी : *पंजाब के विभिन्न भागों का दौरा करने से एक सच्चाई खास तौर पर उभरी है। औसत सिख महसूस करता है कि उसके साथ दोयम दर्जे के नागरिक जैसा व्यवहार किया जा रहा है। वह चाहता है कि उसकी खोई हुई गरिमा-प्रतिष्ठा लौटनी चाहिए।*

सिंह : यह एक आधारहीन धारणा है। सरकार सिखों को दूसरे नागरिकों के समान ही समझती है; उनके साथ कोई सौतेला व्यवहार नहीं किया जाता और न ही सरकार की ऐसी कोई मंशा है कि सिख समुदाय की गरिमा-प्रतिष्ठा को किसी तरह की ठेस पहुँचाई जाए। यदि वे ऐसा सोचते हैं तो गलत है। फिर भी हमारा प्रयास यही रहेगा कि उनकी मिथ्या धारणाएँ दूर हों। सरकार जो भी कदम उठाएगी, काफी सावधानी के साथ उठाएगी और एक ऐसा वातावरण पैदा करने की कोशिश करेगी, जिसमें वे अपने को गरिमायुक्त अनुभव करें।

जोशी : *लोगों की शिकायत यह भी है कि सरकार जानबूझकर सिखों को अलगाव में रखना चाहती है। लोकप्रिय सरकार की समाप्ति के पश्चात राज्यपाल और*

उनके सलाहकारों ने सिखों के साथ सीधा संपर्क नहीं किया; केवल नेताओं से ही मिलते रहे; आम सिख के मन की बात जानने की कोशिश नहीं की गई।

सिंह : पहले के राज्यपाल क्या करते थे, मैं नहीं जानता। परन्तु, मेरी कोशिश यही रहती है कि मैं अधिक से अधिक लोगों से मिलूँ और उनकी समस्याओं को जानूँ। फिर भी मैं व्यक्तिगत संपर्क को और तेज करूँगा। बैसाखी के पश्चात जनसंपर्क अभियान चलाऊँगा। कस्बों और गाँवों को और करीब से समझने की कोशिश की जाएगी। इन्हीं जनसंपर्क अभियानों के जरिए सिख समुदाय का खोया हुआ विश्वास प्राप्त किया जा सकता है।

जोशी : *वैसे रिश्वत देश की समस्या है। परंतु पंजाब में रिश्वतखोरी की चर्चा बहुत सुनने को मिली। राज्य के कस्बाई एवं ग्रामीण क्षेत्रों में बगैर किसी अपवाद के हिंदू-सिख दोनों ने ही पुलिस महकमे में रिश्वतखोरी की शिकायत काफी की है। कई सिखों का यह भी कहना था कि अगर रिश्वतखोरी पर पाबंदी लगा दी जाए तो कई समस्याओं का हल हो सकता है। पुलिस आतंक जमाने के लिए लोगों को पकड़ती है और रिश्वत ऐंठकर उन्हें छोड़ देती है।*

सिंह : लोकतांत्रिक सरकार में कई बुराइयाँ होती हैं, उनमें से एक यह भी है। हम इस समस्या के प्रति पूरी तरह से सजग हैं। हमारा प्रयास रहेगा कि जल्द से जल्द इस बुराई पर काबू पाएँ। इस दिशा में कई कड़े कदम उठाए जाएँगे। कोशिश यह भी रहेगी कि पुलिस किसी को नाहक तंग न करे। इस मामले में हमें जन-सहयोग भी चाहिए। हम चाहते हैं कि आतंक को दबाने में जनता भी सहयोग दे। इसलिए मध्यप्रदेश के समान पंजाब में भी मैं ग्राम-सुरक्षा समितियों का गठन करना चाहता हूँ। आतंकवाद को दबाने के मामले में ये समितियाँ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इसके अलावा लोगों को लाइसेंसशुदा हथियार लाने-ले जाने की छूट दे दी गई है। ऐसे लोगों को भी हथियार दिए जाएँगे, जिन्हें आतंकवादियों से संभावी खतरा बना हुआ है। हम चाहते हैं कि सरकार के साथ-साथ लोगों में भी आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए एक 'सामूहिक इच्छा' पैदा हो। यही सामूहिक इच्छा सांप्रदायिक सद्भाव को सुदृढ़ बनाए रखेगी। एक समुदाय के रूप में सिख आतंकवाद में शामिल नहीं हैं। थोड़े-बहुत हैं, जो कि पूरे सिख समुदाय को बदनाम करने पर तुले हुए हैं। मेरा प्रयास यह भी रहेगा कि जनता से, खासतौर पर सिखों के बीच सीधा संपर्क कायम किया जाए; किसी प्रकार की कोई खाई या दूरी न रहे। परंतु, सिखों को भी चाहिए कि वांछित वातावरण पैदा करने में सरकार को सहयोग दें। सौहार्दपूर्ण वातावरण पैदा करने के लिए सिखों को अपनी हठधर्मिता छोड़नी चाहिए। यह कैसे मुमकिन हो सकता है कि हर मामले में 'सिखों का बोलबाला' रहे, जिसकी वे हमेशा माँग करते रहते हैं। स्थिति को सामान्य बनाने में सरकार ने जो

पहल-कदमी की है, उसका स्वागत किया जाना चाहिए। जोशीले और उग्रवादी नारे उछालने से किसी का कोई विशेष लाभ नहीं होगा।

हमारी कोशिश यही है कि पंजाब की समस्या का समाधान हमेशा के लिए हो, किश्तों में न हो।

जोशी : *फिर से उग्रवादी घटनाएँ सामने आ रही हैं। क्या ऐसी घटनाएँ पुनः बड़ी त्रासदी के पूर्व संकेत तो नहीं?*

सिंह : मैं ऐसा नहीं मानता । कानून और व्यवस्था पूरी तरह से नियंत्रण में है। यह सही है कि स्थिति को पूरी तरह सामान्य होने में समय लगेगा। इस तरह की छुटपुट घटनाओं से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए। स्थिति में पहले से काफी सुधार हुआ है। हिंदुओं और सिखों के संबंध तनावपूर्ण नहीं हैं। संभव है, परस्पर संदेह हो। कई बड़े हादसों से गुजरने के पश्चात परस्पर संदेह या अविश्वास का होना अस्वाभाविक नहीं है। फिर भी दोनों के बीच सदियों पुराना भाई-चारा अभी बना हुआ है।

पंजाब के बेरोजगाार नौजवान सिखों को रोजगार देने की दिशा में कदम उठाए जा रहे हैं; उनको रचनात्मक कामों में लगाने की योजना बनाई जा रही है, जिससे कि वे उग्रवादी गतिविधियों से दूर रहें। इसके लिए अलग-अलग क्षेत्रों में लघु उद्योग-धंधे स्थापित किए जा रहे हैं। छुटपुट आतंकवाद से निपटने के लिए और सख्त कदम उठाए जा रहे हैं। रात की गश्त काफी बढ़ा दी गई है।

जोशी : *इसी से जुड़ा एक और मुद्दा है। पिछले अनुभव हैं कि सेना से रिटायर होनेवाले कई सिख संत भिंडराँवाले की मंडली में शामिल हो गए थे। क्या यह संभव नहीं हो सकता कि ऐसे अनुभवशील व्यक्तियों को भी किसी रचनात्मक काम में लगा दिया जाए, ताकि फिर से कोई मेजर शाह बेग सिंह प्रकट न हो?*

सिंह : सुझाव बेहतर है। परंतु, सेना से अवकाश लेनेवाले व्यक्तियों की संख्या काफी है। अवकाश-प्राप्त सैनिकों का किस तरह बेहतर उपयोग हो सकता है, इस संबंध में गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है।

जोशी : *किसान पंजाब की अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं। हर जगह छोटे-बड़े किसानों की शिकायत थी कि उन्हें न समय से पानी मिलता है, न बिजली, और न कर्ज ही।*

सिंह : हाँ, इस तरह की समस्याएँ तो हैं। फिर भी बिजली की सप्लाई में काफी सुधार हुआ है। और क्या किया जा सकता है, इस संबंध में सोचा जा रहा है।

जोशी : *लोकप्रिय सरकार की स्थापना हो, इस संबंध में आपका अभी तक का कोई*

सार्थक प्रयास?

सिंह : मेरा प्रयास यही है कि पंजाब में जल्द से जल्द लोक-प्रतिनिधि सरकार की बहाली हो। परंतु, कई पेचीदगियाँ हैं। बावजूद इन सबके, उम्मीद भी है कि देर-सबेर लोकप्रिय सरकार लौट आएगी। निश्चित समय-अवधि देना कठिन है, तब भी इस साल के अंदर यह काम संपन्न होना चाहिए।

जोशी : *चलिए, लौटें मध्यप्रदेश की ओर। क्या एक सक्रिय राजनेता को राज्यपाल के पद पर बोरियत नहीं होती होगी?*

सिंह : ऐसी कोई बात नहीं । यहाँ भी उतनी ही सक्रियता है। बल्कि यहाँ का परिश्रम कुछ मानों में मध्यप्रदेश से अधिक है। यहाँ भी कम जिम्मेदारी न समझें। बस इतना अंतर आया है कि वहाँ अध्ययन-मनन के लिए समय नहीं मिलता था, परंतु इसके लिए यहाँ समय है। आजकल एम. जे. अकबर की ताजा पुस्तक–*दी सीज विदिन* पढ़ रहा हूँ। पिछले दिनों अकबर साहब यहाँ आए थे। काफी बातचीत हुई। मुझे आशा है कि वे अपनी पुस्तक का दूसरा अध्याय *लिफ्टिंग ऑव दी सीज विदिन* लिखेंगे। इसके लिए पंजाब में उचित भूमिका तैयार करने का प्रयास करूँगा। *(हँसी...)*

जोशी : *और पंजाब से मुक्ति के पश्चात भोपाल लौटने का कोई विचार... ?*

सिंह : अरे भाई, पंजाब से मुक्ति के पश्चात कुछ समय के लिए आराम करना चाहता हूँ। जोशीजी, आठ साल से लगातार खट रहा हूँ। अब पोते-पोती बड़े हो गए हैं। उनका भी तो हक है।

जोशी : *इसका मतलब आप राजनीति से वैराग लेंगे?*

सिंह : *(जोर का ठहाका)* अरे भाई, ऐसा नहीं। सच बात तो यह है कि सब कुछ मेरे नेता राजीवजी पर निर्भर है। जैसा वे आदेश देंगे, वैसा ही करूँगा।

14 अप्रैल, 1985

अर्जुन सिंह से साक्षात्कार - 4

घेराबंदी से मुक्ति

"याद है आपको, अप्रैल में मैंने कहा था कि पंजाब की घेराबंदी का जल्दी अंत होगा; स्थिति सामान्य होगी, शांति लौटेगी और यह प्रदेश अन्य प्रदेशों के समान फूले-फलेगा। आज उस मंजिल के आस-पास हैं हम।"

पंजाब के राज्यपाल और मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री श्री अर्जुनसिंह ने ये शब्द 29 जुलाई को एक खुली बातचीत में दोहराए। पाठकों को याद होगा, श्री सिंह का यह आत्मविश्वास और भविष्यवाणी इसी 14 अप्रैल की एक भेंटवार्ता में झलकी थी। अवसर था बैसाखी का। जरा याद कीजिए उस समय के पंजाब को : हर दिन हत्या और विस्फोटों का दौर । कहीं आतंकवाद का जिन्न ताण्डव कर रहा था, तो कभी अकालियों के मोर्चे, धर्मयुद्ध और घल्लूघारा का भूत पंजाब पर सवार होता था। रात नौ बजे के बाद से पंजाब की सड़कों से जीवन फरार रहता था। रात्रि-बसें गुमशुदा बनी हुई थीं। मोटरसाइकिल पर डबल सवारी पर रोक थी। हर चौराहे, हर मोड़ पर अर्द्ध-सैनिकों और सैनिकों की चौकियाँ हुआ करती थीं। हर वक्त पंजाब को साँसें दहशत के बीच नीचे-ऊपर हुआ करती थीं।

आज पंजाब एक खुले आकाश में उड़ान भर चुका है। सड़कों पर सन्नाटे का निशाचरी काल टूटता जा रहा है। रात्रि-बस-सेवाएँ शुरू हो चुकी हैं। दहशत लापता है। लोगबाग खुले मन से एक-दूसरे से मन की बात बतियाते हैं; जैसा भी अब तक घटा है, उसे एक भयावह स्वप्न का नाम देते हैं। रावी-व्यास के तटों पर एक नया जीवन अंकुरित हो, इसके लिए सभी के कंधों पर इच्छा व प्रयासों के लांगल हैं।

एक कोरे कागज पर एक वाक्य– राजीव-लोंगोवाल समझौता–लिख देना जितना आसान है, उससे कितने गुना कठिन रहा होगा इसकी भावना को शब्दों में ढालना।

राष्ट्रीय त्रासदी की कोख से जन्मे इस समझौते को कैसी प्रसव-पीड़ा के दौर से गुजरना पड़ा होगा? कितने खतरे थे इस प्रसव में। हरेक को 'मिसकेरिज' का डर था। मान लीजिए, यह समझौता नहीं होता तो इससे संबद्ध व्यक्तियों की छवि कैसी रहती? विगत में इंदिरा-काल के दौरान भी चंद प्रयास किए गए थे। जितनी बार प्रयास विफल हुए, उतनी ही बार इंदिराजी के प्रति सिख-समुदाय का गुस्सा भी गाढ़ा हुआ। इंदिराजी और अकाली दल के बीच कोई मध्यस्थ रक्षा-कवच नहीं रखा गया था। इस बार इस कमी को दूर किया गया। प्रधानमंत्री और सिख समुदाय के बीच राज्यपाल का एक रक्षा-कवच रखा गया, ताकि समय पड़ने पर दोनों ओर के आक्रमण झेल सके। राज्यपाल श्री सिंह ने यह भूमिका सफलता के साथ निभाई है; रोज सत्रह-सत्रह घंटे काम किया है। शाम 6 बजे तक राज्य के विकास-कार्यों से जूझना, उसके बाद समझौता-ऑपरेशन शुरू करना। एक महीने में तीस-तीस दफे दिल्ली-चंडीगढ़ के बीच श्री सिंह को चक्कर लगाना पड़ा है। सुबह पाँच बजे उठकर योगाभ्यास एवं ध्यान से नई ऊर्जा की प्राप्ति के साथ फिर कभी दिल्ली कूच की तैयारी, तो कभी बाढ़-क्षेत्रों का दौरा। और इसी दौरान गुरु गोविन्द सिंह से लेकर अमृता शेरगिल तक का अध्ययन। आजकल कैनेडी परिवार पर लिखी गई पुस्तक–*डायनेस्टी ऑर डिजास्टर* पर आँखें गड़ी हुई हैं राज्यपाल की।

कैसे भरी उड़ान मुक्त गगन में एक लहूलुहान पंछी ने? सुनिए हर महत्वपूर्ण पल की यात्रा-गाथा खुद राज्यपाल अर्जुनसिंहजी के मुख से :

"जब मैं मार्च महीने में भोपाल से चंडीगढ़ पहुँचा था, मेरे सामने दो स्पष्ट उद्देश्य थे–आतंकवाद का अंत और पंजाब में सामान्य स्थिति का निर्माण। प्रधानमंत्री का इस दिशा में साफ निर्देश मेरे साथ था। उनका नारा था– पंजाब की प्रगति और आतंक का अंत। उनका यह संदेश मुझे पंजाब के कोने-कोने में पहुँचाना था; इस संदेश के शुभ परिणाम निकल सकें, इसके लिए बंजर भूमि को उपजाऊ भूमि में बदलना था। बस, इस विश्वास के साथ प्रयास शुरू कर दिए।

"जैसाकि आप जानते ही हैं, मेरे पंजाब पहुँचने से दो दिन पहले संत लोंगोवाल और तलवंडीजी रिहा किए गए थे। इन दोनों अकाली नेताओं ने बाहर आकर उग्रवादी भाषा का प्रयोग किया, जिसे लोगों ने पसंद किया, क्योंकि इन दोनों नेताओं को मालूम था कि इस समय पंजाब के लोग कड़ी भाषा पसंद करेंगे। उस समय तक मेरा इन सिख नेताओं के साथ न कोई संपर्क था, और न ही संवाद।"

"टूटे रिश्तों के बीच मैंने कार्यभार सम्हाला था। शुरू से ही राजीवजी की व्यूहरचना यह रही कि पंजाब में शांति और विकास को एक दूसरे से जोड़कर संवाद स्थापित किया जाना चाहिए। इसके लिए यह जरूरी था कि लोगों का ध्यान आतंकवाद से हटाकर शांति और प्रगति की ओर ले जाया जाए।"

"मैं यहाँ एक बात और साफ करना चाहूँगा। पिछले चार महीनों के दौरान प्रधानमंत्री को जितने करीब से देखने और समझने का अवसर मिला है, उससे पहले कभी नहीं मिला। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि अपनी माँ की हत्या के बावजूद राजीवजी ने एक पल के लिए भी सिखों के प्रति दुर्भावना या कटुता-खिन्नता जाहिर नहीं की। उनकी जगह कोई और व्यक्ति रहता तो उसकी दृष्टि व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित रहती; पूर्वाग्रह-दुराग्रह उसके मन में रहते। परंतु, प्रधानमंत्री श्री गाँधी के मन में सिखों के खिलाफ लेशमात्र भी बदले की भावना पैदा नहीं हुई। मैं स्वयं हैरान हूँ वे जब भी मुझसे मिले, उन्होंने हमेशा मुझसे एक तटस्थ प्रधानमंत्री के नाते पंजाब पर बातें कीं, न कि स्व. इंदिरा गाँधी के पुत्र राजीव गाँधी के रूप में। वास्तव में उनमें यह जबरदस्त गुण है। मुझे उनकी इस ऊर्जा का परिचय उस समय भी मिला जब वे आतंक के माहौल में हुसैनीवाला आने के लिए तैयार हो गए।"

"प्रधानमंत्री की इस व्यूहरचना का वांछित प्रभाव पंजाब के लोगों पर पड़ा, हालाँकि अकालियों पर अपेक्षित असर नहीं हुआ था उस समय। इस व्यूहरचना के पक्ष में जनमत तैयार करने का काम मैंने जोर-शोर से शुरू कर दिया। धीरे-धीरे एक अच्छा वातावरण बनने लगा। लोगों को अनुभव होने लगा कि आतंक को समाप्त किए बिना शांति संभव नहीं है और शांति के बिना प्रगति की शुरूआत संभव नहीं है। यह अप्रैल का पहला पखवाड़ा था।"

"इस पखवाड़े के दौरान और भी कई कदम उठाए गए। सिख छात्रों के संगठन से पाबंदी हटाई गई। टोहरा और बादल को रिहा किया गया। एक बड़ा कदम और उठाया गया। इस साल 13 अप्रैल को बैसाखी अमृतसर में काफी धूमधाम से मनाई गई। आप जानते ही हैं कि इस समारोह में कई प्रदेशों के मुख्यमंत्री, नेता और सांसद शामिल हुए थे। वास्तव में यह समारोह समझौते के लिए बनी व्यूहरचना का ही अंग था। हम चाहते थे कि पंजाब में जो कुछ भी किया जा रहा है और/या किया जानेवाला है, इसके लिए अन्य राज्यों की जनता का भी समर्थन जुटाया जाए। इसके साथ ही पंजाब की जनता को भी यह जतला दिया जाए कि शांति की जरूरत केवल उसकी अकेले की नहीं है बल्कि दूसरे प्रदेशों की जनता की भी है। अभी कोई भी, टकराव और हिसा पसंद तथा बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए हमारे लिए यह जरूरी था कि अन्य राज्यों के जनप्रतिनिधियों को पंजाब लाया जाए।"

"इस समारोह का प्रभाव अनुकूल रहा। अकाली दल ने मोर्चा स्थगित कर दिया; केवल घल्लूघारा मनाने का निर्णय लिया। अकाली नेताओं ने यह भी साफ कर दिया था कि वे शांति के साथ घल्लूघारा मनाएँगे। हम यही चाहते थे।"

"छब्बीस अप्रैल को लोंगोवालजी दिल्ली-यात्रा पर निकले। इस यात्रा से हमें काफी

लाभ हुआ। उन्होंने देखा कि पंजाब के बाहर भी एक भारत है जिसकी समझदारी को नकारा नहीं जा सकता। हम यही चाहते थे कि वे पंजाब के बाहर के लोगों को ठीक से समझें। अपनी दिल्ली-यात्रा के दौरान वे इन्द्र कुमार गुजराल जैसे प्रतिपक्षी नेताओं के संपर्क में आए।"

"यहाँ यह बताना भी जरूरी है कि इसी बीच प्रधानमंत्री और प्रतिपक्षी नेताओं के बीच संपर्क भी हुआ। प्रधानमंत्री ने प्रतिपक्षी नेताओं से कहा था कि अकाली नेताओं के साथ बातचीत के आधार के लिए यह जरूरी है कि सरकार के पास उनकी माँगों का एक अंतिम लिखित दस्तावेज हो क्योंकि अखबारों में माँगें अलग-अलग ढंग से छपती रहती हैं। साथ ही अकाली नेताओं की माँगें बदलती भी रहती हैं। राजीवजी के आग्रह पर विपक्षी नेताओं ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे अकाली नेताओं से माँगों का लिखित ब्यौरा प्राप्त करके सरकार को देंगे। अपनी दिल्ली-यात्रा के दौरान संतजी विभिन्न धाराओं के संपर्क में आए। मैं मानता हूँ कि इस यात्रा का उन पर प्रभाव अवश्य पड़ा है। मेरा यह भी मत है कि लोंगोवालजी ने दिल्ली-यात्रा के बाद ही समस्या के समाधान की दिशा में अपनी मन:स्थिति बना ली थी कि क्या किया जाए।"

जोशी : *लेकिन दिल्ली से पंजाब लौटते ही अकाली दल के टुकड़े भी हो गए। संत भिंडराँवाले के पिता बाबा जोगेन्द्रसिंह के नेतृत्व में एक नया अकाली दल बन गया। इससे आप घबराए नहीं ?*

अ. सिं. : वास्तव में अकाली दल के लिए यह बड़ी नाजुक स्थिति थी। सब दुविधा में थे कि क्या करें। जोगेन्द्रसिंह गुट उग्रवादी बोली बोल रहा था। इस दुविधा की स्थिति में अगला निर्णय लेने में पाँच-सात दिन लग गए।

मई के पहले सप्ताह में पंजाब विश्वविद्यालय में पंजाबी के प्रोफेसर डॉ. अतरसिंह से संपर्क हुआ। डॉ. सिंह संतजी के विश्वासपात्र थे, इसलिए उनके माध्यम से संपर्क किया गया। अकाली दल के अध्यक्ष लोंगोवाल को संदेश भेजकर पूछा गया कि आखिर उनकी व्यक्तिगत राय क्या है? उन्हें यह भी संदेश भेज दिया गया कि प्रधानमंत्री की दिली इच्छा है कि संविधान के अंतर्गत और देश की अखंडता के दायरे में रहते हुए पंजाब समस्या का हल जल्द से जल्द हो, और इसके लिए प्रधानमंत्री कृतसंकल्प हैं। इस संदेश का थोड़ा-बहुत असर पड़ा। यही कारण है कि संतजी जोगेन्द्रसिंह के साथ नहीं गए। इसके साथ ही दोनों के बीच दूरी बढ़ने लगी। संपर्क के इस सिलसिले के साथ ही ऐसे बिन्दु भी स्पष्ट होने लगे जिनके आधार पर दोनों ओर से अगले कदम उठाए जा सकते थे।

जोशी : *इसके साथ ही दिल्ली में बम विस्फोटों की घटनाएँ भी हुईं। क्या इन*

घटनाओं का आपके प्रयासों पर प्रभाव नहीं पड़ा?

अ. सिं. : बल्कि अनुकूल असर पड़ा। इन घटनाओं के बाद ही लोंगोवालजी के रवैये में जबर्दस्त परिवर्तन आया। सच्चाई यह है कि संतजी के साथ-साथ समूचे सिख समुदाय ने नए सिरे से सोचना शुरू किया। इन घटनाओं की खुलकर भर्त्सना की गई। इन घटनाओं के कारण ही संत गुट ने अपनी एक अलग पहचान बनाए रखने का फैसला किया।

रूस जाने से पहले प्रधानमंत्री ने मुझे यह स्पष्ट आदेश दिया कि उनकी गैर-मौजूदगी में हिंसा नहीं होनी चाहिए। लोंगोवालजी को भी स्पष्ट कर दिया गया कि सरकार किसी भी कीमत पर और हिंसा बर्दाश्त नहीं करेगी। आतंकवाद को कुचलने के लिए वह किसी भी सीमा तक जा सकती है। सच कहूँ, हमने हिंसा से निपटने के लिए पूरी तैयारियाँ भी शुरू कर दी थीं।

संतजी ने भी रचनात्मक रास्ता अपनाना शुरू कर दिया। उन्होंने हिंसा का विरोध किया। इससे दोनों खेमों में दूरी और बढ़ती गई। हमारा यही लक्ष्य था। इसके साथ-साथ हम जनमत तैयार करते चले गए। हममें विश्वास पैदा होता गया कि लम्बी शांति बनाए रखी जा सकती है।

जोशी : *क्या रूस-यात्रा के दौरान प्रधानमंत्री ने आपसे सम्पर्क किया था?*

अ. सिं. : हाँ, एक बार किया था। वे पंजाब की ताजा स्थिति जानना चाहते थे। श्री गाँधी के लौटने पर मुझे डॉ. अतरसिंह से पुन: सम्पर्क करके सीधी बातचीत का आधार तैयार करने को कहा गया।

जोशी : *क्या यह सही है कि आप समझौते से पहले तीस-चालीस मर्तबे संतजी से मिले?*

अ. सिं. : ये मनगढ़ंत खबरें हैं। सुरजीतसिंह बरनाला, बलवंतसिंह आदि अकाली नेताओं से चार-पाँच मुलाकातें जरूर हुई थीं। जाहिर है, समझौते के संबंध में चर्चाएँ हुईं। इन सारी चर्चाओं से मैं हर क्षण प्रधानमंत्री को अवगत कराता रहा, ताकि किसी भी प्रकार की कोई गलतफहमी पैदा न हो सके, और वांछित कदम उठाया जा सके।

जोशी : *प्रधानमंत्री ने संत लोंगोवाल को पहला औपचारिक पत्र कब लिखा था?*

अ. सिं. : सचिव शंकर नारायण ने ही निमंत्रणपत्र संतजी के गाँव जाकर उन्हें दिया और 21 जुलाई को संतजी का जवाब मिल गया। संतजी का पत्र प्रधानमंत्री को संबोधित था।

जोशी : *क्या यह सच है कि प्रकाश सिंह बादल और टोहरा प्रधानमंत्री के साथ*

बातचीत के लिए शुरू से ही तैयार नहीं थे, और आखिर तक संतजी को दिल्ली जाने से रोकते रहे ?

अ. सिं. : इस संबंध में मेरी कोई निजी जानकारी नहीं है। और फिर यह अकालियों का आंतरिक मामला है; मुझे इस संबंध में कुछ नहीं कहना है।

परन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि चाहे जो लोग असहमत रहे हों, संतजी ने वार्ता के लिए अपना दिमाग पहले ही बना लिया था। वे इस पर अंत तक अडिग रहे। वार्ता का निर्णय उन्होंने स्वयं लिया। यहाँ एक तरह से गुरु ग्रंथसाहिब ने भी इसका समर्थन किया।

जोशी : *क्या मतलब ?*

अ. सिं. : आप जानते ही हैं कि कोई महत्वपूर्ण या ऐतिहासिक फैसला लेने से पहले सिख लोग अपनी धार्मिक पुस्तक को देखते हैं। मेरी जानकारी के मुताबिक 21 जुलाई की सुबह संतजी, बलवंतसिंहजी, डॉ. अतरसिंह आदि ने ग्रंथसाहिब को खोला और दिल्ली-वार्ता के लिए आदेश लिया। ग्रंथसाहिब खोलने पर जो आदेश था वह यह कि आप लोग जो करने जा रहे हैं वो सबके हित में है और हम तुम्हारे साथ हैं। संतजी के लिए यह अच्छा शकुन था। इससे उन्हें बहुत मदद मिली, क्योंकि धार्मिक वैधता उनके साथ थी।

जोशी : *यह कहाँ तक सच है कि सैनिक भगोड़ों के सवाल पर दिल्ली-वार्ता टूटनेवाली थी?*

अ. सिं. : ये खबरें बेबुनियाद हैं। भगोड़ों के सवाल पर कोई मतभेद नहीं था, केवल नदी के पानी के मुद्दे को लेकर थोड़ी-बहुत बाधाएँ थीं; वो भी सैद्धांतिक नहीं थीं, बल्कि उसके कुछ व्यावहारिक पक्ष को लेकर थीं। दुबारा बातचीत के बाद ड्राफ्ट में इधर-उधर हेरफेर किया गया था। परन्तु यह कहना गलत है कि हमारी वार्ता टूटनेवाली थी।

जोशी : *संतजी कहते हैं कि समझौते में कुछ गुप्त धाराएँ हैं जो कि सही समय पर बताई जाएँगी?*

अ.सिं. : समझौते में गुप्त धाराएँ कोई भी नहीं हैं। संतजी सीधे आदमी हैं। लोगबाग भगोड़ों को लेकर गलतफहमी पैदा करने की कोशिश कर सकते हैं। परन्तु, समझौते में यह साफ है कि उनका पुनर्वास किया जाएगा। सैनिक अदालतें जैसी भी सजा देंगी, सरकार का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। प्रधानमंत्री ने तो समझौते से बहुत पहले ही अपनी स्थिति साफ कर दी थी। यह सही है कि मानवीय आधार पर भगोड़े सैनिकों का पुनर्वास किया जाएगा।

जोशी : *आपके अलावा समझौते में और किन-किन लोगों का योगदान रहा है?*

अ. सिं. : श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह और गृहमंत्री श्री चह्वाण का। इन नेताओं ने भी बरनाला और बलवंतसिंह से समय-समय पर बातचीत की है।

जोशी : *कुछ क्षेत्रों का कहना है कि समझौते के सूत्रधार श्री अरुणसिंह हैं; वे अंत तक सक्रिय रहे हैं। यहाँ तक कि उनकी सलाह पर ही श्री गाँधी ने आपको भेजा था?*

अ. सिं. : यह तो मैं नहीं जानता कि किसकी सलाह से मुझे पंजाब भेजा गया था। लेकिन इतना जरूर कह सकता हूँ कि समझौते के दो दिनों में श्री अरुणसिंह देश से बाहर थे। फिर भी श्री अरुणसिंह के साथ-साथ श्री अरुण नेहरू से समय-समय पर बातचीत होती रहती थी। दोनों का योगदान रहा है।

पर आप जानते हैं कि इस समझौते की सफलता का सबसे बड़ा श्रेय श्री गाँधी को है। इसलिए ही नहीं कि वे प्रधानमंत्री हैं बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने समझौते के संबंध में जबर्दस्त गोपनीयता बरती है। बहुत सीमित लोगों को ही समझौते के संबंध में मालूम था। लोगों को बिलकुल भी भनक नहीं होने दी। डॉ. अतरसिंह की भूमिका भी सराहनीय रही है, जिन्होंने बगैर किसी लागलपेट के संतजी और सरकार के बीच भरोसेमंद सेतु की भूमिका निभाई है।

जोशी : *क्या आप ऐसा समझते हैं कि कुछ लोग समझौता नहीं होने देना चाहते थे?*

अ. सिं. : इसकी संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। विगत में भी ऐसे प्रयास हो चुके हैं। इसलिए इस बार अत्यंत सावधानी बरती गई है।

जोशी : *जिस ढंग का समझौता हुआ है, क्या इंदिरा शासन में यह संभव नहीं था ?*

अ. सिं. : चूँकि उस समय इस समस्या से मेरा कोई संबंध नहीं था, इसलिए इस संबंध में मेरी कोई राय नहीं है।

जोशी : *क्या राष्ट्रपति ज्ञानीजी और पूर्वमुख्यमंत्री दरबारासिंह से कोई राय ली गई थी?*

अ. सिं. : किसी भी राष्ट्रपति को इस तरह के विवाद में घसीटना उचित नहीं है। वैसे दरबारासिंहजी को इस समझौते के संबंध में कोई जानकारी नहीं थी।

जोशी : *पिछले चार महीनों के दौरान आपको इस मामले में पूरी आजादी थी?*

अ. सिं. : जी हाँ। मेरे काम में किसी ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। प्रधानमंत्रीजी ने मुझे पूरी छूट दी थी।

जोशी : *अब अगला कदम आपका क्या रहेगा?*

अ. सिं. : जाहिर है पंजाब में निष्पक्ष चुनाव कराना। जनता का जैसा भी निर्णय रहेगा वह सभी को मान्य होना चाहिए। चुनाव कराने से बहुत सारे तनाव स्वत: दूर हो जाएँगे। इसके साथ ही मेरी कोशिश यह भी रहेगी कि राज्य में शांति बनी रहे, कानून और व्यवस्था भंग न हो।

जोशी : *क्या आप समझते हैं कि समझौते के बाद अब राज्य में स्थायी शांति कायम हो गई है?*

अ. सिं. : यह कहना जरा मुश्किल है। फिर भी यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि पंजाब में एक 'टिकाऊ शांति' (ड्यूरेबल पीस) रहेगी। समझौते का यह कतई मतलब नहीं है कि आतंकवादियों के मामले में प्रशासन ढीला पड़ जाएगा। आज भी पूरी सावधानी बरती जा रही है।

जोशी : *खबरें छपी हैं कि आपके जीवन को खतरा है, आतंकवादी घात में हैं। क्या यह सच है?*

अ. सिं. : ऐसी सूचनाएँ हैं। फिर भी चिंतित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि यदि किसी दिन कोई दुर्भाग्यपूर्ण घटना होती भी है तो मेरी यही प्रार्थना रहेगी कि देश की एकता-अखंडता के लिए राजीवजी ने जो कदम उठाए हैं, उनमें कोई व्यवधान पैदा नहीं होने देना चाहिए।

जोशी : *क्या आप ऐसा महसूस करते हैं कि मध्यप्रदेश की तुलना में पंजाब में आपकी राजनीतिक कार्यशैली का उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) हुआ? मेरा मतलब, पंजाब में आप एक बड़े उद्देश्य के प्रति समर्पित रहे हैं ?*

अ. सिं. : मैं इतना ही कह सकता हूँ कि पंजाब में राष्ट्रीय संदर्भ की दृष्टि से मुझे 'जॉब-सेटिस्फेक्शन' अधिक हुआ है।

1 अगस्त, 1985

अर्जुन सिंह से साक्षात्कार - 5

एक नाविक-विश्वास

तूफानी नदी के पार उतरकर घाट पर पाल डाले देखा है किसी निढाल, सुस्ताते चौकस नाविक को? ठीक वैसी ही दशा पंजाब के राज्यपाल अर्जुनसिंह की आजकल है। पंजाब-समझौते के पश्चात् राजभवन में इतमीनान के साथ बैठना श्री सिंह के लिए अब दुर्लभ क्षण नहीं है। एक व्यस्तता मिश्रित फुर्सत की सी मनोदशा है उनकी। चंडीगढ़-स्थित पंजाब राजभवन में मिलिए उनसे कभी, पाएँगे उन्हें बहुत कुछ तनावमुक्त। जरूरत पड़ने पर खिलखिलाकर हँस भी देंगे। कभी-कभी वे अपनी जगविख्यात 'तार इबारती' शैली से फिसलते हुए दिखाई देंगे। कुछ अच्छे परिचित हुए तो आपसे बगैर कंजूस बने बातचीत कर लेंगे। हो सकता है, आप दंग रह जाएँ। पर मेरा अनुभव पिछले सप्ताह यही रहा है। राज्यपाल काफी बेफिक्र लगे, मगर उतने ही चौकस। तो लीजिए, उनके साथ एक बार फिर हुई गुफ्तगू के चंद हिस्से। जाहिर है, स्थान राजभवन का दफ्तरी कमरा है।

जोशी : *लगता है काफी फुर्सत से हैं?*

अ. सिं. : अब राज्यपाल का काम ही क्या रह गया है? समझौता हो गया, मेरा काम खत्म। और फिर प्रतिनिधि सरकार बनने के पश्चात राज्यपाल की भूमिका कितनी रह जाती है?

जोशी : *अभी सरकार बनने में देर है ?*

अ. सिं. : बहुत अधिक नहीं, एक-डेढ़ महीने की बात है; मेरा पूरा प्रयास है कि चुनाव शांतिपूर्वक हो जाएँ, सरकार बन जाए। बस, इसके बाद राज्यपाल की उतनी आवश्यकता नहीं रहेगी जितनी आज है। वैसे भी टिकटों के बँटवारे और उम्मीदवारों के चयन में मेरा कोई हस्तक्षेप नहीं है। मैं नहीं चाहूँगा कि

चुनाव-नतीजों के पश्चात मेरे प्रति कोई शिकायत रखे। दिल्ली जाने, हाई कमान जाने– क्या करना है, क्या नहीं करना।

जोशी : *संतजी की हत्या के पश्चात, क्या आपको चुनावों में हिंसा की आशंका नहीं लगती?*

अ. सिं. : जरूर लगती है। चुनावों में बिलकुल हिंसा नहीं होगी, ऐसा मैं नहीं कहूँगा। हम यह मानकर चलते हैं कि हिंसा अवश्य होगी। परंतु, हिंसा का सामना करने के लिए, सभी आवश्यक कदम उठा लिए गए हैं; सुरक्षा का पर्याप्त बंदोबस्त किया गया है। उम्मीदवारों को सुरक्षा गार्ड दिए जाएँगे, संवेदनशील निर्वाचन क्षेत्रों में अतिरिक्त व्यवस्था की जाएगी। सीमावर्ती क्षेत्रों में खास व्यवस्था की गई है ताकि चुनावों के दौरान कोई घुसपैठ न हो सके। घुसपैठ करने और हिंसा भड़कानेवालों को सख्ती से कुचल दिया जाएगा।

जोशी : *वैसे चुनावों में हिंसा कोई नई बात नहीं है। बिहार की तुलना में पंजाब में हिंसा कम रहेगी या ज्यादा?*

अ. सिं. : मात्रा की दृष्टि से कुछ भी कहना मुश्किल है। यह तो चुनाव के दौरान ही पता चलेगा। पर कोशिश रहेगी कि हिंसा नगण्य रहे। संभव है बिहार की तुलना में पंजाब में हिंसा की घटनाएँ कम हों। वास्तव में पंजाब में चुनाव हिंसक और तानाशाही ताकतों के लिए चुनौती है। पड़ोसी देश की अधिनायकवादी व्यवस्था नहीं चाहती कि पंजाब में एक स्वस्थ लोकतंत्र लौटे। उसके मंसूबे हैं कि पंजाब में लोकतंत्र की कभी बहाली नहीं हो; राज्य में अराजकता और हिंसा बनी रहे। हमने इस चुनौती को स्वीकार किया है। पंजाब में चुनाव कराना ही इस बात का द्योतक है कि हमारा लोकतंत्र में अटूट विश्वास है।

जोशी : *वह सब तो ठीक है, पर सभी जगह चर्चा यह है कि आप पंजाब से पिंड छुड़ाने के लिए उतावले हैं। इसीलिए आपने झटपट में चुनाव कराए हैं। यदि आप चाहते तो चुनाव टाले जा सकते थे।*

अ. सिं. : मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मेरा एक प्रश्न है आप सभी से। क्या समझौता टाला जा सकता था? क्या कोई यह कहता है कि अभी समझौता नहीं होना चाहिए था? फरवरी-मार्च में होना चाहिए था? एक ओर विरोधी चाहते थे कि पंजाब-समस्या का माकूल समाधान जल्द से जल्द निकले; अकालियों के साथ कोई टिकाऊ समझौता हो जाए। अब वो ही लोग कहते हैं कि चुनाव टाले जा सकते थे। समझौता और चुनाव दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। क्योंकि समझौते के तहत जनवरी से फैसले आने शुरू हो जाएँगे। समझौते के अंतर्गत आयोग के फैसलों को लागू करने के लिए एक प्रतिनिधि सरकार की आवश्यकता है। मान लीजिए, चुनाव

मार्च तक टाल दिए जाते। तब जनवरी में आनेवाले फैसलों को रोक दिया जाता। ऐसी स्थिति में जनता पर उसका क्या असर पड़ता ? जनता समझौते को लेकर सरकार पर अविश्वास करने लगती। फिर प्रचार किया जाता कि सरकार समझौते से मुकर गई है। समझौते की शुरूआत ही अविश्वासपूर्ण रहती। तब क्या ठीक रहता? इसलिए यह कहना गलत है कि मैं झटपट में चुनाव कराकर पंजाब से जाना चाहता हूँ। मेरा प्रयास केवल यह है कि एक निर्वाचित सरकार समझौते को लागू करे, ताकि जनता का विश्वास लोकतंत्र में और मजबूत हो।

जोशी : *अच्छा यह बताइए, जब संतजी की हत्या का समाचार मिला, उस समय आप पर क्या बीती? क्या आपने अपने फैसले पर पुनर्विचार नहीं किया?*

अ. सिं. : इस तरह की घटनाएँ लोकतंत्र के रास्ते से विचलित नहीं कर सकतीं। संतजी की हत्या के पश्चात चुनाव टालने का अर्थ निकाला जाता आतंकवादियों के सामने आत्मसमर्पण। उनके हौंसले और बुलंद होते। वे इसे अपनी जीत समझते। देर-सबेर हिंसात्मक घटनाएँ होतीं। लोकतंत्र के लिए ऐसे मोड़ पर चुनाव स्थगित करना एक अच्छा कदम नहीं रहता। यह सही है कि उनकी हत्या से राष्ट्रीय और व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर आघात लगा है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि संतजी की शहादत पंजाब में अमन-चैन कायम करके ही रहेगी। जहाँ तक मेरी जानकारी है, संतजी की हत्या से आतंकवादी अलग-थलग पड़ने लगे हैं। उनके साथ सहानुभूति रखनेवाले भी दूर होते जा रहे हैं। गाँवों में उनका समर्थन टूटने लगा है। संतजी की हत्या से हर हिन्दू-सिख-मन को चोट लगी है। कौन नहीं जानता कि संतजी की हत्या गुरुद्वारे में अरदास करते हुए की गई थी। क्या कोई असली सिख इस हत्या को सहन कर सकता है? कोई सच्चा धार्मिक इंसान यह पसंद नहीं करेगा कि पूजा-स्थलों को इस प्रकार अपवित्र किया जाए।

मेरा पक्का विश्वास है कि संतजी की शहादत से पंजाब में एक नए युग की शुरूआत होगी। सिख समुदाय आत्ममंथन करेगा; हिन्दू भी आत्मविश्लेषण करेगा, क्योंकि संतजी ने दोनों की एकता हेतु अपना उत्सर्ग किया है।

जोशी : *चर्चा है कि संतजी की हत्या से आपकी स्थिति प्रभावित हुई है?*

अ. सिं. : अब मैं इस सिलसिले में क्या कह सकता हूँ ! लोगों का अपना ख्याल है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आज भी मैं उतनी ही निष्ठा और विश्वास के साथ काम कर रहा हूँ, जितना पहले करता था।

जोशी : *क्या आप राज्यपाल पद से शीघ्र मुक्त होना चाहेंगे?*

अ. सिं. : पंजाब में प्रतिनिधि सरकार का गठन होने के पश्चात मेरी भूमिका क्या रहेगी, इसका फैसला प्रधानमंत्री करेंगे, मैं नहीं।

जोशी : *आपकी पहली पसंद क्या रहेगी–दिल्ली या भोपाल?*

अ. सिं. : पहले यहाँ से तो मुक्त होने दीजिए। आगे जैसा राजीवजी चाहेंगे, वैसा होगा।

बातचीत समाप्त हुई। एक बला का आत्मविश्वास उनके चेहरे पर चमक रहा था। घाट पर लगने के बाद नाविक का भी ऐसा ही विश्वास होता है, और वह इसी विश्वास के बल पर अगला दरिया पार करने की तैयारी शुरू कर देता है। मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री अर्जुन सिंह भी इसी नाविक-विश्वास के साथ अगली तैयारी में हैं।

3 सितम्बर, 1985

ताऊ बोल्या ...

चौधरी देवीलाल राजनीति के बंजारे हैं। अपना आशियाना बसाते हैं, खुद ही उसे उजाड़ देते हैं और अगला डेरा डालने के लिए नई ठौर की तलाश में निकल पड़ते हैं। यह सिलसिला आज भी बदस्तूर जारी है। पूर्व उपप्रधानमंत्री देवीलाल उम्र के अठहत्तर वसंत-पतझर देख चुके हैं। राजगद्दी पर बैठे या उतरे, लोगों को प्रधानमंत्री बनाया या उतारा और पार्टियाँ बनाईं या तोड़ीं, पर उन्होंने अपनी बजारी-अलमस्ती कभी नहीं छोड़ी। जीवन के इस अंतिम पड़ाव पर भी एक शरारती शिशु उनके भीतर जीवित है। एक राजनीतिक जिजीविषा ताऊ को निरंतर भटकाती रहती है। तभी तो वे एक नई राजनीतिक पार्टी बनाने के लिए सड़कों, खेतों-खलिहानों में निकल पड़े हैं। लौ बुझने से पहले वे अपने जुनून की पराकाष्ठा का साक्षात्कार कर लेना चाहते हैं। नई दिल्ली स्थित अपने निवास के आँगन में वे ठेठ गँवई अंदाज में बैठे हैं। गायें बँधी हुई हैं। सुरक्षा में हथियारबंद संतरी तैनात हैं। चिड़ियों की चहचहाहट और वाहनों के शोर के बीच किसान-दुनिया का यह किंवदंती-पुरुष अपनी कड़क व खुरदरी आवाज में स्मृतियों तथा संकल्पों के गलियारे की सैर कराता है। काफी कुछ बेतरतीब रहता है, पर याददाश्त बला की है। प्रस्तुत हैं महत्वपूर्ण झाँकियाँ, उनके गलियारे की।

***जोशी :** आप जीवन और राजनीति, दोनों के अंतिम पड़ाव में हैं। पर आपको चैन नहीं है; एक नई राजनीतिक पार्टी बनाने के लिए एक बच्चे के समान मचल रहे हैं। ऐसा क्यों?*

दे. ला. : 'पॉलीटिकल' आदमी जो होता है, उसको 'रैस्ट' कभी नहीं मिलता। अगर वह सही मायने में पॉलीटिकल है तो। पॉलीटिकल आदमी को रैस्ट, 'अरैस्ट' में मिलता है। और अरैस्ट में जाता है वह किसी राजनीतिक मुद्दे को लेकर।

(यह वाक्य पूरा होने के साथ ही यादों का रेला उमड़ता है। ताऊ अपनी छह दशक पुरानी संघर्ष-गाथा शुरू कर देते हैं। बीच-बीच में अर्धविराम-पूर्ण विराम लगाने की असफल कोशिश की जाती है। पर ताऊ एक जुनूनी रफ्तार से दौड़ते रहते हैं। संघर्ष-कहानी यूँ शुरू होती है।)

जब हम 1927 में कांग्रेस में थे, साइमन कमीशन आया था हिन्दुस्तान में। कांग्रेस ने इसका बॉयकॉट किया था। वापस-जाओ के नारे लगाए थे। साइमन के खिलाफ बंबई, दिल्ली और लाहौर में प्रदर्शन हुआ। मैं उस समय लाहौर में था। प्रदर्शन की अगुवाई करनेवाले लाला लाजपतराय के साथ हजारों का हुजूम था। जब नारे लग रहे थे, तब अँगरेज पुलिस अफसर सांडर्स ने लाठी-चार्ज किया । लालाजी घायल हो गए। मैंने इस पूरे मंजर को देखा था। तब से ही मेरे दिमाग में यह चीज थी कि अँगरेज बला का जालिम है; इसकी सरकार को खत्म करना चाहिए। तब मैं हिसार जिले के एक गाँव में पढ़ा करता था। साइमन कमीशन के बाद से मैं लगातार सारी एक्टीविटीज को देखता रहा। जब लाहौर में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुकम्मल आजादी का ऐलान किया, तब भी मैं था। रावी के किनारे कांग्रेस का सालाना जलसा था। जब लाहौर में नेहरूजी का जुलूस निकल रहा था, तब वहाँ एक भल्ले दी हट्टी थी। उनके पिता मोतीलाल नेहरू वहाँ बैठे हुए थे। वे फूल बरसा रहे थे। यह शायद 1929 के दिसंबर महीने की बात है। तब मैं मोगा से कांग्रेस का वालिंटीयर था।

उस जमाने में हम सुना करते थे कि विलायत में मशीनों से खेती होती है; सामान मोटरों से ढोया जाता है। उस जमाने में हमारे यहाँ कार-मोटर का सवाल नहीं था। अँगरेज फौजी बताते थे कि उनके यहाँ खूब खुशहाली है। तो उस समय हमारे दिमाग में जो नक्शा हिन्दुस्तान के लिए बना था, वह आज भी मौजूद है। उस समय हमारी इच्छा थी कि हमारा देश योरप की तरह खुशहाल हो, मशीनें आएँ।

जोशी : *तो यह सपना था?*

दे. ला. : हाँ, मेरा यह पुराना सपना था। इस सपने को पूरा करने के लिए ही कांग्रेस से बाहर आए। कांग्रेस से लड़े। और आज लड़ते-लड़ते अठहत्तर साल के हो गए। 1962 में कांग्रेस छोड़ी थी। 1936 में मेरे बड़े भाई ने कांग्रेस टिकट से तब के पंजाब से चुनाव लड़ा था। मैं चुनाव लड़ नहीं सकता था। मेरी उम्र कम थी। इसलिए बड़े भाई चौ. साबराम को खड़ा किया गया था। और उनके मुकाबले में सर सिकंदर हयात खाँ, सर मजीठा जैसे बड़े-बड़े लोग खड़े हुए थे। उस जमाने में सर, राव साहब, खान बहादुर साहब जैसे टाइटल मिला करते थे। जैसे आज टाइटल मिलते हैं... क्या हैं वे

जोशी : पद्मश्री, पद्मभूषण...

दे. ला. : हाँ... हाँ। ऐसे ही टाइटल। उस जमाने में हमारा आज का हरियाणा पंजाब में था। तो इस रीजन में सर छोटूराम सबसे बड़े लीडर थे। उनकी तूती बजा करती थी। उनके सामने कोई खड़ा होने की हिम्मत नहीं किया करता था। मैं चूँकि कांग्रेस में था और लाहौर जेल से सजा काट आया था – सिविल नाफरमानी में मुझे जेल भेजा गया था – लिहाजा 1936 में चुनाव लड़ने की इच्छा हुई। पर मैं सिर्फ 23 साल का था। इसलिए मेरे बड़े भाई को खड़ा किया गया। बड़े भाई सिरसा फतेहाबाद निर्वाचन क्षेत्र से कामयाब हो गए। उन दिनों एक ही हिसार जिला हुआ करता था। अब तो तीन जिले हो गए–हिसार, भिवाणी और सिरसा। तो सिकंदर हयात, खिजरे हयात और छोटूराम ने हराने के लिए बड़ा जोर मारा। लेकिन, मैं जेल काटकर निकला हुआ था, इसलिए लोगों ने हर जगह मेरी बात सुनी। मैं बड़े घर का था इसलिए जहाँ भी जाता था, लोग घेर लेते थे। मेरी मुहिम सफल रही। भाई चुनाव जीत गए।

मैं 1939 के सत्याग्रह में भी भाग लेना चाहता था। लेकिन, गाँधीजी ने परमिशन नहीं दी। बड़े भाई एम. एल. ए. थे। उन्होंने सत्याग्रह में भाग लिया। वे गिरफ्तार हो गए, और जेल भेज दिए गए। फिर भारत छोड़ो आंदोलन चला। तब मैं बंबई में था। उस समय अखबारों में छप गया कि कांग्रेस का प्रोगराम तोड़-फोड़ का है, रेल-पटरियाँ उखाड़ने का है। फिर सरकार ने गिरफ्तार करना शुरू कर दिया। मैं बंबई से बच निकला। फिर मैं अंडरग्राउण्ड हो गया। चुपचाप काम करता रहा। लेकिन, बाद में क्विट इंडिया आंदोलन में मैं और मेरा भाई भी गिरफ्तार हो गए। हमें मुल्तान की सेंट्रल जेल में रखा गया। इसी जेल में पंजाब और दिल्ली के भी बड़े-बड़े लीडर आ गए। तो जेल में अजीब तमाशा हुआ।

बाबा गुरुदत्त सिंह से मुलाकात हुई। ये कामागाटामारू जहाज लेकर आए थे। इनके सारे हथियार पकड़ लिए गए थे। ये और मि. एम. एम. फारुखी हमारा 'स्टडी सर्कल' लगाया करते थे। फारुखी साहब अभी सी. पी. आई. के नेता हैं। जेल में ही हमारी क्लास लगा करती थी। बड़ा काबिल आदमी था फारुखी। इनकी रामकथा जबर्दस्त हुआ करती थी। पर ज्यों ही जर्मनी ने 'रसिया' पर हमला किया, एक नया तमाशा हो गया। हम फारुखी साहब के वार्ड में स्टडी सर्कल लेने गए तो वे नदारद थे। मैंने पूछा कि फारुखी साहब कहाँ हैं तो बताया गया कि वे तो रात में ही चले गए। रसिया पर जर्मनी के अटैक को फारुखी साहब ने पीपुल्स वार कह दिया था। आप तो जानते ही हैं कि कम्युनिस्टों ने पीपुल्स वार कह दिया था। वे बाहर आ गए, और हम जेल में ही रह गए। एक साल की सजा काटी। उन दिनों मिलने की इजाजत किसी को नहीं थी; पैरोल पर मुश्किल से छोड़ा जाता था। उन दिनों महाशय कृष्ण (प्रताप-और वीर अर्जुन समूह के संस्थापक) भी जेल में थे।

दरबारासिंह भी जेल में था।

सर छोटूराम से हमेशा मेरी ठनी रही। वे मुझे गिरफ्तार करवाना चाहते थे। वारंट मेरे पीछे था। राजस्थान की सरहद का किस्सा है। बारिश जोर की हो रही थी। मैं घोड़े पर था। चारों तरफ पुलिस फैली हुई थी। उस समय अफवाह यह भी फैल गई कि देवीलाल गोली का शिकार हो गया। मेरे फादर ने मुझसे कहा कि तू गिरफ्तार हो जा। सभी लोग गिरफ्तारी के लिए कह रहे थे। मैं भी चाह रहा था। पर मेरी इच्छा थी कि मेरे साथ कुछ और लोग भी गिरफ्तारी दें। तो मैंने संदेशा भेजा कि गिरफ्तार तो हो जाऊँगा, पर पहले पाँच-दस आदमियों को पकड़ो। मैंने कुछ आदमी भेज दिए। मैं भी गिरफ्तार हो गया। फिर मुझे हिसार और इसके बाद मुल्तान जेल ले जाया गया। जब रिहा हुआ तो मैं छोटूराम से मिला, और दरख्वास्त की कि मेरे बड़े भाई की पैरोल पर रिहाई करवाओ। फिर मेरे भाई को रिहा कर दिया गया। उन्हें हिसार ले जाया गया। उन दिनों पैरोल पर छूटनेवालों को पाँच से ज्यादा लोगों के बीच नहीं बैठने दिया जाता था।

उस समय पाकिस्तान के बनने की बात चल रही थी। मुसलमानों, हिन्दुओं के लिए अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्र हुआ करते थे। छोटूराम मुसलमानों को प्रभावित करने के लिए एक अखबार निकालना चाहते थे। इसमें उन्हें मेरी मदद चाहिए थी। तब मैंने उन्हें आश्वासन दिया था कि आप पाकिस्तान के खिलाफ हैं और मुसलमानों को अपनी ओर खींचना चाहते हैं, तो इस काम में मैं आपकी पूरी मदद करूँगा। मैंने उनके लिए 20 हजार रुपये जमा भी किए। उस समय उनकी योजना थी मुस्लिम सीटों को जीतने की। अगर योजना कामयाब हो जाती तो पाकिस्तान नहीं बनता। लेकिन वे बीमार पड़ गए। वक्त से पहले मर गए। उनकी प्लानिंग ऐसी थी कि मुसलमान का वोट पड़ना ही नहीं था। मगर उनकी डैथ के बाद हालात बदल गए। पंजाब के 175 के हाउस में मुस्लिम लीग 34 सीट जीत गई। पाकिस्तान बना तो डॉ. गोपीचंद भार्गव, भीमसेन सच्चर की आपसी लड़ाई की वजह से बना। ऐसी ही लड़ाइयाँ लड़ते रहे। मैं कभी सिकंदर हयात, कभी खिजर हयात, कभी डॉ. फिरोज खाँ नून से मिलता। उन दिनों में भी एम. एल. ए. को तोड़ा जाता था। आखिर के दिनों में मुस्लिम लीगियों ने नेताओं को तोड़ा। खिजर हयात भी मुस्लिम लीग में जा मिला। मैं लाहौर में समझाने भी गया, मगर कुछ हुआ नहीं। लीगी कामयाब हो गए। तो आप कहते हैं ना कि मुझे... सवाल किया ना...

जोशी : *चैन नहीं है...*

दे. ला. : चैन हो नहीं सकता। हमारा इतिहास इसका गवाह है।

जोशी : *आजादी के बाद भी वही सिलसिला जारी है?*

दे. ला. : हाँ, अभी तक भी वही चल रहा है। अंग्रेजों के जमाने में दस-बारह बार

जेल गया। आजादी मिलने के बाद भी सात-आठ बार जेल जा आया।

देखिए, जब तक किसान-मजदूर खुशहाल नहीं होंगे, गाँधी का सपना पूरा नहीं होगा।

जोशी : *चौधरी साहब, आपकी संघर्ष की गाथा सुनी। अब यह बताइए कि आपने दो साल पहले जो प्रयोग किया उसके परिणाम कैसे रहे? वी. पी. सिंह की सरकार बनवाई। फिर चंद्रशेखर की सरकार बनी। दोनों सरकारों की अकाल मृत्यु हुई। क्या आपको कोई पश्चात्ताप है?*

दे. ला. : देखो ना, अब तक कांग्रेस में पूँजीपतियों, उद्योगपतियों का डोमीनेशन (वर्चस्व) था। 1952 में लोकसभा में 5 गाँव के लोग थे। ये लोग थे–सरदार पटेल, एन. जी. रंगा, डॉ. रामसुभाग सिंह, चौ. रणधीर सिंह और मदन सिंह । बाकी 537 शहरी हुआ करते थे। सेंट्रल हॉल में बिड़ला की लॉबी मशहूर हुआ करती थी। लॉबी के साथ 73-80 सांसद माने जाते थे। और अब ऐसी चीज है कि बिड़ला भी पैसे देकर, राज्यसभा के लिए विधानसभा के सदस्यों को खरीदता है। टिकट बिड़ला बाँटा करते थे। अब यह नक्शा बदल गया।

आज किसान-मजदूर आगे आया है। इसकी आबादी 80-85 प्रतिशत है। मैंने बड़ी कोशिश की थी कि यह ताकत सामने आए। मैंने कोशिश की थी कि किसी तरह कांग्रेस के सामने कोई विकल्प तैयार हो। क्योंकि कांग्रेस में रहकर मैं कुछ कर नहीं सका था। मैं कांग्रेस के रहम पर रहता था। मुझे टिकट नहीं मिला था। तमाशा देखिए ! मेरे जैसे आदमी को टिकट नहीं देते थे, ये बेईमान।

कांग्रेस के मुकाबले पार्टी खड़ी करने का मेरा मकसद था। मैंने हरियाणा में न्याय-युद्ध शुरू किया। इसके बाद मैंने वहाँ अपनी हुकूमत बना ली। मेरी सरकार ने बहुत सुविधाएँ दीं। कर्जा बिल पास किया। पेंशन दी। इसका प्रभाव पूरे देश पर पड़ा। इससे किसानों की हवा बनी। इसे पूँजीपति ताड़ गए। इन्होंने भी गाँववालों को टिकटें देनी शुरू कर दीं। भाजपा ने भी यही किया। जैसे भाजपा का मुख्यमंत्री है–कल्याणसिंह। है यह लोधा। खेती करनेवाली जाति है। इसी तरह से मुलायम सिंह है। यादव है। तो इस किस्म के आदमी आने लगे तो इन्हें खतरा हो गया।

तो मैंने पूँजीपतियों के प्रभाव को खत्म करने के लिए सारे हिन्दुस्तान में कोशिश शुरू कर दी। हिंदुस्तान का मतलब है यू. पी. और बिहार। पंजाब में 13 और हरियाणा में 10 सांसद हैं। दोनों को मिलाते हैं तो 23 होते हैं। राजस्थान में 25 होते हैं। अकेले उत्तरप्रदेश में 85 सीटें हैं और 54 हैं बिहार में। बिहार में भूमिहारों और ठाकुरों का प्रभाव था। ये लोग बूथ कैप्चर किया करते थे। ये रामबिलास पासवान– आज लीडर बना फिरता है, इसको हमने बिजनौर और हरिद्वार से खड़ा

किया था दो दफा। जमानत जब्त हो गई थी। शरद यादव को राजीव गाँधी के खिलाफ अमेठी से खड़ा किया था। जमानत जब्त हो गई थी।

सो, मैंने यह सोचा कि जब ठाकुर, भूमिहार मतपेटियों पर कब्जा कर लेते हैं, तो गरीब आदमी कभी नहीं जीत सकता। गरीब आदमी वोट नहीं डाल सकता। इसलिए मैंने सोचा कि इन दो जातियों में से किसी एक को लेना चाहिए। इसलिए स्ट्रट्जीकली मैंने वी.पी. सिंह को पकड़ा। 1988 में संगरिया क्षेत्र में इसकी सभा कराई। मेरे कहने पर मेरे रिश्तेदार ने वी. पी. सिंह की सभा के लिए ढाई लाख आदमी जमा कर दिए। मैंने वहीं ऐलान कर दिया था कि सिंह साधारण आदमी नहीं है, हिन्दुस्तान का होनेवाला प्रधानमंत्री है। इसके बाद मैंने इसे प्रधानमंत्री बनाना शुरू कर दिया। साथ ही मैंने यह कोशिश भी जारी रखी कि इसे अपनी औकात हमेशा याद रहे। इसलिए संगरिया के बाद गंगानगर की यात्रा में इसके साथ मैं नहीं गया। शहर की ढाई लाख की आबादी है। इसकी सभा में दस-ग्यारह हजार लोग ही आए। सिंह को यह अहसास होना चाहिए था कि उसकी औकात मुझसे है। मैं इसका दिमाग ठिकाने लगाता रहा। लेकिन, मैं यह भी कहता रहा कि लाल किले पर वीपी बोलेगा, ताऊ ठीक तोलेगा। सिंह की हवा बनाई। माकूल नतीजा निकला। देश के ठाकुर हमारे साथ हो गए। इसका नतीजा यह भी निकला कि जिसके पास कपड़ा नहीं था, उसको कपड़ा मंत्री (शरद यादव) बनवा दिया। जो पंचायत के सदस्य नहीं बन सकते थे, वे लोकसभा मेम्बर बन गए। ठाकुरों के साथ होने से पासवान सबसे ज्यादा वोटों से जीत गया।

इससे पहले मैंने मोरारजी देसाई के मामले में भी ऐसा ही किया था। हमने और जयप्रकाश ने कोशिश करके देसाई को प्रधानमंत्री बनाया था। क्या आप जानते हैं कि यह कैसे प्रधानमंत्री बना था? बहुतों को मालूम नहीं है। मैं बतलाता हूँ। लोग तो जयप्रकाश को प्राइमिनिस्टर बनाना चाहते थे। हम चाहते थे चौधरी चरणसिंह को बनवाना। लेकिन, आचार्य कृपलानी और जेपी का झुकाव देसाई की तरफ था। फिर मैंने चरणसिंह को समझाया कि आपको तो कोई प्रधानमंत्री बनाएगा नहीं, जगजीवनराम बना दिया जाएगा। चौधरी साहब जगजीवनराम के खिलाफ थे। इसलिए चरणसिंहजी से यह कहलवा दिया कि जगजीवनराम न हो, पर देसाई हो जाए। इस तरह देसाई प्राइमिनिस्टर बना। लेकिन, प्रधानमंत्री बनते ही देसाई मनमानी करने लगे। सीधे ही लोगों को मंत्री बनाने लगे। फैसला यह हुआ था कि देसाई सभी से सलाह करके लोगों को अपनी सरकार में लेंगे। लेकिन उस बेईमान ने इसकी परवाह नहीं की। बगैर सलाह के जनसंघ के लोगों को ले लिया। चरणसिंह के लोगों को भी बगैर उनकी मर्जी के लिया। इस मामले में एच. एम. पटेल, चाँदराम, प्रो. शेरसिंह, आडवाणी की मिसालें दी जा सकती हैं। देसाई की

कोशिश थी कि मंत्री उसके प्रति सीधे वफादार रहें। उसके इस रवैये से सरकार में मतभेद पैदा हो गए। बहाना बनाकर चरणसिंह को सरकार से निकाल दिया गया। देसाई का विरोध करने के लिए दिल्ली में चरणसिंह के समर्थक जमा होने लगे। रैली हुई। यह सब देखकर मोरारजी ने मुझे बुलाया। पूछा कि ये लोग क्यों इकट्ठे हो रहे हैं? मैंने कहा कि ये लोग आपके पास फरियाद लेकर आ रहे हैं। उन्होंने कहा कि इन्हें रोको। मैंने कहा कि देसाई साहब ये लोग मेरे रोके नहीं रुकते। तो उन्होंने कहा कि फिर तुम चीफ मिनिस्टर कैसे बनोगे? तो मैंने कहा कि चीफ मिनिस्टर तो पैदा नहीं हुआ था। दाव लग गया तो बन गया, जैसे कि आपका दाव लग गया तो आप प्राइमिनिस्टर बन गए। पैदा तो मैं किसान हुआ हूँ। मैं किसान का विरोध कैसे करूँ? फिर इन लोगों ने इकट्ठे होकर मेरे विधायकों को भारत-दर्शन कराया।

मेरी योजना तो राजस्थान में भी किसान को मुख्यमंत्री बनाने की थी। कुम्भाराम आर्य को बनवाना चाहता था। चौधरी साहब ने भी किसी किसान को मुख्यमंत्री बनाने के लिए कहा था। मैंने कुम्भाराम को बुलाया। रात को कुम्भाराम मेरे साथ ही ठहरा । रात को करीब तीन बजे हरिदेव जोशी का फोन आया। कुम्भाराम फोन पर बात कर रहा था। मेरी आँख खुल गई । मैंने पूछा, किससे बात कर रहे हो। उसने कहा कि जयपुर से जोशी साहब हैं। उन दिनों जोशी राजस्थान के मुख्यमंत्री थे। विधानसभा भंग नहीं हुई थी। मैंने सोचा कोई बात हो रही होगी। मैं सो गया। सुबह उठा तो देखा कि कुम्भाराम आर्य गायब है। वह जयपुर जाकर कांग्रेस में मिल गया। इसके बाद चौधरी साहब ने पूछा कि किसको बनाएँ। तो मैंने कहा कि अब तो भैरोसिंह के अलावा दूसरा कोई नहीं है। *(जोर से हँसते हुए)* मैंने किए हैं ये पाप सारे।

जोशी : *यह बतलाइए कि 1977 में देसाई सरकार बनी, इसके बाद 1989 में वी.पी. सिंह की और इसके बाद चंद्रशेखर सरकार...*

दे. ला. : भई मैं यही तो बता रहा था, भई मैंने मोरारजी को बनाया। इसके बाद सबसे पहले मेरे ऊपर वार किया गया। उसके बाद राजनारायण को पार्टी से निकाल दिया, फिर हमने तय किया कि राजनारायण के साथ रहना चाहिए। रोजाना लोगों को जमा करना शुरू किया। कर्पूरी ठाकुर को मैंने समझाया कि तेरे पास 54 एम. पी. हैं। मेरे पास तो 9-10 हैं । कुछ तू हिम्मत कर, कुछ मैं करता हूँ। इसके बाद मैंने प्रण किया कि मुझे झोंपड़ी से निकाला गया तो मोरारजी भी महल में नहीं रहेगा। फिर मैंने पटाना शुरू किया। इसके बाद चरणसिंह का नंबर आया। ब्बो प्रधानमंत्री बने। लेकिन वो संसद का सामना नहीं कर सका। यह पूँजीपतियों की शरारत है सारी।

यह सब देखकर ठाकुरों को पकड़ा। वी.पी. सिंह प्रधानमंत्री बना। इसके बाद चंद्रशेखर का नंबर आया लेकिन, दो सिपाहियों का बहाना बनाकर उसकी सरकार भी गिरा दी। सिपाही थे भजनलाल के। भजनलाल ने उन सिपाहियों को प्रोमोट कर दिया।

जोशी : *लेकिन मेरे कहने का मतलब है...*

दे. ला. : मैं बताता तो रहा हूँ–मैंने चार-चार प्राइमिनिस्टर बनवा लिए। पर अब – मैं यह साफ शब्दों में कह दूँ–जोड़-तोड़ की राजनीति नहीं चलेगी।

जोशी : *आपने चार-चार प्रधानमंत्री बना डाले। लेकिन, आपके अनुभव तो सुखद नहीं रहे।*

दे. ला. : नहीं, मेरा तजुर्बा तो बड़ा अच्छा रहा।

जोशी : *वो कैसे?*

दे. ला. : आज गरीब आदमी के लोग संसद में पहुँच गए हैं। देश की दसवीं लोकसभा में आज 343 सदस्य गाँव के हैं। पहली लोकसभा में यह संख्या सिर्फ पाँच थी। कांग्रेस के 153 और भाजपा के 63 सांसद गाँव के हैं।

जोशी : *चौधरी साहब, बुनियादी मुद्दा यह है कि 1977 से आज तक विपक्ष की सरकार जम नहीं पाई। किसी ने भी अपना कार्यकाल पूरा नहीं किया। चारों सरकारों की अकाल मौत हुई*

दे. ला. : इसकी वजह यह है कि देश में जोड़-तोड़ की राजनीति कभी कामयाब नहीं होगी। हिन्दुस्तान में अब लुटेरे और कमेरे की लड़ाई है। लुटेरा तो है पूँजीपति और सामंत, कमेरा है किसान और मजदूर। अब असली लड़ाई शुरू हुई है। इसलिए मैं कह रहा हूँ कि स्टेज ऐसी आ गई है जब लड़ाई सीधी होनी चाहिए। जोड़-तोड़ की राजनीति फेल हो चुकी।

जोशी : *तब आपको चार-चार सरकारें बनवाने और उनका अकाल पतन हो जाने से कोई पश्चात्ताप नहीं है?*

दे. ला. : बिल्कुल नहीं है। मैंने जो किया वो हालात के मुताबिक किया। पर अब आगे ऐसा नहीं चल सकेगा।

जोशी : *आपने कभी वी.पी. सिंह का साथ दिया, कभी चंद्रशेखर का। कभी किसी को अच्छा करार दिया, कभी किसी को बुरा बतला दिया। आज आपके हाथों से राज-पाट छिन चुका है। अब आपकी नजर में दोनों में से कौन अच्छा प्रधानमंत्री था?*

दे. ला. : *(सवाल से कतराते हुए)* सबसे बड़ी बीमारी है सचिवालय में। नौकरशाही का दबदबा है। सच बात यह है कि ब्यूरोक्रेट हमें चलाते हैं, हम नहीं चलते। राजीव गाँधी और इंदिरा गाँधी को चलाते थे फोतेदार और आर. के. धवन। वी. पी. सिंह को चलाता था विनोद पाण्डे और भूरेलाल। चंद्रशेखर को चलाते थे एस. के. मिश्रा और नरेशचंद्र।

जोशी : *एस. के. मिश्रा को तो आप ही लेकर आए थे?*

दे. ला. : भई, पाप मैंने बहुत किए हैं। मैंने तो अपने सिर का ताज सिंह के सिर पर रख दिया था। वह उस समय बहुत अच्छा आदमी था। बड़ा ईमानदार था, है बड़ा मेहनती। एस. के. मिश्रा मेहनती है। मेरा प्रिंसिपल सेक्रेटरी था। कृषि मंत्रालय में वह सचिव था। मैंने इसे प्रिंसिपल सेक्रेटरी बनवाया। इसका दोष नहीं है। मैंने चंद्रशेखर से कहा था कि आई. ए. एस. हमारे आदमी नहीं हैं। यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन में हमारे आदमी होने चाहिए। संघ लोकसेवा आयोग के दस सदस्यों में से कोई भी गाँव का नहीं था। चंद्रशेखर को कहा था, इसे बदलो। उधर सुरेन्द्रनाथ राज्यपाल बन गया। आयोग में एक जगह खाली हुई थी। मैंने गाँव के आदमी को लेने के लिए कहा था। एस. के. मिश्रा ने पूरा नहीं किया।

जोशी : *मतलब यह हुआ कि मिश्रा के सामने प्रधानमंत्री कुछ नहीं कर सके?*

दे. ला. : मिश्रा की मुट्ठी में चंद्रशेखर हो गए। मिश्रा खुद भी वहाँ जा पहुँचा। तो मतलब यह हुआ कि आई. ए. एस. सचिवालय चला रहे हैं। नौकरशाही का दबदबा है। वी. पी. सिंह, चंद्रशेखर प्राइमिनिस्टर तो बन जाते हैं, लेकिन किसान के हिसाब से नहीं सोचते। नौकरशाही की तरफ ध्यान ही नहीं देते। ये तो सिर्फ दस्तखत कर देते हैं। हम चाहते हैं कि आयोग के 11 सदस्यों में से सात देहात के हो जाने चाहिए। जब मेरे हाथ में ताकत थी तो मैंने 11 राज्यपाल गाँव के बना दिए थे। दुनिया में भारत के 104 राजदूत हैं जिनमें से सिर्फ तीन ही गाँव के हैं।

जोशी : *मैं अपने पुराने सवाल पर लौटता हूँ। चरणसिंह सरकार का प्रयोग आपके सामने था। फिर आपने कांग्रेस के साथ मिलकर चंद्रशेखर की सरकार बनवाई। क्या एक अनुभव काफी नहीं था?*

दे. ला. : मैंने कहा ना कि जोड़ -तोड़ करके कोशिश की थी। क्योंकि लोग बार-बार चुनाव पसंद नहीं करते हैं। मैं अब भी इस सरकार को खत्म करने के हक में नहीं हूँ। चुनाव होंगे तो लोग जूते मारेंगे। मैं स्टेबिलिटी के हक में हूँ। स्टेबिलिटी समर्थन से नहीं होती है। यह होती है मिली-जुली सरकार से। राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक में मैंने कहा था नरसिंह राव से–देखो मेरे पास वी. पी. सिंह, आडवाणी बैठे हैं। लेकिन, राम-जन्मभूमि का बहाना बनाकर आडवाणी ने

समर्थन वापस ले लिया । यह सामने बैठा चंद्रशेखर । इसको भी आपने समर्थन दिया था । लेकिन, दो सिपाहियों का बहाना बनाकर कांग्रेस का दिमाग खराब कर दिया; समर्थन वापस ले लिया । इसलिए किसी की सपोर्ट पर निर्भर मत रहो । मिली-जुली सरकार बनाओ । राज करना सीखो । मैंने कहा था, मिली-जुली सरकार में हमेशा सभी की दिलचस्पी होती है । सभी चाहेंगे कि सरकार चले । सपोर्ट में यह होता है कि जैसे ही सरकार में स्थिरता दिखाई दे, समर्थन वापस ले लो । मैंने सिर्फ स्थिरता के खातिर ही सरकार बनवाई थी ।

जोशी : *आपने मिली-जुली सरकार की बात कही है । पिछले कुछ दिनों से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शिखर-नेता भाजपा और इंका की मिली-जुली सरकार बनाने की बात कर रहे हैं । हालाँकि भाजपा नेता आडवाणी ने इससे असहमति व्यक्त की है । इंका-भाजपा जुगलबंदी के संबंध में आपकी क्या राय है?*

दे. *ला.* : मिली-जुली सरकार बनना चाहिए, भारतीय जनता पार्टी को छोड़कर ।

जोशी : *मगर, क्यों?*

दे. *ला.* : भाजपा राजनीतिक पार्टी नहीं है । यह तो 'ब्रीफकेस-पार्टी' है । व्यापारियों की पार्टी है । व्यापारियों के ब्रीफकेस में तो होती है चैकबुक । चैकबुक से कनाडा चले जाओ, वाशिंगटन चले जाओ । रुपए निकलवाओ, और काम करो अपना । व्यापारियों का जहाँ व्यापार होता है, वही देश होता है उनका ।

जोशी : *देवीलालजी, अब तो भाजपा में भी पिछड़े और गाँव के लोग आ गए हैं । कल्याणसिंह, उमा भारती इसकी मिसाल हैं ।*

दे. *ला.* : भाजपावाले जाटों, कुरमियों, लोधों का शोषण करते हैं– उनके सामने टुकड़े फेंक-फेंककर । कांग्रेस भी यही करती आई है । सारी पार्टियाँ उल्लू बनाती हैं किसानों को ।

जोशी : *तो भाजपा-इंका की मिली-जुली सरकार नहीं होनी चाहिए?*

दे. *ला.* : बिल्कुल नहीं । दोनों की मिली-जुली सरकार खतरनाक होगी देश के लिए ।

जोशी : *आज भाजपा के पास 119 सांसद हैं । पार्टी की कैसे उपेक्षा की जा सकती है?*

दे. *ला.* : तो **क्या** हुआ? आप दल-बदल विरोधी कानून खत्म कर दो । सारे आ जाएँगे हमारे साथ । कांग्रेस और भाजपा, दोनों के सांसद हमारे साथ होंगे । अब आएँ तो कैसे आएँ–खतरा है । उत्तर प्रदेश में तमाशा नहीं हो रहा है ! सच बात तो यह

है कि बी. जे. पी. की तो पोल खुल गई। नारे लग रहे हैं–अब तो सरकार तेरी है–मंदिर में क्यों देरी है?

जोशी : *आपको याद होगा, पूर्व प्रधानमंत्री वी. पी. सिंह ने भाजपा से छह महीने की मोहलत माँगी थी। पर आडवाणी ने नहीं दी। आज इस बात को बीते एक साल हो गया है। मंदिर न तब बन सका था, न आज बन सका...*

दे. ला. : भाई मेरे, तभी तो कह रहा हूँ–कमंडल की राजनीति थी। कुर्सी की लड़ाई थी। नारे लगाए जा रहे हैं। उत्तरप्रदेश के उपचुनावों में भाजपा के उम्मीदवारों की जमानतें जब्त हुई हैं। जिन्हें माफिया कहा जाता था, वे जेल में रहते हुए चुनाव जीत गए। सच बात तो यह है कि जैन, डालमिया, बिड़ला, टाटा–ये लोग माफिया के गुरु हैं।

जोशी : *आपकी नजर में मंडल और कमंडल की उपयोगिता आज भी है?*

दे. ला. : कमंडल तो फूट गया और मंडल बिखर गया। मंडल-कमंडल काहे के हैं–ये तो सब उल्लू बनाने के ढंग हैं। मंडल और कमंडल, दोनों बेईमानों के गठजोड़ थे। लेकिन, यह ज्यादा नहीं चला करता। इसीलिए मैंने अब तौबा की है ना कि मैं गठजोड की राजनीति से तंग आ गया।

जोशी : *चौधरी साहब, आप कुछ भी कहें, एकता-यात्रा तो जमकर निकल रही है।*

दे. ला. : काहे की एकता यात्रा–यह तो 'दुर्भावना-यात्रा' है। इससे लड़ाई-दंगे होंगे। भाजपा सबसे खतरनाक पार्टी है। मेरी नजर में यह घोल, तोल, मोल और रोलमरोल की पार्टी है।

सबसे पिंड छुड़ाकर अब मैं सीधी लड़ाई लड़ रहा हूँ। जिंद में हमारी सभा हुई थी। साढ़े तीन लाख आदमी थे। मुझे किसान-मजदूर जागरण आंदोलन चलाने का अधिकार सौंपा गया है। इस आंदोलन की पहली सभा 29 दिसंबर को झुनझुनू में हो रही है। इसके बाद 5 जनवरी को भरतपुर में होगी। जनवरी में ही पश्चिमी उत्तरप्रदेश के शहरों में सभा की जाएगी।

जोशी : *देवीलालजी, अगर राजीव गाँधी जीवित होते तो राजनीति का नक्शा कैसा होता?*

दे. ला. : राजीव गाँधी भी नौकरशाहों के हाथों में रहते। वैसे आदमी अच्छा था। दिल का अच्छा।

जोशी : *पर राजनीति की समझदारी नहीं थी...*

दे. ला. : नहीं, समझदारी भी थी। लेकिन, चारों तरफ से उन्हें गलत लोगों ने घेर

रखा था। राजीव गाँधी पैराट्रूपर लोगों यानी आधारहीन लोगों से घिरा हुआ था। मैं तो दस जनपथ आता-जाता था; सब देखता था।

जोशी : *क्या आप समझते हैं कि राजीव गाँधी के निधन के बाद भारत में कुनबा-राजनीति का युग खत्म हो चुका है?*

दे. ला. : मैं तो कहता हूँ कि कुनबा राजनीति क्या, गठजोड़ की राजनीति समाप्त हो चुकी है। वैसे राजीव गाँधी के खानदान ने काम भी किया था। अखबारों में खूब उछल गया। पर अब तो लीडरशिप नहीं रही ना... । कांग्रेस की लीडरशिप तो खत्म हो गई। नरसिंह राव के साथ आज लोग नहीं हैं। उनकी सभाओं में लोग नहीं आते हैं। जनता यह भी नहीं जानती है कि नरसिंह राव प्रधानमंत्री हैं भी या नहीं। मेरी सभाओं में आज भी लाखों लोग आते हैं।

जोशी : *क्या वजह है कि आज आपके साथ आपके ही बेटे नहीं हैं ? ओमप्रकाश चौटाला आपकी अवहेलना करते हैं।*

दे. ला. : देखिए, ओमप्रकाश चौटाला का बेटा मेरे कमरे में बैठा हुआ है। प्रताप ने कहा था कि मेरे बाप का बाइकाट करो। आज उसके दोनों बेटे मेरे यहाँ बैठे हुए हैं।

जोशी : *आश्चर्य है... बेटे साथ नहीं हैं... पोते आपके साथ हैं? इसकी वजह क्या है?*

दे. ला. : इसकी वजह यह है कि लोग समझते हैं, देवीलाल को मार सकते हो उसके बेटे को बदनाम करके। मुझे तो कोई मार नहीं सकता। मैं तो मूढ़े पर बैठनेवाला हूँ। गाय का दूध पीनेवाला हूँ। सामने गाय देख रहे हैं ना ... मैं इसी का दूध पीता हूँ। आपको तो गाय की बदबू आती होगी... *(हँसते हुए)*

जोशी : *नहीं, नहीं, मैं भी गाँव का ही हूँ- चौधरीजी। गाँव में ही पढ़ा-लिखा हूँ।*

दे. ला. : अब मेरे खिलाफ कोई चीज है नहीं। इसलिए मेरे बेटों को निशाना बना लेते हैं। हालाँकि ओमप्रकाश जैसा कोई वक्ता नहीं है। उस जैसा संगठनकर्ता नहीं है। लेकिन, अखबारों ने चौटाला की हवा बिगाड़ दी।

जोशी : *तब यह माना जाए कि आपकी राजनीतिक लड़ाई में वे आपके साथ हैं?*

दे. ला. : लड़ाई में मेरे साथ नहीं हैं, राजनीति में हैं। राजनीतिक झुकाव सबका अपना-अपना है। जब कोई पढ़-लिख जाए तो मेरे जैसे अनपढ़ के समझाने पर वो समझेगा थोड़े ही। मैंने अपने बेटों को धमका दिया है कि अलग-थलग रहो, वरना एक साथ मोटर में बैठकर चलो। मैं अपने आप लड़ लूँगा। अब लड़ाई भी

क्या है। चौटाला अमेरिका चला गया। दूसरा यहाँ बैठा है।

जोशी : चौटालाजी अमेरिका क्यों चले गए?

दे. ला. : इस बारे में चंद्रशेखर से पूछो, यशवंत सिन्हा से पूछो, चंद्रास्वामी से पूछो।

चंद्रास्वामी के बारे में सवाल पूछे जाते हैं तो ताऊ हर बार कन्नी काट जाते हैं।

जोशी : अब आपके सामने एक काल्पनिक सवाल रख रहा हूँ। यदि आप देश के प्रधानमंत्री होते या बनते हैं तो आपकी प्राथमिकताएँ क्या होंगी?

दे. ला. : मैं सबसे पहले नौकरशाही को ठीक करूँगा।

जोशी : और क्या-क्या करेंगे? आपको सारी पावर मिल जाती है तो कौन-कौन-से काम हाथ में लेंगे?

दे. ला. : मुझे शेखचिल्ली मत बनाओ (जोर का ठहाका) मैंने तो एक मोटी-सी बात बतला दी है।

जोशी : आजकल देश में विदेशी कर्जों की बहार आई हुई है। आपकी नजर में इसके क्या प्रभाव पड़ेंगे?

दे. ला. : मुल्क को बेच दिया इन लोगों ने, कंगाल कर दिया भारत को, और यह सारी विदेशी दौलत चंद घरानों के पास जमा हो रही है। बहुत बुरे नतीजे निकलेंगे।

जोशी : तब इससे मुक्ति कैसे मिलेगी?

दे. ला. : अब यह ... तो ... जनता... जब कभी बगावत करेगी, तभी निजात मिलेगी। जनता इन पर टूटेगी; यह तभी मुमकिन होगा जब मज़दूर-किसान एक होंगे।

22 दिसंबर, 1991

'परिवर्तन की शृंखला की एक कड़ी हूँ' :

'परिवर्तन की शृंखला में एक कड़ी मात्र हूँ। विराम समझने की भूल नहीं करता और न ही कभी करूगा।' अ. भा. राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के शिमला अधिवेशन के एकमात्र चुनाव के विजेता युवा तुर्क नेता श्री चन्द्रशेखर से बातचीत का सिलसिला इन शब्दों में शुरू हुआ।

शिमला की माल रोड से लगभग डेढ़ हजार फुट नीचे एन्नाडीले मैदान में कांग्रेस की केन्द्रीय चुनाव समिति के सदस्यों के चुनाव की सरगर्मी । श्री चन्द्रशेखर ने मैदान से न हटने की घोषणा कर दी है। एक सिरे से दूसरे सिरे तक कहा गया कि अधिकृत सूची में श्री चन्द्रशेखर का नाम नहीं है। सदस्य कभी स्वयं को देखते, कभी चंन्द्रशेखर को और कभी मंच पर बैठे उच्च नेताओं : श्रीमती इन्दिरा गाँधी, श्री चन्द्रजीत यादव, उमाशंकर दीक्षित, जगजीवन राम, सुब्रह्मण्यम, कमलापति त्रिपाठी, शंकरदयाल शर्मा आदि को। उन्हें अचम्भा था कि एक ओर युवा तुर्क अ.भा. कांग्रेस महासमिति के महासचिव श्री चन्द्रजीत यादव हैं तो दूसरी ओर युवा नेता श्री चन्द्रशेखर खड़े हैं। चारों तरफ अनिश्चितता का धुँधलका छाया हुआ है। इसी में से झाँकते हुए चंद्रशेखर कह रहे हैं– 'जिस ढंग से चुनाव कराए जा रहे हैं, ऐसी स्थिति में हो सकता है, मैं हार जाऊँ।' परन्तु, उनकी दाढ़ी में कोई सलवट नहीं आई। आखिर मतदान हो गया।

शिमला का दस अक्तूबर का उज्ज्वल प्रभात। फिर शोर उमड़ रहा था। युवा तुर्क चन्द्रशेखर बधाइयों के भँवर में फँस गए। पत्रकारों और फोटोग्राफरों का ताँता। सैकड़ों सवाल, सैकड़ों शंकाओं के समाधान और सैकडों चित्र। श्री चन्द्रशेखर की जीत सम्भवतः युवा तुर्कों की जीत न थी; युवावर्ग दो हिस्सों मे बँटा था– एक महासमिति के युवा सचिव के साथ तो दूसरा [illegible] युवावर्ग के साथ,

जिसकी पीठ पर कुछ असंतुष्ट नेता और मंत्री भी थे। इसी खींचातानी में उनसे कह रहा हूँ– 'एक दाढ़ीवाले की दूसरे दाढ़ीवाले को बधाई।'

तपाक से उत्तर मिला– 'हाँ भाई! यह दाढ़ी का ही तो चमत्कार है।'

परिवर्तन की गति मन्थर

जोशी : बम्बई अधिवेशन (1969) से लेकर शिमला-अधिवेशन तक क्या आप दल की कोई ठोस उपलब्धि मानते हैं?

चं. शे. : केवल एक सीमित ठोस उपलब्धि। विभाजन के पश्चात समाजवाद लाने की दिशा में कांग्रेस के उच्च नेतृत्व में एक सतही एकता आई है। इसी के फलस्वरूप संविधान में संशोधन, आम बीमे का राष्ट्रीयकरण, भू. पू. नरेशों का प्रिवीपर्स समाप्त करने का निर्णय, एकाधिकार की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण इत्यादि सम्भव हो पाए हैं। फिर भी मेरी ऐसी मान्यता है कि अभी कुछ नहीं हो पाया है। कांग्रेस संस्था के विभाजन के बाद भी परिवर्तन की गति अत्यन्त मन्थर है। यह एक चिन्ता की बात है कि दल के उच्च-वर्ग की ढुलमुल नीति में कोई अन्तर नहीं आया है।

जोशी : क्या कांग्रेस के वर्तमान नेतृत्व में कुछ और बुनियादी सुधारों की आवश्यकता है?

चं. शे. : सुधार की सदैव आवश्यकता रहती है। अगर ऐसा नहीं किया जाता तो उसमें ठहराव आ जाता है, परन्तु इसके साथ ही जनता में राजनीतिक चेतना का ठोस फैलाव भी आवश्यक है। किसी दल में केवल सुधार से काम नहीं चल सकेगा। यदि जन-चेतना का अभाव है तो सुधार के पश्चात भी नेतृत्व के भ्रष्ट होने का अंदेशा बना रहेगा। कांग्रेस कार्यकर्त्ता जहाँ नेतृत्व के परिवर्तन की बात करते हैं, वहाँ जनजागरण और वैचारिक-क्रान्ति से कतराते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि नेतृत्व में सुधार और जन-चेतना की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलें।

वैसे आम तौर पर किसी भी संगठन में सुधार के कदम का स्वागत होना चाहिए, क्योंकि इस तरह के सुधार कभी-कभी आवश्यक हो जाते हैं, परन्तु सुधार या परिवर्तन के पीछे सक्रिय शक्ति का जनता और दल के आम कार्यकर्त्ताओं से सीधा तालमेल होना चाहिए। परिवर्तन के कदम उसी अवस्था में कारगर सिद्ध हो सकते हैं, जबकि उनसे दल की नीति एवं कार्यक्रमों की रक्षा हो, न कि किसी विशेष व्यक्ति की प्रतिष्ठा स्थापित हो।

जोशी : उड़ीसा तथा अन्य स्थानों के उपचुनावों में कांग्रेस को मिली करारी हार से आप ऐसा नहीं मानते कि आपका दल लोकप्रियता खोता जा रहा है?

चं. शे. : उपचुनावों में दल की पराजय से यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि

जनता ने हमारी नीतियों को अस्वीकार कर दिया है। परन्तु, इससे ये संकेत तो अवश्य मिलते हैं कि जनता कितनी तेजी से परिवर्तन चाहती है। जब हम जनता की आकांक्षाओं को अमली जामा पहनाने का दावा करते हैं, तब जनता इसका शीघ्र सबूत भी चाहती है। इसके लिए वह दल या संगठन के कदमों को सदैव शंका की दृष्टि से देखती है।

इसके अतिरिक्त हमें भूलना न चाहिए कि जनता की भावनाएँ तेजी से जगाई तो जा सकती हैं, परन्तु उन्हें सुविधा से सुलाया नहीं जा सकता। जब एक बार जन-आकांक्षाएँ जग जाती हैं, तो उन्हें चमत्कारी उपलब्धियों की अपेक्षा रहती है, जो न तो सम्भव है और न ही व्यावहारिक। हकीकत तो यह है कि आगे बढ़ती जनता को इतनी आसानी से व्यवस्थित नहीं किया जा सकता, जितनी आसानी से राजनीतिक दलों का नेतृत्व व्यवस्थित हो जाता है। कांग्रेस को चाहिए कि वह जनता को सही ढंग से शिक्षित करे और उसकी समस्याएँ समझे। यदि इस तथ्य की उपेक्षा करके चातुर्यपूर्ण माध्यमों से आश्चर्यपूर्ण उपलब्धियों की बात की जाएगी तो निश्चय ही इस प्रकार के माध्यम बिखर जाएँगे और समस्या और भी उलझ जाएगी।

उपचुनावों में पराजय से कांग्रेस--जनों को यह भी समझ लेना चाहिए कि उनकी विरोधी शक्तियाँ समाप्त नहीं हुई हैं, केवल सुप्तावस्था में हैं।

युवा पीढ़ी और श्रीमती इन्दिरा गाँधी

जोशी : *श्रीमती इन्दिरा गाँधी का नेतृत्व किस सीमा तक युवा पीढ़ी को साथ ले सकता है?*

चं. शे. : इन्दिरा-नेतृत्व का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है दलीय कार्यक्रमों एवं नीतियों का। ये कार्यक्रम ही युवकों को आकर्षित करते हैं अथवा उन्हें निराश करते हैं। इसके अतिरिक्त एक तथ्य और भी है। प्रत्येक दल अपनी सुरक्षा की चिन्ता करता है। युवा-शक्ति सुदृढ़ रहती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक दल चाहता है कि युवकों को साथ लिया जाए। कांग्रेस भी इसी भावना से प्रभावित है।

जोशी : *क्या आप ऐसा विश्वास करते हैं कि विधानसभाओं के अगले चुनावों में युवकों को उचित प्रतिनिधित्व दिला सकेंगे?*

चं. शे. : मेरा प्रयास यही रहेगा कि युवकों को उचित प्रतिनिधित्व मिले। यह बात साफ तौर पर समझ लेनी चाहिए कि युवा-पीढ़ी की और अधिक देर तक उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज जो लोग युवकों का प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, उनकी भी असलियत का अब पता चल जाएगा, मुखौटाधारी चेहरा स्वतः साफ

होकर सामने आ जाएगा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि दल का नेतृत्व अपनी वैचारिक शक्ति के दायरे को और भी चौड़ा करे। नारेबाजी और लम्बे-चौड़े भाषणों से बचना चाहिए अन्यथा उनके सारे प्रयत्न असफल हो जाएँगे।

युवा-चेतना रास्ता निकालेगी

जोशी : *केन्द्रीय चुनाव-समिति में कुछ उन लोगों को लिया गया, जिन्हें हाल ही में ऊँचे पदों से हटाया गया है और दबे रूप में उन पर भ्रष्टाचार के आरोप हैं। यहाँ तक कि एक सदस्य को तो न्यायालय ने भी भ्रष्टाचार के मामले में दोषी ठहराया है। ऐसी स्थिति में दल की इस उच्च समिति में उनका चुना जाना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि कांग्रेस के अनेक रूप हैं? क्या इससे युवकों को निराशा नहीं होगी?*

चं. शे. : देखिए जनाब ! इस प्रकार के तत्वों के समिति में प्रवेश से यह तो सिद्ध हो ही गया कि दल को उनकी आवश्यकता है। उच्च पदों से हटाया जाना एक दिखावा मात्र था। फिर भी इस प्रकार के व्यक्तियों के चयन में मेरा कोई हाथ नहीं है। उनके चुने जाने और न चुने जाने से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।

जहाँ तक बात है युवकों की निराशा की, उसका अवश्य ही महत्व है। परंतु, उससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए, कि इस प्रकार के तत्वों से युवा-चेतना की प्रक्रिया प्रभावित होगी। यह प्रक्रिया स्वत: ही अपना मार्ग प्रशस्त करती जा रही है।

जोशी : *बदलाव के लिए उठा युवकों का उग्र-हिंसक आन्दोलन भी आज असफल-सा हो गया, और कांग्रेस भी कोई उचित मार्ग नहीं दिखा सकी है। ऐसी स्थिति में आप युवकों से क्या अपेक्षा करते हैं?*

चं. शे. : मेरे युवा बन्धु ! प्रत्येक वस्तु के लिए बलिदान की आवश्यकता होती है। बदलाव के लिए उठा आन्दोलन असफल ही हुआ है, मरा तो नहीं। यद्यपि उग्र आन्दोलन में कुछ त्रुटियाँ अवश्य हो गई हैं, तथापि यह मान बैठना मूर्खता होगी कि आन्दोलनकारियों का बलिदान निष्फल गया है।

हम लोगों को चाहिए कि उग्र युवावर्ग की भावनाओं और पीड़ाओं को ठीक तरह से समझें; उन्हें विश्वास में लें; तभी सामाजिक परिवर्तन में उनका सक्रिय योगदान मिल सकता है।

31 अक्टूबर, 1971

ढीली पकड़ और निस्तेज संवाद के बीच

"मुझ पर लिखा गया आपका शब्द-चित्र पढ़ा। काफी अच्छा लगा। पहली बार किसी पत्रकार ने ऐसा लिखा है।" टेलीफोन के उस छोर से आवाज थी। "धन्यवाद," इस छोर से कहा गया।

"पर शब्द-चित्र एकांगी जरूर लगा," उस छोर से शिकायत-भरा स्वर था। "वो कैसे?" इस छोर से एक व्यग्रता थी, "उस दिन प्रेसवार्ता में जो देखा उसको शब्दों में रेखांकित कर दिया।"

"कमरे की वस्तुओं का चित्रण ठीक किया। परंतु, आप भूल गए मेरे कमरे में एक शेर का सिर भी दीवार पर टँगा हुआ है, सिर्फ मृग का धड़ ही नहीं है। मैं निस्तेज नहीं हूँ, जैसा कि आपने लिखा है। मुझमें तेज है।" दूसरे छोर से मध्यप्रदेश के वरिष्ठ नेता श्री विद्याचरण शुक्ल इस संवाददाता को अपने व्यक्तित्व का मर्म समझा रहे थे। संदर्भ था नई दुनिया के 27 जून के अंक में प्रकाशित '**विद्याचरण शुक्ल : एक शब्दचित्र**' का। आलेख में पत्रकारों से बातचीत करते हुए उनकी मनोदशा तथा कक्ष-स्थिति का शब्द-चित्रांकन था। इस पर उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। तब से लेकर आज तक काफी उथल-पुथल हो गई। श्री शुक्ल कांग्रेस पार्टी से निकाल दिए गए। उन्होंने राजीव गाँधी से इस्तीफा माँगा। संभवत: जीवन में पहली बार श्री शुक्ल ने राजघाट पर अन्य निष्कासित इंकाइयों के साथ अनशन किया; गाँधीजी के औजारों को नए संदर्भों में युवा राजीव गाँधी के खिलाफ आजमाने की कोशिश की। यह एक अच्छा मौका था नए ज्वार के बीच बागी महानदी वीसी की क्षमताओं की थाह लेने का। धारा के विरुद्ध श्री शुक्ल, कितनी दूर तक जा सकते हैं, इस संबंध में राष्ट्रपति परिसर में स्थित उनके भव्य निवासस्थान पर एक बेबाक संवाद हुआ। वही कक्ष था, वही वस्तुएँ थीं, वही वातावरण था, परंतु संदर्भ बदले हुए थे और पूर्व केंद्रीय मंत्री शुक्ल के स्वर भी।

मुट्ठी में आसमान कैद करने का स्वप्न कितना रोमांचक है स्वयं में? इस हौसले के साथ बाहर निकल पड़ें और बीच रास्ते में पहुँचकर पाएँ कि आसमान टूट चुका है और मुट्ठी खुल चुकी है, तब क्या हो? समर-भूमि में एक योद्धा देखे कि निर्णायक क्षणों में उसकी सेना अदृश्य हो चुकी है और वह लहूलुहान होकर अकेले अपने शिविर में लौटना चाहता है। उपलब्धि के लिए उसके पास न जीत है और न ही पूर्ण पराजय। जीत और पराजय के बीच का पड़ाव कितना कष्टकर है? न वह 'जीत' तक पहुँच सकता है और न ही 'हार' को स्वीकार कर सकता है। ऐसे क्षण उसे अंतर्मुखी-अंतर्दर्शी बना डालते हैं—क्या वास्तव में मेरा किसी के साथ समर था? किसके विरुद्ध और किसके सहयोग से था या युद्ध था ही नहीं, एक आत्मछलावा था?

ऐसे ही अंतर्विवेचना के भाव मध्यप्रदेश के वरिष्ठ नेता और असंतुष्टों के सेनापति के रूप में प्रसिद्ध श्री विद्याचरण शुक्ल के चेहरे पर छाए हुए थे। अवसर था सीमित पत्रकारों के साथ कुछ 'ऑन-दी-रिकार्ड' और कुछ 'ऑफ-दी-रिकार्ड' बातचीत करने का। पत्रकारों के साथ उनकी अनौपचारिक बातचीत कोई नई घटना नहीं थी। पर इस बार इसलिए महत्वपूर्ण थी कि ढेर सारे विवादों के बीच पत्रकारों को बुलाया गया था। पूर्व केंद्रीय मंत्री शुक्लजी जिन्हें प्यार से 'विद्या भैया' या 'वी. सी.' कहा जाता है, इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि उनके और प्रधानमंत्री के संबंधों को लेकर एक लंबे समय से विवाद चल रहा है। श्री शुक्ल की राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह से निकटता भी शंकाओं से परे नहीं रही है। हो सकता है यह बिल्कुल गलत हो, परंतु उन्हें प्रधानमंत्री-विरोधियों में प्रमुख माना जाता है। जबसे राष्ट्रपति-प्रधानमंत्री की टकराहटें शुरू हुईं, तब से वे निरंतर विवादों के घेरे में रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्रों में फुसफुसाहटें खूब फैलीं कि श्री शुक्ल ने निवृत्तमान राष्ट्रपति को फिर से चुनाव लड़ने के लिए उकसाने की तमाम कोशिशें कीं। प्रचार हुआ कि अन्य खुर्राट असंतुष्टों से मिलकर वे एक सौ सत्तर इंका सांसदों तक को फोड़ सकते हैं। पिछले पन्द्रह-बीस दिनों में उन्हें कई अफवाहों के साथ जोड़ा जाता रहा है। प्रधानमंत्री राजीव गाँधी को वे 'मानसिक धरातल' पर एक नेता के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ हैं, इंकाइयों के बीच यह एक आमचर्चा रही है पिछले दस-बारह महीनों से। जब यह साफ हो गया कि ज्ञानी जैलसिंह ने श्री वैंकटरमन के विरुद्ध बागी उम्मीदवार के रूप में खड़े होने से इंकार कर दिया, तब कई घटनाओं के एक दृश्य का पटाक्षेप हो गया और इस घटना के पटाक्षेप के साथ-साथ श्री शुक्ल पर आक्रमणों की बौछार शुरू हो गई। संसद के केंद्रीय कक्ष में प्रदेश के तीन इंका सांसदों—प्रतापभानु शर्मा, दिग्विजय सिंह और सुरेश पचौरी के साथ तकरारें हुईं। इससे पहले भी उनकी तकरारें हो चुकी हैं। उनकी एक खुली युद्ध-शैली रही है, घात लगाकर वार करने की नहीं। पिछले सात सालों में उन्होंने इस शैली को और पैना किया है। इंदिरा काल में उन्होंने श्री अर्जुनसिंह के साथ मोर्चा खोला और उन्हें केंद्रीय पद छोड़ना पड़ा। तब से

आज तक वे चैन से नहीं बैठे हैं। आँखों में आसमान समा जाए और मुट्ठी में सत्ता सिमट आए, इसका एक युद्ध वे लड़ते रहते हैं और लहूलुहान होकर लौटते रहते हैं।

आज भी उनकी मुद्राएँ साक्षी थीं कुछ ऐसी ही लौटती यात्रा की। राष्ट्रपति-परिसर के अंदर स्थित एक विशाल बंगले के करीने से सजे एक कक्ष में श्री शुक्ल शांत बैठे हैं। सोफों पर पत्रकार। ठीक सामने दीवार पर टँगा है साँभर का सिर, पीठ पीछे पं. नेहरू और श्रीमती इंदिरा गाँधी के श्वेत-श्याम चित्र। श्री शुक्ल की बाईं ओर दीवार पर एकतारा लटका हुआ है। दो सजावटी शेर एक-दूसरे को घूरने की मुद्रा में रखे हैं तो रेगिस्तानी ऊँटों का कारवाँ भी है।

इस पृष्ठभूमि में श्री शुक्ल के मुद्राभाव संयोजन ने वातावरण को अनायास ही आकर्षक बना दिया है। मुख-मुद्राएँ जरूर स्थिर थीं, परंतु पेशानी पर उभरनेवाले भावों के साथ मौन संवाद करना कम दुष्कर कार्य नहीं था। वैसे हृदय-भाव छुपाने में शुक्ल कम पटु नहीं हैं। याद है, जब उन्होंने इंदिरा सरकार से इस्तीफा दिया, तब इस संवाददाता और *नई दुनिया* के तत्कालीन संपादक श्री राजेन्द्र माथुर के साथ करीब एक घंटे तक बड़े इत्मीनान के साथ बातचीत करते रहे, क्षण-भर के लिए भी आभास नहीं होने दिया कि सत्ता-आकाश उनकी मुट्ठी से फिसल चुका है।

आज भी उन्होंने आहिस्ता-आहिस्ता अपने ऊपर लगाए गए आरोपों का खंडन किया; स्पष्ट किया कि वे कांग्रेस के अनुशासित कार्यकर्ता हैं; आज वे जो भी कुछ हैं, कांग्रेस संगठन की बदौलत हैं। शायद टीस उनके हृदय में रही होगी। उनके मुख पर एक विचित्र निस्तेज छाया हुआ था। जब उन्होंने इंदिरा-सरकार से इस्तीफा दिया था, तब उनके चेहरे पर चमक थी, एक उत्साह था, रंगों से भरा हुआ था उनका चेहरा। हर शब्द, हर वाक्य उनके कमान में था। पर आज? वे कई दफे सवालों को ठीक तरह से समझ व सुन नहीं पा रहे हैं। झलक रहा है, उनके मन-मस्तिष्क में कोई गहरी उथल-पुथल चल रही है। लगता है कोई बाँध टूटना चाहता है, जिसे रोकने की वे भरसक कोशिश कर रहे हैं। इस आंतरिक द्वंद्व के कारण बाह्य वातावरण पर उनकी पकड़ ढीली दिखाई दे रही है। संवादों के बीच एक अनमना भाव उनके मुख पर है। उनके और शब्दों के बीच एक अदृश्य संवादहीनता है। पत्रकारों को अपने सवाल बार-बार दोहराने पड़ रहे हैं। शोर के बीच शुक्लजी का यह गाफिल रूप पहली बार देखा। मेरी निगाहें वापस फ्रेमों में सजे नेहरू-इंदिरा, घूरते दो शेरों और ऊँटों के कारवाँ पर बारी-बारी से पड़ती है। दाईं ओर अपने पिताश्री पं. रविशंकर शुक्ल के चित्र पर एक दृष्टि डालते हुए श्री शुक्ल कहते हैं–"मुझे जो भी कुछ कहना होगा, पार्टी-मंच पर कहूँगा।" श्री शुक्ल के बाईं ओर चुपचाप टँगा था एकतारा।

27 जून, 1987

विद्याचरण शुक्ल से साक्षात्कार

दूसरा भाग : सामना

'राजीव गाँधी तो सिर्फ दुर्घटनाओं की पैदाइश हैं'

आमतौर पर श्री शुक्ल को देश की समकालीन कांग्रेसी राजनीति में कभी गंभीरता से नहीं लिया गया। उनकी छवि धारा के विरुद्ध तैरने की कभी नहीं रही। चन्द्रशेखर, मोहन धारिया, अर्जुन अरोड़ा, कृष्णकांत, चन्द्रजीत यादव के समान तत्कालीन युवा तुर्क होने का श्रेय उन्हें कभी नहीं मिला। इंकाई सिद्धांतकारों और रणनीतिज्ञों की श्रेणी में भी उन्हें कभी नहीं रखा गया। कुल मिलाकर श्री शुक्ल की छवि एक 'सुकुमार नेता' की रही। उनकी कोमल तबीयत की कई कहानियाँ आपातकाल और उसके बाद चर्चित रही हैं। जनता-शासनकाल में वे विवादों से घिरे रहे। इंदिरा शासन की वापसी के पश्चात श्री शुक्ल में एक नया किरदार जन्मा। इंदिराजी के जीवित रहते हुए उन्होंने तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री अर्जुनसिंह से टक्कर ली। परोक्ष रूप से दिल्ली के शिखर-नेतृत्व को चुनौती दी गई। निश्चित ही मुख्यमंत्री के विरुद्ध उनका वक्तव्य एक दुस्साहसिक कदम था। केंद्रीय मंत्रिमंडल से उन्हें हटना पड़ा। इंदिराजी जब तक जीवित रहीं, यह अफवाह बराबर बनी रही कि श्री शुक्ल को कभी भी सरकार में लिया जा सकता है। जब राजीव गाँधी प्रधानमंत्री बने, तब भी श्री शुक्ल को लेकर अफवाहें कम नहीं थीं। पिछले सात-आठ सालों की सच्चाई यह रही है कि शिखर-नेतृत्व से उनकी दूरी और गहराती गई। परिणाम यह निकला कि शिखर-नेतृत्व ने उन्हें पार्टी से ही निकाल दिया। कहा जा सकता है, श्री शुक्ल की राजनीतिक महानदी में उतार के ही दौर चलते रहे हैं।

परंतु, उतार को चीरता हुआ और नए ज्वार पर सवार आज एक नया शुक्ल दिखाई देता है। यद्यपि इस ज्वार के सूत्रधार श्री शुक्ल नहीं हैं, थपेड़ों ने उन्हें उसका हिस्सा जरूर बना दिया है। दो दिन तक अलग-अलग किस्तों में संपन्न बातचीत में श्री शुक्ल का नया रूप खुलकर मुखरित हुआ। उनकी मुख-मुद्राएँ काफी कुछ

कह रही थीं। जहाँ आज की परिस्थितियों को लेकर गुस्सा था, गहरी निराशा थी, वहीं भविष्य को लेकर एक दृष्टि व आशा भी थी। श्री शुक्ल में आपातकालीन गलतियों के लिए आत्मस्वीकृति का बोध भी मिला, और पहली बार उन्हें यथास्थितिवाद के विरुद्ध खड़ा भी पाया। श्री शुक्ल ने घोषणा की कि देश को एक नए संविधान की आवश्यकता है, निजी संपत्ति के अधिकारों की फिर से पड़ताल की जानी चाहिए और नव-आर्थिक उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष करना होगा। प्रस्तुत है उनके समसामयिक कायाकल्प के साथ साक्षात्कार के अंश :

जोशी : *बोफोर्स कांड की जाँच के लिए संसदीय समिति के गठन पर हुई बहस के दौरान आप करीब एक घंटे तक सदन में खड़े रहे। अध्यक्ष ने आपकी उपस्थिति का नोटिस नहीं लिया। आपको अपना वक्तव्य देने की अनुमति भी नहीं दी गई। हारकर आपने भी विपक्ष के साथ सदन का बहिष्कार किया। चूँकि पहली दफा सत्ता-पक्ष से बाहर रहकर आपने सत्ता से टक्कर ली और सदन का बहिष्कार किया, तो क्या आपको यह अटपटा नहीं लगा? कैसी थी आपकी मनोदशा?*

शुक्ल : बहुत अच्छी थी। मैं बहुत प्रसन्न था। पहली बात तो यह कि मन में लग रहा था कि अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार को मुखर रूप दिया जा रहा है। और अटपटा इसलिए भी नहीं लगा क्योंकि हम विरोधी दल के हिस्से तो हैं नहीं। हम लोगों को सदन में जो दर्जा दिया गया है वह 'अनअटैच्ड मेम्बर' का है। याने गुटनिरपेक्ष...। याने त्रिशंकु...। *(हँसी।...)*

समझ लीजिए गुटनिरपेक्ष स्थिति में रहकर कार्य करने में कोई कठिनाई नहीं होती है मन में। क्योंकि आज भी हम अपने को कांग्रेसी मानते हैं, मन से। उस तरह से हम अपने को कांग्रेस-विरोधी नहीं मानते हैं बहिर्गमन के समय; अलबत्ता अपने को 'राजीव विरोधी' मानते हैं।

जोशी : *क्या नेतृत्व का विरोध करना पार्टी-विरोधी गतिविधि नहीं कहा जाएगा?*

शुक्ल : बिल्कुल नहीं। पार्टी के अंदर रहकर नेतृत्व का विरोध करना पार्टी-विरोधी गतिविधि कतई नहीं है। आपने देखा ही होगा, राज्यों में नेतृत्व बदला जाता है। इसके लिए अभियान चलाए जाते हैं। दिल्ली आकर भी अभियान चलते हैं, हस्ताक्षर अभियान भी चलते हैं। इसके बाद नेतृत्व-परिवर्तन होता है।

परंतु, आज गड़बड़ यह हो रही है कि दल और नेता को एक मान लिया गया है। नेता माने दल, दल माने नेता– यह हम लोगों को बिलकुल नामंजूर है; यह बात हम पहले से भी कहते आ रहे हैं, और अब भी कहेंगे। हमारा यही अभियान रहा है। असली बात यह है कि ये जो कांग्रेसी का आवरण ओढ़े व्यक्ति (राजीव गाँधी) हैं, ये कांग्रेसी नहीं हैं। कांग्रेसी भाषा जरूर बोलते हैं परंतु मन व कर्म से जरा भी

नहीं हैं। गलत व्यक्ति को चुन लिया गया है, और ये भी गलत आदमियों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। मैं इस संबंध में माखनलाल फोतेदार का नाम लेता हूँ, जिनकी कुख्याति विभिन्न कारणों से है। ये फोतेदार अयोग्य और अवांछित हैं। इन्हें बड़ा महकमा भी दिया गया है, जबकि इस मंत्रालय के लिए समझदार व काबिल व्यक्ति की आवश्यकता है। यह मैं जरूर साफ कर दूँ कि व्यक्तिगत स्तर पर मैं राजीव-विरोधी नहीं हूँ। उनका मेरे साथ अच्छा व्यवहार रहा है। कम से कम मैं उन्हें अपना व्यक्तिगत विरोधी नहीं मानता। उनके मन में मेरे प्रति क्या है, यह वही जानें। पर राजनीतिक स्तर पर मैं उनका विरोधी हूँ, वह भी इसलिए कि वे कांग्रेस को गर्त में डाल रहे हैं। बहुत तेजी से कांग्रेस को उस गर्त से निकालने में बड़ी कठिनाई होगी, या संभव ही नहीं होगा। इससे पहले कि वे कांग्रेस को पूरी तरह डुबो दें, उसे बचाना जरूरी होगा। प्रजातांत्रिक प्रणाली से नेता का चुनाव होगा तो कांग्रेस बचेगी।

जोशी : *आज कांग्रेस में लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अभाव है। क्या आपके मत में यह एक आकस्मिक घटना है और राजीव गाँधी इसके लिए दोषी हैं?*

शुक्ल : नहीं, ऐसा नहीं है। यह एक लम्बी प्रक्रिया है। 1970 और 1978 में पार्टी के विभाजन के पश्चात कुछ ऐसी स्थिति बनी। इंदिराजी तो इस स्थिति को जैसे--तैसे सम्हालती रहीं; उनका नेतृत्व किसी को खराब भी नहीं लगता था; परंतु, राजीव गाँधी में अनुभव का अभाव है। उनकी राजनीतिक पृष्ठभूमि भी नहीं है। अत: इस अनुभवहीनता के कारण श्री गाँधी ने श्रीमती गाँधी के कार्यों के विपरीत कदम उठाए हैं।

अब आप देखिए, प्लेन दुर्घटना में संजय गाँधी की मृत्यु हुई तो राजीव गाँधी एम. पी. बन गए। दूसरा धमाका इंदिराजी की हत्या से हुआ तो वे प्रधानमंत्री बन बैठे; वे कोई राजनीतिक प्रक्रिया से तो प्रधानमंत्री बने नहीं। हम लोग बने या हटे हैं, सब राजनीतिक प्रक्रिया की पैदाइश हैं, लेकिन राजीव गाँधी तो दुर्घटनाओं की पैदाइश हैं। आज इन दुर्घटनाओं का फल पार्टी और देश दोनों को भुगतना पड़ रहा है।

जोशी : *आपने उस समय विरोध क्यों नहीं किया जब श्री गाँधी को प्रधानमंत्री बनाया जा रहा था?*

शुक्ल : उस समय हम लोगों को जरा भी अंदाज नहीं था। इंदिराजी की हत्या से हम सब लोग स्तब्ध थे। विरोध की कोई सोच भी नहीं सकता था; बल्कि हम सबने समर्थन ही किया। उम्मीद थी कि वे अच्छा काम करेंगे। उनके स्वभाव और कार्यशैली की किसी को जानकारी नहीं थी। बस इतना ही कहा जा सकता है कि इंदिराजी के शव के बाजू में ज्ञानीजी ने राजीव गाँधी को शपथ दिलवा दी। हमसे तो पूछा तक नहीं गया। हमने तो सोचा था कि पार्टी की बैठक होगी, बातचीत होगी,

तब जाकर कोई नेता बनेगा। परंतु इस प्रक्रिया को ताक में उठाकर रख दिया। जब दिल्ली जल रही थी, तब खबर आई कि उन्हें स्थायी प्रधानमंत्री की शपथ दिला दी गई है। फिर भी हमने सोचा कि जो हो गया सो हो गया। अब पूरी तरह से राजीव गाँधी को सहयोग देंगे। हमने ऐसा ही किया।

जोशी : *आपको राजीव गाँधी ने कब से निराश किया?*

शुक्ल : निराशा की शुरूआत बंबई में हुए कांग्रेस शताब्दी समारोह से हुई। जिस ढंग का भाषण राजीव गाँधी ने दिया था उससे यह लगने लगा था कि ये कांग्रेस पार्टी नहीं चला सकेंगे। राजीव गाँधी को सत्ता के दलाल और संगठन कार्यकर्ता के बीच का अंतर मालूम नहीं है। फोतेदार, सीताराम केसरी जैसे लोग राजनीतिक परजीवी हैं।

बंबई से आज तक कई छोटी-मोटी घटनाएँ होती गईं। पहले यह लगा कि श्री गाँधी संगठन नहीं चला सकेंगे, और अब लग रहा है कि सरकार भी नहीं चला सकेंगे, क्योंकि वे कांग्रेस-संस्कृति को नहीं जानते; इनमें कांग्रेसी संस्कार नहीं हैं। जब से हर तरह के घपले होने लगे या कराए जाने लगे, तब से यह विश्वास हो गया कि ये सरकार नहीं चला सकते। यही कारण है कि इन्होंने अपने इर्द-गिर्द अच्छे लोगों को नहीं रखा।

जोशी : *यदि आपको सरकार में शामिल किया जाता तो...*

शुक्ल : खैर, मेरा तो कोई सवाल ही नहीं उठता और न ही उनमें मुझे लेने की कोई इच्छा होगी, मुझे हमेशा से ऐसा लगता रहा है, हालाँकि उनके साथ मैंने घंटों बिताए हैं। जरा भी यह मत सोचिए कि मेरा श्री गाँधी के प्रति या उनका मेरे प्रति कोई पूर्वाग्रह या दुराग्रह था। अभी भी कोई व्यक्तिगत कटुता नहीं है। मैं तो केवल इतना मानता हूँ कि जिस स्थान पर वे अचानक पहुँच गए हैं, वहाँ उस काम के लिए वे सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुए हैं। उससे दल व देश का भारी नुकसान हुआ है।

जोशी : *क्या आप यह मानते हैं कि भारतीय राजनीति में भ्रष्टाचार या आर्थिक अपराध एक आकस्मिक घटना है? क्या वर्तमान व्यवस्था में ही यह निहित नहीं है?*

शुक्ल : आकस्मिक घटना बिल्कुल नहीं है। कम-ज्यादा हमेशा चलता रहा है। परंतु, प्रधानमंत्री के स्तर पर किसी ने भ्रष्टाचार की कल्पना भारतवर्ष में नहीं की थी। इंदिरा गाँधी, मोरारजी देसाई आदि पर आरोप नहीं लगे थे। श्री देसाई के पुत्र पर जरूर लगे थे।

जोशी : *मुख्यमंत्रियों पर जरूर लगाए गए हैं। इनमें मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री भी शामिल हैं।*

शुक्ल : परंतु देश के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ है जब प्रधानमंत्री पर

जिम्मेदार लोगों ने भ्रष्टाचार के आरोप लगाए हैं। बगैर भ्रष्ट हुए आरोप नहीं लग सकते। चंद्रभानु गुप्त का उदाहरण सामने है। वे पार्टी के लिए पैसा जमा किया करते थे। परंतु उन्होंने जनहित का नुकसान करके पैसा जमा नहीं किया। ललित नारायण मिश्र के संबंध में भी यही बात है। ललित बाबू की हत्या के बाद उनके बिल चुकाने के लिए उनके परिवार के पास पैसे नहीं थे। दोनों ही नेता पार्टी के लिए पैसे इकट्ठे किया करते थे, निजी कामों के लिए नहीं। इधर-उधर छोटी-मोटी गलतियाँ हो गई हों तो कुछ नहीं कह सकता।

जोशी : *क्या राजीव गाँधी के हटने के पश्चात भ्रष्टाचार समाप्त हो जाएगा?*

शुक्ल : बिल्कुल समाप्त तो नहीं होगा, कम जरूर हो जाएगा। भ्रष्टाचार शिखर से शुरू होता है। भ्रष्टाचार एक व्यभिचार की तरह है जिसका उन्मूलन एक साथ नहीं हो सकता। मैं यह भी नहीं मानता कि चुनाव लड़ने के लिए भ्रष्टाचार की आवश्यकता होती है।

जोशी : *खर्चीले चुनाव के लिए पैसा कहाँ से आता है?*

शुक्ल : *(बड़ी मासूमियत भरे अंदाज में)* मित्र लोग देते हैं; श्रद्धा रखनेवाले लोग पैसा देते हैं। पाँच साल में एक बार आते हैं और चुनाव के लिए पैसा दे जाते हैं। इसमें कोई भ्रष्टता नहीं है। मैं निजी रूप से दो कोषाध्यक्षों को जानता हूँ। पं. उमाशंकर दीक्षित और डी.पी. मिश्रा। इन दोनों को मैंने करीब से देखा है। इन पर भ्रष्टाचार के जरा भी आरोप नहीं लगे। करोड़ों रुपए पार्टी के लिए खर्च किए, किसी ने उँगली तक नहीं उठाई।

आज जिसे देखो वही कहता है कि वह पार्टी के लिए धन जमा कर रहा है। किसके लिए ले रहे हैं? अब मैं नाम नहीं लेना चाहता। आप भी जानते ही हैं। दिल्ली में रहकर कितनी तरह की बातचीत होती है – किसके पास कितना करोड़ रुपया जमा है, किसके पास कितना। इन चर्चाओं का कोई आधार तो है। ब्रिटेन, अमेरिका में भी करोड़ों रुपए लिए जाते हैं। सबको मालूम रहता है कि कौन कितना ले रहा है, कौन कितना दे रहा है। अमानत में खयानत नहीं होती। परंतु आज भ्रष्टाचार को खुली छूट दे दी गई है। बच्चन के इस्तीफे और वी.पी. सिंह की कार्रवाई से इसकी पुष्टि होती है।

जोशी : *रक्षा-सौदों में घूस या दलाली नई बात है?*

शुक्ल : ऐसी बात नहीं है। परंतु, आज एक बड़ा फर्क है। विगत में सेना के अधिकारी रक्षा-सौदों में शामिल रहते थे, मंत्री लोग दूर रहते थे; वे सौदेबाजी में पड़ते ही नहीं थे। 1980-81 के बाद यह देखा गया कि सौदेबाजी राजनीतिक स्तर

पर होने लगी। इसके बाद से ही राजनीतिक हस्तियों के नाम आने लगे। मैं भी तीन साल तक रक्षा-उत्पादन मंत्री रहा। मेरा तो कभी नाम नहीं आया, और न कभी आएगा। जब से राजीव गाँधी राजनीति में आए हैं, तभी से भ्रष्टाचार की पराकाष्ठा शुरू हुई है।

जोशी : *जब आप इस बात को जानते थे तो आपने विरोध क्यों नहीं किया?*

शुक्ल : कहा ना आपसे, हमने उन्हें धीरे-धीरे समझा। हम लोगों को लगता जरूर था कि कुछ ठीक बात नहीं हो रही है। पर इंदिराजी हमारी नेता थीं। हम उनका विरोध किसी भी ढंग से नहीं करना चाहते थे। इसलिए हम शिकायत नहीं करते थे। इतना जरूर जानते थे कि इंदिराजी के जाने बिना यह सब काम हो रहा है। स्वीकार करता हूँ कि इंदिराजी ने ऐसी बातें कभी नहीं कीं। हो सकता है राजीव जी उस समय छोटे पैमाने पर करते होंगे। परंतु शुरूआत 1982 में हो चुकी थी। यदा-कदा सुनने में बातें मिलती थीं, धीरे-धीरे प्रकट होने लगीं। जब ये सर्वेसर्वा हो गए, तब यह बात बिलकुल खुलकर सामने आ गई।

जोशी : *जब श्री अरुण नेहरू प्रधानमंत्री के साथ थे, उनके संबंध में कई तरह की चर्चाएँ चली थीं। आज वे बिल्कुल स्वच्छ माने जाते हैं।*

शुक्ल : अरुण नेहरू पर ऐसे आरोप कभी नहीं लगे हैं। वे राजीव के सहयोगी थे। उन पर भ्रष्टाचार के आरोप कभी नहीं लगे। प्रधानमंत्री की परिधि में रहने के कारण शंकाएँ जरूर उठीं, परंतु शंका और आरोप में अंतर है।

(ये सब सवाल थे पहली किस्त में। साक्षात्कार की दूसरी किस्त की शुरूआत दूसरी सुबह हुई। तब श्री विद्याचरण शुक्ल का वही कक्ष था। बाजू में रखा एकतारा था, और ऊपर दीवार पर टँगा सिंह-मुख था। गुजरी शाम की तरह पूर्व केंद्रीय मंत्री शुक्ल की व्यस्तता में कहीं ढील नहीं थी। रायपुर के इंकाइयों का जमावड़ा लगा हुआ था। बातचीत का दूसरा दौर छत्तीसगढ़ से ही शुरू किया ...)

जोशी : *छत्तीसगढ़ से दिल्ली तक की राजनीतिक यात्रा का आपकी दृष्टि में क्या मूल्यांकन हो सकता है? क्या इसे आप सफल मानते हैं?*

शुक्ल : 1946 से मेरी राजनीतिक यात्रा शुरू होती है जब मैं पहली बार दिल्ली आया था। चाँदनी चौक स्थित दीवान हाल में विद्यार्थी कांग्रेस का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था। अध्यक्षता श्रीमती अरुणा आसफअली ने की थी। इसके बाद राजनीतिक गतिविधियों का सिलसिला चल पड़ा। 1946 में पिताजी की मृत्यु हुई। उनके स्पष्ट आदेश थे कि जब तक वे जिंदा हैं, मैं और श्याम भैया राजनीति नहीं करेंगे। उनकी मृत्यु के बाद ही हम दोनों ने 1947 का चुनाव लड़ा। उनकी हमेशा से रुचि प्रदेश

में थी और मेरी राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय राजनीति में। वैसे उन दिनों सांसदों की तुलना में विधायकों को अधिक महत्व दिया जाता था।

मुझे दिल्ली की राजनीति में सफलता मिली। पंडितजी, पंतजी, मौलाना आजाद, राजेन्द्र बाबू, इंदिराजी आदि नेताओं ने मुझे खूब प्रोत्साहन दिया। लेकिन मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि मुझे कैरियर बनाने की लालसा बिल्कुल नहीं थी। कांग्रेस के आदेशों का पालन ही मेरा असली ध्येय था। हम दोनों भाइयों के जीवन में पद का महत्व रहा ही नहीं। इसीलिए आपने देखा होगा कि हम दोनों के जीवन में कई बार राजनीतिक उतार-चढ़ाव आए हैं, क्योंकि सिद्धांतहीन राजनीति हम लोगों ने कभी नहीं की। 1977 में भी एक ऐसा ही संकट आया था, जो सैद्धांतिक रूप से दोनों को सही लगा, वही हमने किया। बहुत-सी गलतियाँ आपातकाल के दौरान हुई; वो भी इसलिए कि इंदिराजी के निर्देशों का पालन करना मैंने अपना कर्तव्य समझा, यद्यपि उनके आदेशों का पालन करना या नहीं करना मेरे हाथ में था। इसीलिए मैंने पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। आज भी मैं उनसे मुकरता नहीं हूँ। इंदिराजी हमारी नेता थीं। वैसे तत्कालीन परिस्थितियों में लगता भी यही था कि उनके आदेशों का पालन करना देश-हित और समाज-हित में है।

यद्यपि श्यामाचरणजी ने इंदिराजी का साथ छोड़ दिया, परंतु मैं उनके साथ रहा। श्यामा भैया को जो उचित लगा, उन्होंने वही किया। फिर भी मैं अपनी राजनीतिक यात्रा को सर्वथा सफल व औचित्यपूर्ण मानता हूँ। मुझे पूरा संतोष है। सफलता का नाता पद से नहीं होता।

जोशी : *क्या शिखर पर पहुँचने की इच्छा नहीं होती? क्या महत्वाकांक्षी होना अनुचित है?*

शुक्ल : बिलकुल नहीं है। परंतु पद की इच्छा लेकर मैं राजनीति में नहीं आया हूँ और न ही श्याम भैया यह इच्छा लेकर राजनीति में घुसे हैं कि हम शिखर या नंबर-एक पर पहुँचेंगे। ऐसी कैरियरवादी भावना को मैं बहुत घातक मानता हूँ। राजनीति और जनजीवन को पद-प्राप्ति की दृष्टि से देखना ही नहीं चाहिए। इसलिए मैं काल्पनिक सवालों में कोई विश्वास नहीं रखता कि यदि मैं नंबर-एक पर होता तो क्या होता या क्या नहीं होता।

जोशी : *फिर भी अपने समकालीन नेताओं के साथ आप स्वयं को किस स्तर पर देखते हैं?*

शुक्ल : मैं अपने को समकालीन नेताओं के मध्य में और उनके साथ देखता हूँ, अपने को किसी से छोटा या बड़ा नहीं मानता। केवल आदर्श मेरी कसौटी है।

जोशी : *आज देश में 'फास्ट फूड' की तरह 'हड़बड़िया राजनीति' का दौर चल रहा*

है । वैचारिक पक्ष लुप्त हो गया है । नई चुनौतियाँ उभर रही हैं । तैयारी बिलकुल नहीं है । ऐसी स्थिति में देश को कैसी राजनीतिक शैली की आवश्यकता है?

शुक्ल : देश को पूर्णरूपेण संघर्ष की शैली की आवश्यकता है । संघर्ष, विधानसभा में या संसद में कहीं भी रहकर चल सकता है । मैं समझता हूँ कि संघर्ष लम्बे समय तक चलाया जाना चाहिए । मुलायम व आसान रास्ता अपनाने की आवश्यकता नहीं है । यह सही है कि आज की राजनीति में कई ऐसे लोगों की घुसपैठ हो चुकी है जो मुलायम रास्ता तलाशते हैं, आजू-बाजू से निकल जाते हैं, चट्टान की तरह खड़े नहीं रहते । आज विश्वनाथ प्रताप सिंह जैसे संघर्ष की आवश्यकता है । उन्होंने सरकार में रहकर भी संघर्ष किया है । उनके बारे में अलग-अलग राय हो सकती हैं कि उनका रास्ता ठीक था या गलत, परंतु उन्होंने मंत्री रहकर केवल फाइलें खिसकाने का काम नहीं किया ।

वैसे पूरी राजनीतिक शैली मंथर गति की है । यह कहना गलत है कि हम कम्प्यूटर युग में पहुँच चुके हैं; हम लोग आज भी बैलगाड़ी युग में हैं । आज भी सरकार उसी मंथर गति से चल रही है जिस गति से बीस साल पहले चला करती थी । कम्प्यूटर युग का पोस्टर चिपका देने से काम नहीं चलेगा । वास्तव में आज अपने संविधान में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है । मैं तो यह कहूँगा कि एक दूसरा संविधान चाहिए । चालीस साल पहले जिस संविधान को बनाया गया था उसमें पचास-साठ संशोधन अब तक किए जा चुके हैं । अब यह कल की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं रहा । जन-भावनाओं औरं जन-समस्याओं के अनुरूप नया संविधान बनाया जाना चाहिए । यह सही है कि जब वर्तमान संविधान बनाया गया था तब उसकी शुरूआती उपयोगिता रही । परंतु आज उसका कोई औचित्य नहीं है । आज बिलकुल नई चुनौतियाँ हैं । हम आर्थिक उपनिवेशवाद का मुकाबला इस संविधान से नहीं कर सकते और न ही विकेंद्रीकरण कर सकते हैं । गाँवों को आज पूरी स्वायत्तता की आवश्यकता है । इसलिए एक ऐसा संविधान होना चाहिए जिसमें प्रत्येक गाँव को पूरी ताकत मिले, तभी बैलगाड़ी युग से छुटकारा मिल सकता है ।

देश में व्याप्त विषमता का आधारभूत कारण ही संविधान है, क्योंकि यह मूलतः यथास्थितिवादी है । हमें इस यथास्थिति को तोड़ना है, क्रांतिकारी बदलाव लाने हैं; इसके लिए बिलकुल नई दृष्टि की आवश्यकता है । अब आप देखिए, विकसित देशों ने इस बात का पूरा अंदाजा लगा लिया है कि विकासशील देशों की आवश्यकता आज से पच्चीस साल बाद क्या होगी । उसी आधार पर उन्होंने रणनीति तैयार कर ली है । यदि हमने उनकी तैयारियों की उपेक्षा की तो उनका आर्थिक साम्राज्यवाद आगे भी जारी रहेगा और एक बार फिर हम विकसित देशों की श्रेणी में आने से पिछड़ जाएँगे । यहाँ यह जरूर कहना चाहूँगा कि यदि भविष्य में हम विकसित देश बनते हैं तो आज के विकसित देशों की शोषणवादी मनोवृत्ति से बचना होगा ।

मैं तो यह मानता हूँ कि सम्पत्ति के अधिकारों की पुनर्समीक्षा की जानी चाहिए। जिस यथास्थिति की ओर मैंने अभी संकेत किया है, वह सम्पत्ति के संबंध में ही है। यह कैसे सहन किया जा सकता है कि जो संपन्न हैं उन्हें संपन्न बने रहने की छूट रहे, और गरीब गरीब ही बने रहें। अब गरीबों को अमीर बनाना होगा। यह तभी संभव है जब प्रगतिशील संविधान लागू किया जाए। इसके लिए पार्टी के अंदर और बाहर संघर्ष करना होगा। इसके साथ ही सामंती मानसिकता के खिलाफ जंग छेड़नी होगी। सामंती मानसिकता केवल मध्यप्रदेश में ही नहीं, बल्कि पूरे देश में है; मध्यप्रदेश की अपेक्षा बिहार व उत्तरप्रदेश में अधिक है। यह तो एक भारतीय स्थिति है।

***जोशी** : राजनीतिकों की वर्तमान पीढ़ी में चिंतन, परिप्रेक्ष्य और कल्पनाशीलता का अभाव है। राजनीति का काफी हद तक अपराधीकरण हो चुका है। फिर भी आप उम्मीद करते हैं कि कुछ क्रांतिकारी परिवर्तन हो सकता है?*

शुक्ल : मैं यह नहीं मानता कि आज की पीढ़ी में सोच-विचार की कमी है। इसमें भी संघर्षशील, आदर्शवान और समझदार लोग हैं। बल्कि हमारी पीढ़ी से अधिक सोचने-समझनेवाले लोग हैं। उनको काम करने का मौका मिलना चाहिए। अब तक उन्हें दबाकर रखा गया है; गलत लोगों को विधानसभा और संसद में पहुँचा दिया गया है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि अपराधी चरित्र के जो व्यक्ति राजनीति में आ गए हैं, वे भावी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व नहीं करते। यह एक ऐसी स्थिति है कि आप एक खुशबूदार बगीचे में चले जाइए, और वहाँ कोई बदबूदार या काँटेदार वस्तु रख दीजिए। इसका यह मतलब नहीं हुआ कि पूरा बगीचा ही बदबूदार है। ये अपराधी चरित्र के व्यक्ति ऐसे ही हैं। ये हमारा प्रतिनिधित्व नहीं करते।

***जोशी** : आज की इस उपभोगवादी व्यवस्था में गाँधीजी के हथियारों को प्रासंगिक मानते हैं?*

शुक्ल : गाँधीजी के सत्याग्रह आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जैसे पहले थे। वे शाश्वत हैं। हम लोग जनमानस से प्रभावित होकर काम कर रहे हैं; करोड़ों लोगों के मानस में जो भावना बैठी हुई है, उसको मुखर रूप दे रहे हैं। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि हम जो कर रहे हैं जनता उसका अनुसरण करेगी। हम जनता का अनुसरण कर रहे हैं।

> (अंतिम टिप्पणी : श्री शुक्ल के स्वागत कक्ष में संजय गाँधी का चित्र आज भी टँगा हुआ है और वहीं माखनलाल चतुर्वेदी की प्रसिद्ध पंक्तियाँ भी। श्री शुक्ल के निजी कक्ष से कितनी व कैसी सिंह-गर्जन होती है, भविष्य इसका साक्ष्य देगा।)

20 अगस्त, 1987

'मुझे कभी सपना नहीं आता'

स्थान : दिल्ली स्थित मध्यप्रदेश भवन। समय : रात्रिभोज।

मुख्यमंत्री श्री सुन्दरलाल पटवा बिल्कुल 'रिलेक्स्ड' मूड में हैं। रंगीन टीवी चल रहा है। सेवक ने एक-दो वीडियो कैसेट टीवी सेट पर लाकर रख दिए हैं। मुख्यमंत्री के तनावमुक्त चेहरे को देखकर यह अंदाज लगाना मुश्किल है कि उनके दिल पर भिलाई-गोलीकांड का कोई बोझ है या इंदौर में संपन्न प्रादेशिक भाजपा प्रतिनिधि सभा में उनके नेतृत्व पर कोई घातक हमला किया गया है। वे नर्मदा परियोजना पर विवादास्पद मोर्स-रपट से भी अविचलित हैं। सौम्य व सात्विक राजनीति के दर्पण पर धूल के कण जरूर दिखाई देते हैं। इस बाबत उनका तर्क है : हमें भगवान मत समझिए।

रात्रिभोज पर फुर्सत व इत्मीनान के साथ पकवान, स्वप्न, बच्चों की मौत, नियोगी हत्याकांड, गोलीकांड, पार्टी का सवर्णवादी चेहरा, पर्यावरण आंदोलन, बाबा आमटे, अमजद अली खाँ आदि सभी विषयों पर डेढ़-दो घंटा बातचीत का सिलसिला जारी रहता है। सब कुछ बेतरतीब है, लेकिन एक अदृश्य तरतीब निहित है मुख्यमंत्री पटवा के मन व दिमाग में झाँकने की। सूप परोसा जा चुका है और [illegible] शुरू हो चुका है।

जोशी : जब आप [illegible] युक्त भोजन करते हैं, तब आप क्या सोचते हैं?

सुन्दरलाल पटवा : भोजन के समय मैं सिर्फ भोजन के संबंध में सोचता हूँ। आयुर्वेद का ऐसा कहना है कि जो कुछ तुम्हारे सामने आता है उसे दुनिया का सर्वश्रेष्ठ भोजन समझ कर ग्रहण करो। यदि प्रसन्नता के साथ भोजन करोगे तो वह तुम्हें लगेगा। यदि भोजन के समय चिंताग्रस्त रहे, आकाश-पाताल के बारे में सोचते रहे

तो उससे पाचन-प्रणाली प्रभावित होगी।

जोशी : *तब तो आपको नींद भी अच्छी आनी चाहिए ! बिल्कुल साउंड स्लीप !*

सुन्दरलाल पटवा : नींद बिल्कुल अच्छी आती है।

जोशी : *कभी आप स्वप्न देखते हैं?*

सुन्दरलाल पटवा : स्वप्न कभी नहीं देखता। स्वप्न कभी नहीं आता। मुझे स्मरण नहीं कि कभी स्वप्न आया।

जोशी : *तो इतनी साउंड स्लीप आती है?*

सुन्दरलाल पटवा : हाँ, साउंड स्लीप ही आती है। कभी-कभी क्या होता है कि जब कोई काम दिमाग में घूम जाता है, उस समय निद्रा नहीं, तंद्रा आती है; *(हँसी)* लेकिन सामान्यत: ऐसा नहीं होता है।

जोशी : *जब आपको निद्रा या तंद्रा, जो भी सही, आती है तब आपको क्या प्रदेश-चिंताएँ आंदोलित नहीं करतीं?*

सुन्दरलाल पटवा : चिंता या समस्या तो दिमाग में चलती रहती है। कुछ स्वभाव मेरा इस प्रकार का है कि जब तक कोई काम 'परफेक्शन' तक न पहुँचे, शांति नहीं मिलती। सौ फीसदी पूर्णता प्राप्त करूँ, ऐसी मेरी कोशिश रहती है। लेकिन ऐसे क्षण दुर्लभ रहते हैं।

जोशी : *मध्यप्रदेश के करीब 40-45 प्रतिशत लोग गरीबी की सीमा-रेखा तले रहते हैं। लाखों लोगों को दो जून खाना नसीब नहीं होता। जब आप पौष्टिक भोजन पर बैठते हैं या तंद्रालीन रहते हैं तब ऐसे लोगों के संबंध में कोई खयाल आता है? क्या आप यह नहीं सोचते कि सभी नागरिकों को भरपेट खाना मिले और गरिमापूर्ण जीवन?*

सुन्दरलाल पटवा : लोगों की चिंता तंग करने के बजाय मुझे इस पर गुस्सा आता है। ऐसा क्यों है ? मध्यप्रदेश में विपुल प्राकृतिक सम्पदा है। सब प्रकार की अनुकूलता है। बहुत ही अमीर प्रदेश है। तब भी यह स्थिति है ! एक दुखद विरोधाभासपूर्ण हालत है। तब इच्छा होती है कि मैं जल्दी से जल्दी इस अनुकूलता का लाभ उठाकर स्थिति को बदल डालूँ। पिछले दो साल से मुख्यमंत्री हूँ। मैं देख रहा हूँ कि यह गरीबी, यह अभाव हमारी मजबूरी है ही नहीं। इसे ठीक किया जा सकता है। दुख यह है कि जितना ध्यान इस दुखद तस्वीर की ओर जाना चाहिए था, वह नहीं गया। अब मेरी इस पीड़ा को इस रूप में नहीं लिया जाना चाहिए कि पुरानी कांग्रेस सरकारों को मैं गुनहगार ठहरा रहा हूँ। मध्यप्रदेश के हितों की

निरंतर उपेक्षा की गई। भोपाल और दिल्ली में [illegible] रहा। दिल्ली में तो यह अनजाना प्रदेश रहा। तो इस पर गुस्सा आता है। इसलिए तस्वीर को बदलने की बेचैनी रहती है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मैं इसे लेकर चौबीसों घंटे घुलता रहूँ, चिंता में डूबा रहूँ। हालत बदले, इसकी कोशिश करनी चाहिए।

जोशी : *कुछ दिन पहले भोपाल के पास चार-पाँच बच्चे भूख से तड़प-तड़पकर मर गए। मुरैना में भी करीब दो सौ बच्चे खसरे की बीमारी से मर गए। जब ये खबरें आपको मिलीं, तब आपके दिल-दिमाग पर क्या बीती?*

सुन्दरलाल पटवा : मुरैना में साठ-पैंसठ बच्चे मरे थे। इसके आँकड़े हमारे पास हैं।

जोशी : *चलिए, हम लोग आँकड़ों के झमेले में न पड़ें, सिर्फ मानव त्रासदी की बात करें। तो मैं आपसे पूछ रहा था कि आप पर क्या बीती?*

सुन्दरलाल पटवा : वही प्रतिक्रिया होती है ... मुझे गुस्सा आता है। मैं बार-बार पूछता हूँ–सोचता हूँ कि ऐसा क्यों हो रहा है? लेकिन मैं क्या करूँ? *(खीझ व विवशताभरा स्वर)* मेरी इस संबंध में स्वामी अग्निवेशजी से भी फोन पर बात हुई थी। यह घटना एक खदान पर हुई। उस खदान का मालिक कांग्रेस पार्टी की अनुसूचित जाति प्रकोष्ठ का अध्यक्ष है। अग्निवेशजी मिले तो उन्होंने मुझसे कहा कि वे भी शर्मिंदगी से भरे हुए हैं, क्योंकि वे भी भोपाल-क्षेत्र से चुनाव लड़ चुके हैं। इसलिए इस तरह की घटनाओं पर उन्हें भी शर्म महसूस होती है। मैंने उनसे कहा कि आप इस समस्या का कोई निदान बताओ; आपने बँधुआ मजदूरों में काम किया है, मैं आपसे अपने सहयोगी के रूप में कोई सुझाव चाहता हूँ। तो ये घटनाएँ परेशान तो करती हैं। लेकिन इस मामले में कोई मुख्यमंत्री या सरकार स्विच ऑन या ऑफ नहीं कर सकते। हमारी प्राथमिकता जरूर यह रही है कि अंतिम व्यक्ति का उदय हो। अंत्योदय हमारा लक्ष्य है और हम इसी मंजिल की ओर जा रहे हैं। हम इस अंतिम व्यक्ति को मनुष्य का दर्जा हासिल करा सकें, तभी हमारा इस पद पर बैठना सफल रहेगा।

जोशी : *आप प्रतिपक्ष के नेता भी रहे हैं। क्या मुख्यमंत्री बनने से पहले आप इस तरह की त्रासदियों से परिचित नहीं थे? क्या आपको यह मालूम नहीं था कि बस्तर, मुरैना या और दूसरे पिछड़े क्षेत्रों में भूख, बीमारी और कुपोषण से इंसान मरते आ रहे हैं? मुख्यमंत्री के रूप में आपने इन समस्याओं को प्राथमिकता पर क्यों नहीं रखा?*

सुन्दरलाल पटवा : प्राथमिकता के अलावा भी यदि कोई शब्द है तो हम वहाँ इसे रखना चाहते हैं। लेकिन, समस्या का चट मँगनी पट ब्याह नहीं हो सकता। कुछ मुश्किलें हैं। उदाहरण के लिए मुरैना को ही लें। जिले के खसरा प्रभावित

क्षेत्र में मैंने अपने दो-तीन मंत्रियों को भेजा। वहाँ वे तीन दिन रुके। लेकिन अंधविश्वास की हद इतनी है कि कोई भी सही जानकारी देने के लिए तैयार नहीं था। इन गाँवों में अशिक्षा, गरीबी, कुपोषण और अंधविश्वास चारों तरफ फैले हुए थे। अंधविश्वास की वजह से माता-पिता यह नहीं बतलाते कि उनके बच्चों को माता निकली हुई है। टीका नहीं लगवाना चाहते। इतना ही नहीं, माता निकलती है तो गरम लोहे की सलाखों से उसे दाग देते हैं। वे इस बीमारी को दैवी प्रकोप के रूप में देखते हैं।

दूसरी समस्या पैरामेडिकल स्टाफ की है। इसका हल हमें करना है। यह स्टाफ खानापूर्ति करता है। हमारे डॉक्टर, सर्जन भी इससे दुखी रहते हैं। स्टाफ की अपनी एक एसोसिएशन है। हमारे सामने भी मुश्किलें हैं। हम इन लोगों का तबादला करें या सजा दें तो कोर्ट है, स्टे ऑर्डर है; दुनिया-भर की झंझटें हैं। इस सारी प्रक्रिया में हमारे हाथ-पाँव बँध जाते हैं। तो भी हमारी प्राथमिकता है कि पीड़ितों के कल्याण के लिए ठोस कदम उठाएँ। हमने मंत्रियों को अलग-अलग जिले का प्रभारी बना रखा है। बस्तर के इंचार्ज कैलाश जोशी हैं। लेकिन सबसे बड़ी समस्या यह है कि लोग अपनी आदत नहीं बदलते। रात-भर में आदिवासियों की आदतें नहीं बदली जा सकतीं। चाहे जो खा लेते हैं। पानी खराब है। कुपोषण है। इन लोगों के शरीरों में पैतृक बीमारियाँ भी हैं और फिर तीन-चार साल में बीमारी का एक सर्किल आता है। अब हमारी कोशिश यह है कि इन पिछड़े क्षेत्रों में पानी ठीक-ठाक मिले। बड़ी संख्या में ट्यूबवेलों की व्यवस्था की गई है। जिन क्षेत्रों में पानी में लोहे की मात्रा अधिक मिलती है, वहाँ पानी के शुद्धीकरण के प्लांट लगाए गए हैं। दो साल में जितना संभव है उससे कहीं ज्यादा हमने किया है। बस्तर को विशेष प्राथमिकता के आधार पर लिया गया है। पर इसके प्रत्यक्ष नतीजे आने में समय लगेगा। बस्तर अभी तक एक तरह का डम्पिंग ग्राउंड रहा है। जिस अफसर या कर्मचारी को सजा देनी होती थी उसे बस्तर फेंक दिया जाता था। हमने इस धारणा को बदला है। पिछले डेढ़ साल में जो बेस्ट टीम हो सकती थी उसे वहाँ नियुक्त किया है। इसके नतीजे सामने आ रहे हैं। नक्सली समस्या के हल में हमें स्थानीय लोगों से सहयोग मिल रहा है। मुठभेड़ें हुई हैं; पहली बार किसी प्रमुख नक्सली को मारा गया है, ये सूचनाएँ भी आ रही हैं। परंतु बस्तर देश का दूसरा सबसे बड़ा जिला है। अनेक तरह की समस्याएँ हैं। अशिक्षा है, कुपोषण है, शोषण है—तमाम दुनिया-भर की खराबियाँ बस्तर में हैं।

***जोशी :** आपने अभी नक्सल समस्या का जिक्र किया। आप इसे कानून-व्यवस्था की समस्या मानते हैं या... ?*

सुन्दरलाल पटवा : ना... ना... ना। न यह कानून-व्यवस्था की समस्या है और

न ही बस्तर की समस्या। यह समस्या या तो आंध्र से घुसी है या महाराष्ट्र से।

जोशी : *तब इसे बस्तर के स्थानीय लोगों का समर्थन क्यों मिल रहा है?*

सुन्दरलाल पटवा : स्थानीय लोगों का सपोर्ट भी नहीं मिल रहा है। शुरू में इन लोगों ने क्या किया कि जंगलात के भ्रष्ट लोगों– डी.एफ.ओ., फॉरेस्ट गार्ड, रेंजर आदि को मारा; ठेकेदारों की पिटाई की, जो मजदूरी नहीं देते थे। इससे आदिवासी खुश हो गए। शुरूआत इस फीलिंग से हुई। लोगों ने इन्हें उद्धारक के रूप में देखा। लेकिन बाद में इनका असली चेहरा सामने आया। आंध्र में भी इनके कई गुट बन गए हैं। अब इस आंदोलन में तमाम विकृतियाँ आ गई हैं। इस तरह के आंदोलनों की यह अनिवार्य नियति है। अब यह कुपथगामी हो गया है। नक्सली आते हैं; आदिवासियों के यहाँ जबरन रोटी खाते हैं; उनकी लड़कियाँ ले जाते हैं; पैसेवाले आदिवासियों को लूट भी लेते हैं। तो लोगों में नफरत पैदा हो रही है। लेकिन करें क्या उनकी बंदूक के सामने? दो साल पहले तो पुलिस नक्सली क्षेत्रों में घुस नहीं सकती थी। आज ऐसा नहीं है। पुलिस में विश्वास पैदा हुआ है। लेकिन मैं यह साफ कर दूँ कि हमारे आदिवासी नक्सली नहीं हैं। नक्सलियों को सहानुभूति भी नहीं मिल रही है।

जोशी : *आपकी बात सही हो सकती है। पर क्या यह सच नहीं है कि पिछड़े क्षेत्रों में सरकारी एवं गैर-सरकारी अमला मनमानी करता है, बर्बरतापूर्ण अत्याचार करता है, शोषण करता है, जमीन की लूट करता है, वन-उपजों को हड़प लेता है– क्या ये सारी बातें नक्सलवाद के लिए खाद-पानी का काम नहीं करतीं? भविष्य में इस तरह की घटनाएँ नहीं होंगी, इसकी क्या गारंटी है आपके पास? इस तरह की समस्याओं से निपटने के लिए आज नक्सली हैं तो कल दूसरे लोग सामने आएँगे।*

सुन्दरलाल पटवा : आपकी ये सारी बातें सही हैं। इन क्षेत्रों में सरकार नाम की संस्था के प्रति बड़े पैमाने पर विश्वास का अभाव है। आदिवासियों के प्रति सरकारी अधिकारियों में मानवीय दृष्टि पैदा करना कोई सरल काम नहीं है। अब हमारी कोशिश है कि इन क्षेत्रों में ऐसे सरकारी प्रतिनिधियों को भेजा जाए जिनमें इन लोगों के प्रति प्रेम-भाव हो। फिर भी मैं यह कहूँगा कि सरकारी तंत्र का सोच–मानस– रातभर में बदलना नामुमकिन है। अब दो साल में इस घोड़े (प्रशासन) ने अपने सवार (राजनेता) को कुछ-कुछ पहचानना शुरू किया है। सवार (मंत्रिपरिषद) के मुताबिक घोड़ा नहीं चलेगा तो चाबुक पड़ेगी, अब यह भावना प्रशासकों में पैदा होने लगी है। अब हमारी कोशिश है कि ऐसे अधिकारियों एवं कर्मचारियों का चयन करें जिनमें मानवीय संवेदनाएँ हों। हम चाहते हैं कि तहसीलदार, पटवारी, थानेदार, फॉरेस्ट गार्ड ऐसे होने चाहिए जो कि आदिवासियों की समस्याओं के प्रति संवेदनशील हों, क्योंकि आदिवासियों के लिए ये कर्मचारी

मुख्यमंत्री एवं प्रधानमंत्री से अधिक शक्तिशाली हैं। हमें विश्वास है कि हम इस काम में सफल हो जाएँगे। यह बात जरूर है कि हमारी इस भावना को निचले स्तर तक पहुँचने में समय लगेगा। इसके साथ यह भी सच है कि जब तक आदिवासियों का विश्वास हम अर्जित नहीं कर लेते, कुछ होनेवाला नहीं है। यह तभी संभव है जब हम बीसवीं सदी के अंतिम प्रहर में जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ इनकी झोंपड़ियों तक पहुँचा दें। तभी नक्सलियों की बंदूक से निपटा जा सकता है।

जोशी : *आपने अभी शासक और प्रशासक की बात की। मुझे याद है, जब आप मुख्यमंत्री बने तब आपकी सरकार की परिभाषा सौम्य एवं सात्विक राजनीति से की गई थी। क्या यह आज भी प्रासंगिक है?*

सुन्दरलाल पटवा : हमारा मानना यही है कि सौम्य एवं सात्विक राजनीति ही अंततोगत्वा देश व प्रदेश का भला करेगी। लेकिन मुश्किल यह है कि मध्यप्रदेश में सीधा-सीधा राजनीतिक ध्रुवीकरण है। एक तरफ कांग्रेस है और दूसरी तरफ भाजपा। एक लंबे समय के बाद कांग्रेस विपक्ष में है और हम सत्ता में। हमारी पूरी कोशिश रहती है कि सौम्यता, विनम्रता और सहयोग से काम लें। हम चाहते हैं कि विकास के मामले में विपक्ष एक रचनात्मक व सकारात्मक भूमिका निभाए, हमारी खामियों को भी उजागर करे; लेकिन सहयोग तो दे। हमें यह घमंड भी नहीं है कि हम सर्वज्ञ हैं और गलती कर ही नहीं सकते। ऐसी गलतफहमी हमें नहीं है। मुश्किल यह है कि कांग्रेस के दिमाग में चौबीसों घंटे एक ही बात रहती है : भाजपा सरकार को भंग करो और चुनाव कराओ। इसीलिए कांग्रेसी ऊटपटाँग काम करते हैं। कुकड़ेश्वर चले गए, मस्जिद गिराने का आरोप लगा दिया। चित्रकूट चले गए, मंदिर गिराने का झमेला खड़ा कर दिया। प्रधानमंत्री से गुहार लगा दी कि सरगुजा आ जाओ, लोग भूख से मर गए। बस, किसी न किसी ढंग से सरकार भंग कराने की माँग करना है। मैं मानता हूँ कि यह बचपना है।

जोशी : *प्रधानमंत्री ने तो आपको पाँच बरस का अभयदान दे दिया!*

सुन्दरलाल पटवा : *(कुछ तुनककर)* देखिए, हम प्रधानमंत्री के अभयदान पर जिंदा नहीं हैं। उन्होंने तो एक वास्तविक बात कही है। याद रखिए, हम किसी की कृपा से यहाँ नहीं, हैं और न ही कृपा से यहाँ रहेंगे। जिस दिन जनसमर्थन समाप्त हो जाएगा, हमें किसी प्रधानमंत्री का अभयदान-वभयदान काम नहीं आएगा। सभी को यह याद रखना चाहिए कि देश में लोकतंत्र है, किसी खानदान का राज नहीं है। किसी एक की नहीं, विभिन्न पार्टियों की सरकारें प्रदेशों में हैं– कांग्रेस को यह याद रखना चाहिए। पर हो यह रहा है कि कांग्रेस इस सच्चाई को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। सूखे पर बहस की माँग करते हैं और सदन का बायकाट कर डालते हैं। सदन के बाहर कांग्रेसी नकली विधानसभा चलाते हैं। ऐसा फूहड़

प्रदर्शन करते हैं कि शर्म को भी शर्म लग जाए। इस वातावरण में हम सौम्य और सात्विक राजनीति कैसे करें?

जोशी : *सौम्य-सात्विक छवि की बात चली तो जानना चाहता हूँ कि दो वर्ष आपको सत्ता में बीत चुके हैं, पर भाजपा की अभी तक यह छवि बनी हुई है कि यह सवर्णवादी है, खाते-पीते लोगों की पार्टी है; दलितों से इसका कोई सरोकार नहीं है– इसमें कहाँ तक सच्चाई है?*

सुन्दरलाल पटवा : हम पर सांप्रदायिकता का भी ठप्पा लगा हुआ है। यह सब प्रचारतंत्र का कमाल है। हम अपने व्यवहार से ही इन आरोपों का जवाब दे सकते हैं। अब आप स्वयं देखिए, जितने राजे-महाराजे, करोड़पति, जमींदार आदि थे, सब कांग्रेस में हैं। मध्यप्रदेश में सभी बड़े बीड़ी मालिक एवं सामंत कांग्रेस के साथ हैं। टोटल। तब भी हमारी पार्टी पूँजीपतियों की पार्टी कहलाती है। अब आँकड़े उठाकर देख लीजिए, जनसंघ के जमाने से ही हम आदिवासी एवं ग्रामीण सीटें जीतते रहे हैं। शहरी क्षेत्रों में तो इक्की-दुक्की सीटें ही जीतते रहे हैं। तब भी हम सामंती पार्टी हैं।

जोशी : *लोग तो यही कहते हैं कि भाजपा के नेतृत्व पर सवर्ण वर्ग हावी है; आदिवासी, हरिजन और अन्य दलित वर्ग बराए नाम हैं।*

सुन्दरलाल पटवा : देखिए, मेरी सरकार में आठ लोग मंत्री हैं पिछड़े वर्ग के। संगठन में भी महामंत्री बैठे हुए हैं। प्रदेश की अनुसूचित जाति-जनजाति की सीटों में से दो-तिहाई हम जीते हैं।

जोशी : *छत्तीसगढ़ में तो स्थिति बिल्कुल भिन्न है। वहाँ आपकी पार्टी आज भी निर्धनों से जुड़ी हुई नहीं है।*

सुन्दरलाल पटवा : *(कुछ विचलित दिखाई देते हैं)* देखिए, लोकसभा के चुनावों से यह सारा बवंडर बनाया गया है। इसमें हमें निश्चित रूप से एक झटका लगा। पर हमारा वोट-प्रतिशत कम नहीं हुआ है। मैं मानता हूँ, लोकसभा-चुनावों में हमने कुछ लापरवाही बरती। सरकार में आने के बाद जो सहज अलाली आ जाती है, उसके हम शिकार हो गए। सच तो यह है कि कांग्रेस नहीं जीती है, हम अपनी कमियों से हारे हैं। इस झटके ने प्रचार कर दिया कि हमारा जनाधार खत्म हो गया है। अभी उपचुनाव हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि जनता हमारे साथ है।

जोशी : *पर बुधनी में आपका मारजिन कम हुआ है।*

सुन्दरलाल पटवा : इसकी वजह है जातिवाद, यह किराट-प्रभावी क्षेत्र है। पिछले वर्ष हमारा उम्मीदवार इसी जाति का था, तब मारजिन बढ़ गया था। इस बार हमारा

उम्मीदवार इस जाति का नहीं था। दूसरी वजह यह भी है कि यह सीट परंपरागत कांग्रेस की रही है। विदिशा क्षेत्र में प्रतापभानु शर्मा को बुधनी ही लोकसभा चुनावों में जीत दिलाती रही है। वरना शेष सभी विधानसभा सीटों से वे हारते रहे हैं। इसलिए कांग्रेस की पुश्तैनी बुधनी सीट को हम 500-600 वोटों से जीत पाए। यही हमारी उपलब्धि है। इसी तरह हमने छत्तीसगढ़ में प्रेमनगर की सीट 5000-6000 मतों से जीती। हमारी दिक्कत यह है कि हमारी छोटी-मोटी कमियाँ भी प्रचारित हो जाती हैं। बड़ी-बड़ी सफलताएँ गोल कर दी जाती हैं। इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि कुछ क्षेत्रों में हमारे संबंध में पूर्वाग्रह बना हुआ है। मिसाल के तौर पर इंदौर का प्रतिनिधि सम्मेलन। यह सम्मेलन बहुत शानदार हुआ। सफल रहा। सभी ने दिलचस्पी ली। लेकिन, अखबारों में मुझे लेकर ही चर्चा की गई।

जोशी : *क्या यह सही है कि आपसे इस्तीफा माँगा गया था?*

सुन्दरलाल पटवा : इसमें सौ कोस दूर की भी सच्चाई नहीं है। लेकिन पूर्वाग्रह से ग्रस्त अखबारों का क्या किया जा सकता है? सम्मेलन में भिलाई कांड के संबंध में सरकार की कार्रवाई का सभी ने समर्थन किया था। सभी ने माना कि सरकार जितना कर सकती थी उससे कहीं अधिक किया। चूँकि यह मामला न्यायिक जाँच के लिए लंबित है तो कुछ कहना मुनासिब नहीं होगा। पर कितनी गोली चलनी चाहिए, कितनी लाठी चलानी चाहिए, इसका निर्णय तो घटनास्थल की स्थिति पर ही निर्भर करता है। मुख्यमंत्री तो इसका फैसला करता नहीं है। इसलिए मुझे भिलाई गोलीकांड के लिए कैसे उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। जहाँ तक रही नैतिकता की बात। अहमदाबाद के सांप्रदायिक दंगों में 25 मर गए। इसमें मुख्यमंत्री की कौन-सी नैतिकता है?

> *इसी बीच टेलीफोन की घंटी बजती है। संक्षिप्त वार्तालाप : कहिए किशनलालजी, मैं पटवा बोल रहा हूँ।... हाँ... चिमनभाई से आज सुबह ही मेरी मुलाकात हुई थी। उन्होंने तो हमें पीछे छोड़ दिया है। उनके यहाँ पच्चीस लोग मर चुके हैं और चिमन ने सामान्य किस्म की इंक्वायरी के ही आदेश दिए हैं जबकि मैंने तो भिलाई कांड में न्यायिक जाँच के आदेश दिए हैं, (इसके बाद पटवाजी जोर से ठहाका लगाते हैं)... ठीक है शर्माजी, कल मुलाकात होगी। एक साथ भोजन करेंगे। आडवाणीजी से भी मिल लूँगा...। कुछ मिनट के व्यवधान के बाद मुख्यमंत्री वापस मेरी ओर मुखातिब होते हैं।*

अब देखिए, आज ही मेरी महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री से बात हुई है। वहाँ भी गोली चली है। हमें सरकार चलाना है। यह मानना कि ऐसा कुछ होगा ही नहीं... गोली चलेगी ही नहीं... यह बात नामुमकिन है।

जोशी : *पटवाजी, एक बात समझ में नहीं आती– नियोगी हत्याकांड से लेकर भिलाई गोलीकांड तक की स्थिति यह है कि आम लोग सरकार की नीयत पर शक करते हैं। नियोगी का हत्यारा फरार हो गया, अभी तक नहीं पकड़ा गया। भिलाई के श्रमिक-असंतोष की स्थिति से सरकार बेखबर रही। आम जनता में इम्प्रेशन यही है कि सरकार की नीयत साफ नहीं है। ऐसा क्यों है?*

सुन्दरलाल पटवा : देखिए, नियोगी की हत्या हुई, हमने अपनी सर्वश्रेष्ठ टीम वहाँ जाँच के लिए तैनात कर दी। घटना के तीसरे दिन मैंने गृहमंत्री को पत्र लिखा कि सी.बी.आई. से इसकी जाँच करा ली जाए। मुझे बताइए कोई मुख्यमंत्री इससे ज्यादा क्या कर सकता है अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए? अब यह मामला सी.बी.आई. के हाथों में है। हमारा इससे दूर का भी नाता-रिश्ता नहीं है।

जोशी : *क्या आप समझते हैं कि सी.बी.आई. को जाँच सौंपने से आपकी जिम्मेदारी समाप्त हो जाती है? तकनीकी दृष्टि से आप सही हो सकते हैं। लेकिन नैतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से यह कहना क्या उचित होगा कि मध्यप्रदेश सरकार का इस जाँच से कोई लेना-देना नहीं है? अस्पताल से नियोगी के हत्यारे का फरार हो जाना, बड़ा रहस्यमय और विचित्र लगता है।*

सुन्दरलाल पटवा : देखिए, नैतिक दृष्टि से ही नहीं, सभी व्यावहारिक दृष्टियों से हम इस जिम्मेदारी से मुक्त हैं। और फिर नैतिक या राजनीतिक क्या होता है? आखिर हम सरकार चला रहे हैं, तो किसी प्रक्रिया से चला रहे हैं। इसमें नैतिकता कहाँ आती है, भाई?

जोशी : *नियोगी एक सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता थे। आप भी सामाजिक-राजनीतिक धर्मी हैं। क्या आपकी यह कोशिश नहीं होनी चाहिए कि हत्यारे जल्दी से जल्दी पकड़े जाएँ?*

सुन्दरलाल पटवा : इसीलिए तो हमने हमसे ज्यादा सक्षम एजेंसी के हाथों में यह काम सौंप दिया है। भारत सरकार के हाथ तो लम्बे-चौड़े हैं। वह दुनिया में कहीं से भी अपराधी को पकड़कर ला सकती है। आज तक मूल अपराधी का पता नहीं है। जो पकड़ा गया वो भी भाग गया। अत: प्रदेश सरकार को नैतिक रूप से कैसे दोषी ठहराया जा सकता है? वि.प्र. सिंह आते हैं, जार्ज आते हैं, अग्निवेश आते हैं; सभी राज्य सरकार को दोषी ठहराते हैं। केंद्र को कुछ नहीं कहा जाता। यह अजीब बात है। ऐसा प्रचारित किया गया है मानो कि शंकर गुहा नियोगी को सुंदरलाल पटवा ने मार डाला। यह कहाँ का न्याय है? नियोगी की विधवा पत्नी पाँचवीं क्लास पास है। दुनियाभर में उसे घुमाया जा रहा है। कहाँ से पैसा आ रहा है? कौन करवा रहा है यह सब?

जोशी : *क्या इसमें आपके प्रमुख विरोधी दल कांग्रेस का हाथ है?*

सुन्दरलाल पटवा : कांग्रेस का हाथ हो चाहे किसी का हाथ हो... मुझे तो लगता है सबका हाथ है। *(पटवा सवाल को टालना चाहते हैं)* भाजपा को छोड़कर सभी का हाथ है। सभी भाजपा सरकार को बदनाम करना चाहते हैं।

(वार्ता के इस स्थल पर इंदौर की सांसद सुमित्रा महाजन कक्ष में दाखिल होती हैं। मुख्यमंत्री कहते हैं–आ जाइए... आ जाइए।)

जोशी : *फिर भी अपराधी को फरार होने देने में किस-किसका हाथ हो सकता है?*

सुन्दरलाल पटवा : अब यकायक तो मैं किसका नाम लूँ? लेकिन क्या यह सच नहीं है कि पंजाब में अपराधी जेलों में से भाग रहे हैं। काश्मीर में भाग रहे हैं। देखिए, हर सरकार की एक सीमा होती है। सरकार कोई भगवान नहीं है, इसमें भी कमियाँ हैं।

जोशी : *प्रश्न है सरकार नाम की संस्था की साख का। चाहे यह सरकार भोपाल की रहे या दिल्ली की, ऐसी घटनाओं से इसकी साख पर कालिख नहीं पुतती है?*

सुन्दरलाल पटवा : है ना... । पर इस तरह की घटनाएँ हमेशा से होती आई हैं। मैं इससे सहमत हूँ कि इस तरह की घटनाओं को जितना कम किया जा सके, उतना अच्छा है।

जोशी : *अब जैसे अभी भिलाई में गोलीकांड हुआ। क्या आपको वहाँ के श्रमिक-असंतोष का मालूम नहीं था?*

सुन्दरलाल पटवा : बहुत पहले मालूम था। न्यायिक जाँच के आदेश दे दिए हैं। नियोगी हत्याकांड और श्रमिक-असंतोष के पीछे कुछ और भी कारण हैं; सिर्फ मजदूरों की छँटनी ही नहीं है। नियोगी के समर्थक श्रमिकों में लीडरशिप का झगड़ा है *(मुख्यमंत्री ने श्रमिकों के साथ वार्ता का ब्योरा दिया और उन हालातों को सामने रखा, जिनमें पुलिस को गोली चलानी पड़ी। मुख्यमंत्री ने दावा किया कि श्रमिकों के व्यवहार ने पुलिस को गोली चलाने के लिए विवश किया, क्योंकि वे रेल-पटरी पर से अपना धरना समाप्त नहीं करना चाहते थे। उन्होंने पुलिस पर पथरावबाजी की। इसके बाद ही स्थिति बिगड़ी।)* देखिए, नियोगी के पास सौ ट्रक चलते हैं। करोड़ों रुपए की संपत्ति है। राजेन्द्र सायल भी इसके कर्ताधर्ता हैं।

जोशी : *पी.यू.सी.एल. के सायल को गिरफ्तार करने की आवश्यकता क्यों हुई ?*

सुन्दरलाल पटवा : वही लीडरशिप का झगड़ा है। लीडरशिप और संपत्ति, दोनों ही इसमें कारण हैं। नियोगी को इस स्थिति तक पहुँचाने में सायल ही तो प्रमुख

है। सायल के अंतरराष्ट्रीय संबंध हैं। हर दूसरे-तीसरे महीने विदेश यात्रा करता है। इसके पास प्रचार के विपुल साधन हैं। जरा-सा हाथ लगाओ तो दुनिया-भर में शोर मच जाता है। सुप्रीम कोर्ट में बड़े-बड़े वकील खड़े हो जाते हैं। केंद्र के साथ मैंने अपनी एक मीटिंग में कहा है कि पी.यू.सी.एल., सहेली, एकता संस्था, पर्यावरणवादी, सुधारवादी, आदिवासी कल्याण मिशनरी, झारखंड आदि संस्थाएँ देश को तोड़ना चाहती हैं। हमारे पास नक्शा है। ये नागालैंड से लेकर गोआ तक एक अलग देश बनाना चाहते हैं। यह एक साजिश है। हम इसे शुतुरमुर्ग बनकर न देखें। मैं अनेक बार केंद्र को इस संबंध में चेतावनी दे चुका हूँ।

जोशी : *जैसे पर्यावरण की बात चली। इसमें कुछ जैनुइन लोग भी हैं। सबको एक ही लाठी से कैसे हाँका जा सकता है ! पर्यावरण आंदोलन में बाबा आमटे, मेधा पाटकर, सुंदरलाल बहुगुणा, डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा जैसे व्यक्ति सक्रिय हैं।*

सुन्दरलाल पटवा : अब मैं इनके बारे में कुछ न कहूँ, वही ठीक है। आपका इन लोगों के बारे में भ्रम... गलतफहमी बनी रहे... वही अच्छा है।

जोशी : *तो भी?*

सुन्दरलाल पटवा : नहीं... नहीं, डॉ.बी.डी. शर्मा बहुत अच्छे व्यक्ति हैं।

जोशी : *अब पिछले दिनों नर्मदा परियोजना के संबंध में विश्व बैंक की मोर्स रपट आई है। उसके संबंध में आपका क्या कहना है?*

सुन्दरलाल पटवा : वह एकदम फार्स है। उसमें अनेक अंतर्विरोध हैं। मोर्स मुझसे भोपाल में मिले थे। आधे घंटे तक मुझसे बात की थी। मैंने मोर्स से कहा था कि हम नर्मदा घाटी के लोगों के प्रतिनिधि हैं। हमने वहाँ की सारी सीटें जीती हैं। हमें वहाँ की चिंता ज्यादा है। तुम कहाँ से आ गए देवदूत बनकर? ये मेधा पाटकर कहाँ से आ गई महाराष्ट्र से? कुष्ठों की सेवा करनेवाले बाबा आमटे कहाँ से आ गए? देखिए, पर्यावरण और गरीबी कभी साथ नहीं चल सकती। हमें सिंचाई चाहिए, बिजली चाहिए, उद्योग चाहिए। मोर्स की रपट देखकर मुझे लगता है कि उन्होंने यह रपट लिखी ही नहीं है, सिर्फ अपने हस्ताक्षर कर दिए हैं, क्योंकि उन्होंने जो मुझसे बातें की थीं ठीक उसके विपरीत रपट में जिक्र किया गया है। राम जाने क्या हुआ है ! बाबा और मेधा ने आज तक मुझसे बात करने की कोशिश नहीं की। चूँकि इनका अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नाम है, दुनिया-भर में छपते हैं। हमें इनका गोरखधंधा समझ में नहीं आता, भई। अलबत्ता, पुनर्वास और पर्यावरण की चिंता हमें जरूर करनी चाहिए। इसके प्रति सरकार सजग भी है। अब हमें मोर्स कह रहे हैं कि यह करो, वह मत करो। हम इन आसमान से टपकने-वाले देवदूतों से परेशान हैं।

जोशी : *बस्तर में बोधघाट का मामला भी लटका हुआ है। क्या इस संबंध में कुछ*

नए सिरे से प्रयास किए जा रहे हैं?

सुन्दरलाल पटवा : हाँ, मैंने प्रधानमंत्रीजी से बात की है। कमलनाथ से बात की है। वे पुनर्विचार के आग्रह से सहमत हैं।

जोशी : *पटवाजी, अब तक पुनर्वास के जो अनुभव रहे हैं, वे बहुत सुखद नहीं हैं।*

सुन्दरलाल पटवा : मैं आपसे सहमत हूँ; पुनर्वास के अनुभव बहुत दुखद हैं। सरकार नाम की संस्था के साथ जो अविश्वसनीयता जुड़ गई है, तकलीफ का यह सबसे बड़ा कारण है। हम लाख सिर पटक-पटककर कहते रहें कि अब पुनर्वास अच्छा किया जाएगा, कोई मानने के लिए तैयार नहीं है। हमें विरासत में शासन व प्रशासन तंत्र की अविश्वसनीयता एवं अप्रामाणिकता मिली है। हम क्या करें? अब किसी भी सड़क चलते आदमी से कहा जाए कि यह नेता है तो वह तपाक से कहेगा, अरे यह तो चोर है। हर क्षेत्र की यही हालत है। पत्रकारिता की हालत भी कोई अच्छी नहीं है।

सुमित्रा महाजन : अब इसे तामसिक ढंग से मत छापिए।

पटवा : नहीं... नहीं, जोशीजी सात्विक हैं; कभी-कभी राजसी हो जाते हैं... तामसिक नहीं लिखते।

घड़ी पर नजर डाली तो रात्रि के ग्यारह बज चुके थे। भोजन समाप्त हो चुका था। मुलाकात अंतिम क्षणों में थी। संगीत की बात चल पड़ी। मुख्यमंत्री कहने लगे : अभी पिछले दिनों अमजद भोपाल में आया था। उससे वायदा हुआ है कि वह भोपाल आए और कुछ सुनाए। उसे भोपाल में सुनाए कई साल हो गए हैं। अशोक वाजपेयी ने उसे भोपाल में आने ही नहीं दिया। भारत भवन के साथ झगड़ा हो गया था। मैंने अमजद से कहा कि भैया, तुम्हारे लिए अब मैंने रास्ता खोल दिया है। अमजद ने वायदा किया है कि वह अपने दोनों बच्चों को लेकर भोपाल आएगा।

जोशी : *कोई गीत याद है?*

सुन्दरलाल पटवा : अरे नहीं भाई। मैं तो इस सरकार के जंगल में खो गया हूँ। मेरा बस चलता तो राजनीति में आता थोड़े ही; मैं कहीं और होता। पिछले दिनों कवि-सम्मेलन में पाँच घंटे बिताए।

जोशी : *अब क्या इच्छा होती है?*

सुन्दरलाल पटवा : इच्छा क्या कल्पना की बात है। जो कुछ हो गया है वह अच्छा है। लिखने की इच्छा जरूर होती है।

जोशी : *आपने आम खिलाया, मिष्ठान्न खिलाया। आपकी संगीत में दिलचस्पी है।*

कविता में दिलचस्पी है। पर बात क्या है कि लोग आपको काफी रूखा कहते हैं? क्या बात है?

सुन्दरलाल पटवा : आपको क्या मैं रूखा लगता हूँ?

जोशी : *इस समय मुझे तो नहीं लग रहे, पर सामान्य धारणा यही है कि आपमें मिठास नहीं है।*

सुन्दरलाल पटवा : *(जोर से हँसते हैं।)* सबका अपना-अपना स्वभाव है। मुझे सज्जनों का दास रहने में मजा आता है, पर दुर्जनों के साथ कोई विनम्रता नहीं बरतता ... *(हँसते हुए)* मैं प्रहार में कोई मिठास नहीं दिखाता। जो होगा, देखा जाएगा। ईश्वर और पार्टी ने मुझे सब कुछ दे दिया है। मैं पूरी तरह संतुष्ट हूँ। अब जो काम मिला है, उसे करना है। मैं तो यही कर सकता हूँ। 'हानि-लाभ-जीवन-मरण, यश अपयश हरि हाथ।'

19 जुलाई, 1992

रथ के संग-संग

यह इत्तफाक था। भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा कीचड़ भरे रास्ते से गुजर रही थी। जबलपुर-दमोह मार्ग पर एक स्थान पर आकर झटके से रुक गई, कुछ राहगीर श्रद्धालुओं की वजह से, कुछ कादे की वजह से। अपनी कार छोड़ लपका, माजरा जानने के लिए। खैर ! रथ के पहिए फिर खिसके। लौटने को ही था कि रथ के काफिले में पीछे चल रही एक सफेद कार का दरवाजा खुलता है : "आइए, जोशीजी !" कार के अंदर से आवाज आती है। झाँकता हूँ, पिछली सीट पर मुख्यमंत्री सुंदरलाल पटवा बैठे हुए हैं। पिछली रात, सिवनी से जबलपुर लौटते समय मार्ग में वे एक बड़ी दुर्घटना का शिकार होते बाल-बाल बचे थे। इस सौभाग्य की जानकारी रथयात्रा के साथ चल रहे पत्रकारों को मिल चुकी थी। बातचीत का सिलसिला इसी के साथ शुरू हुआ।

"सुबह मालूम हुआ, आपकी कार टकराते-टकराते बची ?" मैंने पूछा।

"अरे क्या बताऊँ," एक राहत की साँस छोड़ते हुए पटवाजी कहने लगे, "समझ लो बच गया। बस कल तो मर ही गया था। पुलिया की दीवार नहीं होती, तो कार नीचे थी। पैर में मामूली चोट आई है। अब ठीक हूँ। कुछ उपचार हो गया है।"

दूसरा जन्म मिला, ऐसी चमक उनके चेहरे पर उभरी। दोनों ओर खेत, बीच में कादे भरी सड़क में से कार गुजरी जा रही है। बातों का सिलसिला आगे बढ़ता है। रथ की तैयारी पर बात चली।

"पिछले दो दिनों से कैसा अनुभव हो रहा है, आपको?" उन्हें कुरेदने की मैं कोशिश करता हूँ।

"मैं तो रोमांचित हो उठा हूँ," एक पल खोए बिना मुख्यमंत्री बोले और किसी अर्ध-विराम के बिना कहने लगे, "मैं अपने जीवन में पहली बार ऐसा देख रहा हूँ। किसी मुद्दे पर इतना समर्थन! आश्चर्यजनक नहीं है ! काश, दिल्लीवालों का हाथ जनता की नब्ज पर होता ! यह आडवाणीजी की रथयात्रा नहीं है, यह रामभक्ति, राष्ट्रभक्ति की यात्रा है। राष्ट्र को तोड़नेवाले तत्वों को यह सशक्त जवाब है।" इसके बाद मुख्यमंत्री पटवा अपनी पुरानी थीम पर लौट आए। वही विवादास्पद थीम, जिसे उन्होंने *नई दुनिया* परिसर में फिल्म विशेषांक 'परदे की परियाँ' के विमोचन के अवसर पर उठाया था, देशभर में जिसका बावेला मच गया था : भारत के मुसलमान बाबर की औलाद नहीं हैं। बाबर आक्रमणकारी था। रामजन्म मंदिर हिन्दुओं का ही नहीं, मुसलमानों का भी है। लेकिन, इस थीम पर अब कोई तूफान खड़ा नहीं होता। रथयात्रा के सूत्रधार आड़वाणीजी के सार्वजनिक भाषणों में हर रोज इसकी गूँज होती है। बल्कि, वे और पुरजोर ढंग से इसे जनता के सामने रखते हैं। पटवाजी भी इसे और बुलंद आवाज में कहने लगे हैं। सागर की विशाल सभा में उन्होंने कहा था–'हम सब राम की संतान हैं। मैं कहता हूँ, बाबर से नाता तोड़ो, राम से नाता जोड़ो।' मुझे याद है, जब उन्होंने *नई दुनिया* परिसर में यह थीम सामने रखी थी। आज भाजपा इस थीम में पूरे भारत को ही गूँथने जा रही है। इसका चमत्कार देखिए–घनी रात, तेज बरसात और कीचड़-कादे के बावजूद हजारों लोग रथ-दर्शन के लिए खड़े हुए।

"मैं गलत नहीं कह रहा हूँ। अब देखिए, हमारे राज्यपाल कुँवर महमूद अली के पूर्वज हिन्दू थे। पिछले दिनों दशहरा उत्सव के समय उनसे मिलने राजभवन गया हुआ था। उनके हिन्दू व मुसलमान रिश्तेदार पास बैठे हुए थे। उन्होंने अपने परिवार के भाट से भी परिचय कराया। भाट के पास कुँवर साहब की कई पीढ़ियों का लेखा-जोखा है। इसीलिए मैं कहता हूँ, हम सबके पूर्वज राम थे।"

"पर पटवाजी, इस वैज्ञानिक युग में रक्त की पवित्रता की बात करना कहाँ तक उचित है ?" मैंने उन्हें उकसाने की कोशिश की,"भारत में कितनी जातियाँ आईं हैं – शक, हूण, यूनानी, तुर्क, मुगल... न जाने कितनी। कौन जानता है कि किसका रक्त किसमें बह रहा है?"

"अरे भाई, ये जितनी भी जातियाँ आईं, भारत ने उन्हें आत्मसात कर लिया। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है," पटवाजी ने तर्क दिया : "रक्त की पवित्रता का सवाल नहीं है, यहाँ की हिन्दू-संस्कृति का सवाल है। खुद ही सोचिए, हमारे पुरखे मुसलमान नहीं हो सकते, बाबर नहीं हो सकता।" मुख्यमंत्री कुछ क्षण के लिए पॉज देते हैं। "लेकिन क्या बताएँ, राजनीति ने सब कुछ धूमिल कर दिया है। पिछले चालीस सालों में वोटों की खातिर सच्चाई को अनदेखा किया गया है,

बहुसंख्यक समाज के हितों को अनदेखा किया गया है, वोटों के लिए तुष्टीकरण की राजनीति की गई है। धर्मनिरपेक्षता की यही विकृति है। अब आपके सामने एक उदाहरण रखता हूँ। पिछले दिनों दौराला में ईसाई अध्यापिकाओं के साथ बलात्कार किया गया। पूरे देश में तूफान मच गया। केंद्र और प्रदेश के नेता वहाँ दौड़े। जबकि बलात्कार की घटनाएँ और भी होती हैं। काश्मीर में हिन्दू औरतों के साथ बलात्कार किया जाता है। पंडितों को वहाँ से बाहर किया जा रहा है। तब शोर क्यों नहीं मचता? मैं यह नहीं कहता कि बलात्कार पर शोर नहीं मचना चाहिए। मेरा विरोध इस बात पर है कि इसे किसी समुदाय के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। अल्पसंख्यक महिला के साथ होता है तो वह बलात्कार है, बहुसंख्यक महिला के साथ ऐसा होता है तो खामोशी! इस दोहरे मापदंड को छोड़ना होगा।"

"मगर पटवाजी, आखिर यह उन्माद ले कहाँ जाएगा? कल, यदि रथयात्रा के बल पर भाजपा को दिल्ली की सत्ता मिल जाती है और बहुसंख्यक समुदाय माँग करता है कि भारत को एक हिन्दू-धर्मप्रधान राष्ट्र घोषित किया जाए, तो उस स्थिति में आप क्या करेंगे?"

"मैं नहीं समझता कि हिन्दू ऐसा करेगा। उसके रक्त में ऐसा नहीं है। हिन्दू तो सभी को साथ लेकर चलने में विश्वास रखता है। हमारी समाज-व्यवस्था बहुत उदारवादी है। भारत को कभी भी धार्मिक राष्ट्र नहीं बनाया जाएगा।" मुख्यमंत्री ने भरोसा दिलाने की कोशिश की।

"वैसे धर्म पर आधारित देशों के अनुभव अच्छे भी नहीं रहे हैं। पाकिस्तान इसकी मिसाल है। मुस्लिम देश होने के बावजूद इसकी क्या दुर्दशा बनी हुई है, यह किसी से छुपा नहीं है।" मैंने उनकी और थाह लेने की कोशिश की।

"मैं ऐसा नहीं मानता कि भारत में हिन्दू धर्म कभी राज्य-धर्म बनेगा। वैसे यह सही है कि गर्व अहंकार का रूप न ले, इसका ध्यान रखना होगा। लेकिन हिन्दू होने पर गर्व होता है तो यह बुरी बात नहीं है। हमें सकारात्मक ढंग से गर्व का उपयोग करना होगा," उन्होंने तर्क दिया।

इस मुद्दे पर उनके साथ मेरी असहमति बनी रहती है। मैं उनसे कहता हूँ–"पटवाजी, जिस समतावादी हिन्दू समाज-व्यवस्था या मूल्य-व्यवस्था की आप बात कर रहे हैं, वह विषमतावादी है। क्या आप इससे इंकार कर सकते हैं कि तथाकथित व्यवस्था की वजह से ही लाखों-करोड़ों लोगों को अछूत घोषित कर दिया गया ? आज भी उन्हें गाँव के अंतिम सिरे पर या मनुष्य के चरण की तरफ रखा जाता है। यदि ये ही लोग धर्म-परिवर्तन करते हैं, मुसलमान या ईसाई बनते हैं, तो इसमें दोष किसका है?"

"कुछ समस्याएँ जरूर हैं हिन्दू समाज में," तनिक अनमने भाव से स्वीकार करते हुए मुख्यमंत्री कहने लगे, "पहले जन्म के आधार पर जातियाँ नहीं थीं। कालांतर में ऐसा हो गया है। यह भी सच है कि अस्पृश्यता की वजह से लोगों ने धर्म बदला है। पर भाई, समाज को सुधारने में पीढ़ियाँ लग जाती हैं। याद रखिए, समाज-सुधार का कार्य राजनीति नहीं है। भारत में ही क्यों, अमेरिका और योरप के विकसित राष्ट्रों में भी जातीय या नस्ली समस्या है। इतनी वैज्ञानिक तरक्की करने के बावजूद, अमेरिका में नीग्रो लोगों को श्वेतों की बस्ती में नहीं बसने दिया जाता।" एक तसल्ली उनके चेहरे पर झलकी।

"इसका यह अर्थ तो नहीं है कि हम जाति-व्यवस्था की तथाकथित सामाजिक वैधता को स्वीकार कर लें। आपने सामाजिक सुधार की बात कही है, जहाँ विश्व हिन्दू परिषद और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ अयोध्या में रामजन्मभूमि मंदिर बनवाने के लिए मरे जा रहे हैं। सवाल किया जा सकता है कि इन संगठनों ने अस्पृश्यता जैसी हिन्दू धर्म की कुरीतियों के खिलाफ क्या संघर्ष किया ? कोई सशक्त प्रतिवाद तक दर्ज नहीं किया। ऐसा क्यों ?" पटवाजी को फिर से कठघरे में खड़ा करने की मैंने कोशिश की।

"ऐसा नहीं है।" बचाव की मुद्रा में वे बोलने लगे, "संघ में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है। सभी जातियों के लोग एक साथ खाते-पीते हैं।"

"मैं इससे सहमत नहीं हूँ," मैंने प्रतिवाद किया। "आप संघ-पृष्ठभूमि के हैं। कुछ संपर्क मेरा भी रहा है। ऊँची जाति के लोगों का इसमें वर्चस्व है; हरिजन और पिछड़ी जाति के लोगों का प्रतिशत नाममात्र है। उनकी बस्तियों में शाखाएँ तक नहीं लगाई जातीं। इसी प्रकार विश्व हिन्दू परिषद के नेतृत्व में कितने हरिजन या पिछड़े लोग हैं ? आपके संगठनों में ऊँची जातियों का ही वर्चस्व है।" वे उबल पड़ें, यह मेरी कोशिश थी; पर नाकाम रही। मुख्यमंत्री संयत रहे। कहने लगे–"मैंने पहले ही आपसे कहा है कि सामाजिक सुधार के काम में कई-कई पीढ़ियाँ खप जाती हैं। इसी दृष्टि से संघ को देखा जा सकता है।"

"कभी-कभी बड़ा घालमेल लगता है। एक तरफ आप देश के लिए अत्याधुनिक एवं विकसित तकनीक की माँग करते हैं, दूसरी तरफ समाज को मध्ययुगीन अवस्था में ले जाना चाहते हैं। धर्म के नाम पर कम पाखंड नहीं फैल रहा है।" मैंने कहा।

"मैं ऐसा नहीं सोचता।' मेरे विचार में तो हिन्दू दर्शन से ही नए अंतर्विरोधों का समाधान हो सकता है। आज जबकि साम्यवाद और पूँजीवाद धराशायी होते जा रहे हैं, ऐसी स्थिति में हिन्दू दर्शन ही एकमात्र विकल्प बचा है।" अर्ध-दार्शनिक और अर्ध-राजनीतिक मुद्रा थी उनकी।

"पटवाजी, समझ में नहीं आता, आपको उपभोग भी चाहिए और अपरिग्रह भी। वर्तमान व्यवस्था टीवी, रेडियो, अखबारों के माध्यम से उपभोक्तावादी संस्कृति को प्रोत्साहित कर रही है, इधर आप धर्म की बात कर रहे हैं। भयानक अंतर्विरोध है दृष्टि में।" मैंने अभी तक हथियार नहीं डाले थे : "अब आप देखिए, जैन धर्म का सिद्धांत है अपरिग्रह। लेकिन, आज जैन समुदाय के पास सबसे अधिक धन है। इसी तरह से ब्राह्मण समुदाय भी दोहरे मापदंड का शिकार है। ईश्वर की सबसे उत्तम कृति--मनुष्य--को उसने वर्ण के खानों में विभाजित किया। एक परिश्रमी मानवता को उसने समाज की तलछट करार दे दिया। आपको यह सब एब्सर्ड नहीं लगता?" मैंने एक और वार किया।

"अपरिग्रह का अर्थ अपनी संपत्ति को समाज की संपत्ति के रूप में देखना है। निश्चित ही अपरिग्रह के पालन में विकृतियाँ आई हैं; इन्हें दूर करने की आवश्यकता है। यही स्थिति ब्राह्मण की है। पर, ब्राह्मण को कोसने से काम नहीं चलेगा। हमारे समाज ने विश्वामित्र, वशिष्ठ, द्रोणाचार्य, चाणक्य जैसों को ही सच्चा ब्राह्मण माना है, जिन्होंने फकीरी का जीवन जिया और राजा को नचाया। ब्राह्मण कर्म से होता है, न कि जन्म से। मैं पूछ सकता हूँ, हमारे शंकराचार्यों या साधु-संतों की आए दिन आलोचना की जाती है, पर कभी आपने पोप, मुल्ला, इमाम आदि की भी आलोचना की? यह जानने की कभी कोशिश की कि ये लोग कितने धनी हैं? जहाँ तक पाखंड का सवाल है, आप यह क्यों भूल जाते हैं कि लोकतंत्र में भी पाखंड होता है। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के भी खतरे हैं। इंदिरा गाँधी ने आपातकाल लगाया था, यह भी एक किस्म का खतरा है।" वे गौर से मेरी ओर देखने लगे।

मैंने मन में कहा--जब राजनीति या राज्य पर धार्मिक या सांस्कृतिक उन्माद हावी हो जाता है तब उसके अंजाम आपातकाल से भी भयानक होते हैं। तानाशाही और फासीवाद राज्य के स्थायी वर्ग-चरित्र बन जाते हैं। कुछ देर के लिए हम दोनों खेतों की ओर झाँकने लगते हैं, ताकि वातावरण हल्का बन जाए।

"हरे-भरे खेतों, पहाड़ों को देखकर कैसा लगता है आपको? कभी गुनगुनाने की इच्छा नहीं होती?" बातचीत को दूसरा मोड़ देते हुए मैंने पूछा।

"अरे बहुत इच्छा होती है गुनगुनाने की। पिछली बार राखी पर अपने गाँव गया था।" पटवाजी का फ्लैशबैक चलता है, "कुकड़ेश्वर गाँव में पुरानी भजन मंडली बैठी हुई है। पुराने यार लोग बैठे हुए हैं। रोक नहीं पाता, अपने को। मैं भी उनमें शामिल हो जाता हूँ। उस रात जागरण में मैंने खूब गाया। लंगोटिया मित्र भी बेहद खुश थे। उस रात मैं भूल गया कि मैं मुख्यमंत्री हूँ। बस मुझे दोस्त और गाना याद रहे।" पटवाजी का फ्लैशबैक टूटता है। "बहुत इच्छा होती है कि मैं अपना बोझ हल्का करूँ। कुछ किया भी है। शुरू में मैं एक प्रयोग करना चाहता था। मैं चाहता

था कि मंत्रिगण सरकार चलाएँ और मैं मंत्रियों को चलाऊँ। मैं अपने पास कम से कम अधिकार रखना चाहता था। इस संबंध में मैंने अपने कुछ सलाहकारों से बातचीत भी की थी। लेकिन, उनकी सलाह थी कि वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा प्रयोग करना ठीक नहीं रहेगा। जब समय परिपक्व होगा, तब करूँगा।"

"आपके प्रेरणा-पुरुष कौन हैं?" मैंने सवाल किया।

"गुरुजी स्व. गोलवलकर ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है। इसके बाद दीनदयाल उपाध्याय का मेरे जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक असहमति होने के बावजूद मैं गाँधीजी से भी प्रभावित हूँ। उनमें गहरी दृष्टि थी समाज को समझने की। सरदार वल्लभभाई पटेल उनके सच्चे उत्तराधिकारी थे। लेकिन इतिहास को कुछ और स्वीकार था। पर इतना कहूँगा, पंडित जवाहरलाल नेहरू लोकतंत्रवादी थे। इंदिराजी में वह बात भी नहीं थी।" मुख्यमंत्री का जवाब था।

"किस-किस तरह की पुस्तकें पढ़ते हैं? लेनिन, माओ, हो-ची मिन्ह जैसे नेताओं ने भी इस शताब्दी को प्रभावित किया है। क्या आपने कभी इन्हें भी पढ़ा है?" मुझे कुछ शैतानी सूझी।

"बिल्कुल नहीं। विश्व-नेताओं में गाँधीजी के अलावा मैं दूसरों से प्रभावित नहीं हूँ। और पढ़ने के लिए समय ही नहीं मिल पाता है।" मुख्यमंत्री ने अपनी सीमाएँ सामने रखीं।

इस पड़ाव को यहीं समाप्त करते हुए, मैं आगे बढ़ा : "क्या इस रथयात्रा का आपको राजनीतिक लाभ नहीं मिलेगा? पंचायत-चुनावों पर भी इसका अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।" मैंने बातचीत को वापस राजनीतिक पटरी पर लाने की कोशिश की।

"इसका राजनीतिक लाभ मिलेगा। पार्टी की शक्ति बढ़ेगी। पंचायतों के चुनावों पर इसका असर पड़ेगा। आपका यह अनुमान सही है कि रथयात्रा के साथ-साथ सामाजिक धरातल पर हमारी शक्ति का निर्माण होता जा रहा है। पर, इसमें मैं क्या कर सकता हूँ? यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।" कुछ रुककर मुख्यमंत्री फिर बोलने लगे–"एक बात और भी है। रथयात्रा के साथ-साथ हमें ऋणमुक्ति का भी लाभ मिलेगा। प्रदेश के दो करोड़ से भी अधिक लोग ऋणमुक्ति कार्यक्रम से लाभान्वित हुए हैं। 664 करोड़ रुपए के कर्ज अब तक माफ किए जा चुके हैं।"

मैंने अपने निजी अनुभव सामने रखते हुए कहा, "हो सकता है आप सही कह रहे हैं। लेकिन मुझे कुछ और ही सुनने को मिला है। छिंदवाड़ा, सिवनी और जबलपुर के कुछ गाँवों में सरसरी पूछताछ की है। कुछ लोगों को शिकायत थी कि उनके कर्जे अभी तक माफ नहीं किए गए हैं; उन्हें कोई प्रमाणपत्र नहीं मिले हैं।"

"तब उनकी राशि दस हजार से अधिक की रही होगी?" मुख्यमंत्री ने कहा।

"नहीं, दस हजार के नीचे ही है। आप चैक करवा लें। कुछ गाँवों में असंतोष है।" मेरा जवाब था।

"हो सकता है। मैं चैक करवा लूँगा।" उन्होंने आश्वासन दिया।

"मंडल आयोग का तूफान अभी रुका नहीं है।" मैंने मुख्यमंत्री को टटोलने की कोशिश की।

"दस बरस से यह रपट ठंडे बस्ते में बंद थी; न जाने प्रधानमंत्री वि.प्र. सिंह ने इसे क्यों निकाल दिया। उन्होंने इसमें चतुराई दिखाई है। चालबाजी के नतीजे अच्छे नहीं निकलते। कोई विश्वास नहीं करता कि पी.एम. ने पिछड़ों की भलाई के लिए इसे लागू किया है। उन्हें चुनावों के लिए मतदाता चाहिए, इसलिए यह चक्कर चलाया गया है। विश्वनाथजी शेर की सवारी कर रहे हैं। उतरते हैं तो मुश्किल, बैठे रहते हैं तो भी।" मंद-मंद मुस्कराते हुए वे बोले, "आरक्षण विरोधी आंदोलनकारी ही क्या, अब तो चन्द्रशेखर ही उन्हें नहीं छोड़ेंगे।"

11 नवम्बर, 1990

सत्ता पर खुरदुरे हाथों की दस्तकें

शरद यादव। छियालीस बसंतों का साक्षी। नाटा कद, जुझारू व्यक्तित्व। 1974 में जबलपुर लोकसभाई उपचुनाव में 'लोकसभा उम्मीदवार' के रूप में विजेता बनकर राजनीतिक क्षितिज पर उभरनेवाले तब के महाविद्यालयी शरद यादव ने आज राष्ट्रीय फलक पर स्वयं को स्थापित कर लिया है।

जनता दल 'आइडोलॉग' के रूप में चर्चित शरद यादव ने अपने सफर में पीछे मुड़कर कभी नहीं देखा। लोहिया-चिंतन से लैस होकर होशंगाबाद जिले के इस युवक ने 1967 से अपनी संघर्ष यात्रा की शुरूआत की। कभी जेल के अंदर, कभी बाहर, यह सिलसिला बरसों तक चलता रहा। आपातकाल के भी शिकार बने। आपातकाल की अवधि बढ़ाए जाने के विरोध में उन्होंने लोकसभा से भी इस्तीफा दिया। खानदानी हुकूमत के खिलाफ लड़ाई का जुनून शरद यादव पर हमेशा सवार रहा है। इसी जुनून ने उन्हें 1982 में अमेठी के उपचुनाव में राजीव गाँधी से भिड़वा दिया। इससे पहले वे सेठ गोविन्द दास के 'वंशवाद' से टक्कर ले चुके थे। आज वे जातिगत वर्चस्व के खिलाफ देश के कोने-कोने में अलख जगा रहे हैं। एक प्रकार से शरद यादव 'मंडलमय' बन चुके हैं। वे मंडल-चिंतन में वर्ण-सामंतवाद से भारत की मुक्ति का स्वप्न देख रहे हैं; एक प्रतिबद्ध पथिक हैं लंबी यात्रा के।

पिछले दिनों शरद यादव ने एक लड़ाई और जीती। पार्टी के अंदर। जनता दल की संसदीय पार्टी के नेता चुने गए। उनके मुकाबले में थे प्रखर व प्रख्यात समाजवादी और श्रमिक नेता जार्ज फर्नांडीस! इस जीत ने उन्हें एक दफा फिर से 'चर्चा का केंद्र' बना दिया है। पक्ष और विपक्ष में तर्क दिए जा रहे हैं, पर इतना जरूर है कि यादव की इस जीत से जनता दल व पिछड़ों की लड़ाई में एक नया आयाम जुड़ा है। इसके परिणाम अभी नहीं, भविष्य में दिखाई देंगे। प्रस्तुत है उनके

निवास पर हुई बातचीत के जरूरी अंश :

जोशी : *वर्षान्त तक मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में मध्यावधि चुनाव होने जा रहे हैं। आपकी पार्टी यानी जनता दल का इन चारों हिन्दी-राज्यों में एक स्थान रहा है। 1989 और 1990 में आपके और भारतीय जनता पार्टी के बीच एक समझदारी थी। इसका लाभ दोनों पक्षों को मिला। 1991 में यह समझदारी टूटी। आज 1993 में भी इन राज्यों में भाजपा एक मुख्य चुनौती बनी हुई है। अतः ताजा राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में चुनावों की द ष्टि से आपके दल की क्या रणनीति होगी?*

शरद यादव : देखिए जनता दल मूलतः जन-आधारित पार्टी है। हमारी राजनीति मुद्दों पर आधारित है। मुद्दागत राजनीति को लेकर हम जनता के बीच जाते हैं, उसे संगठित करते हैं, आंदोलित करते हैं। सत्याग्रह, आंदोलन, संघर्ष आदि के जितने भी तरीके होते हैं, उन्हें हम अपनाते हैं। अतः चुनावी रणनीति के तहत हमने फैसला किया है कि इन चारों राज्यों में स्थानीय जरूरत के मुताबिक मुद्दों पर फोकस किया जाए, जनता को जाग्रत किया जाए। पर हम इन राज्यों में अपने परंपरागत प्रभाव-क्षेत्रों पर खास ध्यान देना चाहेंगे। मिसाल के तौर पर मध्यप्रदेश का केस लें। मध्यप्रदेश में जो समाजवादियों के प्रभाव-क्षेत्र रहे हैं, वे ही आज जनता दल के बन चुके हैं। हम यह कभी दावा नहीं करते हैं कि संपूर्ण मध्यप्रदेश में समाजवादियों या जनता दल का प्रभाव रहा है। हमेशा से 'पॉकेट्स' रहे हैं। विंध्य, बुंदेलखंड, ग्वालियर व मालवा के कुछ क्षेत्र, छत्तीसगढ़ के कुछ क्षेत्र आदि स्थानों पर हम अपनी ताकत केंद्रित करेंगे। इन्हीं क्षेत्रों में कार्यक्रम चलाएँगे। राजस्थान में भी पुराने समाजवादी आधार वाले क्षेत्र जनता दल के साथ हैं। लोक दल के प्रभाव-क्षेत्र भी जनता दल के साथ हैं। पर मैं यह भी कहना चाहूँगा कि इन राज्यों के दलित वर्ग जनता दल की राजनीति के साथ हैं। यदि चुनावों में दलितों व अल्पसंख्यकों को लगा कि जनता दल खड़ा हुआ है तो निश्चित ही उसे वोट मिलेंगे। एक बात और स्पष्ट कर दूँ। यदि अजितसिंह जनता दल के साथ पूरी तरह से आ जाते हैं तो काफी लाभ मिलेगा। जनता दल और अजितसिंह के बीच वार्ता जारी है। उनसे सकारात्मक संकेत मिल रहे हैं। दोनों के एक होने से हम एक बड़ी शक्ति के रूप में उभर सकते हैं; विशेष रूप से किसान-प्रभावी क्षेत्र में जनता दल की शक्ति काफी बढ़ सकती है। राजस्थान में हम प्रभावशाली भूमिका निभा सकते हैं। अब रहा उत्तरप्रदेश का मामला, तो पिछले एक-डेढ़ वर्ष के दौरान हम लोगों ने उत्तरप्रदेश को ही सबसे अधिक पाला-पोसा है, उस पर विशेष ध्यान दिया है।

आप जानते ही हैं कि उत्तरप्रदेश में हमारा एक व्यापक प्रभाव-क्षेत्र है। राज्य के चौंतीस जिलों में हमने सामाजिक न्याय का अभियान चलाया है। किसानों का

राम-कोला आंदोलन भी इसी प्रदेश में चलाया गया।

हमारे वोटों का आधार-क्षेत्र दलित वर्ग, पिछड़ा वर्ग और अल्पसंख्यक वर्ग हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि पार्टी में टूट की वजह से इन क्षेत्रों में कमजोरी आई है, हमारी शक्ति घटी है। इस कमजोरी को दूर करने के लिए अजितसिंहजी के साथ बातचीत जारी है; वे स्वयं भी यह महसूस करते हैं कि टूट की वजह से यह कमजोरी पैदा हुई है, अतः इसे दूर किया जाना चाहिए। आशा है कि इसके अनुकूल नतीजे निकलेंगे। मुलायमसिंह के साथ भी हमारे सहयोगी वामपंथी दल के लोग बातचीत कर रहे हैं। उन्हें समझाने की कोशिश की जा रही है कि विगत से सबक लेकर इस बार वोटों का विभाजन न होने दिया जाए। उम्मीद की जा सकती है कि इस मामले में मुलायमसिंह समझदारी से काम लेंगे। हालाँकि अभी तक कोई सकारात्मक नतीजा नहीं निकला है, लेकिन मैं यह कह सकता हूँ कि उप्रदेश में चारों तरफ से जनता का दबाव बढ़ रहा है। मुलायमसिंह इस सच्चाई को समझेंगे। आज हम सभी जानते हैं कि देश में प्रमुख खतरा सांप्रदायिकता का है। इसका मुकाबला संगठित शक्ति से ही किया जा सकता है, अलग-अलग रहकर नहीं। अतः मैं कह सकता हूँ कि देर-सबेर मुलायमसिंह जनता के दबाव और वक्त की माँग को समझेंगे। वैसे इस दबाव को मैं वाजिब भी मानता हूँ। अरे भाई, जब लोकतंत्र ही नहीं रहेगा तो राजनीति कहाँ रहेगी?

अतः मैं जनता के इस दबाव के आधार पर विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मध्यावधि चुनाव में भाजपा को उत्तर-प्रदेश में हराया भी जा सकता है। हम सभी मानते हैं कि इन चारों राज्यों में हम सभी के लिए उत्तरप्रदेश क्रूसियल है, क्योंकि पिछले 2-3 सालों में प्रदेश में साम्प्रदायिक उन्माद पैदा किया गया है। अतः हमारा मकसद इस चुनौती का मुकाबला करना है। यदि इस उन्माद का सामना कर लिया जाता है तब कोई चिंता की बात नहीं है, स्थिति काबू में रहेगी। इसलिएं हमने अपना पूरा ध्यान व शक्ति उत्तरप्रदेश पर केंद्रित कर रखी है। प्रदेश में पार्टी को नए सिरे से मजबूत किया जा रहा है। विश्वनाथ प्रताप सिंह और पार्टी के अन्य वरिष्ठ नेताओं के कार्यक्रम भी इसी प्रदेश में चल रहे हैं। मैं स्वयं भी वहाँ जा रहा हूँ। बिहार के मुख्यमंत्री लालू यादव, रामविलास पासवान और अन्य बड़े नेता भी पूर्वी उत्तरप्रदेश में विशेष रूप से सक्रिय होंगे। हमारी कोशिश रहेगी कि बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश में पार्टी की तगड़ी ताकत पैदा की जाए।

मैं लगे हाथ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि शेष भारत में हमारी स्थिति में तेजी से सुधार हो रहा है, चाहे वह दक्षिण का क्षेत्र हो या उत्तर-पूर्वी। इन क्षेत्रों मं नए ढंग से पार्टी को संगठित किया जा रहा है; नए राजनीतिक समीकरण तैयार किए जा रहे हैं। राष्ट्रीय मोर्चा पूरी तरह से सक्रिय है। लेकिन उत्तरप्रदेश में निश्चित ही समस्या है। आज हमारी संपूर्ण ताकत वोटों के विभाजन को रोकने में लगी हुई है।

है। इसे केंद्र में रखकर राजनीतिक तालमेल की प्रक्रिया चलाई जा रही है।

जोशी : *मान लीजिए कि आपके दल और मुलायमसिंह के बीच कोई समझौता नहीं हो पाता है, तो उस स्थिति में क्या होगा?*

शरद यादव : उस स्थिति में भी जनता दल एक मजबूत शक्ति के रूप में उभरेगा। मेरे खयाल से चुनावों के बाद जनता दल सबसे बड़े दल के रूप में सामने आएगा। भाजपा का स्थान दूसरा रहेगा। भाजपा किसी भी कीमत पर 1990 का इतिहास नहीं दोहरा सकेगी। 1990 में उसकी जीत के कई कारण थे। आज वे कारण बदल चुके हैं।

जोशी : *पर अयोध्या का कारण तो रहेगा। क्या बाबरी मस्जिद को तोड़ने का लाभ भाजपा को नहीं मिलेगा? उत्तर भारत में, विशेष रूप से उत्तरप्रदेश में, मस्जिद के टूटने से भावनात्मक स्तर पर भाजपा की स्थिति पहले से अधिक मजबूत हुई है।*

शरद यादव : नहीं... नहीं... ऐसा नहीं है। बल्कि इससे उसका सांप्रदायिक चेहरा और उजागर हुआ है। हिन्दुओं का एक उदारवादी वर्ग भाजपा से कटा है। मुझे अच्छी तरह से याद है कि मस्जिद के टूटने से पहले चारों तरफ जय श्रीराम के नारे लगते थे। अब उत्तरप्रदेश में ही यह नारा पृष्ठभूमि में जा रहा है। मेरी यात्राओं में यह नारा कहीं सुनाई नहीं देता है। 1991 में जनता दल की हार और भाजपा की जीत के दो-तीन प्रमुख कारण थे। एक तो यह कि हम लोकसभा के चुनावों में विभाजित थे। दूसरी वजह यह थी कि लोगों में मंडल को लेकर गुस्सा भरा हुआ था। तीसरी वजह थी,केंद्र में हमारी विफलताएँ। इन तमाम कमजोरियों का फायदा भाजपा ने उठाया। लेकिन इस बार हर स्तर पर हमारी तैयारी 1991 से बेहतर है।

जोशी : *कहा जा रहा है कि इन चारों राज्यों के सवर्ण वर्ग भाजपा के साथ हैं। इसके साथ ही भाजपा ने पिछड़ों को लुभाने के लिए कल्याणसिंह जैसे पिछड़े वर्ग के नेताओं को मैदान में उतारा है। विनय कटियार, उमाश्री भारती जैसे सांसद भी इन्हीं वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पिछड़ों पर जनता दल की जो मोनोपली है, भाजपा ने इसे तोड़ दिया है। इस चुनौती का सामना कैसे करेंगे?*

शरद यादव : आपने इसका काफी सामान्यीकरण कर दिया है। लेकिन जमीनी सच्चाई ऐसी नहीं है। मिसाल के लिए मध्यप्रदेश की ही ऊँची जातियाँ भाजपा के साथ नहीं हैं। राजस्थान में भी यह मामला नहीं है। उत्तरप्रदेश में यह स्थिति जरूर है कि सवर्ण भाजपा के साथ हैं। पिछली बार ऊँची जाति के लोगों ने इस पार्टी को वोट दिया था। पर अब ऐसा नहीं रहा है। ब्राह्मण स्वयं विभाजित हैं। उदारवादी ब्राह्मण भाजपा के साथ नहीं हैं। उत्तरप्रदेश का ब्राह्मण यह भी सोचने लगा है कि

वह भाजपा के साथ जाकर राजनीतिक दृष्टि से जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि मुसलमान और दलित वर्ग इससे कटे हुए हैं। अत: ब्राह्मण जानते हैं कि विशाल वर्ग की उपेक्षा करके राज्य में राजनीति नहीं की जा सकती। अत: जितनी तेजी से ब्राह्मण भाजपा की ओर झुके थे, वे अब लौट भी रहे हैं। इस बार जनता दल के ब्राह्मण उम्मीदवारों को निश्चित रूप से वोट मिलेंगे। कुल मिलाकर ऊँची जातियों में पुनर्विचार और सुलह का रुख अपनाया जा रहा है। पर मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि हमारी पार्टी में भेदभाव जैसी कोई चीज नहीं है। चुनावों में मुद्दे निर्णायक भूमिका निभाएँगे। यह सच है कि कल्याणसिंह, कटियार आदि की वजह से पिछड़ों के वोट कट सकते हैं। पर वे यह भी जानते हैं कि भाजपा की सोच फासीवादी है; उनका रास्ता प्रतिक्रियावादी है। अपने फासीवादी विचारों को फैलाने के लिए उन्होंने पिछड़ों के बीच घुसपैठ करने की कोशिश की है। लेकिन मेरा यह मानना है कि भाजपा पिछड़ों को कुछ वक्त के लिए 'चीट' कर सकती है, हमेशा के लिए नहीं। हमारा जब आंदोलन चलेगा तो स्थिति बदलेगी। नवंबर या चुनाव तक स्थिति में काफी बदलाव आ जाएगा; भाजपा की ओर जो झुके हैं उनका मोहभंग हो जाएगा। इसकी एक वजह यह है कि पिछड़ों में भी जो पिछड़े हैं—जैसे कोली, मल्हा, लुहार, गड़रिया आदि – वे समझ चुके हैं कि मंडल-शक्ति का अर्थ क्या है। इन जातियों के बीच जनता दल पहुँच चुका है। पिछड़े वर्ग समझ चुके हैं कि उनके लिए कौन-सा दल संघर्ष कर रहा है। जाहिर है इस लड़ाई में भाजपा कहीं भी नहीं टिकती है।

जोशी : *क्या भाजपा को हराने के लिए जनता दल और कांग्रेस के बीच चुनावी गठबंधन संभव है?*

शरद यादव : देखिए इस मामले में हम बिल्कुल स्पष्ट व दृढ़ हैं कि कांग्रेस ने सांप्रदायिकता को फैलाने में कम काम नहीं किया है। कांग्रेस को सभी दृष्टियों से देखना होगा। सांप्रदायिकता के साथ-साथ कांग्रेस की आर्थिक नीति, किसान नीति, औद्योगिक नीति आदि के संबंध में भी सोचना होगा। भ्रष्टाचार के मामले में तो कांग्रेस बिल्कुल बेशर्म हो गई है। सांप्रदायिकता के मामले में भी ये खरे नहीं उतरते हैं। कांग्रेस शासन में ही अयोध्या में ताला खोला गया, दरवाजे खोले गए, मंदिर का शिलान्यास कराया गया, मस्जिद टूटी। कुल मिलाकर कांग्रेस सांप्रदायिक मुद्दों का इस्तेमाल करती रही है। देश को इस सीमा तक पहुँचाने में कांग्रेस का प्रमुख हाथ रहा है। कांग्रेस और भाजपा के बीच मिला-जुला खेल चलता रहा है। अब कांग्रेस पार्टी के चरित्र में कोई सुधार होनेवाला नहीं लगता है। हम दोनों से ही समान दूरी बनाए रखने के पक्ष में हैं। समझौता तो दूर, हम तो स्थानीय तालमेल भी नहीं चाहते। इससे हमारे कार्यकर्ताओं और मतदाताओं पर गलत असर पड़ेगा। यदि हम

मध्यप्रदेश या राजस्थान में भाजपा को हराने के लिए कांग्रेस से कोई स्थानीय किस्म का तालमेल करते भी हैं तो इससे हमारा वोट-आधार ही खिसक जाएगा। अलबत्ता कांशीराम से हमें कोई परहेज नहीं है। यह जरूर देखना होगा कि जनता दल के सिद्धांत और विचारधारा के खिलाफ कोई बात न जाए।

जोशी : *भाजपा ने 'जनादेश-यात्रा' शुरू की है। इस चुनौती का मुकाबला आप कैसे करेंगे?*

शरद यादव : इस चुनौती का सामना हम पहले भी करते आए हैं और आज भी करेंगे। हमारा यह मानना है कि यह लड़ाई राजनीतिक है। इस बार भाजपा की यात्राएँ पार्टी की यात्राएँ हैं। दूसरे शब्दों में, पार्टी कार्यकर्ताओं के अलावा अन्य लोग इसमें शामिल नहीं होंगे। एक तरह से ये यात्राएँ चुनावी तैयारियों का एक हिस्सा हैं। मेरा विश्वास है कि इन यात्राओं को पहले जैसा व्यापक जन-समर्थन नहीं मिलेगा। 1990 में आडवाणीजी की रथयात्रा को इसलिए समर्थन मिला था क्योंकि लोग मंडल से नाराज थे। अब तो भाजपा भी मंडल की बात करने लगी है। इसलिए पिछड़ा वर्ग उनकी यात्राओं में क्यों शामिल होगा? जनता जानती है कि मंडल-चेतना की सूत्रधार कौन-सी पार्टी है।

जोशी : *आप यह नहीं मानते कि जनादेश यात्राओं में अयोध्या-मुद्दा जमकर उभारा जाएगा, धर्म का इस्तेमाल किया जाएगा ?*

शरद पवार : देखिए, देश में भाजपा के उभार के बारे में जो विश्लेषण हुआ है वही गलत हुआ है। मेरा मानना है कि धर्म की वजह से भाजपा का उभार नहीं हुआ है। असलियत यह है कि 'सामाजिक टकरावों' की वजह से भाजपा को लाभ हुआ है। आप स्वयं देख लीजिए, जिन क्षेत्रों में सामाजिक टकराव तेज हुए हैं और मंडल-चेतना पैनी हुई है, वहीं भाजपा का प्रभाव बढ़ा है। उत्तरप्रदेश इसकी मिसाल है। दक्षिण में उसका प्रभाव नहीं बढ़ा है। कर्नाटक में भाजपा ने हमारी कमजोरी का फ़ायदा उठाया है। यदि जनता पार्टी या जनता दल वहाँ विभाजित नहीं होता तो भाजपा को कोई लाभ नहीं मिलता। दूसरी बात यह भी है कि कर्नाटक में हमारी पार्टी का आधार भी ऊँची जाति का था। ऊँची जातिवाला आधार ही खिसका है।

मध्यप्रदेश का मामला देख लीजिए। 1991 के लोकसभा चुनावों में भाजपा बुरी तरह से हारी है। कांग्रेस जीती है। 1990 की जीत को भाजपा की शुद्ध जीत के रूप में नहीं देखा जा सकता है। सवाल उठता है कि 1991 में राम-लहर कहाँ चली गई? इसका एक ही जवाब है कि कांग्रेस भी उन्हीं वर्गों की पार्टी थी जिन वर्गों की भाजपा है।

जोशी : *क्या राम-लहर समाप्त हो चुकी है? मध्यावधि चुनावों में वह अपना कमाल*

नहीं दिखाएगी?

शरद यादव : मैं सोचता हूँ कि राम-लहर का कोई मामला नहीं है। असली मुद्दा सामाजिक न्याय का है। भाजपा हमेशा से प्रतिक्रिया का फायदा उठाती आई है। जब दलित वर्ग अपने हक की माँग करते हैं तो उसके विरोध में ऊँचे वर्गों की प्रतिक्रिया होती है। भाजपा की कोशिश इसी प्रतिक्रिया को भुनाने की रहती है। लेकिन यह भी ज्यादा दिन नहीं चलेगा। हिन्दुस्तान के सामाजिक अंतर्विरोध तेज हो रहे हैं। लेकिन इसका यह कतई अर्थ नहीं है कि ये अंतर्विरोध सांप्रदायिक बन जाएँगे। देश की ऊँची जातियों का एक बड़ा वर्ग मंडल-चेतना व मंडल-आंदोलन को न्यायोचित मानता है और इसकी अगुवाई में वह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ज्यादातर सामाजिक सुधारक तो सवर्णों में से ही थे। सवर्ण हिन्दुओं का एक हिस्सा यह महसूस करता है कि हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी कमजोरी जाति व्यवस्था है। जाति व्यवस्था की समाप्ति से देश की कई कमजोरियाँ दूर हो सकती हैं।

जोशी : *वि.प्र. के दिल्ली से आत्म-निर्वासन के बाद जनता दल के लोग अनाथ-सा अनुभव कर रहे हैं। कई सांसदों ने कहा है कि वि.प्र. पार्टी को मझधार में छोड़कर चले गए हैं। इस संबंध में आपकी क्या प्रतिक्रिया है?*

शरद यादव : मैं नहीं समझता कि इस बात में कोई दम है। देखिए, इतिहास के लंबे दौर में व्यक्ति कभी निजी हैसियत से फैसले लेता है और कभी पार्टी के स्तर पर कदम उठाता है। मुख्य सवाल है कि व्यक्ति या नेता किन मुद्दों से जुड़ा हुआ है। वि.प्र. सिंह हमेशा मुद्दों से जुड़े रहे हैं, इसीलिए वे आलोचना का शिकार भी रहे हैं। मंडल-मुद्दे से जुड़ने के बाद तो एक वर्ग उन पर किसी न किसी बहाने से बराबर आक्रमण करता आ रहा है। आज वे फिर मंडल अभियान पर निकले हैं। देखिए, यह जान लीजिए, वि.प्र. सिंह सरकार की सैद्धांतिक बेईमानी के खिलाफ देश में अलख जगाने के लिए निकले हैं। मंडल-सिफारिशों और सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के संदर्भ में देश को यह समझना होगा कि सामाजिक उत्थान एवं आर्थिक उत्थान में अंतर है। आर्थिक दृष्टि से विकसित होने का यह मतलब कतई नहीं है कि वह सामाजिक रूप से विकसित हो चुका है। आरक्षण व्यक्ति के सामाजिक उत्थान के लिए पहले है, आर्थिक उत्थान के लिए बाद में। इसी फर्क को वि.प्र. सिंह समझाना चाहते हैं। अत: वि.प्र. सिंह एक वैचारिक संघर्ष के लिए दिल्ली से निकले हैं, देश से बाहर नहीं गए हैं। यह जरूरी नहीं है कि पद पर रहकर ही कोई व्यक्ति काम करे। किसी को अनाथ महसूस करने की आवश्यकता नहीं है। वैसे मैं यह नहीं समझता कि कोई सांसद ऐसा सोच भी रहा है। और यह भी जान लें, हमारी पार्टी में नेतृत्व को लेकर कोई विवाद नहीं है। पार्टी के कामों में सिंह पूरी तरह से सक्रिय हैं। वे बैठकों व कार्यक्रमों में भाग ले रहे हैं। वैचारिक अभियान

के माध्यम से वे जनता को गोलबंद कर रहे हैं जिससे कि दलित व पिछड़ों का हक न मारा जाए।

जोशी : *पिछले दिनों आपको जनता संसदीय दल के नेता के रूप में निर्वाचित किया गया। यह एक ऐतिहासिक घटना है। इसे आप किस दृष्टि से देखते हैं?*

शरद यादव : मैं इसे घटना के रूप में नहीं देखता। किन परिस्थितियों में नेतापद का चुनाव हुआ, इसे जानना जरूरी है। सबसे पहले हमारी कोशिश थी कि वि.प्र. सिंह ही नेता बने रहें। लेकिन जब उन्होंने अंतिम रूप से इंकार कर दिया तब भागदौड़ शुरू हुई। बीजू पटनायक, लालू यादव, जयपाल रेड्डी, मुफ्ती मोहम्मद सईद आदि सभी नेता महसूस करने लगे कि बगैर स्थायी नेता के दिल्ली में काम नहीं चलेगा। पार्टी में चारों तरफ दबाव बढ़ने लगा, सासंद कहने लगे। चूँकि मैं जनसंगठन का आदमी रहा हूँ, सबसे मेरा जीवंत संपर्क रहा है, इन नेताओं का भी भावनात्मक लगाव मुझसे रहा है, तो इन्होंने सोचा कि यदि मैं दिल्ली में बैठा भी रहूँगा तो भी चल जाएगा; फैसले मजबूती से लिए जा सकेंगे। मैंने दिन में 10 बजे फार्म भरा। मुझे मालूम नहीं था कि जार्ज साहब भी फार्म भर रहे हैं। वैसे मैंने उनसे कंसल्ट भी कर लिया था। लेकिन जार्ज साहब ने शाम को 4 बजे फार्म भरा। लोगों ने आकर मुझे बताया। उन्होंने पहले कहा था कि यदि आम राय से चुनाव नहीं हुआ तो मैं नहीं खड़ा होऊँगा। लेकिन स्थिति बिल्कुल बदल गई। मेरे समर्थकों का मत था कि मैं मैदान से पीछे नहीं हटूँ। हम आखिर तक यही सोच रहे थे कि जार्ज साहब चुनाव लड़नेवाले नहीं हैं। यह चुनाव मेरी इच्छा से हुआ है, ऐसी बात नहीं है। लेकिन हालात ही ऐसे पैदा हो गए कि चुनाव से बचा नहीं जा सकता था। लेकिन चुनाव और उसके नतीजे को लेकर मेरे और उनके बीच कोई कटुता नहीं है। जार्ज साहब मेरे वरिष्ठ नेता हैं। हम दोनों का एक लंबा साथ है। मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि यह पद मिलने के पहले जिस ढंग से मैं काम करता था, आज भी उसी तरह से करूँगा। मैं हमेशा से मुद्दागत सियासत करनेवाला आदमी रहा हूँ। मेरा पहला प्रयास होगा कि संसद में जनता दल एक टीम के रूप में उभरे।

जोशी : *दलित और पिछड़े वर्गों की सियासत की दृष्टि से आप अपनी नई जिम्मेदारी को किस रूप में लेना चाहेंगे?*

शरद यादव : इस जिम्मेदारी से निश्चित ही पिछड़ों की सियासत व चेतना में नया आयाम जुड़ा है। चुनाव के बाद देशभर से जैसा 'रिसपांस' मुझे मिल रहा है, उससे जाहिर है कि लोग आंदोलित हुए हैं; 10-12 हजार तार, हजारों चिट्ठियाँ आदि प्राप्त हुई हैं। पहली दफे देश की तीसरी सबसे बड़ी पार्टी का नेता पिछड़े वर्ग से बना है। मेरे चुनाव से दलितों व पिछड़ों में मजबूती आई है, पार्टी के प्रति रुझान बढ़ा है। पिछड़ों के लिए लड़ाई लड़ने के कारण ही पार्टी के तबकों ने मुझे वोट

दिया है।

जोशी : *मंडल की लड़ाई आप लोग जीतने के कगार पर हैं। पर आरक्षण को लेकर कुछ आशंकाएँ हैं। अब तक के अनुभव रहे हैं कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों में आरक्षण का लाभ उन्हीं वर्गों को अधिक हुआ है, जो पहले से ही आगे थे; जरूरतमंद वर्ग वंचित रहे हैं। पिछड़े वर्गों में आरक्षण को लागू करते समय ऐसे अनुभव नहीं होंगे, इसकी क्या गारंटी है?*

शरद यादव : सुप्रीमकोर्ट के फैसले ने ऐसी विसंगतियों को दूर करने की व्यवस्था की है। आरक्षण के लाभों के समान वितरण के लिए एक स्थायी बोर्ड के गठन का प्रावधान रखा गया है। यह बोर्ड इस बात पर निगरानी रखेगा कि सभी आरक्षित वर्गों को लाभ समरस तरीके से मिल रहे हैं या नहीं। पर मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि लाभों के असमान वितरण को लेकर आरक्षित वर्गों में से विरोध की कोई आवाज नहीं उठ रही है। सच्चाई तो यह है कि पिछले 46 वर्षों में अनुसूचित जातियों व जनजातियों की जनसंख्या के अनुपात की दृष्टि से स्थान भरे ही नहीं गए हैं बल्कि स्थान रिक्त रखे गए हैं। यदि रिक्त स्थानों को न्यायोचित ढंग से भरा गया होता तो जिस विसंगति की बात आपने कही है वह आज नहीं होती। इसकी एक वजह यह भी रही है कि सरकार ने दलितों व शोषितों के लिए सामाजिक उत्थान के कार्यक्रम ठीक से नहीं चलाए हैं। फलस्वरूप दलित वर्ग आरक्षण का पूरा लाभ नहीं उठा सके। बगैर सामाजिक उत्थान के आरक्षण बेमानी है। संविधान में यह व्यवस्था है कि आरक्षण की प्रत्येक दस वर्ष में समीक्षा की जानी चाहिए। मेरा कहना है कि जब आरक्षण के अंतर्गत उपलब्ध कोटा ही नहीं भरा जा रहा है तो समीक्षा का लाभ क्या है?

वैसे आदिवासियों में आरक्षण की सुविधा को लेकर विषमता मौजूद है। राजस्थान में मीणा-वर्ग को आरक्षण का लाभ अधिक मिला है, जबकि भील पिछड़े हुए हैं। लेकिन इस विषमता की आवाज भी भील नहीं उठा रहे हैं, दूसरे लोग उठा रहे हैं। जब तक इन वर्गों के भीतर से ही इसके विरोध की आवाज नहीं उठेगी, समस्या का हल नहीं निकलेगा।

जोशी : *ऐसा क्यों नहीं हो रहा है? इसकी क्या वजह है?*

शरद यादव : इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि सामाजिक सुधार व सामाजिक उत्थान के कार्यक्रमों में भ्रष्टाचार बुरी तरह से व्याप्त है। इन कार्यक्रमों के लिए जो राशि निर्धारित है, वह इन वर्गों तक नहीं पहुँच सकी है। सरकार को चाहिए था कि वह इन वर्गों के बच्चों को इस लायक बनाती ताकि वे आरक्षण का लाभ उठा सकते। अतः यह किसका दोष है?

अब देखिए, क्रीमी लेयर या संपन्न वर्ग की बात की जा रही है। मैं इस तर्क से सहमत नहीं हूँ। आँकड़े इस बात का सबूत हैं कि क्रीमी लेयर की दलील कितनी लचर है। देश की आबादी में पिछड़ों का प्रतिशत 52 प्रतिशत है, जबकि नौकरियों में इनकी हिस्सेदारी दो प्रतिशत से अधिक नहीं है। और इस दो में भी पिछड़े वर्ग के लोग दक्षिण भारत के हैं। दक्षिण भारत में सामाजिक उत्थान का कार्यक्रम काफी सफलता से चल रहा है। लेकिन उत्तर भारत में ऐसा नहीं है। इसलिए नौकरियों में इधर के पिछड़ों का प्रतिशत बहुत कम है। और इन दो प्रतिशतों को भी पिछले 46 साल से कुछ नहीं मिला। आज जब ये लोग अपना हक माँग रहे हैं तो तरह-तरह की दलीलें दी जा रही हैं। मेरा यह कहना है कि पहले इस वर्ग के साथ हो रहे अन्याय को तो दूर कीजिए। इसके बाद लाभों के वितरण की समीक्षा करिए। लेकिन देने से पहले ही क्रीमी लेयर की दलीलें देना, किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नहीं है।

यह बात भी समझी जानी चाहिए कि आरक्षण एक निरंतर प्रक्रिया नहीं है; यह कुछ समय के लिए है, यह अस्थायी है। मेरा यह कहना है कि यदि कोई वर्ग आगे बढ़ गया है तो उसे आरक्षण के दायरे से बाहर भी कर सकते हैं, इसका प्रावधान है। ऐसा करके आरक्षण-प्रक्रिया से जनित संभावित विसंगति व विषमता को दूर भी किया जा सकता है। लेकिन मैं फिर इस बात पर जोर दूँगा कि समान वितरण की आवाज भीतर से उठनी चाहिए। पिछड़ों में तर्क होने चाहिए कि लाभों का समान वितरण हो रहा है या नहीं।

लेकिन देश का 10 प्रतिशत वर्ग क्रीमी लेयर के तर्क दे रहा है। यह वही वर्ग है जो मूलतः परजीवी है। यह परिश्रम या काम करने से कटा हुआ है। यह सिर्फ बौद्धिक जुगाली पर जीवित है, और इसी के बल पर संपन्न बना हुआ है।

जोशी : *क्या आरक्षण की व्यवस्था से व्यक्ति या समाज में एक किस्म की पंगुता पैदा नहीं होती है? एक समाजवादी चिन्तक होने के नाते ऐसी व्यवस्था को आप कब तक जीवित रखना चाहेंगे?*

शरद यादव : देखिए, आरक्षण की व्यवस्था रखना हमारी मजबूरी है। लेकिन इस व्यवस्था पर चोट करने से पहले इसके कारणों की तह में जाना जरूरी है। यदि इस देश में जाति-व्यवस्था नहीं होती तो आज आरक्षण की भी आवश्यकता नहीं होती। जाति-व्यवस्था देश की सबसे बड़ी कमजोरी है। यह देश क्यों गुलाम हुआ? क्यों नहीं किसी बाहरी आक्रमण के विरुद्ध जीता? पिछले एक-डेढ़ हजार साल में क्यों नहीं नए आविष्कार हुए? प्रौद्योगिकी में भारत क्यों पिछड़ा रहा है? क्या वजह है कि जो देश हमारे साथ आजाद हुए थे वे हमसे आगे हैं? गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी सब कुछ हमारे यहाँ भरी पड़ी है। मेरे विचार से इन सबकी जड़ है जाति-व्यवस्था।

जोशी : *लेकिन जाति-व्यवस्था बजाय कमजोर होने के और मजबूत हुई है। राजनीतिज्ञों और पार्टियों ने इसका जमकर इस्तेमाल किया है। मंडल पर भी इस तरह के आरोप लगाए जा रहे हैं। इस सबका जवाब क्या है?*

शरद यादव : सबसे पहले तो मैं यह मानता हूँ कि जाति-व्यवस्था की समाप्ति के बगैर नए समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। जब तक जाति-व्यवस्था का खात्मा नहीं होगा, आरक्षण के लिए माँग होती रहेगी। अब आप स्वयं सोचिए, क्या सवर्णों ने जाति-व्यवस्था के माध्यम से समाज में अपने स्थान का आरक्षण नहीं किया? यह आरक्षण तो हजारों साल से जीवित है। और इस आरक्षण को बनाए रखने की एक व्यवस्था भी थी। अगर सरकार ईमानदार होती तो जाति-व्यवस्था को समाप्त करने की दिशा में गंभीर कदम उठाती। आरक्षण के साथ यह व्यवस्था भी लागू करती कि सरकारी नौकरियों में उन्हीं लोगों को प्राथमिकता दी जाएगी जो अंतरजातीय विवाह करेंगे।

जोशी : *क्या आपको विश्वास है कि अंतरजातीय विवाह से जाति-व्यवस्था समाप्त हो जाएगी?*

शरद यादव : क्यों नहीं। जब आप नौकरियों का 'इंसेन्टिव' देंगे, तब लोग अपनी जातियाँ त्यागकर विजाति वर्ग से वैवाहिक संबंध जोड़ेंगे, क्योंकि वे आत्मनिर्भरता महसूस करेंगे।

अब आपने सवाल उठाया है कि राजनीतिक पार्टियाँ जातिवाद का इस्तेमाल कर रही हैं। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, जाति-व्यवस्था इस देश की एक 'सच्चाई' है। हजारों वर्ष से हम जातियों के खानों में बँटे हुए हैं। हिंदू धर्म में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। तब राजनीति इससे कैसे अलग रह सकती है? पहले देश की दस फीसदी जातियाँ जीवन के हर क्षेत्र में हावी थीं। राजनीति, संस्कृति, विज्ञान, आर्थिक क्षेत्र, साहित्य, नौकरी इन सभी पर समाज की दस फीसदी जातियों के लोग हावी थे। दूसरे शब्दों में, तब जातिवाद दस प्रतिशत लोगों तक सीमित था। आज इस स्थिति में बुनियादी बदलाव आ रहा है। आज दलित और किसान—जिन्हें पिछड़ा व शूद्र भी कहा जाता है—जैसे जाति वर्ग भी आगे आ रहे हैं। सदियों से उत्पीड़ित जातियों के दलित व वंचित लोग समाज में अपने गरिमापूर्ण स्थान की तलाश कर रहे हैं। इनकी आकांक्षाओं एवं अधिकारों का प्रतिनिधित्व करने के लिए आधुनिक राजनीतिक प्रक्रिया बाध्य है, क्योंकि इन दलित व उत्पीडित एवं पिछड़ी जातियों को अपना संख्याबोध हो चुका है। वे आज अपनी संख्यात्मक अस्मिता को 'एस्सर्ट' कर रही हैं। अत: राजनीतिक पार्टियाँ स्थानीय सामाजिक बनावट के आधार पर चुनाव में टिकट देती हैं।

जोशी : *आपकी बात ठीक है। पर क्या कालान्तर में कभी ऐसी राष्ट्रीय आम सहमति पैदा की जा सकती है कि राजनीति को जातिवाद से दूर रखा जाएगा?*

शरद यादव : मुझे नहीं लगता कि सभी राजनीतिक दल इसके लिए तैयार होंगे। ऐसी सहमति हो ही नहीं सकती। हजारों साल से जो लोग जातिवाद के नाम पर फायदा उठा रहे हैं, और हर क्षेत्र के सिरमौर बने हुए हैं, वे ही इसके लिए तैयार नहीं होंगे। और सबसे ज्यादा पार्टियाँ इन्हीं लोगों की हैं। आप स्वयं देख लें। पिछले 46 सालों से संसद और विधानसभाओं की अगली बैंचों पर कौन लोग बैठे हुए हैं? किस जाति और वर्ग के हैं?

जोशी : *जाहिर है, ऊँची जाति और वर्ग के हैं।*

शरद यादव : हाँ, 99 फीसदी लोग उन्हीं जातियों से हैं। 46 साल में पहली बार मेरे जैसा कोई व्यक्ति यहाँ तक पहुँच सका है। आखिर ऐसा क्यों हुआ? इससे स्पष्ट है कि बदलाव की रफ्तार कितनी धीमी है। देश में इस पर शोध होना चाहिए कि श्रम से कटी रहनेवाली परजीवी जातियों ने समाज में कौन-कौन-सी कमजोरियाँ पैदा की हैं, कौन-कौन-से गुण पैदा किए हैं? इसी तरह से श्रम से जुड़ी रहनेवाली 90 फीसदी जातियों का अध्ययन किया जाना चाहिए। पीढ़ी-दर-पीढ़ी श्रम से जुड़े रहने के कारण श्रम-शक्तियों का बुद्धि, संस्कृति, कल्पनाशीलता, रचनात्मकता आदि से कटाव हो गया है। कुल मिलाकर देश की विशाल प्रतिभा कुंठित हो गई है। यही वजह है कि मंडल आंदोलन के दौरान समाज कितना बँट गया था। जो लोग तर्क से सहमत भी थे, लेकिन अपने संस्कारों से मजबूर थे, उनमें सदियों से छिपे सवर्ण-संस्कार मंडल का विरोध करने के लिए उन्हें मजबूर करते थे।

अब भ्रष्टाचार को ही ले लीजिए, चाहे वह चुनावी हो या अन्य किस्म का, ऊँची जाति के लोग ही इसमें ज्यादा लिप्त पाए जाते हैं। इसकी वजह यह है कि वे बुनियादी रूप से परजीवी हैं और अपनी परजीवी व्यवस्था को येन-केन-प्रकारेण बनाए रखने के लिए जाति-व्यवस्था जीवित रखते हैं। ऐसी स्थिति में विकास का सारा रास्ता अवरुद्ध हो गया है। अतः नए भारत का निर्माण करना है तो उसकी एक ही शर्त है कि समाज के 90 फीसदी लोगों को उनकी मानसिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक विकलांगता से मुक्ति दिलाई जाए।

जोशी : *एंटी-आइडियोलोजी का युग है। स्वनिर्माण की आपाधापी मची हुई है। ऐसे माहौल में जाति-व्यवस्था के खिलाफ कैसे जंग चलाई जा सकती है?*

शरद यादव : निश्चित ही वैचारिक समझ की आवश्यकता है। लेकिन यह लड़ाई दो दिन की नहीं है। हजारों साल की व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई है, कोई मामूली बात नहीं है। मैं तो यह मानता हूँ कि पहले की तुलना में आज वैचारिक संघर्ष बढ़

गया है। इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है। इसलिए सामाजिक न्याय और नई आर्थिक नीति के खिलाफ लड़ाई साथ-साथ चलनी चाहिए। दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। जनता भी आपके साथ तभी आएगी जब आप ईमानदारी के साथ ये दोनों लड़ाइयाँ लड़ेंगे। मंडल-चेतना के विकास के बाद लोगों को अब छला नहीं जा सकता।

जोशी : *क्या सामाजिक नीति के सवाल पर आपके और वामपंथी पार्टियों के बीच वैचारिक समरसता है?*

शरद यादव : भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तो पूरी तरह से हमारे साथ है। इसके नेता इंद्रजीत गुप्त जनता दल की सामाजिक नीति का पूरा समर्थन करते हैं, लेकिन मार्क्सवादी कन्फ्यूज्ड हैं। वह पार्टी दुविधा में पड़ी हुई है कि सामाजिक नीति का समर्थन करना चाहिए या नहीं, जबकि जनता दल नई आर्थिक नीति के सवाल पर दुविधा में नहीं है। पश्चिम बंगाल सरकार ने आज तक पिछड़ों का कोई आयोग नहीं बनाया है।

जोशी : *शायद मार्क्सवादी पार्टी वर्ग-दर्शन से आगे नहीं देखना चाहती?*

शरद यादव : यह एक वजह है। ये वर्ग को ही सब कुछ समझते हैं, वर्ण को नहीं, जबकि भारत की परिस्थितियों में वर्ण महत्वपूर्ण है। मेरी नजर में महात्मा गाँधी, डॉ. लोहिया, डा. अम्बेडकर जैसे लोगों के विचार अधिक प्रासंगिक हैं।

जोशी : *जबलपुर से नई दिल्ली का सफर कैसा रहा?*

शरद यादव : देखिए, मैंने पीछे मुड़कर कभी नहीं देखा। मैं पिछले 20 साल से इस वैचारिक लड़ाई में पूरी प्रतिबद्धता के साथ हूँ। इस सफर में मैंने कभी नफा-नुकसान नहीं सोचा। यह नहीं सोचा कि मैं चुनाव जीतूँगा या हारूँगा। बस, जबलपुर से यहाँ तक चलता ही आ रहा हूँ। सबसे पहले 1978 में मैं लोकसभा में उपचुनाव लड़कर पहुँचा था। आज 1993 है। 1973 में युवा आंदोलन शुरू किया था। बीस वर्ष पहले शुरू की गई लड़ाई को और धारदार ही बनाया है। मैं यह मानता हूँ कि यह देश इतनी पेचीदगियों, विसंगतियों से भरा हुआ है, इसलिए हमारी लड़ाई भी उतनी ही पेचीदा व लंबी है।

जोशी : *क्या वजह है कि आज पहले जैसे युवा आंदोलन नहीं हो रहे हैं?*

शरद यादव : यह सच है। पहले मध्य वर्ग का युवक आंदोलन में काफी सक्रिय था। कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में आंदोलन हुआ करते थे। देश में युवा आंदोलनों का ज्वार था। आज इसमें कमी आई है। लेकिन इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रों के दलित व पिछड़े वर्गों के युवकों का आंदोलन शुरू हुआ है। पहले मेरे पास खाते-पीते घर

के लोग, शहरी युवक आया करते थे; आज गरीब युवक आ रहे हैं; अल्पसंख्यक युवक आ रहे हैं। एक बात और जान लें। पहले मध्यम वर्ग का आंदोलन जनता को प्रेरित किया करता था, लेकिन आज नहीं। इसकी वजह स्पष्ट है कि मध्यम वर्ग ने मंडल आंदोलन का विरोध किया है। आज जन-आंदोलन हैं, लेकिन मध्यम वर्ग गायब है।

जोशी : *यानी देश में सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक बदलाव के लिए 'डी-क्लास्ड' के साथ-साथ 'डी-कास्ट' होने की भी आवश्यकता है?*

शरद यादव : बेशक 'बगैर 'डी-कास्ट' हुए देश में क्रांति संभव नहीं है। जाति-व्यवस्था के रहते हुए दलित-वंचितों का आंदोलन सफल नहीं हो सकता; उसमें कई दोष पैदा हो जाएँगे। अत: सांस्कृतिक क्रांति की आवश्यकता है। मेरा अंतिम लक्ष्य मंडल नहीं है। मैं अंतिम साँस तक जाति-व्यवस्था के खात्मे के लिए लड़ना चाहता हूँ।

26 सितम्बर, 1993

मोहम्मदपंथी हिंदू और ईसापंथी हिंदू

भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष डॉ. मुरली मनोहर जोशी की 11 दिसंबर से कन्याकुमारी से कश्मीर तक की एकता-यात्रा आरंभ होने जा रही है। करीब सवा वर्ष पश्चात भाजपा का यह दूसरा यात्रा-अभियान होगा। पिछले वर्ष पूर्व-अध्यक्ष लालकृष्ण अडवाणी की सोमनाथ से अयोध्या तक की रथयात्रा के बाद डॉ. जोशी की एकता-यात्रा को भाजपा की दिल्ली पर आधिपत्य की रणनीति की एक अत्यंत महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में देखा जा रहा है। संभव है, केसरिया-अनुयायियों के लिए यह यात्रा एक निर्णायक कदम सिद्ध हो। श्री कोडिपाकम् नीलमेघा गोविंदाचार्य से पार्टी का यात्रा-दर्शन समझने के बहाने एक संवाद स्थापित किया गया। वे पार्टी के महासचिव तो हैं, पर औसत कद के नहीं हैं। विचारों का एक खुला फलक उनके पास है; जहाँ वे अतीत की गौरवशाली विरासत से अभिभूत हैं, वहीं वर्तमान के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने के पक्षधर भी हैं। वे आधुनिक अंतर्विरोधों से नावाकिफ नहीं हैं।

जोशी : *क्या आप ऐसा नहीं समझते हैं कि धर्मनिरपेक्षता एवं तुष्टीकरण के नाम पर अल्पसंख्यक वर्ग के बहुत ही सूक्ष्म हिस्से को आर्थिक-राजनीतिक लाभ पहुँचाने की कोशिश की गई है ? पुराने राव, उमराव, नवाब, ताल्लुकेदार, इलाकेदार जैसे लोगों को ही ऊपर उठाए रखा गया है, लेकिन आम मुसलमान एवं ईसाई की ओर ध्यान नहीं दिया गया और उन्हें कट्टरपंथियों के रहमो-करम पर छोड़ दिया गया है ? नेहरूकाल से यह सिलसिला चलता आ रहा है।*

गोविंदाचार्य : आपका कहना बिल्कुल ठीक है, क्योंकि सत्ताधारियों की नीयत में खोट है। इसका नतीजा यह निकला कि आम मुसलमान की जिंदगी और दूभर हो

गई। वे अत्याचार, अन्याय, शोषण, बेरोजगारी और गरीबी के शिकार होते चले गए। इसलिए हमारा आरोप ही यह है कि राजनीतिक दलों ने अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों को मनुष्य कम माना, वोट अधिक माना है। इस नीति के तहत अल्पसंख्यकों में ऐसे गलत लोगों को ही बढ़ावा दिया गया है, जिनका उनके समाज के आम लोगों के साथ कोई संवेदनशील रिश्ता नहीं है। वे तो सिर्फ पद, पैसे और प्रतिष्ठा के भूखे हैं। इसलिए हम चाहते हैं कि वे और हम–सब मिलकर एक रहें, एक सोचें; सबकी साझी विरासत है। अलबत्ता, उपासना पद्धति सबकी अलग-अलग रहे। इस संदर्भ में हम कहते हैं कि यदि वे मुसलमान हैं तो रहें। ठीक है, हमारे लिए वे 'मोहम्मदपंथी हिन्दू' हैं; ईसाई 'ईसापंथी हिन्दू' हैं।

जोशी : *पिछले बारह महीनों में काफी कुछ बदला है। दो-दो सरकारों का पतन हुआ। संसद भंग हुई। एक अल्प-मध्यावधि चुनाव हुआ। दो वर्षों के भीतर तीसरी सरकार कायम हुई है। इस परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में डॉ मुरली मनोहर जोशी की कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक की एकता-यात्रा की प्रासंगिकता क्या है?*

गोविंदाचार्य : कन्याकुमारी से कश्मीर तक की एकता-यात्रा एक हद तक राजनीतिक हलचल पैदा करेगी, मगर इससे भी कहीं ज्यादा कुछ राजनीतिक मुद्दों को उभारने में सफल होगी, धारा 370, कश्मीर का भारत के साथ भावनात्मक एकीकरण, बढ़ता-उभरता आतंकवाद जैसे ज्वलंत प्रश्नों से जूझने के लिए भारतीय जन में एक सामूहिक व संगठित इच्छा पैदा करने का संदेश फैलाना इस यात्रा का मूलभूत उद्देश्य है। लेकिन इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इस यात्रा के माध्यम से राष्ट्रीयता एवं एकता के दर्शन का साक्षात्कार कराना है। हमारी एक-जन एक-संस्कृति है, इसकी अनुभूति कराना भी एकता-यात्रा में निहित है।

हमारा देश राज्य के कारण एक रहा हो, ऐसा नहीं है। यह राष्ट्र एक भू-सांस्कृतिक इकाई है। इस देश को एक रखा है संस्कृति ने। संस्कारों ने मानस गढ़ा है। एक ही प्रकार का स्पंदन कन्याकुमारी से कश्मीर तक है। इस स्पंदन के अंतर्गत समय-समय पर विभिन्न विषयों के संबंध में समान जन-प्रतिक्रियाएँ होती आई हैं। यह एका हुआ कैसे? साधु-महात्माओं के द्वारा परित्याग एवं एकरस की संस्कृति अविरल रूप से बहती आई है। त्यागमूलक संस्कृति ने भारतीय संस्कारों का निर्माण किया है। राज्य और शासन द्वारा प्रचारित शिक्षा, राज्याश्रित व्यवस्था जैसी चीजें नहीं रहीं, लेकिन एकरूपता व एकरसता की गंगा-कावेरी कन्याकुमारी से कश्मीर तक बहती रही है और इसी संस्कृति में यात्राओं एवं उपयात्राओं का महत्व है। काँवर-यात्राएँ, चारों धाम की यात्राएँ निरंतर देश में होती रही हैं। सामान्यजन इन यात्राओं से परस्पर मिलता रहा है। इस अंतर-क्रिया से देश में एक समान संस्कृति का निर्माण हुआ है। साहित्य में भी एक ही जीवनमूल्य-दृष्टि पैदा हुई है।

कला, त्योहार, पर्व आदि में यही संस्कृति गुंजित होती है। इन सबमें जीवन के उदात्तीकरण के संस्कार जीवित हैं। इन सबसे बनी है सांस्कृतिक एकता। और इसी सांस्कृतिक एकता को प्रतिध्वनित करना एकता-यात्रा का उद्देश्य है।

जोशी : *पिछले वर्ष अडवाणीजी की सोमनाथ-अयोध्या रथयात्रा के अवसर पर भी राष्ट्रीय एकता के प्रचार-प्रसार की बात कही गई थी। आज भी वही बात कही जा रही है। दोनों यात्राओं में क्या गुणात्मक अंतर है?*

गोविंदाचार्य : वैसे विचारधारा की दृष्टि से दोनों यात्राएँ एक हैं, लेकिन दोनों में अलग-अलग सूत्र हैं। इस देश के प्राण, देश की अस्मिता, देश की पहचान की प्रतीक थी रथयात्रा। लेकिन दूसरी यात्रा का उद्देश्य इस भूमि के साथ तादात्म्य स्थापित करना है। भूमि और जन, और वो जन जो इस भूमि को माँ के समान अनुभूत करता है, उसके महत्व को स्थापित करना है। भूमि, जन, संस्कृति और एकता के भावों को अलग-अलग ढंग से पुष्ट करने के लिए यात्राएँ की जा रही हैं। रथयात्रा के उद्देश्य को एक कदम और आगे बढ़ाने के लिए ही एकता-यात्रा की जा रही है।

जोशी : *एक दृष्टिकोण और है। राम जन्मभूमि मंदिर निर्माण की क्षमता सीमित है। यह एक सीमा से अधिक भाजपा के राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकती। लेकिन कश्मीर का मुद्दा ज्यादा व्यापक, गैर-सांप्रदायिक और प्रभावशाली है। क्या यह सच नहीं है कि अध्यक्ष डॉ. जोशी की एकता-यात्रा भाजपा की रणनीति का ही एक महत्वपूर्ण हिस्सा है?*

गोविंदाचार्य : भारतीय जनता पार्टी अपनी गतिविधियों को चुनावी गणित के पैमाने से संयोजित नहीं करती है। भाजपा राजनीति में रमनेवाला एक राजनीतिक घटक नहीं है। यह सामाजिक-राजनीतिक जीवन में बदलाव का एक प्रक्षेपण है। इसलिए ये यात्राएँ भाजपा का चुनावी उपकरण नहीं हैं बल्कि इनका संबंध बुनियादी मुद्दों से है। हम संगठन, कार्यपद्धति और विचारधारा के स्तर पर औरों से भिन्न हैं।

जहाँ तक अयोध्या में मंदिर-निर्माण का प्रश्न है, केवल संकीर्ण राजनीतिक दायरे में इसे सोचा जा रहा है। राजनीतिक दलों ने इसे अल्पसंख्यक वोट बैंक के ही दायरे में सोचा है। लेकिन इन दलों की इसे सीमित दायरे में घसीटने की कोशिश असफल रही है। राम, राष्ट्रीय पहचान, राष्ट्रीय अस्मिता का विषय था। भाजपा ने राम को एक व्यापक क्षितिज पर देखा है। राष्ट्रीय अस्मिता एवं पहचान के संदर्भ में राम को भाजपा ने राजनीतिक दृष्टि से उभारा था, वोट की राजनीति के तहत नहीं। जिन लोगों ने राम को सांप्रदायिकता की दृष्टि से देखा है, वे धारा-370 या कश्मीर के सवाल को भी इसी दृष्टि से देखते हैं। इनकी दृष्टि देश की एकता, अखंडता तथा अन्य बुनियादी विशेषताओं की ओर जाती ही नहीं है। ये लोग पीलिया के

मरीज के समान हैं जिसे हर वस्तु पीलियाग्रस्त दिखाई देती है। यदि बुनियादी बदलाव के लिए उभारे गए भाजपा के प्रेरणास्पद मुद्दों को भी वे इसी दृष्टि से देखते हैं तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं है।

जोशी : *क्या आप इससे इंकार कर सकते हैं कि एकता-यात्रा और कश्मीर के प्रश्न से भाजपा को राजनीतिक लाभ मिलेगा?*

गोविंदाचार्य : देखिए, इस राष्ट्र की आत्मा से जुड़े प्रश्नों को जो भी उठाएगा, उसका आधार निश्चित ही विस्तृत एवं मजबूत होगा। उसकी ग्राह्यता समाज में बढ़ेगी। भाजपा राष्ट्रवाद का प्रतीक है। इस देश के राष्ट्रवाद का राजनीतिक क्षेत्र में यह अभिव्यक्तीकरण है। राष्ट्रवाद से जुड़े प्रश्नों को उठाते हुए भारतीय जन के बीच पार्टी बढ़े, मजबूत हो और उसकी ग्राह्यता बढ़े– यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

जोशी : *क्या चुनाव के दौरान इसका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष लाभ पार्टी को नहीं मिलेगा?*

गोविंदाचार्य : आप ठीक कहते हैं। बाकी की पार्टियाँ विकृत सैक्यूलरवाद की नीति अपनाती हैं। इसे देखते हुए भारतीयजन का झुकाव भाजपा की ओर हो और वोटों में भी बढोतरी हो, यह स्वाभाविक परिणाम भाजपा के लिए प्राप्त तो होगा। लेकिन, मैं फिर यह चाहूँगा कि अन्य दल अपनी सोच में तब्दीली लाएँ। यह उनके राजनीतिक हित में भी होगा कि वोट की निहित स्वार्थी दृष्टि से ऊपर उठें, कुछ बुनियादी मुद्दों पर एक होकर काम करें।

जोशी : *गैर-भाजपाई पार्टियाँ आप पर सांप्रदायिकता का आरोप लगाती हैं, और आप उन पर तुष्टीकरण का आरोप लगा रहे हैं। इस आरोप-प्रत्यारोप से स्थिति और पेचीदा होती जा रही है। समस्या का हल नहीं निकल रहा है।*

गोविंदाचार्य : इस पहलू पर निश्चित रूप से गहराई से बहस छिड़ना उपयोगी है और आवश्यक भी है। धर्मनिरपेक्षता की पुनर्समीक्षा की जानी चाहिए। वस्तुतः राष्ट्र की संकल्पना के बारे में बहस निहायत जरूरी है। बिना इसके सही स्वरूप को समझे, देश के विकास की दिशा और पैमाने का निर्धारण होना कठिन है। हुआ यही है कि हमने पश्चिमी सोच और पश्चिमी मानक, भारत जैसे पुरातन देश पर लागू करने की कोशिश की है। यह एक भूल है। अँगरेजी गुलामी की मानसिकता की शिकार मेधा ने इस प्राचीन राष्ट्र, प्राचीन समाज की विकसित व्यवस्थाओं को नकारने की कोशिश की है और पश्चिमी मूल्य और मानक इस देश के जन पर थोपने की कोशिश की है। इसी वजह से कई भ्रांतियाँ पैदा हुई हैं।

उदाहरण के लिए, एक राष्ट्र है, एक जन है, एक संस्कृति है। इसके विषय में तो

कई लोगों ने यह दृष्टि अपनाई कि भारत एक बहु-उपराष्ट्रीय महाद्वीप है। यह एक राष्ट्र नहीं है। वामपंथी पार्टियों में से तो किसी ने सत्रह संविधान सभाएँ बनाने की वकालत की थी। उनका तर्क था कि यहाँ सत्रह राष्ट्रीयताएँ हैं। कुछ का कहना था कि यह नया बनता हुआ राष्ट्र है। कुछ का कहना था यह राष्ट्र 15 अगस्त 47 को पैदा हुआ है। लेकिन हमारी सोच एक-राष्ट्र, एक-जन और एक-संस्कृति की है। भारत, एक प्राचीन राष्ट्र है। इस राष्ट्र के राष्ट्रीयत्व का आधार, यदि उसे कोई संज्ञा देनी हो, तो वह है हिंदुत्व। फिर मुझे क्षमा करेंगे– हिंदुत्व का अर्थ 'हिंदूइज्म' नहीं है; हिंदुत्व का असली अनुवाद है 'हिंदूनैस'।

एक दिक्कत और आती है–संप्रदाय। संप्रदाय का राष्ट्र के विकास में अंतर्विरोध क्यों होना चाहिए? संस्कृति देश को अगर जोड़ती है– विरासत सबकी एक है, पूर्वज सबके एक हैं, यह राष्ट्र पुराना है– तो संप्रदाय कोई भी हो, हम किसी की भी पूजा करें, इबादत करें, हिंदुत्व की पहली शर्त यही है कि हम पूजा-पद्धति को क्यों ज्यादा तरजीह दें? सिवाय इसके कि वह 'मैन एंड मेकर' यानी मनुष्य और विधाता के बीच संबंध स्थापित करने की कड़ी है।

जोशी : *आप स्वीकार करें या न करें, हिंदुत्व शब्द बहुसंख्यक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी सचाई यह है कि मुस्लिम, ईसाई, सिख जैसे अल्पसंख्यक समुदायों की एक धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक अस्मिता बन चुकी है। ये समुदाय अपनी अस्मिता को भुलाकर हिन्दुत्व को स्वीकार कर लें, ऐसी अपेक्षा रखना क्या व्यावहारिक होगा? हिन्दुत्व का जो अर्थ प्रचलित हो चुका है, क्या उसे झुठलाया जा सकता है?*

गोविंदाचार्य : अपनी अस्मिता को भुलाने की आवश्यकता नहीं है। पर मैं यह समझता हूँ कि मुसलमान हों या ईसाई हों, उनकी इतिहास-दृष्टि को दो सौ-चार सौ साल तक नहीं, बल्कि उससे भी पीछे हजारों साल तक ले जाने की जरूरत है। चूँकि राजनीतिक दलों ने राष्ट्रीय नीति नहीं अपनाई है, इसलिए मुसलमान समुदाय कटा-कटा-सा रह गया है। आज पाकिस्तान में पाणिनि को अपना पूर्वज मानने से इंकार नहीं किया जाता। वे तो इस्लामावलंबी नहीं थे। मुस्लिम देश इंडोनेशिया ने भी प्राचीन संस्कृति के साथ साझा रिश्ता बना रखा है। इस देश में भी औरंगजेब के बाद 1890 तक हिन्दू-मुस्लिम दंगे तो नहीं हुए। 1857 की लड़ाई तो हिन्दू-मुसलमान ने मिलकर ही लड़ी थी। उस समय तो मजहब आड़े नहीं आया था। आम मुसलमान और आम ईसाई में अपने पूर्वजों के साथ जुड़ने में कोई परहेज नहीं है। यह तो सब सियासतदानों का खेल है।

जोशी : *आपने अभी साझी विरासत की बात कही थी। क्या आप अमीर खुसरो,*

रहीम, कबीर, जायसी आदि को साझी विरासत के हिस्से मानते हैं? यह भी एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि पिछले एक हजार साल में भारत में एक विशिष्ट प्रकार की साझी विरासत एवं साझी संस्कृति का निर्माण हुआ है। क्या इसे झुठलाया जा सकता है?

गोविंदाचार्य : आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना, अमीर खुसरो, कबीर, जायसी आदि को सूर, मीरा, तुलसी, बिहारी, केशव के समान मन में धारण क्यों नहीं किया जा सकता? वे भी इस देश के महापुरुषों की श्रेणी में हैं। अब्दुल हमीद भी हैं। इसीलिए मैं फिर से यह कहता हूँ कि इस देश का आम जन चाहे किसी भी संप्रदाय का हो, उसे सांप्रदायिक कठमुल्लों के शिकंजे से मुक्त कराया जाए, सामान्य जन का 'इन्टरेक्शन' बढ़ता चले, उसी से इस देश की राष्ट्रीयता पुष्ट होगी। इस देश के जन में इतने बड़े हिस्से (अल्पसंख्यक) को न काटकर अलग रखा जाना चाहिए, न ही उसे नेस्तनाबूद करने की मंशा को सहन करना चाहिए। न यह उचित है, न ही संभव है।

जोशी : *आप साझी विरासत की बात तो करते हैं, पर क्या व्यवहार में इसका पालन किया जाता है ? 1857 की लड़ाई में हिंदुओं और मुसलमानों ने समान शिरकत की थी। यह शानदार परंपरा आगे भी चली। बिस्मिल के साथ अशफाक भी शहीद हुए। लेकिन आर.एस.एस., भाजपा, विश्व हिंदू परिषद् के कार्यालयों में सिर्फ हिंदू वीरों–महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि के ही चित्र हैं; किसी मुस्लिम का चित्र दिखाई नहीं देता है। ऐसा क्यों?*

गोविंदाचार्य : संघ के कार्यालयों में हजारों साल के पर्व और विरासत को महत्व दिया गया है। इस द ष्टि से महज एक हजार साल के इंटरेक्शन का काल बहुत कम है। मगर इस छोटे कालखंड के बावजूद मैं यह मानता हूँ कि जहाँ रामप्रसाद बिस्मिल का नाम आएगा, वहाँ अशफाक उल्ला खाँ का नाम भी अवश्य लिया जाएगा।

जोशी : *पर संघ के कार्यालय में मुस्लिम शहीदों के चित्र नहीं दिखाई देते हैं। चाहे मानें या न मानें, यह एक सच्चाई है।*

गोविंदाचार्य : जिन परिस्थितियों में संघ बना, सब जानते हैं। उस समय किस तुष्टीकरण की नीति थी? किस तरह की आवश्यकताएँ थीं? संघ ने किस प ष्ठभूमि में अपना काम शुरू किया, इसे समझना जरूरी है। हम ऐसा मानते हैं कि तथाकथित हिन्दू समुदाय के ८५ प्रतिशत लोगों को ही परिशुद्ध करना होगा। इस समुदाय के दकियानूसीपन, अवैज्ञानिकता, अंधविश्वास, छुआछूत, जातिवाद आदि को दूर करना होगा। यह पहली शर्त होगी दूसरों को समाहित करने की। पर मैं यह जरूर कहना चाहूँगा कि संघ का स्वयंसेवक हिन्दू-मुसलमान का भेदभाव नहीं

पालता है। मोरवी बाँध के बहने से किसी पंडित का घर उजड़ा हो या मौलवी का, स्वयंसेवक ने दोनों की सहायता की है। भूकंप में किसी भी संप्रदाय के व्यक्ति का घर टूटा हो, संघ ने सभी को समान रूप से सहयोग दिया है। लेकिन मैं यह मानता हूँ कि राजनीतिक परिस्थितियों ने दूरियाँ जरूर पैदा की हैं; कुत्सित प्रचार हुआ है; वातावरण बिगड़ा है। इससे आज हिन्दू समाज में दूरी बढ़ी है। इसी दूरी को कुछ लोग 'बैकलैश' कहते हैं। पर हम हिन्दू-बैकलैश के प्रति भी सजग हैं।

जोशी : *पिछले दो-तीन दशकों में जिस तरह के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक दबाव पैदा हुए हैं, क्या उनका प्रभाव संघ और भाजपा पर नहीं पड़ा है?*

गोविंदाचार्य : सामाजिक-आर्थिक दबाव से तो निश्चित ही कोई अछूता नहीं रह सकता।

जोशी : *मेरे कहने का आशय यह था कि संघ एवं भाजपा की रणनीति में बदलाव आया है। दो दशक पहले तक तत्कालीन जनसंघ में डॉ. अम्बेडकर हाशिए में थे। आज वे यानी उनसे जुड़े वर्ग भाजपा के केंद्र-बिंदुओं में दिखाई दे रहे हैं। कार्यालयों में डॉ. अम्बेडकर के चित्र भी लगाए गए हैं।*

गोविंदाचार्य : देखिए, संघ के प्रातःस्मरण में भीमराव अम्बेडकर का नाम तब भी था, अब भी है। पर जैसे-जैसे संघ की गतिविधियाँ बढ़ती गई हैं, त्यों-त्यों उनका आयाम भी बढ़ा है। बदलते संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर और अधिक समीचीन हुए हैं, वे अधिक उभरे हैं; इसीलिए शायद आप ऐसा अनुभव कर रहे हों। वैसे सामाजिक समरसता मंच, विद्यार्थी परिषद् जैसे संगठनों के कार्यक्रमों में डॉ. अम्बेडकर को वांछित महत्व दिया जाता रहा है।

जोशी : *आपने शुरू में बुनियादी परिवर्तन की बात उठाई थी। बुनियादी परिवर्तन का सरोकार सामाजिक-आर्थिक जड़ता से है। बुनियादी परिवर्तन तभी मुमकिन है जब पूँजी और उत्पादन के साधनों का न्यायपूर्ण वितरण हो। क्या दोनों यात्राओं से ऐसा बदलाव या परिवर्तन संभव है?*

गोविंदाचार्य : आपकी स्थापना से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। हमारे विचार में भी वही बातें हैं, जिनसे सर्वांगीण विकास हो। भारत के आर्थिक विकास के बारे में विख्यात अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने कहा था कि भारत के आर्थिक विकास की पहली शर्त यह है कि यहाँ का आम आदमी अमीर बनने के बजाय एक अच्छा इंसान बनने की कोशिश करे। यह बात कोई नैतिक नेत त्व नहीं बोल रहा था, एक अर्थशास्त्री कह रहा था। हम भी सोचते हैं कि देश को अतीत से प्रेरणा लेनी चाहिए, उस पर गर्व करना चाहिए, पर वर्तमान के प्रति वैज्ञानिक द ष्टि भी अपनानी चाहिए, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण भी करना चाहिए। हमारी यही प्रक्रिया होगी। दुर्भाग्य से अँगरेजों ने हमारे अतीत की उपलब्धियों के प्रति हमारे आत्मविश्वास को ही डिगा

दिया। बस हमें ऐसा लगा कि जो कुछ पश्चिमी है, उसके प्रति शरणागत हो जाया जाए। हमने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संरचना पश्चिम से आयातित की है। चाहे-अनचाहे में, उसी का कुफल हम आज भुगत रहे हैं। इसलिए मैंने बुनियादी बदलाव की बात की। इंग्लैंड से आयातित वेस्टमिंस्टर शासन-ढाँचे की बजाय स्वदेशी विकेंद्रीकरण और जनसहभाग आवश्यक है भारत के विकास के लिए।

अब देखिए विसंगति कहाँ है। इंगलैंड में 89 प्रतिशत आबादी शहरी है। इसलिए यातायात के सहज-सुलभ साधन हैं। स्कूल-कॉलेज की पर्याप्त व्यवस्था है। शिक्षक समय से आते हैं, चले जाते हैं। न्याय- व्यवस्था के संबंध में भी यही बात है। वारदात कहीं होगी, अदालत कहीं बैठेगी, वकील कहीं रहेंगे, लेकिन वक्त पर आएँगे और चले जाएँगे। साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी रणनीति के अनुरूप बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रक्रिया चलाई गई और इसी तरह के ढाँचे को हम पर थोप दिया गया। अँगरेजों के कई कानून आज भी जारी हैं। इसीलिए 'देसी मुर्गी' विलायती बोलकर यहाँ स्थापित हो गई। स्वदेशी शासन-दृष्टि को भुला दिया गया। हमारे यहाँ पंचायती राज था, उसे बिसरा दिया गया। अब इन सबमें बदलाव लाना है। इसलिए यह मानना चाहिए कि हमारे पुरखों की कुछ उपलब्धियाँ थीं, हमारा अतीत गौरवशाली था। इस संदर्भ में राम का महत्व है। विश्व का सिरमौर बनना तभी संभव है, जब हम राम जैसे राष्ट्रनायकों पर गर्व करें; इसके साथ ही स्वदेशी को युगानुकूल और विदेशी को स्वदेशी के अनुकूल बनाकर ग्रहण करें। इसे ही हम पुनर्निर्माण की संज्ञा देते हैं।

जोशी : *आपने अभी वर्तमान के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की बात कही है। लेकिन भाजपा की रणनीति में कई अंतर्विरोध दिखाई देते हैं। मिसाल के तौर पर, एक तरफ प्रौद्योगिकी एवं उपभोक्ता संस्कृति का विस्फोट हुआ है, विश्व में एकल ध्रुवीय शक्ति-तंत्र अस्तित्व में आया है, सी.एन.एन. जैसी विदेशी कंपनियों के माध्यम से पश्चिमी-अमेरिकी संस्कृति घर-घर में पहुँच चुकी है और गरीब देशों पर कर्जभार बढ़ा है, दूसरी तरफ आप रथयात्राएँ निकाल रहे हैं? क्या मध्ययुगीन दृष्टि से नई चुनौतियों का सामना किया जा सकता है?*

गोविंदाचार्य : वास्तविकता और यथार्थ के आपके चित्रण से मैं सहमत हूँ; वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ भी नहीं हूँ। अतीत से प्रेरणा लेने का अर्थ अतीत में जीने से नहीं लिया जाना चाहिए। लेकिन वर्तमान में इति मान लेना भी पुरुषार्थ के लिए उचित नहीं है। मेरा यह अर्थ कतई नहीं है कि पश्चिम में सब कुछ नकारात्मक है। पश्चिम के साथ इंटरेक्शन से कुछ सकारात्मक बातें भी आई हैं, यातायात, सूचना-संचार आदि की उपलब्धि हुई है। लेकिन नशीले पदार्थों का सेवन, डांस, डिस्को, ड्रिंक्स आदि अनुकरणीय हैं क्या? उपभोक्तावाद, विकृतियाँ, यौनाचार,

एकाकीपन, विलगाव आदि भी हमें पश्चिम से मिले हैं। क्या इन्हें अपनाया जाना चाहिए? यह सच है कि इनमें से कई बातों से हम बच नहीं सकते, लेकिन इन्हें कम करने के लिए विचार जरूर करना पड़ेगा। यदि हममें आत्मविश्वास है तो हम पश्चिम में भी हवा के रुख को पलट सकते हैं। इसलिए हम चाहते हैं कि स्वदेशी ढंग से उत्पादन हो, न्यायपूर्ण वितरण हो और उपभोग संयमित हो। इस त्रिसूत्री का विचार सभी के लिए उपयोगी होगा। हम पश्चिम के लिए सस्ता श्रम, कच्ची वस्तुएँ और बाजार ही नहीं हैं, कुछ और भी हैं– यह संदेश उन्हें देना होगा। हम अपने को कम न आँकें।

आप जो कह रहे हैं, यूनी पोलर वर्ल्ड–एक ध्रुवीय विश्व का खतरा बढ़ा है, ठीक कह रहे हैं। इससे अगर निपटना है तो भारत, जापान, जर्मनी और आसपास के देशों को एक ध्रुव के नाते खड़ा होना होगा। हमारे पास इसके ठोस आधार भी हैं। इस देश की जनसंख्या को बोझ न मानें। हमारे लिए यह एक निधि भी है। इस संदर्भ में ही हमने रणनीति तैयार की है। इसमें टैक्नालॉजी की बात भी शामिल है। मैं आपको बतला दूँ, हम बैलगाड़ी के युग की टैक्नालॉजी में नहीं जाना चाहते, कतई नहीं जाना चाहते हैं। हम लोगों की आधुनिक ललक को स्वीकार करते हैं। लेकिन इसके प्रति विवेकशील भी होना पड़ेगा। इसलिए हमें आर्थिक लक्ष्य अपने ढंग से निर्धारित करने पड़ेंगे, पश्चिमी मानकों को सामने रखकर नहीं। विदेशी कर्ज, अर्थव्यवस्था का सार्वभौमीकरण, द्वार खोलना जैसे शब्दों के छलावे में फँसने से बचना चाहिए। हमने उनके लिए, विदेशी राष्ट्र यूरो-अमेरिकी शिविर के लिए अपने को पूरा-पूरा समर्पित कर दिया, तो भी रास्ता नहीं है। याद रखिए, कोई भी हमें हमारे बढ़ावे के लिए उदारतापूर्वक कर्ज नहीं दिया करता। विश्व उतना सहृदय, मानवीय, संवेदनशील आज नहीं है। बिहार में कहावत है–'कमजोर की लुगाई, गाँव की भौजाई'। आज वही कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। इसलिए हमें अपने पैर पर ही खड़ा होना पड़ेगा। इसमें भारतीय मेधा, भारतीय जन सक्षम हैं; केवल उनको उद्दीप्त करने की आवश्यकता है। इन सब संदर्भों में राम का विषय हो या एकता-यात्रा का, हम इसकी गहराई देख सकते हैं।

जोशी : *क्या आप इससे सहमत हैं कि आज धार्मिक के स्थान पर आर्थिक राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान की आवश्यकता है?*

गोविंदाचार्य : राष्ट्रवाद को एक खाँचे में बंद नहीं किया जा सकता। राष्ट्रवाद एक समग्र भावना है, जो जीवन के अलग-अलग क्षेत्रों में प्रतिबिम्बित होती है। आर्थिक क्षेत्र में भी वही बात है। इसीलिए आर्थिक क्षेत्र में भी राष्ट्रवादी सोच को सबल करना होगा। जैसे कोरिया का उदाहरण लें, वहाँ के जन ने आत्मनिर्भर होकर विकास किया। इसीलिए दूरगामी दृष्टि को सामने रखकर आर्थिक रणनीति तैयार

करनी पड़ेगी। यदि लगातार कर्ज लेते रहें, तो हम उसमें फंसते चले जाएँगे। चार्वाक की सोच है कि जब तक जियो, उधार लेकर भी घृत पियो; जब तक जियो, सुखी जियो। यह तात्कालिकता की सोच हमारे लिए आत्मघाती सिद्ध होगी।

जोशी : *क्या राजनीतिक नेतृत्व से किसी प्रकार के गुणात्मक परिवर्तन की उम्मीद की जा सकती है? क्योंकि जिस ढंग का नेतृत्व हाल के वर्षों में उभरा है, वह भी बेहद बौना है।*

गोविंदाचार्य : ईश्वर की कृपा से राजनीतिक दल इस देश के नियंता नहीं बन सके हैं। देश की पंचवर्षीय योजनाओं के दायरे के बाहर सत्तर फीसदी अर्थव्यवस्था जीवित है। यही कर्ज की अर्थनीति का बोझ सहन कर रही है और उसे टिकाए हुए है। और मुझे भरोसा है देश के युवा वर्ग पर। सामान्यतया युवा नि:स्वार्थी हैं, देशभक्त हैं, राष्ट्रवादी हैं, संवेदनशील हैं और सक्रिय हैं। पिछले दो दशकों में कम से कम ऐसे बारह-तेरह हजार दल सक्रिय हुए हैं, जिनमें हजारों नौजवान अपने जीवन की चिन्ता किए बगैर कार्यरत हुए। ये युवा सामान्य जन के बीच अपनी जिंदगी गुजारने के लिए दस साल, बीस साल लगाए चले जा रहे हैं। किसी की प्रेरणा ईसा होंगे, किसी की प्रेरणा मार्क्स होंगे, किसी की प्रेरणा गाँधी होंगे और शायद किसी की प्रेरणा डॉ. हैडगेवार होंगे। इसलिए जमीन से जुड़े इन सोशल एक्शन दलों के योगदान को हम कम न आँकें। पिछले पाँच-दस साल की अवधि पर नजर डालें, तो देखेंगे कि राजनीतिक दलों से बाहर कई तरह की कार्रवाइयाँ हुई हैं। उदाहरण के लिए बोफोर्स का मुद्दा गैर-राजनीतिक लोगों ने उठाया। विपक्ष की भूमिका अखबारों ने ही निभाई। इस तरह संसदीय राजनीति की सीमाएँ और उजागर हुई हैं। राष्ट्रीय स्तर की राजनीतिक पार्टियों को और ज्यादा काम करना चाहिए था, लेकिन नहीं कर सकीं। इसलिए छोटे-छोटे एक्शन ग्रुप राजनीतिक परिधि से बाहर रहकर काम करना श्रेयस्कर मानने लगे हैं। इसलिए मुझे ज्यादा भरोसा इस देश के नौजवान युवक-युवतियों पर है। यदि राजनीतिक दल उनकी सारी भावनाओं एवं अभिलाषाओं के साथ तालमेल बिठा सकें तो ठीक है, वरना ये दल अप्रासंगिक हो जाएँगे। फिर भी देश का बढ़ना जारी रहेगा, पर संसदीय लोकतंत्र के स्थान पर नए-नए प्रयोग सामने आएँगे। संसदीय व्यवस्था अंतिम नहीं है। मनुष्य की प्रयोग-यात्रा निरंतर चलती रहती है, एक बेहतर व्यवस्था की तलाश में।

8 दिसम्बर, 1991

संत भिंडराँवाले से साक्षात्कार

भय, आतंक और धर्मान्धता के बीच सभी अपने धर्म को पालें

"मेरे प्राहा बनना है, मेरे वीर बनना है, मरद बनना है तो डरो मत। खड़े हो जाओ। वचन पूरा करो। मेरे साथ चलो। अगर मैं लुच्चा-लफंगा हूँ, तो मुझसे बात मत करो।

"वीर नहीं बनना, बीवियाँ-औरतें बनना है तो माँग भर लो, केश सजा लो, कंघी करा लो, चूड़ियाँ पहन लो। घर बैठो। मेरे पास मत आओ।"

ये शब्द हैं मिली-जुली सिख धार्मिक व राजनीतिक उग्रवादिता एवं आतंकवादिता के केंद्रबिन्दु संत भिंडराँवाले के। स्थान अमृतसर के स्वर्ण मंदिर परिसर में स्थित नानक निवास की तपती छत, समय मई के पहले हफ्ते की दुपहरी।

संतजी की इस अक्खड़ी बातचीत का सिलसिला सिख-भक्तों के साथ चल रहा है। करीब दो सौ से अधिक सिख जमा हैं, सब-के-सब किसान। कुछ औरतें भी हैं। वस्त्रों एवं बातचीत से लोग निम्न मध्यमवर्ग के और अनपढ़ लगते हैं। संतजी और भक्तों के चेहरों और जुबान दोनों पर खुरदुरापन, अटपटापन और बेखौफी। बातचीत करीब-करीब एकतरफा है। एक कनात के तले लगे तख्त पर भिंडराँवाले लेटे-लेटे सिख किसानों से बातें करते हैं। बातें सिखों के खिलाफ हो रहे अन्याय, सिख किसानों के शोषण, सिख धर्म के अपमान, सिख कौम की अखंडता आदि के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं। भक्तगण कभी सत् श्रीअकाल, कभी संतजी की जय, कभी खालसा की जय बोलते हैं; कभी जोर से हँसते हैं और बीच-बीच में संतजी के चरण स्पर्श करते रहते हैं। बातचीत के बीच-बीच में किसान चवन्नी से लेकर दस रुपए तक संतजी के चरणों में चढ़ाते हैं। संतजी फटाक से चढ़ावे को अपने कुर्ते की जेब

में ठूँस लेते हैं। कुछ भक्त अन्न की बोरियाँ भी चढ़ाने की घोषणा करते हैं।

"देख ले, यही है मेरी गोला-बारूद।" संतजी इस प्रतिनिधि को संबोधित करते हैं, "सरकार कहती है कि मैंने हथियार जमा कर रखे हैं, गोला-बारूद का जखीरा है। क्यों प्राहो, बोलो, तुमने मुझे क्या दिया–चवन्नी, अठन्नी, अनाज का दाणा?"

"आहो जी! सत्श्री अकाल, जो बोले सो निहाल।" भक्तगण संतजी के सुर में सुर मिलाते हैं।

भिंडराँवाले बोलते हैं, "नोट कर लो रिपोर्टर साब, संत कितना आतंकवादी है, कितना उग्रवादी है? उस दिल्लीवाली इंदिरा बीबीजी को भी बतला देना।" फिर से बातचीत का दौर शुरू होता है।

"सुनो सिखो! सब प्राहो बन जाओ। एक साथ मिल कर रहो। निरंकारी और सरकार से डरना नहीं। डट जाना। मर जाना। पीछे मत हटना। तुम्हारे गाढ़े पसीने की कमाई है। गँवाना नहीं है। पानी (रावी-व्यास) छोड़ना नहीं है। पर, तुमको शराब छोड़नी है, नशा छोड़ना है। पक्का सिख बनकर दिखाओ, तब इंदिरा और दरबारा से टक्कर लोगे, गुरु गोविंदसिंहजी के प्यारे बनोगे।"

इसी तरह की बातचीत आधे घण्टे तक चलती रही। संत कई बार एक बात को दोहराते हैं, परंतु सिख किसान बगैर किसी आपत्ति के उनकी बातें सुनते रहते हैं। आधा-पौन घंटे के बाद कहते हैं: "हमारी बातचीत तो दिनभर ऐसे ही चलती रहेगी। यहाँ तो खुला दरबार है, किसी से कोई छिपा नहीं है। अब तुझे जो सवाल पूछना है–पूछ ले। कल दिल्ली से कुलदीप नैयर भी आया था। वो भी मेरा चेला बनकर गया है। उसने अपने को आतंकवादी माना है। अब वो मेरा पक्का चेला है।" संतजी जोरों से हँसते हैं, साथ में उनके शिष्य भी। एक विजय की मुस्कान उनके चेहरों पर होती है। एक पत्रकार को तो फतह कर लिया, दिल्ली को न सही!

भिंडराँवाले से करीब डेढ़-दो घंटे तक बेतरतीब ढंग से बातचीत होती रही। संतजी के साथ कोई बातचीत सिलसिलेवार ढंग से करना बहुत मुश्किल काम है। उनके तर्कों में कोई तारतम्यता नहीं होती। उनकी सबसे बड़ी शर्त रहती है, उनकी ही बातें सुनी जाएँ, विरोध में दलील न की जाए। तथ्य गलत-सलत हों तो भी चुपचाप लिखते रहिए। अगर प्रतिवाद किया तो संतजी अपनी रट ही जारी रखेंगे। यह सही है कि वे गुस्सा नहीं होंगे, उखड़ेंगे भी नहीं, परन्तु हँसते हुए सब टालते रहेंगे। वे अपने एक ही वाक्य में धार्मिक और राजनेता दोनों का रोल अदा करना चाहते हैं। शायद, यही विशिष्टता उनकी सफलता का सबसे बड़ा राज है। उनका यह रोल सिखों को बेहद प्यारा है। एक औसत सिख की द ष्टि में भिंडराँवाले बहादुर, अकाली नेताओं के लिए 'अड़ियल', कुछ के लिए 'चालाक व धूर्त' और कुछ के मूल्यांकन में 'कांग्रेसी दलाल' हैं।

कुल मिलाकर भिंडराँवाले को एक बहुरंगी और विवादग्रस्त व्यक्तित्व माना जाता है। कहा जाता है कि जितने कम समय में सिख राजनीति में भिंडराँवाले ने जितनी लोकप्रियता और प्रसिद्धि अर्जित की है, इससे पहले और किसी ने नहीं की। हालत यह है कि कोई भी अकाली नेता भिंडराँवाले की खुलेआम आलोचना करने की शक्ति नहीं रखता। मतभेदों के बावजूद अकाली दल उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। भिंडराँवाले अकाली दल की मजबूरी और अपनी सफलता को भुनाना भी जानते हैं। इसलिए, पूरे आत्मविश्वास के साथ नानक निवास में अपने पूरे दल-बल सहित जमे हुए हैं, और ठाठ के साथ जो जी में आता है, बोलते हैं। सबसे पहले प्रेस पर संतजी के प्रहार के साथ बातचीत का दौर शुरू होता है।

संतजी : पंजाब में दंगा-फसाद के लिए पंजाब की महाशय प्रेस जिम्मेदार है।

जोशी : *कौन-सी महाशय प्रेस ?*

संतजी : जालंधर की महाशय प्रेस। पंजाबी हिन्दुओं के हिन्दी-पंजाबी अखबार। नाम गिनाऊँगा तो तुम लोगों को बुरा लगेगा। तुम उसी बिरादरी के हो न! अखबारवाले भी हो—हिन्दू भी हो। जालंधर की महाशय प्रेस को केशधारी सिख अच्छे नहीं लगते। वे जानबूझकर मनगढ़ंत अफवाहें उड़ाते रहते हैं, हिन्दू और सिखों के बीच फूट पैदा करते रहते हैं। दिल्ली के हिन्दू अखबार भी मुझे उग्रवादी घोषित करते हैं, परंतु सिखों की समस्या को समझना पसंद नहीं करते। हिन्दू अखबार अफवाहें फैलाते रहते हैं कि सिखों में फूट पड़ी हुई है, लोंगोवाल और भिंडराँवाले अलग-अलग हैं। ऐसी फूट महाशय अखबारों में है, हमारे बीच नहीं।

जोशी : *कहा जाता है कि आप पंजाब को खालिस्तान बनाना चाहते हैं, सिखों को हिन्दुओं से एक अलग कौम मानते हैं?*

संतजी : हम खालिस्तान नहीं चाहते और न ही बनाना चाहते हैं। परंतु लगता है दिल्ली सरकार खालिस्तान बनाना चाहती है।

जोशी : *आप अपनी बात खुलासा करके बतलाएँगे ?*

संतजी : इंदिरा बीबी से कहो सिखों की माँग मान ले, समस्याओं का जल्दी से हल कर दे. खालिस्तान नहीं बनेगा। हम तो हिन्दुस्तान में ही रहना चाहते हैं. अलग नहीं होना चाहते। अब तो दिल्ली में बैठी हिन्दुओं की सरकार से पूछो कि वो हम लोगों को साथ रखना चाहती है या नहीं? तुम लिख लो, आसार कुछ और ही दिखाई दे रहे हैं। इंदिरा बीबी हमें साथ नहीं रखना चाहती।

जोशी : *आप यह बात किस आधार पर कह रहे हैं?*

संतजी : तुम ही देख लो। सिखों के साथ दोगला बर्ताव किया जा रहा है, उनके साथ लगातार अन्याय हो रहा है। जब से देश आज़ाद हुआ है, हर कदम पर सिखों को

कुर्बानी देनी पड़ी है। पंजाबी सूबा बनाने के लिए भी सिखों की जानें गईं, हजारों लोग जेलों में ठूँसे गए, फायदा हुआ हिन्दुओं को। बगैर किसी आंदोलन के हिन्दुओं के लिए पंजाब को काटकर हरियाणा बना दिया गया। पंजाब के हिन्दुओं ने भी पंजाब के साथ विश्वासघात किया; अपनी मातृभाषा हिन्दी लिखाकर पंजाबी के साथ दगा किया; अगर पंजाब का हिन्दू अपनी मातृभाषा पंजाबी लिखाता तो पंजाब का कभी बँटवारा नहीं होता। एक पंजाबी-हिन्दू घर में और घर से बाहर पंजाबी बोलता है, गुरुमुखी लिखता-पढ़ता है, परंतु मतगणना के समय मातृभाषा हिन्दी लिखाता है। यह अपनी माँ (मातृभाषा) के साथ गद्दारी नहीं है तो क्या है?

सिखों को दूसरे दर्जे का नागरिक बना रखा है। इस देश में सिख अभी तक गुलाम हैं; जबकि 1947 से आज तक हर कुर्बानी देने में सिख को आगे रखा जाता है। परंतु, सिखों को धार्मिक और राजनीतिक माँगों के मामले में सबसे पीछे रखा जाता है। अगर कोई सिख धार्मिक माँग को लेकर हवाई जहाज 'हाईजेक' करता है तो उसे देशद्रोही करार दिया जाता है। परंतु, हिन्दू-नेता इंदिरा बीबी को जेल से छुड़ाने के लिए हाईजेक करनेवालों को यू.पी. विधानसभा का एम.एल.ए. बना दिया जाता है। यह दोहरा, दोगला कानून क्यों?

इसके बाद संतजी बगैर विराम और प्रति-तर्क सुने अपना भाषण शुरू कर देते हैं। उन्हें इसकी कोई चिंता नहीं है कि वे कहाँ गलत बोल रहे हैं, कहाँ सही। करीब पौन घंटे तक सिख-निरंकारी एवं सिख-पुलिस मुठभेड़ों का बारीकी से ब्यौरा देते हैं। हर हालत में सिख आंदोलनकारियों को सही ठहराते हुए कहते हैं कि पुलिस मुठभेड़ों में सैकड़ों सिखों को भूना गया है, जेलों में ठूँस-ठूँसकर उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दी गई हैं; पुलिस ने जिस तरह का बर्बर व्यवहार नक्सलपंथियों के साथ किया था, वैसा ही सिख-आंदोलनकारियों के साथ भी किया; उन्हें शहर से दूर जंगल और खेतों में ले जाकर मारा गया। इसी तरह की और भी अनेक घटनाएँ सुनाईं। अंत में कहा– "पानी की एक घूँट के लिए सिखों को खून का गिलास बहाना पड़ता है। अगर ये सारी बातें झूठी साबित हों तो मैं सब कुछ छोड़ने को तैयार हूँ। मेरे पास सबके सबूत हैं।"

इस विषय को यहीं समाप्त करते हुए भिंडराँवाले किसानों की कृषि समस्या की ओर मुड़ते हैं। उनकी बातचीत से लगता है कि संतजी छोटे और मझोले किसान सिखों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने बड़े किसानों के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा, परंतु सीमांत सिख किसानों की भूमि और मंडी की समस्याओं की चर्चा की। वे इस बात के प्रति सतत सजग दिखाई दिए कि सिखों के किस वर्ग के हितों के संबंध में अधिक बात करनी चाहिए और किसके संबंध में कम। संक्षेप में, भिंडराँवाले ग्रामीण पंजाब के सिखों की परंपरावादी चेतना के विभिन्न रूपों के सशक्त प्रवक्ता के रूप में अपने को पेश करते हैं। इसलिए वे सिख परिवार और

भूमि का बिखराव बर्दाश्त नहीं कर सकते। वे इस बिखराव की समस्या और आधुनिकता के दबाव को हिंदू राष्ट्रवाद से जोड़ देते हैं। यह उनकी 'पेटेंट थीम' है। संतजी की दलील है–

"भारत में शामिल होने और हिंदुओं के शासन के अधीन रहने से ही आज सिखों का सबसे अधिक नाश हो रहा है। हिंदुओं का उत्तराधिकार कानून लागू होने से सिखों की जमीन चौपट होती जा रही है, उसकी जमीन के टुकड़े-टुकड़े होते जा रहे हैं। लड़की को हक मिलने के कारण सिख अपनी जमीन को साबुत नहीं रख पाता। एक सिख 17 एकड़ से अधिक जमीन नहीं रख सकता। सिखों को विरासत का टैक्स सरकार को देना पड़ता है, हिंदुओं को नहीं देना पड़ता। पंजाब में सिखों का बहुमत है, फिर भी उन्हें खेती की कमाई पर टैक्स देना पड़ता है। सिख अपने प्रदेश के मालिक हैं, जैसा चाहें वैसा उन्हें करने की छूट होनी चाहिए। अब हिंदू लोग सिखों की जमीनों पर भी धावा बोल रहे हैं, पंजाब की खेती में घुसपैठ करके जमीनें हथिया रहे हैं। हिंदू व्यापारी अपना ब्लैक मनी खेती में लगाते हैं और उसे ह्वाइट कर लेते हैं। ये ब्लैक मनी पंजाब के शहरों से कमाते हैं और खेतों में लगा देते हैं। आम सिख गाँव और शहर दोनों जगह लुट रहा है। दिल्ली की हिन्दू सरकार ने सिखों का नाश कर दिया है, सारी कौम खराब कर दी है।

जोशी : *वो कैसे ?*

संतजी : देखते नहीं, सारे अमृतसर में शराब की दुकानें चल रही हैं। हिंदू सरकार ने ही तो लाइसेंस जारी किए हैं।

जोशी : *मगर संतजी, मैंने तो देखा है कि अमृतसर की शराब की कई दुकानों पर सिख भी बैठे रहते हैं, बारों में बैठकर बीयर भी पीते रहते हैं। आप उनका सामाजिक बहिष्कार क्यों नहीं करते?*

संतजी : अगर सरकार लाइसेंस जब्त कर ले तो कोई सरदार दुकान नहीं चलाएगा। अमृतसर को धार्मिक शहर घोषित करना चाहिए। सिखों का राज होता तो यहाँ शराब की कोई दुकान खुली न होती। शराब बेचने और खरीदनेवाले सिखों का बॉयकॉट करने से कोई फायदा नहीं। सरकार को ही चाहिए कि शराब की दुकानें बंद कराए।

संतजी घूम-फिरकर फिर से आतंकवाद की चर्चा करने लगे। करीब आधा घंटे तक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे कि वे आतंकवादी नहीं हैं, समाज-सुधारक हैं; सिखों को अधर्म से बचाना चाहते हैं। आतंकवाद या उग्रवाद की परिभाषा करते हुए संतजी बोले, "महाशय अखबार मुझे आतंकवादी बतलाते हैं, उग्रवादी कहते हैं। अब तुम खुद देख लो, यहाँ किसी तरह का कोई डर तुम्हें लग रहा है ? कोई तुम पर हमला कर रहा है? देख लो यहाँ कितने लोगों के पास हथियार हैं? सबके पास

छोटे-छोटे कृपाण हैं। अब तो इंदिरा बीबी उसे भी छीन लेना चाहती हैं, क्योंकि हम हिंदू नहीं, सिख हैं।

कल जब दिल्ली का एक अखबारवाला कुलदीप नैयर आया था, उसे भी मैंने बताया था कि मैं कैसा आतंकवादी हूँ। मेरी बात सुनकर वह भी आतंकवादी बन गया है, मेरा चेला हो गया है। मेरी बात सुनोगे तो तुम भी आतंकवादी बन जाओगे। सरकार तुम्हें गिरफ्तार कर लेगी।

जोशी : *आपका आतंकवाद है कैसा, पहले उसे तो बतलाइए।*

संतजी : मैं सिख, हिंदू और मुसलमान तीनों को यही कहता हूँ कि अपने-अपने धर्म-मजहब का पालन करो। सिखों से कहता हूँ—कृपाण रखो, केश रखो, नशा छोड़ो, गुरुवाणी का पाठ करो, नियम से गुरुद्वारे जाओ, अपने को स्वर्ण मंदिर से जोड़ो, सब को सतगुरु की शरण में लाओ, सिखों की बहू-बेटियों की इज्जत की रक्षा करो, अपने कौम की अखंडता की रक्षा करो।

(संतजी ने इसके साथ-साथ उपस्थित सिखों को इन सभी कर्मों का नियमित रूप से पालन करने की शपथ दिलाई। सिखों ने हाथ उठाकर और जयजयकार के साथ शपथ ली।)

इन सिखों से पूछ लो मैं इन्हें किस तरह के आतंकवाद की शिक्षा दे रहा हूँ। यही है मेरा उग्रवाद। मैं तो हिंदू से भी कहता हूँ—वो चुटिया रखे, जनेऊ धारण करे, रोजाना मंदिर जाया करे, गंगाजल का पान करे, गीता का पाठ करे, शिवलिंग की पूजा करे, उपवास रखे। मुसलमान को भी चाहिए कि वो पाँच वक्त नमाज पढ़े, रोजा रखे, कुरान पढ़े। जो जिस धर्म में पैदा हुआ है, उसी में रहकर उसका ईमानदारी से पालन करे। यही है मेरा आतंकवाद। नैयर की तरह तुम भी अपने को आतंकवादी मान लो। मेरे शिष्य बन जाओ।

जोशी : *जैसा कि आप कहते हैं नैयरजी आपके शिष्य हो गए हैं, आपको बधाई। परंतु मैं आपकी बात से पूरी तरह सहमत नहीं। जिस दिन आप सामाजिक और आर्थिक विषमता समाप्त करने के लिए धर्म को हथियार बनाएँगे, उस दिन...।*

संतजी : गरीबी-अमीरी कर्मों का फल है। पिछले जन्म में जिसने जैसा बोया है, वैसा काटेगा। अब हमारी लड़ाई गरीबी के खिलाफ भी है। तुम कहते हो तो लड़ाई और तेज कर देंगे। अब तो मेरे पंथ में आ जाओ।

मगर मैंने बचने के लिए कह दिया : असली लड़ाई शुरू करने का ऐलान तो करो।

प्रणव मुखर्जी से साक्षात्कार - 1

'तरक्की के लिए जोखिम जरूरी'

जोशी : *आपके विचार में क्या पंचवर्षीय योजनाएँ अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल रही हैं? नेहरू-काल से लेकर राव-शासन तक, क्या इन योजनाओं के माध्यम से निर्धनता, सामाजिक-आर्थिक असमानता और क्षेत्रीय असंतुलनों को समाप्त किया जा सका?*

प्रणव मुखर्जी : कुल मिलाकर हमारी योजनाओं को सफलता मिली है, मैं ऐसा मानता हूँ। यह सच है कि योजनाओं की शुरूआत में हमने जो लक्ष्य निर्धारित किए थे, वे शत-प्रतिशत पूरे नहीं हुए हैं। लेकिन संपूर्णता की दृष्टि से योजनाओं की उपलब्धियों को देखें तो निश्चित ही कुछ क्षेत्रों में हमें सफलता मिली है। आपको याद होगा, भारत जब आजाद हुआ था, तो हमारे पास मामूली किस्म का औद्योगिक ढाँचा था। आज स्थिति इसके विपरीत है। एक सुदृढ़ औद्योगिक आधार हमारे पास है। कृषि क्षेत्र को ही लें। खाद्यान्नों के आयात पर भारत जीवन बसर करता था। आज हमने आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली है। बल्कि, सीमित मात्रा में हम खाद्यान्न का निर्यात भी करते हैं। मानव संसाधन के विकास में भी भारत पीछे नहीं है। योजनाओं की वजह से आज हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में प्रबंधक, इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक तथा विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ हैं। यह सच है कि सामाजिक क्षेत्र में भारत को अपेक्षित सफलता नहीं मिली है; सौ फीसदी साक्षरता का लक्ष्य आज भी अधूरा है; जनसंख्या को नियंत्रित नहीं किया जा सका है। तो भी मृत्यु-दर कम हुई है। जीवन-दर बढ़ी है। संक्रामक रोगों की रोकथाम की गई है। कई तरह की जानलेवा बीमारियों को नियंत्रित किया गया है। यह सब योजनाओं का कमाल है।

आर्थिक क्षेत्र [illegible] उत्पादन के क्षेत्र में

प्रशंसनीय सफलता नहीं मिली थी। तब की विकास दर साढ़े तीन प्रतिशत थी। लेकिन आठवें दशक में विकास दर पाँच प्रतिशत तक पहुँच गई। इसलिए मेरा यह मत है कि योजनाओं के क्रियान्वयन से देश आगे बढ़ा है, अर्थव्यवस्था में गतिशीलता आई है। इसका यह कतई मतलब नहीं है कि अब विकास, प्रगति और सुधार के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई है।

जोशी : *प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू तथा उनके उत्तराधिकारियों ने नागरिकों के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन लाने की अनेक घोषणाएँ कीं, पर देश के परंपरागत रूप से उत्पीडित और वंचित वर्गों के जीवन में अपेक्षित गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया है। इसकी क्या वजह है, और क्या-क्या बाधाएँ हैं?*

प्रणव मुखर्जी : स्पष्ट रूप से सबसे बड़ी बाधा पर्याप्त मात्रा में संसाधनों का अभाव है। दूसरी बड़ी बाधा है उच्च जनसंख्या दर। जब योजना–निर्माताओं ने पहली योजना लागू की थी, उस समय भारत की जनसंख्या 30-35 करोड़ थी, आज 89 करोड़ से अधिक है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक 24 घंटे में करीब 59 हजार की दर से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। तीसरी वजह यह भी है कि भारतवासी बदलाव के प्रति जरा धीमे रहते हैं, आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार स्वयं को ढालने के मामले में उत्सुकता नहीं दिखाते।

जोशी : *यह आप कैसे कह सकते हैं ?*

प्रणव मुखर्जी : देखिए, भारत एक राष्ट्र के रूप में चीजों के प्रति धीरे-धीरे रेसपोंड करता है। हमारा सांस्कृतिक ईथोस ही कुछ ऐसा है। आपने देखा कि हमारा स्वतंत्रता संग्राम रूस, चीन, क्यूबा, विएतनाम, बंगलादेश आदि देशों से भिन्न है। हमने इन देशों के समान सशस्त्र संघर्ष नहीं किया। करीब सौ वर्ष तक शांतिपूर्ण ढंग से राष्ट्रवाद का निर्माण करते रहे और अंततः भारत को स्वतंत्र कराकर छोड़ा। इस पृष्ठभूमि में एक सामंती समाज को आधुनिक, लोकतांत्रिक एवं औद्योगिक समाज में रूपांतरित करने में वक्त तो लगता है। हमारे नेता एवं योजना-निर्माता भी यह नहीं चाहते थे कि परंपरागत व्यवस्था को कोई बहुत बड़ा झटका लगे।

जोशी : *भारत अपनी आजादी की आधी सदी पूरी करने जा रहा है। आप समझते हैं कि कृषि-भारत में सामंती उत्पादन संबंधों में बुनियादी बदलाव आ गया है?*

प्रणव मुखर्जी : मैं ऐसा नहीं कहूँगा कि सामंती उत्पादन-संबंध पूरी तरह से बदल चुके हैं। कुछ क्षेत्रों में ये आज भी जीवित हैं।

जोशी : *हिंदी-क्षेत्र में स्थिति बहुत बुरी है; सामंती मूल्य-व्यवस्था काफी सक्रिय है।*

प्रणव मुखर्जी : हिंदी-क्षेत्रों में भी जमींदारी व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है। यह सच है कि भूमि-सुधारों को प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं किया गया है, लेकिन दूसरे राज्यों में भूमि-सुधारों को सफलतापूर्वक लागू किया गया है। इसलिए स्थिति के प्रति एक संपूर्ण दृष्टि अपनानी पड़ेगी। मेरा यह मत है कि जिन क्षेत्रों में भूमि-सुधारों को तेज रफ्तार के साथ लागू किया गया है वहाँ विकास-गति भी अच्छी रही है। इस मामले में पश्चिम बंगाल और केरल के उदाहरण दिए जा सकते हैं।

जोशी : *क्या यह माना जाए कि भूमि-सुधारों की वजह से प्रति-व्यक्ति आय बढ़ी है?*

प्रणव मुखर्जी : मैं सिर्फ प्रति व्यक्ति आय-वृद्धि की बात नहीं कर रहा हूँ। मेरा यह मत है कि प्रगति और विकास की कसौटी सिर्फ आय-वृद्धि नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए हरियाणा और पंजाब में प्रति व्यक्ति आय पश्चिम बंगाल और केरल से बहुत अधिक है। लेकिन, विकास-दर को समझने की आवश्यकता है। केरल में सौ फीसदी साक्षरता है, जबकि हरियाणा में स्थिति भिन्न है। जीवन की गुणवत्ता को ध्यान में रखने की जरूरत है।

जोशी : *यह देखने में आया है कि राष्ट्र के उच्चस्तरीय लक्ष्यों तथा सामान्य नागरिक की बुनियादी आवश्यकताओं के बीच खाई कम नहीं, चौड़ी हुई है। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान किस तरह से इस खाई को पाटा जा सकता है?*

प्रणव मुखर्जी : खाई पाटने की प्रक्रिया शुरू से ही चल रही है। इसीलिए चंद हाथों में आर्थिक शक्ति के एकत्रीकरण पर रोक लगाई जाती है। भूमि की हदबंदी भी इसी प्रक्रिया का एक हिस्सा है। समाज के कमजोर वर्गों को सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की राहतें उपलब्ध कराना भी खाई पाटने के उपायों में से एक है। इस तरह के उपायों से समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त विषमता कम भी हुई है। आठवीं योजना में हम जहाँ युवकों को रोजगार उपलब्ध कराना चाहते हैं, वहीं इसका भी ध्यान रखना चाहते हैं कि ऐसे रोजगारों का निर्माण किया जाए, जिनसे हितग्राहियों को निरंतर आय मिलती रहे। हम इन युवकों को तकनीकी सहायता, ऋण व्यवस्था, क्रय व्यवस्था और प्रबंध क्षमता से लैस करना चाहते हैं।

हम चाहते हैं कि देश में लोक-पहल में वृद्धि हो। जब तक लोग स्वयं पहल नहीं करेंगे, कोई कार्यक्रम या योजना सफल नहीं होगी। इसलिए स्वयंसेवी संस्थाओं को हर क्षेत्र में प्रोत्साहित करना चाहते हैं। देश में सांस्थानिक परिवर्तन के लिए यह जरूरी है। जीवन-स्तर में सुधार और आय-वृद्धि के लिए समन्वित दृष्टि भी जरूरी है।

इसी संदर्भ में मैं एक बात और स्पष्ट करना चाहूँगा कि पिछले बीस सालों में सरकार ने संगठित क्षेत्रों में कार्यरत व्यक्तियों की न्यूनतम आय को सुरक्षित किया

है। जब कोयला-खनिक निजी क्षेत्र में थे, तब उनकी स्थिति कितनी खराब थी ! आज यह नहीं कहा जा सकता। खनिकों को निश्चित वेतन मिलता है। लेकिन संगठित क्षेत्रों को संरक्षण देने का परिणाम यह भी निकला कि असंगठित क्षेत्र विभिन्न लाभों से वंचित रह गए। दूसरे शब्दों में, असंगठित क्षेत्र की कीमत पर संगठित क्षेत्र को संरक्षण दिया गया। इससे दोनों क्षेत्रों के बीच विकृति पैदा हो गई है। अब इस विकृति को दूर करने की आवश्यकता है। देखिए, कितनी दु:खद स्थिति है। जैसे ही महँगाई बढ़ती है, संगठित क्षेत्र के लोग शोर मचाना शुरू कर देते हैं। तुरंत ही उनका महँगाई भत्ता बढ़ जाता है। लेकिन, असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों की स्थिति तो निरंतर दयनीय रहती है। मैं जो कहना चाहता हूँ वह यह है कि आज विषमता ग्रामीण एवं शहरी और सामंती एवं गैर-सामंती समाज के बीच नहीं है बल्कि संगठित और असंगठित क्षेत्रों के बीच विषमता है। छठी योजना से ही असंगठित क्षेत्र के लोगों की स्थिति में सुधार की कोशिश की जा रही है। चूँकि इस क्षेत्र की संख्या अधिक है, इसलिए समस्या भी उतनी ही गंभीर है। परिणामस्वरूप इस क्षेत्र की स्थिति में सुधार के लिए विभिन्न स्तरों पर जो भी कदम उठाए जाते हैं, उनका प्रभाव तत्काल दिखाई नहीं देता है।

जोशी : *देश में जाति-व्यवस्था की जड़ें काफी गहरी हैं। आप ऐसा नहीं मानते कि समाज में बहुआयामी गतिशीलता पैदा करने में जातिवाद बहुत बड़ी बाधा है? ग्रामीण भारत में इसके प्रभाव साफ दिखाई देते हैं।*

प्रणव मुखर्जी : ग्रामीण भारत का मतलब सिर्फ उत्तरप्रदेश और बिहार नहीं है। केरल और बंगाल के बारे में भी सोचिए। इन प्रदेशों में जातिवाद जैसी कोई चीज नहीं है।

जोशी : *आप ऐसा नहीं मानते कि ये दोनों राज्य भारत में अपवाद हैं?*

प्रणव मुखर्जी : बिल्कुल नहीं हैं। ये राज्य भी अन्य राज्यों की तरह हैं। आजादी की लड़ाई में सभी जातियों ने अपना-अपना योगदान दिया था। तब किसी ने जातिवाद की बात नहीं की थी। लेकिन जैसे-जैसे योजनाएँ लागू होती रहीं, समृद्धि आती गई, त्यों-त्यों लोगों ने जातिवाद का नारा लगाना शुरू कर दिया। जातिवाद का नारा उछालने में लोगों का निहित स्वार्थ भी है। लेकिन बुनियादी समस्या आर्थिक है, जाति की नहीं है। एक समस्या यह भी है कि हमारे देश में ऐसी संस्थाओं की कमी है, जिनके माध्यम से योजनाओं के लाभों को समाज के उत्पीड़ित वर्गों के दरवाजों तक पहुँचाया जा सके।

जोशी : *पिछले वर्षों में यह भी अनुभव हुआ है कि योजनाओं से समाज में जो सरप्लस पैदा हुआ है, समृद्धि आई है, उससे कुछ ही क्षेत्र लाभान्वित हुए हैं। लेकिन*

इसका दूसरा परिणाम यह भी निकला है कि विषमता बढ़ी है और वंचित लोगों की महत्वाकांक्षाओं ने करवटें ली हैं। इस चुनौती का सामना आप कैसे करेंगे?

प्रणव मुखर्जी : ऐसा होना स्वाभाविक है। इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि अँगरेजों के जमाने में ही कुछ ऐसे क्षेत्र थे, जो अपेक्षाकृत अधिक विकसित थे, लेकिन ज्यादातर क्षेत्र पिछड़े हुए थे। जब विकास की प्रक्रिया शुरू की गई, तो पहले से ही उन्नत क्षेत्र और अधिक उन्नत बन गए। इससे विषमता और गहरा गई। लेकिन पिछली योजनाओं के दौरान हमारी कोशिश यही रही है कि क्षेत्रीय विषमता को कम किया जाए। इस दृष्टि से पिछड़े प्रदेशों को अधिक केंद्रीय सहायता दी गई, औद्योगिक क्षेत्रों का विस्तार किया गया। पिछड़े क्षेत्रों में उत्तरी-पूर्वी राज्यों को विकास की दृष्टि से विशेष श्रेणी में रखा गया। इन राज्यों के विकास का संपूर्ण खर्च केंद्रीय सरकार द्वारा वहन किया जा रहा है। इसमें 90 प्रतिशत सहायता तथा 10 प्रतिशत कर्ज के रूप में दिया जाता है। हमारी व्यवस्था ही इस प्रकार है कि उसमें पिछड़े क्षेत्रों को आगे बढ़ने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हैं। लेकिन इसमें समय लगता है और फिर देश के पास साधनों की भी कमी है। हमारी विशेषता यह भी है कि हम स्वयं के साधनों से ही सब कुछ कर रहे हैं। देखिए, पाँचवें एवं छठे दशक में अनेक देशों ने बाहरी कर्ज एवं सहायता से विकास किया, जबकि हमने इसके विपरीत रास्ता अपनाया। हम चाहते भी नहीं थे कि विदेशी सहायता पर निर्भर रहकर प्रगति करें। छठी योजना में बाहरी मदद दस प्रतिशत से भी कम थी। हमने जो भी बाहरी मदद ली है, वह भुगतान-संतुलन बनाए रखने के लिए ली है। सातवीं योजना में बाहरी मदद दस प्रतिशत थी। आठवीं योजना में हम इस प्रतिशत को घटाना चाहते हैं। यद्यपि ऊपरी तौर पर क्षेत्रीय विषमता दिखाई देती है, लेकिन वास्तव में योजना-दर-योजना विषमता में कमी आ रही है।

जोशी : *प्रणवजी, अब देश में एकदलीय शासन का युग लद गया। आज राज्यों में विभिन्न दलों की सरकारें हैं। ऐसे में योजनाओं के क्रियान्वयन में अंतर्विरोधों का पैदा होना स्वाभाविक है। आप इनका समाधान कैसे करेंगे?*

प्रणव मुखर्जी : देखिए, पुडिंग का स्वाद तो खाने में है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि केंद्र सहित सभी राज्य सरकारें अपनी शक्ति संविधान से प्राप्त करती हैं। इसलिए लोकतांत्रिक व्यवस्था में विभिन्न दलों के विचारों एवं कार्यक्रमों को एडजस्ट करना पड़ता है। विचारों एवं कार्यक्रमों में अंतर के बावजूद, सबका विकास और कल्याण हम सभी को बाँधे रखता है। जब विकास और कल्याण को प्राथमिकता दी जाती है, तो अंतर्विरोधों का हल करने में विशेष दिक्कत नहीं होती है और मैं तो यह कहता हूँ कि यह कहना भी गलत है कि एकदलीय शासन में कोई मतभेद पैदा ही नहीं होते। संघीय व्यवस्था में विचार, दृष्टि, कार्यक्रम और

प्राथमिकता में मतभेद होना स्वाभाविक है। मुझे अच्छी तरह याद है जब तत्कालीन काबीना मंत्री टी.टी. कृष्णमाचारी ने इस्पात के मामले में कुछ नई नीति लागू करनी चाही, तो बिहार और बंगाल के मुख्यमंत्रियों ने सख्त विरोध किया था। दोनों ही जगह कांग्रेस की सरकारें थीं। बी.सी. राय और श्रीकृष्ण सिन्हा, दोनों मुख्यमंत्री ही नहीं थे, बल्कि कांग्रेस के दिग्गज नेता भी थे। इसी तरह असम के मुख्यमंत्री गोपीनाथ बारदोलाई ने भी पेट्रोल की रॉयल्टी के सवाल पर केंद्र से अपना मतभेद जाहिर किया था। दुनिया की किसी भी संघीय व्यवस्था में इस तरह के मतभेदों का होना स्वाभाविक है। आवश्यकता इस बात की है कि जब मतभेद हो जाएँ तब संवाद के माध्यम से उन्हें सुलझा लिया जाए। जहाँ तक योजना का प्रश्न है, मुझे कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी मुख्यमंत्री के साथ बातचीत करने में कोई दिक्कत नहीं होती। मेरा आग्रह यह जरूर रहता है कि कोई भी मुख्यमंत्री रहे, उसकी योजना संसाधनों की उपलब्धता के दायरे में रहनी चाहिए। हम हमेशा यह कहते हैं कि हमारे पास पर्याप्त धन नहीं है। हर प्रदेश का मुख्यमंत्री चाहता है कि उसे अधिक से अधिक राशि मिले। इन मतभेदों के बीच रास्ता निकालना पड़ता है। इसमें कौशल की आवश्यकता होती है।

जोशी : *पिछले दिनों जनता दल शासित उड़ीसा के मुख्यमंत्री बीजू पटनायक ने वित्तीय स्वायत्तता की गुहार लगाई है। इस संबंध में आपका क्या कहना है?*

प्रणव मुखर्जी : हाँ, उनकी माँग जरूर है। आप जानते ही हैं, सरकारिया आयोग का गठन किया गया था। आयोग की कुछ सिफारिशों को लागू भी किया जा रहा है, कुछ पर विचार चल रहा है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है।

जोशी : *वो तो ठीक है, पर पटनायक की माँग बिल्कुल अलग है। वे आर्थिक मामलों में केंद्र की पाबंदियाँ बिल्कुल पसंद नहीं करते।*

प्रणव मुखर्जी : मुझे मालूम है उनकी माँग। आज वे मुख्यमंत्री हैं, तो ऐसी बात कर रहे हैं; जब वे केंद्र में मंत्री थे, तब उन्होंने ऐसी बात नहीं की थी। जो कुछ वे कह रहे हैं, उसे उसी रूप में नहीं लेना चाहिए। केंद्र से ज्यादा अधिकारों एवं स्वतंत्रता की माँग करना, यह एक संघीय चरित्र है। कनाडा, जर्मनी, अमेरिका में भी ऐसी ही समस्याएँ व्याप्त हैं।

जोशी : *यह आई.सी.ओ.आर. क्या है? आज इसका प्रतिशत क्या है?*

प्रणव मुखर्जी : इसे इन्क्रीमेंटल कैपीटल आउटपुट रेशो (वृद्धीय पूँजी उत्पादन अनुपात) कहते हैं।

जोशी : *सो तो ठीक है। लेकिन भारत में इसका ताजा प्रतिशत क्या है?*

प्रणव मुखर्जी : हमने 4.1 प्रतिशत का अनुमान लगाया है।

जोशी : *लेकिन 4.1 प्रतिशत क्या अच्छी स्थिति है?*

प्रणव मुखर्जी : ठीक नहीं है। इसे घटाया जाना चाहिए। आठवीं योजना के दौरान, हमारा अनुमान है कि हम इसे कम कर सकते हैं। हमारी कोशिश है कि विकास दर 5.6 प्रतिशत तक पहुँचे। जब विकास दर में वृद्धि होगी, तो जाहिर है कि आई. सी.ओ.आर. के प्रतिशत में गिरावट आएगी। इसे 4.1 प्रतिशत से घटाकर 3.6 प्रतिशत पर लाया जा सकता है। हमारी तमाम कोशिशें इस दिशा में हैं। एक जमाने में तो इसका प्रतिशत 5 तक रहा है।

जोशी : *आजकल उदारीकरण की आँधियाँ चल रही हैं। आत्मनिर्भरता के लक्ष्य के संदर्भ में आर्थिक उदारीकरण की भूमिका के बारे में आपका क्या कहना है?*

प्रणव मुखर्जी : आत्मनिर्भरता के लक्ष्य का यह अर्थ कतई नहीं है कि हम ककून में बंद रहें। आत्मनिर्भरता का अर्थ है स्वयं की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करना। इससे प्रतिस्पर्धा का विस्तार होगा। कालांतर में इससे अर्थव्यवस्था मजबूत होगी और आत्मनिर्भरता का लक्ष्य पूरा होगा।

जोशी : *जिस ढंग से बहुराष्ट्रीय कंपनियों को छूट दी जा रही है, क्या इससे हम अपने लक्ष्य की रक्षा कर सकेंगे? क्योंकि इन कंपनियों का आर्थिक आधार कई गुना मजबूत है। इसकी तुलना में हमारा आर्थिक ढाँचा काफी पिछड़ा हुआ एवं कमजोर है। किस ढंग से हम अपने आर्थिक एवं राजनीतिक हितों की रक्षा कर सकेंगे?*

प्रणव मुखर्जी : खतरे जरूर हैं। लेकिन, इनसे बचा भी नहीं जा सकता। मानव सभ्यता का विकास भी जोखिम मोल लेकर ही हुआ है। जब तक हम नई एवं उच्च प्रौद्योगिकी को नहीं अपनाएँगे, तरक्की नहीं होगी। यदि ऐसा नहीं करेंगे, तो धीरे-धीरे हम लुप्त होते चले जाएँगे, जंगलों में खो जाएँगे। उदाहरण के लिए, राजपूत काफी लड़ाकू और योद्धा थे, लेकिन बाबर ने नई प्रौद्योगिकी की सहायता से उन्हें पराजित कर दिया। इसलिए हमें तय करना होगा कि नई प्रौद्योगिकी अपनाएँ या अपने ही ककून में कैद रहें।

जोशी : *तो भी कहीं न कहीं सुरक्षात्मक उपायों की जरूरत पड़ेगी ही।*

प्रणव मुखर्जी : आपको सुरक्षा क्यों चाहिए? शुरूआती अवस्था में सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है। तीस-चालीस साल तक सुरक्षा प्रदान की गई। इस लंबी अवधि के बाद भी सुरक्षा चाहिए तो इसका औचित्य क्या है? दूसरा प्रश्न यह है कि जब तक आप अपने दरवाजे खोलेंगे नहीं, तब तक आपको उत्तम प्रौद्योगिकी हासिल कैसे होगी? जब हमने इंदिरा-सरकार के दौरान फेरा कानून बनाया था तब प्रौद्योगिकी प्राप्त करने की कोशिश की थी। लेकिन हमें सफलता नहीं मिली। हमसे कहा गया कि जब तक हमें बाजार नहीं मिलेगा तब तक उच्च प्रौद्योगिकी नहीं देंगे।

उस समय हमारी रणनीति स्वदेशी उद्योगों यानी अर्थव्यवस्था को संरक्षण प्रदान करने के साथ-साथ उच्च प्रौद्योगिकी प्राप्त करने की थी। इसमें असफलता मिली। अब सवाल यह है कि हम बदलें या नहीं बदलें? यह बुनियादी सवाल है। जब आप संरक्षण के वातावरण में जीते हैं, तो चुनौतियों का सामना करने की इच्छा, प्रतियोगिता में भाग लेने का साहस, उत्पादित वस्तु में गुणवत्ता पैदा करने का संकल्प आदि सभी को भुला दिया जाता है। अब ऑटोमोबाइल उद्योग को ही लें। ऑटोमोबाइल उद्योगपतियों ने 40 साल तक एकाधिकार भोगा। क्या इन्होंने अपने माल में कोई सुधार किया? क्या इन्हें कभी ग्राहक की चिंता हुई? हम संरक्षण या आत्मनिर्भरता के नाम पर किसके हितों की रक्षा करना चाहते हैं? अब मौका है। हम बदलें। दुनिया के सभी हिस्सों में होड़ लगी हुई है। हमें भी नई चुनौतियों का सामना करना चाहिए। मैं नहीं समझता कि हमारे नव-उद्यमी किसी से पीछे हैं।

जोशी : *आप नहीं समझते कि शुरूआती दौर में थोड़ा-बहुत 'चैक्स एंड बैलेन्स' होना चाहिए?*

प्रणव मुखर्जी : चैक्स एंड बैलेन्स क्यों होना चाहिए? इसकी कोई जरूरत नहीं है। इसका तो मतलब यह हुआ कि उदारीकरण की नाक में नकेल बाँधकर उससे कहा जाएगा कि तीन मीटर आगे जाओ, और दो मीटर पीछे आ जाओ। इससे कोई फायदा नहीं होगा। आप पूरी छूट दीजिए। यदि नहीं दे सकते तो पूरा कंट्रोल रखिए। आधे-अधूरे ढंग से कोई काम मत करिए। देखिए, संरक्षण के नाम पर निजी क्षेत्र ग्राहकों को लूटते हैं। मैं पूछता हूँ कि निजी क्षेत्र ने रोजगार के कितने अवसर पैदा किए हैं ? वैसे आज निजी क्षेत्र भी संरक्षण नहीं चाहता। वह कहता है कि हमें मुक्त वातावरण दीजिए। अब हमने उन्हें मुक्त अवसर प्रदान कर दिए हैं। लेकिन संवेदनशील क्षेत्रों को सुरक्षित रखा है, जहाँ सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता रहती है। इन क्षेत्रों में रक्षा, परमाणु ऊर्जा आदि को शामिल किया जा सकता है।

जोशी : *क्या बहुराष्ट्रीय कंपनियों को जीवन बीमा जैसे सर्विस-सेक्टर में जाने की इजाजत दी जाएगी?*

प्रणव मुखर्जी : नहीं। देखिए, उदारीकरण कोई नारा नहीं है। उदारीकरण की मुख्य कसौटी राष्ट्रहित एवं अर्थव्यवस्था का सुदृढ़ीकरण है। यदि हमें लगा कि उत्पादन क्षेत्र या सर्विस-सेक्टर में उदारीकरण से लाभ होता है, तो हम निश्चित ही करेंगे। सब कुछ हमारी आवश्यकता और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की इच्छा पर निर्भर है।

जोशी : *क्या आपको पक्का विश्वास है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हमारी अर्थव्यवस्था*

को अस्त-व्यस्त नहीं करेंगी? लातीनी एवं पड़ोसी देशों के अनुभवों की कहानी सुखद नहीं कही जा सकती।

प्रणव मुखर्जी : देखिए, मैं ऐसा नहीं मानता। उन देशों में और हमारे देश में गुणात्मक अंतर है। पाकिस्तान सहित लातीनी देशों का राजनीतिक नेतृत्व इसके लिए जिम्मेदार है। संपूर्ण दोष बहुराष्ट्रीय कंपनियों का है, यह सही नहीं है। सब कुछ राजनीतिक नेतृत्व और लोक-चेतना पर निर्भर करता है। हमारा देश लोकतांत्रिक है। लोग जागरूक हैं।

जोशी *: इसका अर्थ यह निकला कि हमें चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है?*

प्रणव मुखर्जी : मैं यह नहीं कहता कि चिंता करने की जरूरत नहीं है, सावधान रहना होगा।

26 जुलाई, 1992

'वे खिलाड़ी हम प्यादे'

"हमें यह समझ लेना चाहिए कि वर्तमान स्थिति में अमेरिका तथा अन्य विकसित राष्ट्र गैट-खेल के खिलाड़ी हैं और हम सिर्फ प्यादे हैं। क्योंकि, सोवियत संघ के पतन के बाद एकलध्रुवीय शक्ति-व्यवस्था अस्तित्व में आ गई है। यह कुछ समय तक रहेगी, हमें इस सच्चाई के साथ जीना है। लेकिन यह तय है कि स्थिति बदलेगी।"

केंद्रीय वाणिज्य मंत्री प्रणव मुखर्जी ने ये विचार एक विशेष, साक्षात्कार में व्यक्त किए। प्रस्तुत हैं गैट-समझौते के ताजा परिप्रेक्ष्य में हुए उस संवाद के अंश :

जोशी : *क्या आप गैट के तहत नई बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था के सभी पक्षों से सहमत एवं संतुष्ट हैं?*

प्रणव मुखर्जी : जहाँ तक गैट व्यवस्था का प्रश्न है, किसी भी व्यक्ति के लिए यह कहना मुश्किल है कि वह इससे पूरी तौर पर संतुष्ट है या असंतुष्ट। इसकी वजह साफ है। गैट व्यवस्था से 117 राष्ट्र जुड़े हुए हैं। सभी राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना चाहते हैं। गैट-वार्ता के दौरान सभी राष्ट्रों ने अपने-अपने हितों की रक्षा करने के लिए हरसंभव कोशिश भी की। इस प्रक्रिया में कोई भी देश यह नहीं कह सकता कि उसे 100 फीसदी उपलब्धि हुई है। अत: कहा जा सकता है कि कुछ क्षेत्रों में संतोष प्राप्त हुआ है और कुछ में असंतोष।

जोशी : *वे कौन-से क्षेत्र हैं जो भारत की द ष्टि से असंतोषजनक हैं?*

प्रणव मुखर्जी : पहले मैं संतोषजनक क्षेत्रों की बात करूँगा। सर्वप्रथम तो यह है

कि भारत को अंतरराष्ट्रीय बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था में पैर जमाने का अवसर प्राप्त हो गया है। अब एक नियम के तहत व्यापार हो सकेगा। सीमा शुल्क और गैर-सीमा शुल्क जैसी बाधाओं से मुक्ति मिली है। इसका सीधा लाभ यह हुआ कि विकसित देशों के बाजार में विकासशील देश प्रवेश कर सकेंगे। विकासशील देशों के बाजार विकसित देशों के बाजार का स्तर प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं। आज हम विकसित बाजारों से कई वस्तुओं का आयात कर रहे हैं। इसके जरिए हम अपने बाजार का भी आधुनिकीकरण कर रहे हैं। पहले यह होता था कि विकसित देशों के बाजार में घुसने के लिए अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। अब हम आयात के साथ-साथ उन बाजारों को अपने माल का निर्यात भी कर सकेंगे। अब निर्यात का रास्ता सहज-सरल हो गया है। यह एक सकारात्मक उपलब्धि है।

एक बात हमें साफ-साफ समझनी होगी। इस विषमतावादी विश्व में जो शक्तिशाली राष्ट्र हैं वे कमजोर देशों का शोषण करने की कोशिश करते हैं। द्विपक्षीय व्यापार व्यवस्था का यह सबसे बड़ा दोष है; शक्तिशाली देश अपनी मनमानी शर्तें कमजोर देशों पर थोपते रहते हैं। इस प्रक्रिया में कमजोर व गरीब देश की लेन-देन की शक्ति क्षीण होती जाती है। लेकिन, बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था के तहत मनमानी पर अंकुश लगाया जा सकता है; विकासशील देशों की लेन-देन की शक्ति स्थिर रहती और बढ़ जाती है; आर्थिक व राजनीतिक द ष्टि से शक्तिशाली देशों की शक्ति कम हो जाती है। मिसाल के तौर पर शक्तिशाली देश ऐसे व्यापारिक कानून-कायदे बना सकते हैं जो गरीब देशों के हितों के खिलाफ हों। लेकिन गैट जैसी अंतरराष्ट्रीय विवाद-समाधान व्यवस्था के तहत उनके लिए ऐसा करना संभव नहीं होगा। इस संदर्भ में अमेरिका का विशेष-301 का कानून उल्लेखनीय है। यदि अमेरिका कोई कदम उठाता है तो हम गैट का सहारा ले सकते हैं और द्विपक्षीय विवाद का हल करा सकते हैं। इस तरह की सुविधाएँ गैट के अंतर्गत विकासशील देशों को उपलब्ध हैं। इसके साथ ही एक बड़ा लाभ और है। यदि विश्व व्यापार का विस्तार होता है तो भारत को भी उसका लाभ मिलेगा।

जोशी : *अब हम असंतोषजनक या अलाभकर क्षेत्रों की बात कर लें।*

प्रणब मुखर्जी : जहाँ तक अलाभकर क्षेत्रों का प्रश्न है, इसमें प्रतिस्पर्धा का तत्व महत्वपूर्ण है। गैट व्यवस्था के तहत सभी सदस्य देशों को प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ेगा। यदि आप में बाजार में खड़े होने की क्षमता नहीं है तो आपके धीरे-धीरे लुप्त होने का खतरा हमेशा बना रहेगा।

कुछ क्षेत्रों में विकासशील देश लाभ प्राप्त करना चाहते थे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। मिसाल के लिए भारत जैसे देश चाहते थे कि वस्त्र व्यापार के मामले में विकसित देशों के बाजार में प्रवेश की छूट मिल जाए। यह हमारी बहुत पुरानी माँग है। काफी

बहस के बाद विकसित देशों ने 10 वर्ष बाद की छूट दी है। पहले वे 15 वर्ष रखना चाहते थे। बेहतर होता कि यह अवधि और कम हो जाती। एक असंतोषजनक बात यह भी है कि हमें इस अवधि की समाप्ति के बाद ही लाभ प्राप्त होगा।

लेकिन मेरा यह मत है कि इस हानि से परेशान नहीं होना चाहिए, क्योंकि विकसित देश तो अपने बाजार में प्रवेश की छूट ही नहीं दे रहे थे। प्रारंभिक गैट-वार्ताओं में अमीर देशों ने साफ मना कर दिया था कि कपड़ा व्यापार को गैट व्यवस्था का अंग नहीं बनाया जा सकता। विकसित देशों में वस्त्र उद्योग लॉबी बहुत शक्तिशाली है। वह हमेशा गैट वार्ताओं पर दबाव डालती रही है। जब लॉबी ने देखा कि कोई चारा नहीं रह गया है तो उसने 15 वर्ष की अवधि तय कर दी। लेकिन विकासशील देशों के दबाव के बाद इसे घटाना पड़ा। अब इस पर संतोष व्यक्त किया जा सकता है कि कम से कम 10 वर्ष के बाद वस्त्र व्यापार की कोटा प्रणाली समाप्त हो जाएगी और विकसित देशों के बाजार में हमारा कपड़ा आसानी से पहुँच सकेगा।

जोशी : *लेकिन 15 से 10 वर्ष करने की एवज में भारत को वस्त्र आयात के मामले में अमेरिका को रियायत भी देनी पड़ी है। अमेरिका को 17 वस्त्र उत्पादों में 45 प्रतिशत आयात शुल्क की रियायत दी गई है। इसके बाद ही अवधि कम की गई है। इस संबंध में आपका क्या कहना है?*

प्रणव मुखर्जी : द्विपक्षीय आधार पर इसका निर्धारण किया जाएगा। लेकिन 10 वर्ष की अवधि के दौरान हमें अपना बाजार विकसित देशों के लिए खोलना पड़ेगा। इससे लाभ भी प्राप्त कर सकते हैं। शुरू-शुरू में कुछ हानि दिखाई दे सकती है। लेकिन विकसित बाजार में पैर रखने की जगह प्राप्त होने के बाद इसकी क्षतिपूर्ति की जा सकती है। पर द्विपक्षीय आधार पर दस वर्ष के दौरान भी अनुकूल स्थिति पैदा की जा सकती है। एक हानि यह भी है कि अब हमें दवाओं के मामले में औषधि उत्पाद की पेटेंटी करनी पड़ेगी। पहले ऐसा नहीं था। पेटेंट की अवधि 20 वर्ष की होगी। तदनुसार हमें अपने कानून में संशोधन करना पड़ेगा। इससे दवाओं के मूल्यों में वृद्धि हो सकती है। परंतु हमने इसकी रोकथाम के उपाय भी सोचे हैं।

जोशी : *क्या आप यह मानते हैं कि गैट व्यवस्था के तहत दवाइयाँ महँगी हो जाएँगी ? जीवन-रक्षक दवाइयाँ आम आदमी की पहुँच से बाहर हो जाएँगी?*

प्रणव मुखर्जी : देखिए, दवाइयों के मामले में प्रत्येक देश को यह अधिकार होगा कि वह अपना कानून बनाए। यदि उसे लगता है कि दवाइयों की ऊँची कीमतों से सामान्य या गरीब आदमी प्रभावित हो रहा है या उसके स्वास्थ्य कार्यक्रमों पर प्रतिकूल असर पड़ रहा है तो वह उचित कदम उठा सकता है, दवाइयों के दाम

निर्धारित कर सकता है। हमें यह बात भी जान लेनी चाहिए कि नई दवाओं के मूल्यों में ही वृद्धि होगी, बाजार में पहले से मौजूद दवाओं के मूल्यों में वृद्धि नहीं होगी। मैं यह भी बताना चाहूँगा कि आज जितनी दवाओं का हम प्रयोग कर रहे हैं, उनमें से 15 प्रतिशत दवाएँ ही ऐसी हैं जिन्हें पेटेंट के योग्य कहा जा सकता है। बाकी 85 प्रतिशत दवाओं का पेटेंट कराने की कोई जरूरत नहीं है। जहाँ तक जीवन-रक्षक दवाओं का प्रश्न है, इसके लिए सरकार को मूल्य नियंत्रण प्रणाली अपनानी पड़ेगी। कई को यह गलतफहमी है कि दवाओं के दामों में तत्काल वृद्धि हो जाएगी। ऐसा नहीं है। सात-आठ वर्ष के बाद ही इनके मूल्य बढ़ेंगे।

जोशी : *प्रणवजी, राजनीतिक दृष्टि से गैट-व्यवस्था के संबंध में कई तरह की गंभीर आशंकाएँ व्यक्त की जा रही हैं। कुछ विश्लेषकों का मत है कि इसके जरिए श्वेत राष्ट्रों द्वारा नवीनतम व अति उन्नत किस्म का साम्राज्यवाद ईजाद किया जा रहा है। क्या आप इससे सहमत हैं?*

प्रणव मुखर्जी : इसका उत्तर पाने के लिए हमें गैट व्यवस्था की वैचारिक पृष्ठभूमि समझनी होगी। गैट का कुल मतलब है 'मुक्त बाजार-व्यापार व्यवस्था'। यदि आपको उदारीकृत अर्थव्यवस्था स्वीकार्य नहीं है तो गैट व्यवस्था भी स्वीकार्य नहीं है। बुनियादी रूप से गैट, मुक्त पूँजीवादी व्यवस्था का एक अभिन्न हिस्सा है। अतः पहले इसे वैचारिक स्तर पर स्वीकार या अस्वीकार करना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि मुक्त अर्थव्यवस्था में जो देश शक्तिशाली हैं, उनका विश्व अर्थव्यवस्था पर दबदबा निश्चित तौर पर रहेगा। जब आप गैट को स्वीकार करते हैं तो मुक्त अर्थव्यवस्था या मुक्त पूँजीवादवाले देशों के प्रभाव को भी स्वीकार करते हैं। और यह भी सच है कि गैट व्यवस्था से उन्हीं देशों को अधिक लाभ प्राप्त होगा जो पहले से ही ताकतवर व विकसित हैं। गैट का समाजवादी या नियंत्रित अर्थव्यवस्था के साथ कोई लेना-देना नहीं है।

जोशी : *इसका अर्थ तो यह हुआ कि यह असंतुलन हमेशा बना रहेगा। गैट से भी विषमता दूर नहीं की जा सकेगी?*

प्रणव मुखर्जी : हमें यह समझना चाहिए कि हम लोग उन्हीं के साथ व्यापार करते हैं जिनमें खरीदने-बेचने की क्षमता है। आखिर विकासशील देश अपना माल कहाँ बेचें? विकासशील देशों के बाजार इतने विकसित नहीं हैं कि वे अपना माल खपा सकें। इसलिए विकसित देशों के बाजारों को तलाशना पड़ रहा है। अतः गरीब व विकासशील देशों के हित में यही है कि वे अपना माल विकसित देशों में बेचें।

इसके अतिरिक्त हमें टैक्नोलॉजी भी चाहिए। यह हमें किसी गरीब देश से मिल नहीं सकती। इसके लिए तो हमें विकसित व उन्नत देशों के पास ही जाना पड़ेगा। उससे

हमें कच्चा माल, पूँजीगत मशीनरी, टैक्नोलॉजी आदि का आयात करना पड़ेगा।

मैं जानता हूँ, विकसित व विकासशील देशों के बीच यह एक असमान स्तर की जंग है। यह संसार ही असमान है। एक गरीब देश को क्या चाहिए? पूँजीगत माल, पूँजी, टैक्नोलॉजी, बाजार आदि, और यह सब उपलब्ध है विकसित देशों के पास।

जोशी : *आप समझते हैं कि विकसित देश गरीब देशों को स्वयं के बराबर आ जाने देंगे? क्या गैट से विषमता समाप्त की जा सकती है?*

प्रणव मुखर्जी : देखिए, विकसित राष्ट्रों के पास भी विकल्प सीमित हैं। उन्हें भी अपना माल बेचना है। इसलिए विकासशील व गरीब देशों के बाजारों को शक्तिशाली बनाना भी उनकी एक मजबूरी है। यह सच है कि कई क्षेत्रों में उन्हें हमसे अधिक फायदा होगा। मिसाल के लिए, आज वे भारत क्यों आना चाहते हैं? जाहिर है अपना माल बेचने के लिए। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि भारत के 90 करोड़ लोगों में क्रय क्षमता होनी चाहिए। अत: वे यहाँ आकर हम पर कोई अहसान नहीं कर रहे हैं। भारत की क्रय क्षमता बढ़ाने के लिए यहाँ की खेती, उद्योग, टैक्नोलॉजी जैसे क्षेत्रों को विकसित करना पड़ेगा, पूँजी लगानी पड़ेगी। इस प्रक्रिया का फायदा भारत उठा सकता है। देखिए, इस संसार में सबको अपनी लड़ाई खुद लड़नी पड़ती है। गैट-व्यवस्था के तहत एक सीढ़ी प्राप्त की जा सकती है, लेकिन चढ़ना तो स्वयं को पड़ेगा।

विश्व में आप स्वयं को काटकर तो नहीं रख सकते। अपने मकान की खिड़कियाँ कब तक बंद रख सकते हैं? आपको अपना माल बेचना भी है, और दूसरे का खरीदना भी है। आज चीन जैसा देश भी गैट में शामिल होने के लिए फिर से मचल रहा है; उसे भी इसका महत्व समझ में आ रहा है। ऐसी स्थिति में मेरा मत तो यही है कि गैट से बचना मुश्किल था। हम अपने दरवाजे खोलकर रखें, और दूसरों के खुलवाएँ– यही एकमात्र विकल्प था, जिसे भारत ने अपनाया। और फिर दुनिया लेन-देन पर टिकी हुई है। इसलिए गैट को पूरी तौर पर घाटे का सौदा नहीं कहा जा सकता।

जोशी : *हालाँकि पड़ोसी देश चीन गैट की सदस्यता पाने के लिए उत्सुक है, लेकिन उसकी स्थिति हमसे मजबूत है। वह अमेरिका और दूसरे अमीर देशों को अपनी आँखें भी दिखा सकता है।*

प्रणव मुखर्जी : इसके कई कारण हैं। उसके पास एक मजबूत आर्थिक स्थिति है। उसे अपनी भौगोलिक स्थिति का भी लाभ मिल रहा है। उसके आस-पास हांगकांग, जापान, कोरिया, ताईवान जैसे समृद्ध देश हैं। अन्य देशों में बसे चीनी उद्योगपति और व्यापारी अपनी पूँजी चीन में लगा रहे हैं। चीन के विशाल बाजार का लाभ

उन्हें मिल रहा है। लेकिन, भारत के इर्द-गिर्द देखिए, क्या है? पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल आदि। क्या इन देशों का बाजार समृद्ध कहा जा सकता है? और कितने अनिवासी भारतीयों के पास विशाल पूँजी भंडार है? इसके साथ ही हमारा रवैया भी अजीब है। कुछ अनिवासी भारतीय, भारतीय कंपनियों में पूँजी लगाना चाहते थे। चारों तरफ हायतौबा मच गई। दूसरी तरफ चीन ने अपने अनिवासी चीनी पूँजीपतियों का स्वागत किया; उनके लिए दरवाजे खोले और उपयुक्त वातावरण तैयार किया। हमने शोर मचाने के अलावा कुछ नहीं किया है। इसलिए बस हमसे छूट गई।

जोशी : *विकसित राष्ट्रों की योजना हमेशा दस-पंद्रह वर्ष अग्रिम की होती है। आज उन्होंने गैट का शस्त्र अपनाया है, कल कोई दूसरी व्यवस्था विकासशील देशों के सामने रख देंगे। संक्षेप में, श्वेत राष्ट्रों की रणनीति एशिया, अफ्रीका के गरीब देशों को विभिन्न तरीकों से गुलाम बनाने की रही है। इसकी क्या गारंटी है कि हम भविष्य में आर्थिक दासता से मुक्त रहेंगे?*

प्रणव मुखर्जी : अब गुलामी या उपनिवेशवाद का कोई अर्थ नहीं रह गया है। आज इस कठोर विश्व में कोई किसी को गुलाम नहीं बना सकता। सबको स्वयं अपने-अपने हितों की रक्षा करनी होगी। कोई किसी की मदद नहीं करेगा। देखिए, भविष्य में जिसकी टैक्नोलॉजी सर्वोच्च रहेगी वह बाजी मार ले जाएगा। रूस की टैक्नोलॉजी अमेरिका के सामने पिट गई, तो उसका हाल देख लीजिए। अतः यह जरूरी नहीं है कि जो देश आज हमसे आगे हैं, कल भी रहेंगे। इसकी ऐतिहासिक मिसाल हमारे सामने है। आज जापान और जर्मनी अमेरिका से टक्कर ले रहे हैं। दूसरे विश्वयुद्ध में ये बिलकुल तबाह हो गए थे। दूसरी तरफ ब्रिटेन पिछड़ गया है। सर्वोच्चता कभी स्थिर नहीं रहती। इसका चक्र घूमता रहता है। लेकिन एक सावधानी जरूर बरती जानी चाहिए कि संबंधित राष्ट्र उपलब्ध टैक्नोलॉजी का फायदा उठा रहा है या नहीं। यह बात भारत पर भी शत-प्रतिशत लागू होती है। टैक्नोलॉजी को मानव संसाधन से जोड़ा जाना चाहिए।

जोशी : *लेकिन क्या विकसित देश हमें नई टैक्नोलॉजी प्राप्त करने या विकसित करने की इजाजत देंगे? क्या वे तरह-तरह की अड़चनें पैदा नहीं कर रहे हैं?*

प्रणव मुखर्जी : इजाजत देने या न देने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। आपको स्वयं यह सब कुछ प्राप्त करना होगा। दुनिया को 'खैरातखाना' मत समझिए। यदि आपमें क्षमता है, शक्ति है, तो नई व उपयुक्त टैक्नोलॉजी से आप लैस हो सकते हैं, वरना आपकी मदद करनेवाला कोई नहीं है।

अब देखिए, हमारे देश को क्या हो गया है? संसार का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश

है। लेकिन, आज राष्ट्र के महत्वपूर्ण मुद्दे हो गए हैं– धर्म, मंदिर, मस्जिद, ईश्वर। दक्षेस के अन्य सदस्य राष्ट्रों का भी यही हाल है। पाकिस्तान, बंगलादेश, भारत... क्या हो रहा है इन देशों में? इन देशों के कुछ लोग मध्ययुगीन समाज में जीना चाहते हैं, और साथ ही आधुनिकतम टैक्नोलॉजी की गुहार भी लगाई जाती है। यह कैसे संभव है? यह विरोधाभासपूर्ण स्थिति है। इसलिए दक्षिण क्षेत्रीय सहयोग (सार्क) सफल नहीं हो सका है। पड़ोसी देश एक-दूसरे की टाँग खींचने में उलझ गए हैं। जब तक हम कट्टरपंथी, पुराणपंथी, धर्मांधतावादी विचारों से मुक्त नहीं होंगे, तब तक कुछ नहीं हो सकता। विकसित देशों को कोसने से काम नहीं चलेगा। आज के संक्रमणकालीन दौर में भारत को खास सावधानी बरतने की आवश्यकता है। मंदिर-मस्जिद-जातिवाद की राजनीति और मध्ययुगीन द ष्टि से मुक्त होने की आवश्यकता है।

जोशी : *पर यह कैसे संभव है? आज का यथार्थ तो यही है।*

प्रणव मुखर्जी : पर मैं इन सबको अस्थायी मानता हूँ। भारत के मतदाता जागरूक हैं। वे अपना भला-बुरा अच्छी तरह से समझते हैं। मुझे विश्वास है कि वे मध्ययुगीन भावावेश से काम नहीं लेंगे।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि वर्तमान स्थिति में अमेरिका तथा अन्य विकसित राष्ट्र गैट खेल के खिलाड़ी हैं और हम सिर्फ प्यादे हैं। क्योंकि सोवियत संघ के पतन के पश्चात एकलध्रुवीय शक्ति-व्यवस्था अस्तित्व में आ गई है। यह कुछ समय तक रहेगी। हमें भी इस सच्चाई के साथ जीना है लेकिन मुझे विश्वास है कि रूस फिर से उभरेगा। अमेरिका लंबे समय तक शिखर पर नहीं रह सकता। क्षेत्रीय स्तर पर चीन भी एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में उभर रहा है। भारत भी देर-सबेर शक्ति के रूप में सामने आएगा। पर यह तभी संभव होगा जब हम भारत को 21वीं सदी में एक आधुनिक देश के रूप में ले जाना चाहेंगे और शक्तिशाली राष्ट्र के हित में एक कुतुबनुमा की भूमिका निभाएँगे।

जोशी : *कहा जाता है कि यदि किसी राष्ट्र का सुद ढ राजनीतिक नेत त्व नहीं है तो उसकी अर्थव्यवस्था भी लचर रहेगी, वह कभी भी प्रभावशाली नहीं हो सकती। क्या गैट-व्यवस्था के संदर्भ में यह टिप्पणी सटीक नहीं है?*

प्रणव मुखर्जी : यह सच है, निश्चित ही हमारी नीतियाँ हमारी ताकत पर निर्भर करती हैं। पर मैं यह नहीं कहूँगा कि हमारे पास मजबूत राजनीतिक नेत त्व नहीं है। दरअसल, भारत ने एक मानवीय द ष्टि अपनाई है। हमारा एक ऐसा देश है जहाँ बदलाव की न्यूनतम कीमत देनी पड़ी है। हमें परिवर्तन के लिए न तो दुष्कर लंबी मार्च से गुजरना पड़ा है, और न ही हिंसक क्रांति से। दूसरे शब्दों में, खून

नहीं बहाना पड़ा है। हमने समाज में समझौते के आधार पर बदलाव का रास्ता चुना है, सबको साथ लेने की कोशिश की है। इसलिए हमारी विकास-गति धीमी रही है। पर विकास की यह गति कम दर्दीली रही है। रूस और चीन से हमारी परिवर्तन की पद्धति भिन्न रही है। इसलिए तुलनात्मक द ष्टि से भारत की विकास गति तेज नहीं रही। पर हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हमने अपने संसाधनों का सही ढंग से उपयोग नहीं किया है। जहाँ हमारी अकुशलता ने विकास की गति को प्रभावित किया है वहीं संरक्षणवाद ने भी नुकसान पहुँचाया है। हमने सभी क्षेत्रों को जरूरत से ज्यादा संरक्षण दिया है। संरक्षण की वजह से अनुसंधान का क्षेत्र पिछड़ा रहा। उद्योगपतियों ने अनुसंधान और विकास में वांछित रुचि नहीं दिखाई। पूँजीपति, संगठित श्रमिक वर्ग, मध्यम वर्ग, संगठित कृषक वर्ग आदि ने अपने-अपने वर्गीय हितों को देखा, उनकी रक्षा की। किसी को एकीकृत राष्ट्रीय हितों की चिंता नहीं थी। हमने समझौते कर-करके अपने वर्गीय निहित हितों पर राष्ट्रीय हितों की बलि दे दी। इससे भी विकास दर प्रभावित हुई है। अब हालत यह हो गई है कि सरकार में इन वर्गीय हितों का बोझ उठाने की ताकत ही नहीं रह गई है। दरअसल इन ताकतवर और सगठित वर्गो ने राष्ट्र के साथ धोखा किया है।

जोशी : *और अंत में, यह एक काल्पनिक सवाल है। मान लीजिए, गैट व्यवस्था, अर्थव्यवस्था का उदारीकरण या आधुनिकीकरण जैसी प्रक्रिया विफल हो जाती है तो उसके क्या परिणाम निकलेंगे?*

प्रणव मुखर्जी : यदि ये कदम नाकाम रहते हैं तो निश्चित ही हम सभी को इसकी बड़ी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी।

26 दिसम्बर, 1993

हरिकिशनलाल भगत से साक्षात्कार

'जन संचार : शैतान भी और देवता भी'

कहते हैं, किसी भी राज-पाट का जीना-मरना काफी हद तक उसकी साख, उसकी लोक-छवि पर टिका होता है। लोक-छवि को उजली रखने या उसे मटियामेट करने में लोक-प्रचार की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। राजशाही और लोकतंत्र दोनों ही तरह के राज-पाटों के शासकों ने इसका अपने-अपने ढंग से इस्तेमाल किया है। लोकतंत्र में तो इसका महत्व और भी बढ़ गया है। यह एक दुधारी तलवार है। जहाँ यह शासन की ढाल बनती है, वहीं विरोधियों पर आक्रमण भी करती है। यदि अच्छी तलवारबाजी न की जाए तो चलानेवाला भी इसका शिकार हो सकता है। इमरजेंसी के दौरान सरकारी जन-संचार माध्यम, विरोधियों के गुपचुप या कानाफूसी संचार माध्यमों के सामने पिट गए। सरकार बनने के बाद जनता पार्टी के तत्कालीन जनसंघ घटक के कतिपय नेताओं ने दिल्ली में यह स्वीकार भी किया कि उनकी अफवाहों ने आपातकाल के दिनों में कमाल के करिश्मे दिखाए। आकाशवाणी, दूरदर्शन जैसे शक्तिशाली माध्यम सरकार की लोक-छवि उजली और भरोसेमंद रखने में अपंग सिद्ध हुए।

इसीलिए वर्तमान इंदिरा सरकार जन-संचार माध्यमों की उपयोगिता और प्रयोग दोनों के मामले में काफी सतर्क और गंभीर है; वह सूचना-प्रसारण मंत्रालय को काफी संवेदनशील मानती है। मंत्रालय की हर कारगुजारी पर कड़ी नजर रखी जाती है। पटरी से तनिक हटने पर उसके नटों को तुरंत कस दिया जाता है। इसीलिए 1980 से लेकर 1984 तक की अवधि में तीन सूचना प्रसारण मंत्री बने। दिलचस्प पक्ष यह है कि तीनों वरिष्ठ मंत्रियों के सहयोगी मंत्रियों को भी बदला गया। पहले काबीना स्तर के मंत्री बसंत साठे रहे; उसके बाद एन.के.पी. साल्वे और आज हैं एच.के.एल. भगत। प्रथम कनिष्ठ मंत्री थीं सुश्री कुमुद बेन जोशी।

इसके बाद आए आरिफ मोहम्मद खान। आज भगत के सहयोगी हैं गुलाम नबी आजाद। श्री साठे के पश्चात इस मंत्रालय को काबीना स्तर का मंत्री कभी नसीब नहीं हुआ।

सुना जाता है कि इस मंत्रालय का हर मंत्री काफी फूँक-फूँककर कदम रखना चाहता है। जहाँ उसकी कोशिश विरोधियों के प्रचार का मुकाबला करने और सरकार की साख खरी रखने की रहती है, वहीं उसके वक्त का बड़ा हिस्सा एक-सफदरजंग (प्रधानमंत्री निवास) की नब्ज बराबर टटोलते रहने में जाता है। कहा यहाँ तक जाता है कि नब्ज के इधर-उधर होते ही सूचना मंत्रालय में खतरे की घंटी बज जाती है। तुरत-फुरत भागदौड़ शुरू हो जाती है। जहाँ गड़बड़ी हुई, उसे आनन-फानन में दुरुस्त कर दिया जाता है। इसलिए इस मंत्रालय को हमेशा चौकन्ना और चुस्त रहना पड़ता है। चुनावों से पहले सरकार की लोक-छवि किस प्रकार शिखर पर बनी रहे, इसकी व्यूह-रचना इस मंत्रालय को ही करनी होती है। दूरदर्शन का काफी धूमधड़ाका है। अक्टूबर के अंत तक देश में औसतन हर दिन कहीं न कहीं एक रिले ट्रांसमीटर खुलता रहेगा। टी.वी. केन्द्रों का जाल बिछाकर कांग्रेस ने सरकारी स्तर पर विरोधियों के खिलाफ चुनावी हमला बोल दिया है। दूरदर्शन के पर्दे पर इंदिरा गाँधी और राजीव गाँधी दोनों की तस्वीरें छाई रहती हैं। दूरदर्शन विस्तार कार्यक्रम ऐसे ही आरोपों-विवादों का शिकार हो गया है। संसद में भी इस मुद्दे पर काफी हंगामा हो चुका है।

पिछले दिनों केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्री भगत से इन आरोपों-विवादों के बहाने सरकार की ताजा जन-संचार व्यूह-रचना पर खुलासा ढंग से बातचीत की गई। जवाब उनके बेबाक भी थे, और कुछ बेबसी लिए हुए भी। कुछ सवालों पर वे खामोश रहे। तो भी यह कहना पड़ेगा कि उन्होंने काफी खुले मन से सवालों के जवाब दिए।

मेरे आरंभिक प्रश्न के उत्तर में श्री भगत ने कहा कि सरकारी प्रचार माध्यमों के दुरुपयोग का आरोप बेबुनियाद है। विपक्ष के आरोप राजनीति से प्रेरित हैं। आँकड़ों से यह बात साबित की जा सकती है कि विरोधी दलों को शासक दल से अधिक समय आकाशवाणी एवं दूरदर्शन पर मिला है। यह बात भी गलत है कि राजीव गाँधी को दूरदर्शन पर अधिक महत्व दिया जा रहा है, उनकी छवि जरूरत से अधिक चमकाई जा रही है। प्रधानमंत्री का प्रश्न है, उन्हें प्रमुखता मिलेगी ही। दूरदर्शन और आकाशवाणी पर सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों को भी प्राथमिकता दी जाएगी। परंतु, मैं विपक्ष के इस सुझाव से भी सहमत नहीं हूँ कि आकाशवाणी-दूरदर्शन को एक स्वतंत्र निगम में बदल दिया जाए। सही बात तो यह है कि इन प्रचार माध्यमों का गलत इस्तेमाल कांग्रेस ने नहीं, विरोधी दलों ने किया है। जनता शासन के

दौरान इसका मनमाने ढंग से इस्तेमाल किया गया। हम ऐसा नहीं कर रहे हैं। जनता पार्टी ने इस माध्यम को इतना तोड़ा-मरोड़ा कि इंदिरा गाँधी के खिलाफ मुकदमा दर्ज किए बगैर उसको आकाशवाणी पर प्रसारित किया गया।

श्री भगत ने जन-संचार माध्यमों के विभिन्न अंगों और उसके उद्देश्यों पर प्रोफेसराना अंदाज में बातचीत की। उन्होंने तीसरी दुनिया में इसकी भूमिका पर चर्चा करते हुए भारत के संदर्भ में इसकी बहु-आयामी भूमिका पर विशेष प्रकाश डाला। उन्होंने कहा : "इस तरह के विवाद सच्चाई से परे हैं कि दूरदर्शन का विस्तार केवल आगामी चुनाव जीतने की गरज से किया जा रहा है। जो लोग ऐसा कहते हैं, वे जन-संचार के दर्शन और लोकतंत्र में उसकी बहुआयामी भूमिका से अपरिचित हैं।"

उन्होंने कहा : "मेरे मन में जन-संचार रेडियो, टी.वी., सिनेमा और प्रेस की सामूहिक भूमिका पर टिका हुआ है। इस इलेक्ट्रानिक युग में इसका महत्व और रफ्तार दोनों ही बढ़ गए हैं। देश के विकास में यह एक सीमा तक खाद का काम करता है। शिक्षा, ज्ञान और मनोरंजन– तीनों ही इससे जुड़े हुए हैं। तीनों में तालमेल बनाए रखना जरूरी है। भारत जैसे विशाल और पिछड़े देश में जन-संचार माध्यमों का महत्व और भी बढ़ गया है, क्योंकि ये माध्यम परिवर्तन के वाहक भी हैं। मगर, जनसंचार माध्यम– विशेष रूप से टेलीविजन– 'शैतान और देवता' दोनों की भूमिका एक साथ निभाते हैं; इसलिए काफी सावधानी की आवश्यकता रहती है।"

टेलीविजन के विस्तार की चर्चा चलने पर भगतजी काफी खुश हुए। उनके चेहरे के भावों से प्रतीत होता था कि दूरदर्शन का विस्तार कार्यक्रम उनके लिए एक तरह से अश्वमेध के समान है– देश के अज्ञान, पिछड़ेपन और साम्राज्यवादी देशों के कुत्सित प्रचार के विरुद्ध एक अभियान। उन्होंने कहा : "टेलीविजन का विस्तार हमारा महाभियान है। इससे अज्ञान ही दूर नहीं होगा, बल्कि गरीबी हटाने में भी मदद मिलेगी। दूरदर्शन के माध्यम से ही तकनीकी ज्ञान का फैलाव होगा, जिसका सीधा फायदा आम लोगों को मिलेगा।"

उन्होंने कहा : "आप जानते हैं कि देश में दूरदर्शन की शुरूआत उस समय हुई, जब इंदिराजी शास्त्री-सरकार में सूचना-प्रसारण मंत्री थीं। उन्होंने इसको तेजी से आगे बढ़ाया। आज फिर इंदिराजी के नेतृत्व में इसका बहुआयामी विस्तार किया जा रहा है। अब यह विलासिता की वस्तु नहीं, बल्कि आम आदमी की एक जरूरत हो गया है। यह बात सही है कि देश की 50 प्रतिशत से अधिक आबादी गरीबी की सीमा के तले है। परंतु, हमारी कोशिश रहेगी कि इसके कार्यक्रम अमीर वर्ग के लिए न हों। मुख्यमंत्रियों को पत्र लिखे गए हैं कि कम्युनिटी 'टेलीविजन सेट गाँवों में

निर्धन वर्गों को उपलब्ध कराए जाएँ। सातवीं योजना में भी व्यवस्था की जा रही है। श्वेत और श्याम सेट पहले ही सस्ते किए जा चुके हैं। रंगीन टेलीविजन भी जल्दी ही सस्ते कर दिए जाएँगे। इस संबंध में निजी कंपनियों से बातचीत जारी है। एक साल में 20 लाख सेटों के निर्माण का लक्ष्य है।

"इस साल के अंत तक देश की करीब 70 प्रतिशत आबादी दूरदर्शन की गिरफ्त में होगी। तब तक इस सारे कार्यक्रम पर करीब 233 करोड़ रुपए खर्च किए जाएँगे। अगले वर्ष उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों में भी दूरदर्शन विस्तार की विशेष योजना बनाई गई है। इस पूरे विस्तार कार्यक्रम में कम से कम कल-पुर्जे आयात किए गए हैं, ज्यादातर देशी सामानों को ही उपयोग में लाया गया है। इतने बड़े विस्तार कार्यक्रमों को देखकर अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा सभी चकित हो गए हैं। सच बात तो यह है कि इंदिराजी के नेतृत्व में 'असंभव भी संभव' बन जाता है।"

फिर बातचीत चली कार्यक्रमों की कथावस्तु और उनकी प्रासंगिकता को लेकर; इसके साथ-साथ सही ढंग के लोगों को नियुक्त किए जाने के संबंध में भी। इस मामले में भगतजी के कुछ मत बिलकुल स्पष्ट हैं। उन्होंने कहा : "यह सही है कि अच्छी योजना अगर अच्छे हाथों में न हो तो वह पिट जाती है। पहले तो मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि सरकार दूरदर्शन को क्या बनाना चाहती है। हम दूरदर्शन को भारतीय रखना चाहते हैं, किसी आयातित तर्ज पर चलाना नहीं चाहते। यह भी सच है कि दरवाजे हमारे खुले रहेंगे। सच पूछा जाए तो टेलीविजन एक तरह से भूखा जानवर है। इसे हमेशा भूख रहती है। इसलिए युद्ध स्तर पर कार्यक्रम तैयार कराए जा रहे हैं, अलग-अलग भाषाओं में बनाए जा रहे हैं।

"मैं मानता हूँ कि वर्तमान कार्यक्रमों में काफी सुधार की आवश्यकता है, इसलिए कार्यक्रमों के निर्माण का विकेन्द्रीकरण किया गया है। नई-नई कंपनियों से बातचीत चल रही है। फिल्मवालों से भी बातचीत की गई है। इसके अलावा देश के बुद्धिजीवी वर्ग से भी संपर्क रखा जा रहा है, उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा रहा है। सरकार यह भी चाहती है कि दूरदर्शन कार्यक्रमों पर केवल शहरी कलाकार ही हावी न रहें। इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों की प्रतिभाओं का पता लगाने और उन्हें वांछित स्थान देने के संबंध में अलग से एक विस्तार कार्यक्रम बनाया जाएगा। इस सिलसिले में विशेषज्ञों और विभिन्न भाषाओं के आंचलिक साहित्यकारों एवं कलाकारों का भी सहयोग लिया जाएगा।"

"मैं आपके इस सुझाव से सहमत हूँ कि देश की परिस्थितियों को देखते हुए दूरदर्शन का इस्तेमाल काफी सावधानी से करने की आवश्यकता है। इसके लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित दूरदर्शन काडर की आवश्यकता है। यह सुझाव काफी माकूल है कि टी.वी. जैसे जनसंचार माध्यमों से जुड़े अधिकारी, कर्मचारी और कलाकार वर्गों में

प्रतिबद्धता हो, देश की विविधता और समस्याओं का उन्हें अच्छा ज्ञान हो।"

"टी.वी. पर अच्छे और मनोरंजक के साथ-साथ संदेश देनेवाले कार्यक्रम दिखाए जाएँ, इसके लिए दिल्ली, मद्रास, बम्बई, कलकत्ता जैसे महानगरों के थिएटर ग्रुपों से संपर्क किया गया है। इसके अलावा मजदूर, किसान, शिक्षक जैसे वर्गों के लिए खास कार्यक्रम बनाए जा रहे हैं। नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य से जुड़े विषयों पर भी अनेक कार्यक्रम बनाए जा रहे हैं। यह सुझाव भी अच्छा है कि भूमि-सुधार, ऋण उन्मूलन, बँधुआ प्रथा की समाप्ति, साक्षरता जैसे बुनियादी मुद्दों पर कार्यक्रम दिखाए जाएँ, ताकि कमजोर वर्गों में सरकार द्वारा उनके फायदे के लिए बनाए गए कानूनों के प्रति जागरूकता पैदा हो।"

"सरकार की कोशिश यह भी है कि जनता में देश के इतिहास के प्रति आदर की भावना पैदा हो। इसके लिए विशेष रूप से 1857 से 1947 तक चले स्वतंत्रता संग्राम से संबंधित महत्वपूर्ण घटनाओं पर टी.वी. फिल्म बनाने की योजना बनाई जा रही है। इस योजना को लागू करने के लिए एक संपादकीय बोर्ड बनाया गया है। इस बोर्ड में सभी विचारधाराओं के इतिहासज्ञों को शामिल किया गया है। बोर्ड के अध्यक्ष पूर्व गृहमंत्री उमाशंकर दीक्षित हैं। केन्द्र सरकार ने प्रदेश सरकारों से कहा है कि वे अपने संबंधित राज्यों में चले क्षेत्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों पर एक-एक वृत्तचित्र बनाकर दिल्ली भेजें, जिससे कि उन्हें 14 भाषाओं में डब कराकर दूरदर्शन पर दिखाया जा सके। इससे राष्ट्रीय एकता मजबूत करने में काफी सहायता मिलेगी। हमारी तो कोशिश यह भी है कि स्वतंत्रता संग्राम पर बननेवाली टी.वी. फिल्मों में उन क्षेत्रों को भी शामिल किया जाए, जो आज पाकिस्तान में हैं। इस संबंध में मैंने अपनी पाक-यात्रा के दौरान वहाँ के लोगों से बातचीत भी की। आगे भी चर्चा जारी है। कुल मिलाकर करीब 125 विषय छाँटे गए हैं, जिन पर कार्यक्रम तैयार कराए जाएँगे।"

"वैसे भारतीय दूरदर्शन के कार्यक्रम तेजी से लोकप्रिय होते जा रहे हैं। सीमित मात्रा में कुछ देशों को कार्यक्रम निर्यात भी किए गए हैं, जिनमें कनाडा भी एक है।"

पंजाब कार्रवाई के दौरान प्रेस-मीडिया की भूमिका पर भी सरसरी तौर पर बातचीत हुई। भगतजी ने अपने विचार काफी संयत ढंग से व्यक्त किए। उन्होंने कहा : 'कुल मिलाकर पंजाब में सैनिक कार्रवाई के दौरान भारतीय प्रेस की भूमिका सहयोगी और रचनात्मक रही। परंतु, सरकार को अनुभव भी खूब हुए हैं। विदेशी प्रेस का रवैया पक्षपातपूर्ण रहा है। आमतौर पर देखा यही गया है कि साम्राज्यवादी संचार माध्यम तीसरी दुनिया के प्रति बुनियादी रूप से पूर्वाग्रहों से जकड़े रहते हैं। पंजाब के मामले में भी भारत की सही तस्वीर नहीं दर्शाई गई। इसलिए ताजा अनुभवों को ध्यान में रखकर सरकार दूरदर्शन सहित अन्य जन संचार माध्यमों

को भी प्रभावशाली और मजबूत बनाने के संबंध में सोच रही है। इस नई जन-संचार व्यूहरचना के क्रांतिकारी परिणाम आनेवाले समय में दिखाई देंगे। अब इसमें संदेह नहीं है कि विश्व के जन-संचार मानचित्र पर भारत ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।"

22 अगस्त, 1984

आँखों में झूलते बेशुमार स्वप्न

कुछ मंत्रियों की नियति हमेशा तलवार की धार पर चलने की रहती है। इनमें शामिल हैं ग हमंत्री, वित्तमंत्री, सूचना और प्रसारण मंत्री और रेलमंत्री। विवाद की आग में कब कौन झुलस जाए और उसे अपने पद की बलि देनी पड़े, इस द ष्टि से चारों मंत्रियों में से कोई अपवाद नहीं है। कुछेक ही ऐसे नेता हुए हैं जिन्होंने इन मंत्रालयों में चैन से पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा किया हो; वरना, इंदिरा गाँधी से लेकर विश्वनाथ प्रतापसिंह की सरकारों तक, इन मंत्रालयों के मंत्री जब तक रहे, बेहद विवादास्पद बने रहे; हमेशा उनके सिरों पर बर्खास्तगी की तलवार लटकी रही। बर्खास्तगी नहीं हुई तो तबादले होते रहे। इनमें सूचना और प्रसारण मंत्री की स्थिति सबसे नाजुक बनी रहती है, क्योंकि यह मंत्री हमेशा जनता एवं मीडिया के फोकस में रहता है। कभी इसे अखबारों की मार सहनी पड़ती है, कभी सांसदों की लताड़, और कभी जन-आक्रोश का सामना करना पड़ता है। जरा-सा कवरेज कम मिले तो विरोधी दल, मंत्री के खिलाफ प्रदर्शन शुरू कर देते हैं; इस्तीफे की माँग शुरू हो जाती है।

वर्तमान सूचना और प्रसारण राज्य मंत्री अजित कुमार पांजा भी इसके अपवाद नहीं हैं। पिछले एक वर्ष में उन्हें कई दफे विवादों की चपेट में आना पड़ा है। पहले वे अपनी कनिष्ठ मंत्री डॉ. गिरिजा व्यास के साथ अनबन की चर्चा के शिकार हुए; संसद के तकरीबन हर सत्र में उनकी खिंचाई हुई। प्रधानमंत्री नरसिंह राव ने स्वयं दूरदर्शन के कार्य पर एक बार असंतोष जाहिर कर दिया। विदेशी टी.वी. का आक्रमण, केबल टीवियों के जाल, मंडी हाउस में धारावाहिक कांड आदि को लेकर पांजा की आए-दिन खिंचाई होती रहती है। कई दफे उनसे इस्तीफे की भी माँग की गई। लेकिन उनमें बला की सर्वाइवल इन्सटिंक्ट है। वे कहते हैं, वे अब तक इस तरह के नौ झटकों का सामना कर चुके हैं। इन झटकों में उनके मंत्री-पद

की जान जाते-जाते बची है। राजीव गाँधी की सरकार में भी वे इसी मंत्रालय में राज्यमंत्री थे। तब भी वे विवादों का निशाना बने थे।

अबकी दफे झटका जरा ज्यादा गहरा है। पटियाला आकाशवाणी केंद्र के इंजीनियर एम.एल. मनचंदा की हत्या ने संपूर्ण मंत्रालय और इसके अधीनस्थ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया संसार – दूरदर्शन एवं आकाशवाणी – को हिलाकर रख दिया है। आकाशवाणी और दूरदर्शन के कर्मचारी संघों ने पांजा के इस्तीफे की माँग कर डाली। जनता दल के नेता एवं पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने भी इसका समर्थन किया है। हालाँकि, पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने सिंह की माँग से असहमति जताई है। पांजा के भविष्य को लेकर एक बहुआयामी ड्रामा प्रधानमंत्री सचिवालय, ग ह मंत्रालय, सूचना-प्रसारण मंत्रालय और आकाशवाणी-दूरदर्शन कर्मचारी संघों के बीच खेला गया है। देखनेवालों की उत्सुकता यह है कि इस झटके से बचने के लिए पांजा किस चमत्कार का प्रयोग करते हैं? इन्हीं सवालों को लेकर पेश है श्री पांजा के साथ हुई मुलाकात के जरूरी अंश :

जोशी : *मनचंदा हत्याकांड को लेकर आपसे इस्तीफे की माँग की गई है। क्या आप नैतिक आधार पर इस्तीफा देकर एक उदाहरणीय कदम उठाना पसंद करेंगे?*

पांजा : मैं इसी वक्त इस्तीफा देने के लिए तैयार हूँ। लेकिन एक गारंटी मुझे देनी होगी : कोई मुझे इसका यकीन दिला दे कि मेरे इस्तीफा देने से भविष्य में किसी भी दूरदर्शन या आकाशवाणी के कर्मचारी की हत्या नहीं होगी। कोई यह गारंटी देने के लिए कम से कम आगे तो आए।

जोशी : *कर्मचारी संघों का आरोप है कि आपके मंत्रालय ने संवेदनशील क्षेत्रों में तैनात कर्मचारियों को पर्याप्त सुरक्षा प्रदान नहीं की। इस मामले में विशेष रूप से आपको जिम्मेदार ठहराया जा रहा है।*

पांजा : यह कहना गलत है कि सुरक्षा के कदम नहीं उठाए गए। ग ह मंत्रालय से पूरा तालमेल रखा गया है; इस समय भी रखा जा रहा है। मनचंदा के अपहरण के तत्काल बाद जो भी मुनासिब उपाय संभव थे, किए गए।

(इसके बाद श्री पांजा ने 19 मई से लेकर 27 मई के बीच उठाए गए सुरक्षात्मक कदमों और ग ह मंत्रालय के साथ तालमेल का ब्यौरा दिया, और यह साबित करने की कोशिश की कि उन्होंने मनचंदा के मामले में एकनिष्ठता से काम किया है।)

उनकी जान बचाने के लिए कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी गई। इसके बाद भी उन्हें मेरा इस्तीफा चाहिए, तो मैं तैयार हूँ। पर वे भविष्य की गारंटी दें।

जोशी : *क्या ऐसी गारंटी देना किसी के लिए संभव है?*

पांजा : तब इस्तीफा माँगने और देने का कोई औचित्य भी नहीं है। मेरे इस्तीफे से यही संकेत मिलेंगे कि सरकार, कर्मचारी संघों के सामने नहीं बल्कि उग्रवादियों के समक्ष झुक गई। इससे लोकतांत्रिक व्यवस्था की कमजोरी ही जाहिर होगी।

जोशी : *कांग्रेस सरकार को सत्ता में आए एक बरस बीत रहा है। पिछले साल आपने कहा था कि प्रसार भारती विधेयक को जल्दी ही संसद में रखा जाएगा। अभी तक उसने दिन का उजाला नहीं देखा है। क्या बात है?*

पांजा : प्रसार भारती विधेयक को लेकर मैं भी उतना ही चिंतित हूँ जितना कि मीडिया के लोग। लेकिन, कुछ बुनियादी अड़चनें हैं जिन्हें अभी तक दूर नहीं किया जा सका है। आशा है कि इन अड़चनों को जल्दी ही दूर कर दिया जाएगा।

जोशी : *क्या उम्मीद की जाए कि वर्षाकालीन या शीतकालीन सत्र में इस विधेयक को संसद में रख दिया जाएगा?*

पांजा : मैं इस संबंध में कोई निश्चित तारीख नहीं दे सकता क्योंकि विश्वनाथ प्रतापसिंह की सरकार ने इस विधेयक को पुख्ता नहीं बनाया है। इसमें कई ऐसी खामियाँ रह गई हैं जिन्हें दूर किया जाना बेहद जरूरी है। मिसाल के तौर पर, आकाशवाणी और दूरदर्शन की बुक-वैल्यू लगभग 12 हजार करोड़ रु. से अधिक है, मार्केट वैल्यू इससे कई गुना ज्यादा है। विधेयक में इस संपत्ति की रक्षा का कोई प्रावधान नहीं है। विधेयक के अस्तित्व में आ जाने के बाद नए संचालक इस संपत्ति को लीज पर दे सकते हैं जबकि इस संपत्ति में सरकार यानी जनता का पैसा लगा है। वित्त मंत्रालय ने निर्देश दिया है कि इस संपत्ति की मार्केट वैल्यू आँकी जाए। यह संपत्ति सरकार के पास रहनी चाहिए। सरकार को ही अधिकार होगा कि वह इसे लीज या किराए पर दे या नहीं। दूसरी समस्या कर्मचारियों के संबंध में है। आज आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के 50 प्रतिशत कर्मचारी सरकार में रहना चाहते हैं जबकि शेष 50 प्रतिशत प्रसार भारती के अंतर्गत काम करना चाहते हैं। प्रस्तावित विधेयक में इस द ष्टि से उपयुक्त प्रावधान नहीं है। ऐसी ही कुछ और खामियाँ हैं। इन्हें तेजी से दूर किया जा रहा है। इसके बाद ही सदन में इसे रखा जाएगा।

जोशी : *देश में आजकल केबल टीवी का जाल फैल गया है। ये निजी केबल टीवीवाले जो चाहे, वो करते हैं। क्या सरकार इनके संबंध में कुछ सोच रही है?*

पांजा : सबसे पहले तो मैं यह साफ कर देना चाहता हूँ कि इन पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता क्योंकि इससे हजारों लोगों को रोजगार भी मिल रहा है। लेकिन, सरकार चाहती है कि इन्हें कानून-कायदे के तहत लाया जाए। केबल टीवी के संबंध में केबीनेट ने एक नोट तैयार किया है जिसे कानून मंत्रालय के पास भेजा

गया है। उसकी सिफारिशों को वापस केबीनेट के पास भेजा जाएगा। केबीनेट की मंजूरी मिलते ही एक विधेयक संसद में लाया जाएगा। सरकार चाहती है कि इन्हें बेलगाम न छोड़ा जाए। आज सरकार को केबल टीवीवालों से एक पाई भी नहीं मिल रही है जबकि यह बिजनेस खूब फल-फूल रहा है। कुकुरमुत्ते की तरह यह गली-कूचे-बस्ती में फैल गया है। सरकार चाहती है कि इसका स्वस्थ विकास हो। इस पर बाकायदा टैक्स लगाया जाएगा। लेकिन इसकी कुछ श्रेणियाँ की जा रही हैं। उसी हिसाब से टैक्स वसूली होगी। इसमें कार्यरत लोगों की सेवाओं को भी नियमित कराने की व्यवस्था की जा रही है। केबल टीवी पर दिखाए जानेवाले विज्ञापनों पर भी कर लगेगा। शिकायतें मिल रही हैं कि कुछ केबल टीवीवाले गलत किस्म की फिल्म भी दिखाते रहते हैं। विधेयक बन जाने के बाद इन पर भी सेंसर के नियम-कानून लागू होंगे।

केबल टीवी वाले अंधाधुंध ढंग से तार बिछाते हैं। इससे बिजली एवं टेलीफोन के तार प्रभावित होते हैं। व्यवस्था अब यह होगी कि तार बिछाने की जिम्मेदारी स्थानीय प्रशासन को सौंप दी जाएगी। राज्य सरकारों को अधिकार दे दिया जाएगा कि वह अपने विभाग से केबल लगवाने की व्यवस्था करें। केबल टीवीवाले को सिर्फ आवेदन करना पड़ेगा।

जोशी : *आज देश में तेजी से विदेशी सूचना-साम्राज्यवाद बढ़ता जा रहा है। सी. एन. एन., स्टार टीवी, बीबीसी जैसी विदेशी टीवी कंपनियों के कार्यक्रम तेजी से लोकप्रिय हो रहे हैं। इस चुनौती का सामना करने के लिए आपके मंत्रालय की क्या रणनीति है?*

पांजा : सबसे पहली बात यह है कि इसे रोका नहीं जा सकता, और न ही यह उचित है। पर मूक दर्शक की तरह खड़े रहें, यह भी ठीक नहीं है। इसलिए विदेशी टीवी का सामना करने के लिए दूरदर्शन के कार्यक्रम और तकनीक में क्रांतिकारी सुधार की बेहद आवश्यकता है। इससे प्रतियोगिता पैदा होगी। वैसे मैं यह स्वीकार करता हूँ कि वर्तमान में दूरदर्शन तथा बीबीसी या स्टार टीवी के बीच असमान प्रतियोगिता है। तैयारी की द ष्टि से दूरदर्शन काफी पीछे है। इसलिए कार्यक्रमों के निर्माण एवं संयोजन की नई रणनीति बनाई जा रही है। समाचारों का कवरेज बढ़ाने तथा ज्यादा से ज्यादा फुटेज या स्पॉट कवरेज का प्रयोग करने के संबंध में सोचा जा रहा है। दूरदर्शन-प्रशासन में भी सुधार किया जा रहा है। दूसरी तैयारी यह की जा रही है कि निजी क्षेत्रों को टेलीकास्टिंग-राइट दिए जाएँगे। निजी प्रसाारणकर्ताओं से उम्मीद की जाएगी कि वे ऐसे कार्यक्रम बनाएँ जो कि विदेशी टीवी कार्यक्रमों का मुकाबला कर सकें, स्वदेशी दर्शकों में लोकप्रिय बन सकें और अपनी विश्वसनीयता पैदा कर सकें। सबसे पहले महानगरों में निजी क्षेत्र द्वारा प्रसारण की व्यवस्था की

जाएगी। दूरदर्शन और निजी क्षेत्र के बीच समय का विभाजन कर दिया जाएगा। लेकिन, फिलहाल अलग से चैनल देना संभव नहीं है। इसके लिए काफी धन की आवश्यकता है।

विदेशी टीवी कंपनियों से उत्पन्न चुनौतियों को ध्यान में रखकर केबीनेट ने एक नोट भी तैयार किया है। इस नोट को राय के लिए विभिन्न मंत्रालयों के पास भेजा है; वित्त मंत्रालय से विशेष राय माँगी है। मंत्रालय की राय प्राप्त होने के बाद एक व्यापक व पुख्ता रणनीति तैयार की जाएगी। वैसे मैं यह विश्वास दिला सकता हूँ कि इस मुकाबले में भारत पिछडेगा नहीं। अपने इस विश्वास के समर्थन में भारतीय फिल्मों का उदाहरण दिया जा सकता है। आज भारत का फिल्म उद्योग विश्व के फिल्म उद्योग से टक्कर ले रहा है। विकसित देश भी भारतीय फिल्म निर्माताओं, निर्देशकों और कलाकारों का लोहा मानते हैं। यह स्थिति तभी संभव हो सकी जब फिल्म उद्योग को प्रतिस्पर्धात्मक बनाया गया; उसकी तकनीक में सुधार किया गया; निजी क्षेत्रों का पूँजी नियोजन हुआ। यही बात टी.वी. क्षेत्र पर लागू होती है। अत: विदेशी टी.वी. की चुनौतियाँ एक तरह से भारतीय टी.वी. के लिए वरदान का काम करेंगी।

जोशी : *कुछ अनुभव ऐसे भी हैं कि विदेशी टी.वी. प्रसारण भारत की छवि ठीक तरह से प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। भारतीयों में संस्कृति एवं विकास को लेकर हीनता के भाव पैदा किए जा रहे हैं। इस संबंध में आपका क्या कहना है?*

पांजा : आपका कहना सही है। इस तरह की कुछ घटनाएँ हमारे नोटिस में आई हैं। बीबीसी और स्टार टीवी से इन घटनाओं की शिकायत भी की गई है। तद्नुसार इन्होंने कुछ संशोधन भी किया है। मैं यह मानता हूँ कि यह एक दिन का मामला नहीं है। रोजाना ही विकासशील देशों को ऐसी घटनाओं का सामना करना पड़ता है और पड़ता रहेगा। इसलिए इसका स्थायी हल जरूरी है। इस सिलसिले में भारत ने यूनेस्को के अध्यक्ष को लिखा है कि विकसित देशों की टीवी कंपनियों द्वारा भारत सहित अन्य विकासशील देशों के खिलाफ किए जा रहे दुष्प्रचार को रोकने के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कोई कारगर कदम उठाए।

जोशी : *भारत के सीमांत इलाकों में पाकिस्तानी टीवी एवं रेडियो के सांस्कृतिक हमले तेज हो रहे हैं। इसका प्रभाव भी हो रहा है। आपके मंत्रालय ने इसका जवाब देने के लिए क्या रणनीति तैयार की है?*

पांजा : पाकिस्तानी सांस्कृतिक आक्रमणों का मुकाबला करने के लिए एक व्यापक योजना तैयार की गई है। पाकिस्तान के अलावा दूसरे पड़ोसी देशों से लगे सीमांत क्षेत्रों के लिए भी प्रसारण रणनीति तैयार की गई है। यह एक वृहद योजना है, इस पर फिलहाल विस्तार से चर्चा नहीं की जा सकती।

जोशी : *सूचना-प्रसारण मंत्रालय का कार्यभार संभाले फिलहाल आपका एक वर्ष पूरा होने जा रहा है। कामकाज को लेकर आपके मंत्रालय की तीखी आलोचना हो चुकी है। विशेष रूप से धारावाहिकों के स्कैंडल ने आपकी मंडी हाउस (दूरदर्शन प्रशासन कार्यालय) को हिला दिया है। आप स्वयं भी इस विवाद से नहीं बच सके हैं। अनियमितताओं के संबंध में आपका क्या कहना है?*

पांजा : आप जानते ही हैं कि धारावाहिकों को पास कराने के संबंध में व्याप्त अनियमितताओं की जाँच का काम सी.बी.आई. को सौंप दिया गया है। एक कार्यक्रम नियंत्रक को निलंबित किया गया है। सी.बी.आई. की जाँच जारी है। जो नतीजे सामने आएँगे उस हिसाब से कार्रवाई की जाएगी, फिलहाल यही कहा जा सकता है। जहाँ तक मंत्रालय की उपलब्धियों का प्रश्न है, इससे संबंधित विभागों ने पूरी कुशलता के साथ कार्य किया है।

पिछले एक वर्ष में आकाशवाणी और दूरदर्शन ने अपने प्रसारण क्षेत्रों का विस्तार किया है। आज देश के 85 प्रतिशत भूभाग और करीब 96 प्रतिशत लोगों तक आकाशवाणी पहुँच चुका है। 125 रेडियो केंद्र कार्यरत हैं। 169 भाषाओं और बोलियों में समाचारों एवं टिप्पणियों का प्रसारण किया जा रहा है।

आपने देखा कि आकाशवाणी के समाचार प्रसारण में क्रांतिकारी परिवर्तन किया गया है। समाचार प्रभात और मॉर्निंग न्यूज श्रोताओं में काफी लोकप्रिय हुए हैं। हिन्दी क्षेत्रों में समाचार प्रभात को काफी पसंद किया जा रहा है। देश में प्रसारण की भावी आवश्यकताओं को देखते हुए आठवीं पंचवर्षीय योजना में 10 हजार 800 करोड़ रुपए की राशि का प्रस्ताव रखा गया है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में सिर्फ 1524 करोड़ रुपए की व्यवस्था थी। आठवीं योजना में सिर्फ दूरदर्शन के विस्तार व सुधार के लिए ही 7437 करोड़ रुपए का प्रस्ताव है।

मेरे कार्यकाल की एक सबसे बड़ी उपलब्धि संसद की कार्रवाई का प्रसारण रही है। आप जानते ही हैं कि दूरदर्शन पर दोनों सदनों के प्रश्नोत्तरकाल की कार्रवाई दिखाई जा रही है। इसके अलावा महत्वपूर्ण भाषणों को रिकॉर्ड कर उनका भी प्रसारण किया जाता है। संसद की कार्रवाई का प्रसारण एक अच्छा प्रयोग रहा है। लेकिन इसमें सुधार की गुंजाइश है। जब कोई नया काम किया जाता है तो विवादों और आलोचनाओं का शिकार होना ही पड़ता है। लेकिन इसके भय से कोई काम तो नहीं रोका जा सकता।

10 अक्तूबर, 1993

'यात्रा-अधूरी है'

जोशी : *एक राजनेता के रूप में आप स्म तियों को किस द ष्टि से देखते हैं?*

प्रणव मुखर्जी : स्म तियाँ, केवल विगत की जानकारी-भर नहीं हैं अपितु एक कल्पना है, एक चिन्तन हैं। विचार एवं संवेदनशीलता के धरातल पर इन्हें जीवित रखा जाता है। विभिन्न प्रकार से ये जीवन में प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। सामान्यत: इन्हें घटनाओं से संबंधित माना जाता है, पर मैं इन्हें अपने अनुभव और चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में देखता हूँ।

जोशी : *कभी आपके जी में नॉस्टलजिया की हुड़क उठती है? वर्तमान से विश्राम पाकर अतीत के साथ खेलने लगूँ, ऐसा मन होता है कभी ?*

प्रणव मुखर्जी : एक हद तक यह सही है। कभी नॉस्टलजिक बनने की तीव्र इच्छा होती है। स्म तियों का रेला उमड़ आता है। उन सभी घटनाओं, संबंधों और पात्रों के साथ जीवन्त क्षण बिताने की इच्छा होती है, जो मुझसे जुड़े रहे हैं। ऐसे क्षण अच्छे लगते हैं। इन क्षणों से मुझे अनूठा आनंद प्राप्त होता है।

जोशी : *कौन-सी स्म तियाँ हैं जो आपको सबसे अधिक झकझोरती हैं?*

प्रणव मुखर्जी : सबसे अधिक स्म तियाँ मुझे बचपन की अच्छी लगती हैं। पिताजी के साथ बीतने वाले दिन। स्कूल के दिन। अध्यापक के साथ अनुभव। इन सभी को याद करके बहुत सुख मिलता है। विशेष रूप से 6-7 वर्ष से लेकर 15-16 साल की अवधि की स्म तियों की मुझ पर गहरी छाप है।

जोशी : *तब की कोई सबसे दिलचस्प घटना?*

प्रणव मुखर्जी : दिलचस्प घटना तो खैर क्या है। देखिए, घर में मैं सबसे छोटा

था। इसका मुझे हमेशा लाभ मिलता था। माता-पिता दोनों का मैं लाड़ला हुआ करता था। पिताजी राजनीति से जुड़े हुए थे। आजादी की लड़ाई में उन्हें कई वर्ष जेल में रहना पड़ा। वे अक्सर जेल आया-जाया करते थे। जब मैं 6-7 वर्ष का था तब उन्हें गिरफ्तार किया गया था। वे ए.आई.सी.सी. के सदस्य थे। उन्होंने हमारे क्षेत्र में कांग्रेस की स्थापना की थी। 1929 से वे निरंतर सक्रिय रहे। मुझे एक घटना याद है। वे बंबई अधिवेशन में भाग लेकर लौटे थे। एक रात को माँ ने मुझसे कहा कि पिताजी आ गए हैं। मैं और सभी बहन-भाई बिस्तर से उठ खड़े हुए। इसमें हमारा एक स्वार्थ था। हमें आशा थी कि वे इस बार भी हमारे लिए जरूर कई चीजें लाए होंगे। हर दफे वे ऐसा ही किया करते थे। जब भी बाहर जाते, हमारे लिए जरूर कुछ लाया करते थे। लेकिन हमारी उत्सुकता जल्दी ही ठंडी पड़ गई। पिताजी ने कहा कि वे इस बार हमारे लिए कुछ नहीं लाए हैं। बंबई से उन्हें कहीं और जाना पड़ा। वहाँ उन्हें काफी कड़ी मेहनत करनी पड़ी। वे काफी थके दिखाई दिए। कुछ देर रुकने के बाद वे दुबारा चले गए। फिर वे गिरफ्तार कर लिए गए। इससे पहले भी वे गिरफ्तार हो चुके थे। और उस दिन हमें बगैर किसी चीज के सब्र करना पड़ा। लेकिन तबके राजनीतिक परिवारों की यही कहानी, यादे हुआ करती थीं।

स्कूली शिक्षा मैंने गाँव में प्राप्त की। कॉलेज की शिक्षा मैंने जिला कॉलेज में पाई। कॉलेज के दिनों का एक पात्र मुझे सबसे अधिक याद रहता है। और वे हैं मेरे प्रधानाचार्य। वे एक अच्छे शिक्षक ही नहीं थे, विद्वान भी थे। उन्होंने मुझे यह सिखाया था कि किस प्रकार एक अच्छा स्पीकर बना जा सकता है। स्नातक स्तर तक मैं बड़ा शर्मीला छात्र था। लेकिन उन्होंने मुझे उकसा-उकसाकर इससे मुक्ति दिलाई। वाद-विवाद प्रतियोगिता में मुझे प्रायः झोंक दिया जाता था। एक घटना मुझे याद है। एक दफा मैं बेहद नर्वस हो गया। चारों तरफ लड़कियाँ थीं और मैं घबरा गया। समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे क्या बोलना चाहिए। मेरे बारे में ये लड़कियाँ क्या सोचेंगी! होस्टल का जीवन भी मुझे बेहद पसंद था। सादा जीवन था, लेकिन सब मिल-जुलकर रहा करते थे। बड़ा मजा आता था।

जोशी : *कॉलेज का जीवन रोमांस के लिए हमेशा चर्चित रहता है। तब आपके साथ कोई सुखद या दुखद घटना घटी?*

प्रणव मुखर्जी : जरूर घटी। जब मैंने बी.ए. पास किया तो तत्काल ही मैं प्रेम के चक्कर में पड़ गया। बस यह पहला और अंतिम प्रेम था। जिससे प्रेम किया उसके साथ शादी कर ली। शिक्षा पूरी करने से पहले ही हम लोगों की शादी हो गई। यह अंतरजातीय विवाह था। मेरी पत्नी कायस्थ परिवार से हैं, और मैं ब्राह्मण घर से।

जोशी : *उस जमाने में इसका विरोध नहीं हुआ?*

प्रणव मुखर्जी : नहीं। दोनों के परिवार एक-दूसरे से परिचित थे। मेरे बड़े भाई

का विवाह ब्राह्मण परिवार में ही हुआ है। मेरे बच्चों ने [illegible] जाति में विवाह किया है। अपनी पसंद का। इस दृष्टि से मेरा परिवार हमेशा से प्रगतिशील रहा।

जोशी : *इस दृष्टि से आप भाग्यशाली रहे।*

प्रणव मुखर्जी : बिल्कुल।

जोशी : *विद्यार्थी जीवन में आपका क्या स्वप्न था?*

प्रणव मुखर्जी : वास्तव में मेरा स्वप्न एक शिक्षक बनने का था। मैं अपने प्रधानाचार्य से काफी प्रभावित था। इसलिए मेरी इच्छा कॉलेज का प्रधानाचार्य बनने की रहती थी। यही मेरा स्वप्न था। यही मेरी महत्वाकांक्षा थी। और एक दिन मेरा स्वप्न भी साकार हुआ। मैं एक डिग्री कॉलेज का प्रिंसीपल भी बना। लेकिन, नियति को कुछ और ही स्वीकार था। घटनाएँ मुझे कहाँ से कहाँ ले गईं।

जोशी : *आपने राजनीति का जीवन कब आरंभ किया?*

प्रणव मुखर्जी : ईमानदारी से कहूँ तो मुझे राजनीति से लगाव नहीं था। मैं अपने पिताजी की व्यस्तता से परिचित था। वे हमेशा लोगों से घिरे रहा करते थे। हम बच्चों के लिए उनके पास समय ही नहीं था। अत: ऐसे जीवन से मुझे चिढ़ थी। लेकिन राजनीति पर नजर जरूर रखा करता था। पिताजी से इस पर तर्क-वितर्क भी किया करता था। लेकिन 1962 में चीनी आक्रमण नें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई मेरे जीवन में। मैंने सोचा कि हमारी स्वतंत्रता छिन सकती है। क्योंकि मैं पिताजी के त्याग को देख चुका था, आजादी की लड़ाई के दौरान हमारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई थी, अत: चीनी आक्रमण को देखकर मैंने कॉलेज और विश्वविद्यालय के छात्रों को संगठित किया। जवानों को सहायता पहुँचाने के लिए आंदोलन चलाया। उसी दौरान मैं एक वरिष्ठ अध्यापक डॉ. पी.सी. चंदर के सम्पर्क में भी आया। आगे चलकर डॉ. चंदर केन्द्रीय मंत्री भी बने। डॉ. चंदर के कहने पर मैंने गैर-वामपंथी छात्र संगठन का गठन किया। बाद में इस संगठन से प्रियरंजन दासमुंशी, सुब्रतो मुखर्जी जैसे युवा नेता निकले। बाद में यही संगठन कांग्रेस की छात्र शाखा में परिवर्तित हो गया। छात्रों को संगठित करने के लिए मैं जान-बूझकर अपना छात्र-जीवन लंबा करता रहा। पहले मैंने राजनीति विज्ञान में एम.ए. किया। इसके बाद लॉ किया। इसके साथ ही इतिहास में एम.एं. की परीक्षा दी। सक्रिय राजनीति की शुरूआत 1966 में हुई जब अजय मुखर्जी ने बंगला कांग्रेस की स्थापना की। मैं इस पार्टी में शामिल हो गया। 1969 में मैं राज्यसभा के लिए चुन लिया गया। तब से मैं पूर्णकालिक राजनीतिज्ञ बन गया।

जोशी : *आपने किस स्वप्न के साथ राजनीतिक जीवन की शुरूआत की?*

प्रणव मुखर्जी : आपको बतला ही चुका हूँ कि मेरी राजनीति में अरुचि थी। मैं एकेडेमिक जीवन जीना चाहता था। प्रिंसिपल बनने के बाद वह सपना पूरा हो गया। लेकिन जब अजय बाबू को कांग्रेस से निकाल दिया गया तो मुझे गहरा दुख हुआ। मैंने इसका विरोध करने का फैसला किया। लेकिन जैसे-जैसे मैं राजनीति में सक्रिय होता गया, मेरा स्वप्न भी स्पष्ट होता चला गया। इतिहास का छात्र होने के नाते मैं जानता था कि एक मजबूत भारत के लिए एकता की आवश्यकता है और मानता था कि अकेली कांग्रेस ही यह एकता, सुदृढ़ता देश को प्रदान कर सकती है। इस स्वप्न को साकार करने के लिए मैं सक्रिय हो गया। आज भी सक्रिय हूँ। मैं भारत को विश्व की एक 'महाशक्ति' बनाना चाहता हूँ। आर्थिक और सैन्य, दोनों ही दृष्टियों से भारत को महाशक्ति बनाने का स्वप्न है।

जोशी : *किस दार्शनिक और राजनेता ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया?*

प्रणव मुखर्जी : दोनों ही भारतीय हैं। एक दार्शनिक के रूप में गौतम बुद्ध ने और नेता, राजनेता एवं शासक के रूप में अशोक ने सबसे अधिक प्रभावित किया। इसके बाद समुद्रगुप्त ने।

जोशी : *आधुनिक काल में आप सबसे अधिक किससे प्रभावित हुए हैं?*

प्रणव मुखर्जी : जहाँ तक दार्शनिक का प्रश्न है, मैं महात्मा गाँधी से प्रभावित हूँ। राजनेता के संदर्भ में मैं खुद को इंदिरा गाँधी से प्रभावित मानता हूँ।

जोशी : *आपने श्रीमती गाँधी के साथ काफी समय तक काम किया है। उनके समय की कोई अनूठी स्मृतियाँ?*

प्रणव मुखर्जी : अनेक रोचक घटनाएँ हैं। यहाँ मैं एक-दो घटनाओं का उल्लेख करूँगा। उन्हें अपने देश पर अपार गर्व था। इसकी एक घटना याद आती है। एक बार भारत ने विश्व क्रिकेट प्रतियोगिता जीती। तब मैं दिल्ली से बाहर था। शायद यह 1982-83 का किस्सा है। मैं तब गौहाटी में था। मुझे इंदिराजी ने फोन किया। फोन पर उनका विजयोल्लास फूट रहा था। उन्होंने मुझे बताया कि भारत ने विश्व मैच जीत लिया है; मैं ये आनंद और विजय के क्षण तुम्हारे साथ बाँटना चाहती थी। दूसरी घटना 1978 की है। कांग्रेस का विभाजन हो चुका था। वे विभाजित कांग्रेस की अध्यक्ष चुनी गई थीं। उस दिन मैं उनके साथ कार में बैठकर राजपथ से गुजर रहा था। तभी अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर भी उधर से गुजरनेवाले थे। जाहिर है हमारी कार रोक ली गई। ऐसे क्षणों में उन्होंने भावुक होकर कुछ कहा। एक तरह से यह उनकी सॉलीलॉकी (स्वकथ्य) थी। वे कहने लगीं कि यह पहला अवसर है जब वे एक विदेशी अतिथि का स्वागत नहीं कर रही हैं वरना 1947 से उन्होंने हमेशा विदेशी अतिथियों का स्वागत किया है। यह सच भी था। आजादी के बाद पं.

नेहरू की पुत्री के रूप में उन्होंने विदेशी अतिथियों का स्वागत किया। इसके बाद वे प्रधानमंत्री के रूप में स्वागत करती रही थीं। लेकिन ऐसे विडंबनापूर्ण क्षणों में भी वे प्रसन्न थीं। उनमें अपूर्व धैर्य और महान देशभक्ति थी। मेरा यह मत है कि उनसे अधिक दूसरा कोई देशभक्त नहीं था। इस संदर्भ में मुझे तत्कालीन अमेरिकी मंत्री किसिंजर की टिप्पणी याद आती है। वे इंदिराजी के बारे में कहा करते थे कि इंदिरा गाँधी उग्र रूप से भारतीय हैं। मेरा कहना है कि इंदिरा गाँधी उग्र रूप से देशभक्त थीं।

जोशी : *आपको किस तरह की पुस्तकें पसंद हैं?*

प्रणव मुखर्जी : मुझे उपन्यास सबसे अधिक पसंद हैं। मैं समझता हूँ कि मैं तकरीबन सभी बंगला उपन्यास पढ़ चुका हूँ। कॉलेज के दिनों में मुझे ताराशंकर बंद्योपाध्याय, विभूतिभूषण बनर्जी और शरदेन्दु बनर्जी बेहद प्रिय थे। शरत बाबू मुझे प्रिय थे। रवीन्द्रनाथ के उपन्यास भी अच्छे लगते हैं। समकालीन उपन्यासकारों में सुनील गांगुली, सिरशेन्दु, समरेश बोस आदि मेरे प्रिय लेखक हैं। विदेशी कथाकारों में मुझे मोपासाँ बेहद प्रिय हैं। पर्लबक, हेमिंग्वे, इरविन वैलेस आदि को भी पढ़ता रहता हूँ। कविताओं में मुझे रवीन्द्रनाथ का काव्य सबसे अच्छा लगता है। अँगरेजी में मैं विक्टोरिया युगीन कविताएँ पसंद करता हूँ। हिन्दी में मुझे प्रेमचंद पसंद हैं। गुजराती में मुझे उमाशंकर जोशी पसंद हैं। उड़िया साहित्य के कालिन्दीचरण पाणिग्रही पसंद हैं।

साहित्य के अलावा मुझे आत्मकथाएँ बहुत पसंद हैं। सबसे अच्छी आत्मकथा मुझे गाँधीजी की 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' लगी। इसके बाद नेहरूजी की आत्मकथा भी पसंद आई। स्टालिन की जीवनी भी मुझे पसंद आई। इस जीवनी में स्टालिन और हिटलर का तुलनात्मक अध्ययन है।

जोशी : *कहा जाता है कि एक राजनीतिज्ञ कभी रिटायर नहीं होता। आप अपनी वृद्धावस्था किस तरह से व्यतीत करना पसंद करेंगे?*

प्रणव मुखर्जी : एक समय मेरे पास कोई काम नहीं था। तब कुछ कठिनाई थी। वैसे 1966 से 1992 तक मैं कम-ज्यादा सक्रिय रहा हूँ। सरकार के अंदर और बाहर सक्रियता में जीवन बीता है। जब 1987 में मैं कांग्रेस से बाहर चला गया, तब दो वर्ष के लिए समय काटना मुश्किल हो गया था। इस दौरान मैंने खूब पढ़ाई की। कांग्रेस पर तीन पुस्तकों की तैयारी की। एक आपातकालीन स्थिति पर पांडुलिपि तैयार की है।

जोशी : *क्या आपातकाल के दौर का कोई रोचक संस्मरण याद है?*

प्रणव मुखर्जी : अनेक हैं, लेकिन एक उल्लेख उपयोगी रहेगा। आपातकाल की

घोषणा की पूर्व संध्या पर मैं कलकत्ता में था। मैं अपने राज्यसभा के चुनाव की तैयारी में व्यस्त था। मैं दूसरी बार चुना जानेवाला था। मुझे रात साढ़े ग्यारह बजे दिल्ली से फोन पर पूछा गया कि क्या मैं तुरंत दिल्ली पहुँच सकता हूँ; कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घटनेवाली हैं। मैंने फोन पर बताया कि 25 जून को दिन में राज्यसभा का चुनाव है; मैं दिल्ली कैसे आ सकता हूँ? फिर मुझसे कहा गया कि मैं प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी से बात करूँ। इंदिराजी को मैंने बताया कि दिन में चुनाव होगा। तब उन्होंने कहा कि कोई बात नहीं है। चुनाव पूरा कर लो। शाम को दिल्ली पहुँचकर सीधे मुझसे मिलो। कोई महत्वपूर्ण घटना होने जा रही है। सुबह तक तुम्हें पता चल जाएगा। यह सुनकर मैं दुविधा में फँस गया। मैं सोचने लगा कि क्या इंदिराजी इस्तीफा देनेवाली हैं। उसी रात को ढाई-तीन बजे फिर किसी ने फोन किया कि देश में मार्शल लॉ की घोषणा की गई है। सुबह जब हम चुनाव के लिए विधानसभा पहुँचे तो बताया गया कि संविधान रद्द कर दिया गया है। मैंने ऐसे लोगों को समझाने की कोशिश की कि संविधान के रद्द होने पर राज्यसभा का चुनाव भी नहीं होगा। चूँकि विधानसभा बुलाई गई है और राज्यसभा की सीटों के चुनाव कराए जा रहे हैं, इसलिए संविधान रद्द नहीं किया गया है। तो भी मैंने विधानसभा भवन से ही इंदिराजी को फोन किया और वस्तुस्थिति के बारे में जानकारी चाही। उन्होंने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत आपातकाल की घोषणा की गई है। चिन्ता की कोई बात नहीं है। दिल्ली में नियमित एवं संवैधानिक सरकार है। तुम शाम को दिल्ली पहुँच ही रहे हो। सब पता चल जाएगा। इसी बीच सिद्धार्थ शंकर रे दिल्ली से कलकत्ता पहुँचनेवाले हैं। वे तुम्हें विस्तार से बतला देंगे। घबराने की कोई बात नहीं है। तो मैं पुस्तक की बात कर रहा था। इस पुस्तक में मैंने यह बताने की कोशिश की है कि आपातकाल के संबंध में लोगों की प्रतिक्रिया क्या थी? आपातकाल क्यों लागू किया गया? हमने इसके संबंध में क्या महसूस किया? एक और पांडुलिपि तैयार की है। देश में संवैधानिक विकास में कांग्रेस की भूमिका पर यह पुस्तक तैयार की गई है।

दुबारा कांग्रेस में आने से पहले मुझे लग रहा था कि मेरा राजनीतिक जीवन चुक गया है, अब वापस अध्यापन क्षेत्र की ओर लौटना चाहिए। किसी ने मुझे अदालत में प्रेक्टिस शुरू करने की सलाह दी। लेकिन 1989 के अंत में राजीवजी ने मुझे बुला लिया। संगठन के कुछ काम सौंपे जाने लगे। इसके बाद मैं फिर से सक्रिय हो गया। आशा है भविष्य में भी सक्रिय रहूँगा।

जोशी : *क्या आप सिनेमा देखते हैं?*

प्रणव मुखर्जी : अधिक नहीं। वैसे ऋत्विक घटक, सत्यजित रे, मृणाल सेन आदि की फिल्में देखी हैं। नाटक मुझे अच्छे लगते हैं। मराठी का एक नाटक *घासीराम*

कोतवाल मुझे काफी पसंद है।

जोशी : *जीवन में कोई पछतावा?*

प्रणव मुखर्जी : हाँ! जितना करना चाहिए था, उतना नहीं कर सका।

जोशी : *प्रणवदा, आप तो अनेक अंतरराष्ट्रीय विभूतियों से मिल चुके हैं। किसने आपको सबसे ज्यादा प्रभावित किया?*

प्रणव मुखर्जी : काउंट लेम्बड्राफ के साथ मेरी मुलाकात काफी दिलचस्प रही। ये तत्कालीन पश्चिम जर्मनी के अर्थमंत्री थे। एक बार मैं इनका अतिथि था। इनका गाँव का घर फ्रेंकफर्ट से करीब 250-300 कि.मी. दूर था। बातचीत में हम इतने डूब गए कि समय का पता ही नहीं चला। मुझे उसी दिन दिल्ली के लिए लुफ्तांजा विमान पकड़ना था। लुफ्तांजा का रिकॉर्ड रहा है कि यह कभी भी विलंब से नहीं उड़ा। अर्थमंत्री ने कहा कि मैं विमान की उडान में तो विलंब नहीं करा सकता, लेकिन समय से पहुँचा दूँगा। उन्होंने सभी यातायात के नियमों को तोड़ते हुए तेज रफ्तार से कार चलाई और हवाई अड्डे पर समय से पहुँचा दिया। लेकिन नियमों को तोड़ने के जुर्म में मंत्री महोदय को जुर्माना भी भरना पड़ा।

ग्रोमिको के व्यक्तित्व ने भी मुझे प्रभावित किया। चेकोस्लोवाकिया के गुस्ताफ हुसाक को भी मैं पसंद करता हूँ। इंडोनेशिया के मलिक से भी मैं प्रभावित हुआ। फिलीपींस के नेता विराटा का व्यक्तित्व भी कम आकर्षक नहीं रहा। मलेशिया के वर्तमान प्रधानमंत्री डॉ. महातिर का व्यक्तित्व भी चुम्बकीय है; वे एक साफ-सुथरी द ष्टि से युक्त हैं। उन्होंने मुझे एक बार कहा कि देखिए मैंने स्वयं अपनी पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया है। पूछने पर उन्होंने बताया कि जब वे सरकार में नहीं थे, तब उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। पुस्तक में तर्क दिया गया था कि भू-संपत्ति पर सरकार का अधिकार होना चाहिए, इसी से गरीबी दूर की जा सकती है। दूसरे शब्दों में भूमि का संपूर्ण समाजीकरण। लेकिन जब डॉ. महातिर प्रधानमंत्री बने तब उन्हें महसूस हुआ कि यह कदम उठाना संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने अपनी ही पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति गुलाम इसहाक खाँ से भी मैं प्रभावित हूँ। हम दोनों समकालीन वित्तमंत्री रहे हैं। राजनीतिक मतभेदों को छोड़ दीजिए, लेकिन उनकी अर्थव्यवस्था के संबंध में समझदारी काफी गहरी लगी।

दीपावली, 1992

स्म तियों के झरोखे से : शंकरदयाल शर्मा

नेहरू ने कहा था : "हम थक रहे हैं !"

"यह सब क्या हो रहा है, तुम्हारे सूबे में?' कुछ बिगड़ते हुए नेहरूजी पूछते हैं।

"साहब! मैं तो मध्यप्रदेश का मुख्यमंत्री हूँ नहीं।" एक सहमी आवाज ने बुलंद सवाल का जवाब देने की कोशिश की।

"इससे क्या हुआ?" दिल्ली स्थित सप्रू हाउस के गलियारे में प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू बिफर पड़े। और भोपाल राज्य के प्रथम मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश के तत्कालीन शिक्षामंत्री एवं आज के उपराष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा हिल उठे। हिम्मत नहीं हुई कि वे सामने खड़े नेहरू की आँखों में झाँक सकें। पैर तले की जमीन खिसकती नजर आई। प्रधानमंत्री थमनेवाले नहीं थे। चीखते हुए कहने लगे– "तुम चुप क्यों रहे? अपनी जान दे देते। तुम्हें दंगों के बीच कूद जाना चाहिए था। तुमने ऐसा क्यों नहीं किया?"

डॉ. शर्मा के पास 'क्यों?' का कोई जवाब नहीं था। वे सिर्फ खामोश रहे। पं. नेहरू तूफान की तरह गुस्सा दिखाकर भीड़ में खो गए। समीप खड़े डॉ. कैलाशनाथ काटजू भी इस अप्रत्याशित आक्रमण से अवाक रह गए। डॉ. काटजू तब राज्य के मुख्यमंत्री थे। डॉ. शर्मा पर यह कोप प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में हुए सांप्रदायिक दंगों को लेकर टूटा। दिल्ली के बाराखम्बा मार्ग स्थित सप्रू हाउस में कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था। गलियारे में डॉ. काटजू और डॉ. शर्मा बतिया रहे थे। इसी बीच पं. नेहरू हॉल से बाहर निकले और बात करते हुए दोनों को देख लिया। पड़ताल शुरू हो गई। इससे पहले कि मुख्यमंत्री होने के नाते डॉ. काटजू आक्रमण का निशाना बनते, शिकार बनना पड़ा कनिष्ठ मंत्री डॉ. शर्मा को। उपराष्ट्रपति भवन में अपने नेहरू-संस्मरणों की श्रृंखला में मगन डॉ. शर्मा कहने लगे, "वास्तव

में पंडितजी, अपना गुस्सा डॉ. काटजू पर उतारना चाहते थे। क्योंकि वे मुख्यमंत्री थे, इसलिए सांप्रदायिक दंगों की जिम्मेदारी उनकी थी। चुप रहने के बजाए भूल से मैं बोल पड़ा। इसके पश्चात पंडितजी बरस पड़े। मेरे बहाने पंडितजी काटजू साहब को सुनाते रहे।"

उपराष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उस पीढ़ी के अंतिम प्रतिनिधियों में से एक हैं, जो साक्षी रही राष्ट्रीय आंदोलन की, ऐसे राजनेताओं के सान्निध्य में बड़ी हुई कि जिनके जीवन का दूसरा नाम था प्रतिबद्धता और जो अग्नि-परीक्षाओं से निरंतर गुजरते रहे। तब क्यों बिसराएँ ऐसी विरासत को डॉ. शर्मा? संस्मरणों की यह विरासत आज डॉ. शर्मा की पूँजी है। संस्मरण सुनाते हुए डॉ. शर्मा भावविह्वल हो उठते हैं। एक निश्चलता, मासूमियत और आत्मविश्वास के भाव उनके मुख पर झलकते हैं। तब उन्हें अनुभव होता है, वे संस्मरणों के साथ नहीं, एक युग-पुरुष के साथ जीवित हैं। अक्टूबर के मध्य में उपराष्ट्रपति भवन में डॉ. शर्मा ने अपनी नेहरू-यादों का सिलसिला कुछ यों शुरू किया :

"कोई 1935-36 के बरस रहे होंगे। इलाहाबाद पढ़ने गया हुआ था, शायद ग्रेज्यूएशन करने गया था। तब नेहरूजी, सज्जाद ज़हीर, जे.ए. अहमद, डॉ. लोहिया, पूर्णिमा बैनर्जी आदि समाजवाद की क्लास लिया करते थे। काफी युवकों की दिलचस्पी ऐसी क्लासों में हुआ करती थी। मैं भी दूर नहीं रह सका। हालाँकि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दाखिला आई.सी.एस. बनने का ख्वाब पूरा करने के लिए लिया था पर कदम समाजवाद की क्लास की ओर मुड़ गए। मुझ पर ऐसी क्लासों का काफी प्रभाव पड़ा। पंडितजी के यहीं पहली दफा दर्शन हुए थे। इसके पश्चात यह सिलसिला कभी टूटा नहीं। उनके दर्शन का ही प्रभाव मुझ पर गहरा पड़ा। संयोग ऐसा रहा कि इंग्लैंड प्रवास के दौरान भी उनके दर्शन हुए। पंडितजी का रुझान बुद्धिजीवी वर्ग की ओर अधिक रहता था। वे हमेशा इस कोशिश में रहे कि बुद्धिजीवी या अपने-अपने क्षेत्र के महारथी कांग्रेस में शामिल हों, एक अच्छा वातावरण बनाएँ। वे यह भी चाहते थे कि बुद्धिजीवी विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और विभिन्न संस्थाओं से जुड़कर अन्य लोगों को आकृष्ट करें, ताकि वे समय पड़ने पर स्वतंत्रता आंदोलन में कांग्रेस को सहयोग दे सकें। वास्तव में वे चाहते थे कि कांग्रेस के कार्यकर्ता बहुआयामी, बहुमुखी बनें। हमेशा उन्हें प्रतिभाओं की तलाश रही। मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि उन्होंने मेरी जिंदगी की धारा बदल डाली थी।"

"कहा जाता है कि आपको तत्कालीन भोपाल राज्य का मुख्यमंत्री बनवाने में उनका प्रमुख हाथ रहा?" मेरा सवाल था।

"बिल्कुल [illegible] इसमें [illegible] की कोई बात नहीं है। मैं [illegible] और अनुभव दोनों

में ही छोटा था। नेहरूजी चाहते थे कि मैं मुख्यमंत्री बनूँ। तत्कालीन विधायकों को यह बात मालूम थी। परंतु तत्कालीन नवाब नहीं चाहते थे कि मैं नेतृत्व सँभालूँ। इसलिए उन्होंने माँग की कि नेतृत्व का फैसला मतदान से होना चाहिए। चूँकि नेहरूजी एक महान लोकतंत्रवादी थे, वे अपना फैसला किसी पर थोपना नहीं चाहते थे। वे सहमत हो गए कि मुख्यमंत्री पद का फैसला मतदान से होना चाहिए। सब विधायक दिल्ली पहुँच गए।

"मौलाना आज़ाद, रफ़ी अहमद किदवई, बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे नेताओं को जब मालूम हुआ कि भोपाल राज्य के नेतृत्व का फैसला मतदान से होगा, तो उन्हें काफी दुख हुआ, क्योंकि उन्हें यह मालूम था कि नेहरूजी प्रदेश की बागडोर मुझे सौंपने का फैसला कर चुके हैं। तब यह मतदान क्यों? उन्हें इस कदम पर काफी हैरत थी। खैर! मैं जीत गया और मुख्यमंत्री बन गया। नेहरूजी ने बधाई दी।"

"नेहरूजी का हृदय हिम के समान था। ऊपर से ठोस, सख्त दिखाई देता था। परंतु, गरम हो जाने के पश्चात वे तुरंत पिघलने लगते थे। सप्रू हाउस में डाँटने के पश्चात, उन्हें कुछ बेचैनी हुई। कुछ देर बाद आए। मेरे कंधे पर हाथ रखकर मुझे अंदर ले गए और पूछने लगे :

'तो मैं कब आऊँ मध्यप्रदेश की यात्रा पर?'

"उनके इस सवाल से मैं अवाक् रह गया। पहचान नहीं पा रहा था कि ये वे ही नेहरूजी हैं, जिन्होंने कुछ क्षणों पहले मुझे मुख्यमंत्री के सामने डाँट पिलाई थी। कायदे से उन्हें मध्यप्रदेश के दौरे के संबंध में मुख्यमंत्री डॉ. काटजू से बात करनी चाहिए थी। मगर उन्होंने प्रोटोकोल की परवाह नहीं की। दरअसल, सबके समक्ष मेरे कंधे पर हाथ रखकर बातचीत करते हुए वे यह दर्शाना चाहते थे कि मुझसे उन्हें कोई नाराजी नहीं है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो मुख्यमंत्री डॉ. काटजू सहित प्रदेश के अन्य कांग्रेसी मेरे और पंडितजी के संबंधों को लेकर कोई भी गलत अर्थ निकाल सकते थे।"

"वास्तव में उन्हें अपने पद की चिंता कभी नहीं रही। वे संबंधों, ईमानदारी, लोक-निष्ठा, सहयोग आदि को बहुत महत्व दिया करते थे। मैं देश में उस समय भोपाल राज्य का सबसे युवा मुख्यमंत्री था। जब मुख्यमंत्री बनने के संबंध में नेहरूजी ने मुझे संकेत दिए, तब मैंने उनसे कहा था कि मुझे सरकार चलाने का कोई अनुभव नहीं है। कैसे करूँगा शासन? उनका जवाब था कि चिंता मत करो। उन्होंने एक सीख दी, 'बस एक बात का ध्यान रखना, बदले की भावना से कोई निर्णय मत लेना। यहाँ तक कि अफसरों के मामले में भी खुले दिमाग से निर्णय करना। हालाँकि ज्यादातर अफसर अँगरेजी सरकार में काम कर चुके हैं। हमें

बगैर किसी पूर्वाग्रह या दुराग्रह के इस नौकरशाही से ही काम लेना है।' इस संबंध में मुझे पंडितजी का एक निर्देश याद आता है। भोपाल राज्य के आई.जी. पुलिस एस.एन. आग़ा ने पंडितजी को गिरफ्तार किया था। देश आजाद हुआ, उन्हें भोपाल का आई.जी. बनाने की बात चली। लोगों ने कहा कि इस पुलिस अफसर ने नेहरूजी को गिरफ्तार किया था। इस पोस्टिंग के संबंध में पंडितजी से भी चर्चा की गई, परंतु उन्होंने आग़ा के प्रति कोई दुर्भावना प्रदर्शित नहीं की। बल्कि मुझसे कहा कि इनकी पोस्टिंग में कोई अड़चन नहीं आनी चाहिए।

"मैं तो यह कहूँगा कि मुझे उन्होंने राजनीति और सरकार चलाने की पूरी बारहखड़ी सिखाई। मेरे प्रति सदैव स्नेह व उदारता का भाव रखा। मुझे अच्छी तरह याद है, मैंने किस प्रकार भोपाल में मेडिकल कॉलेज खोलने के संबंध में नेहरूजी से सहयोग प्राप्त किया। किस्सा यह था कि योजना में कॉलेज का कोई प्रावधान नहीं था। प्रदेश और केंद्र के नेताओं ने इसमें सहयोग करने से साफ इंकार कर दिया था, और मैं किसी भी प्रकार भोपाल में मेडिकल कॉलेज खुलवाना चाहता था। हुआ यह कि मैंने दिल्ली जाकर नेहरूजी से चर्चा की कि भोपाल में मेडिकल कॉलेज नहीं है। नेहरूजी ने तुरंत कहा कि होना चाहिए। मैंने उन्हें अपनी दिक्कत बताई। उन्होंने कहा कि इसकी तुम चिंता मत करो। काम आरंभ कर दो। ऐसा ही हुआ और उन्होंने कॉलेज के उद्घाटन के लिए स्व. लालबहादुर शास्त्री को भी भेज दिया। इसपर चुटकी लेते हुए शास्त्रीजी ने कहा था कि इलाहाबाद में मेडिकल कॉलेज नहीं बन सका, परंतु शर्माजी ने भोपाल में बनवा लिया।"

'वे मुझसे प्रायः कहा करते थे कि अगर तुम पानी में उतरोगे नहीं तो तैरोगे कैसे! इसलिए मैं उनसे बेहिचक मार्गदर्शन प्राप्त कर लिया करता था। एक दफा उन्होंने कांग्रेस अधिवेशन में जबरन बोलने के लिए खड़ा कर दिया। अवाडी अधिवेशन की घटना है। न जाने उन्हें क्या सूझी, उन्होंने मुझे आदेश दिया कि मैं आर्थिक प्रस्ताव पर बोलूँ। मैं हक्का-बक्का रह गया, क्योंकि मेरी कोई तैयारी नहीं थी। चूँकि आर्थिक प्रस्ताव समाजवादी विचारधारा से ओतप्रोत था, इसलिए मुझे बोलने में विशेष दिक्कत नहीं हुई।"

"वे हमेशा समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, सार्वजनिक जीवन की शुद्धता आदि को जीवन की कसौटी मानते थे। इस संबंध में वे समझौता नहीं करते थे। उन्होंने मूल्य आधारित राजनीति को कसौटी बनाकर ही विंध्यप्रदेश के लालाराम वाजपेयी और महेन्द्र कुमार मानव को दंडित किया था। उनके खिलाफ कार्रवाई की गई। श्री वाजपेयी पर आरोप था कि जब वे विदेश गए तो अपने साथ एक जापानी घड़ी ले आए। महेन्द्र कुमार मानव पर यह आरोप था कि उनकी पी.ए. ने सर्कुलर जारी कर कहा कि शिक्षा-मंत्री मानव का चित्र हर स्कूल में होना चाहिए। उनके चित्र

भी बेचे गए। पंडितजी इन बातों पर चिढ़ गए। दोनों के विरुद्ध कार्रवाई की गई। साहस बटोरकर मैंने प्रधानमंत्री से कहा– 'ये लोग भ्रष्टाचारी नहीं हैं?' नेहरूजी की इस पर प्रतिक्रिया थी– 'यह मैं भी जानता हूँ।'

'तब...' मैं अपने वाक्य को पूरा नहीं कर सका। बस उनकी आँखों में जवाब के लिए झाँकता रहा। वे ताड़ गए; कहने लगे :

'कुछ कदम ऐसे भी उठाने पड़ते हैं, जिससे कि दूसरों को सबक मिले।' नेहरूजी यहीं नहीं रुके, आगे कहने लगे– 'तुम मुझे हमेशा ईमानदारी, वफादारी आदि के संबंध में कहते रहते हो। यह क्या रट लगा रखी है। अरे भाई, तुम ईमानदार हो, या वफादार हो, यह भी कोई योग्यता है?" मैं उन्हें नहीं समझ पा रहा था। उनकी बात आश्चर्यजनक लगी। उन्होंने खुलासा करते हुए कहा– 'इंसान में ये बातें तो होनी ही चाहिए। ये योग्यता की नहीं, इंसान या मित्र होने की जरूरी शर्तें हैं। व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन, दोनों पर ही ये बातें लागू होती हैं।' इसलिए जब उनसे कोई यह कहता था कि अमुक नेता ईमानदार हैं, निष्ठावान हैं, तो उसे झिड़क दिया करते थे। वे इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि कोई व्यक्ति बेईमान या निष्ठाहीन होकर सार्वजनिक जीवन में कार्य कर सकता है।

"इसलिए जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो वे राजनीतिक स्तर पर नहीं, भावना के स्तर पर घायल हुए। उनके तमाम विश्वासों, आस्थाओं, मान्यताओं और प्रतिबद्धताओं को गहरा धक्का लगा। वे चीन को एक देश नहीं, एक दोस्त मानते थे। इसलिए चीनी आक्रमण में उन्होंने स्वयं को टूटते हुए देखा। पर मैं यह कहूँगा कि इस विश्वासघात के वातावरण में भी पंडितजी ने अपनी बुनियाद से इधर-उधर होना मंजूर नहीं किया। भुवनेश्वर अधिवेशन में पक्षाघात के आक्रमण से पहले आर्थिक प्रस्ताव के संबंध में पंडितजी का वरिष्ठ नेताओं को परामर्श था कि इसमें नैतिक मूल्यों को भी स्थान मिलना चाहिए। आर्थिक विकास नैतिक मूल्यों पर आधारित नीतिगत होना चाहिए। नेता कहने लगे कि आर्थिक प्रस्ताव में इनकी क्या आवश्यकता है। इस पर पंडितजी बिगड़ उठे। कहने लगे कि बगैर नैतिक मूल्यों के आर्थिक विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती।"

"रिश्तों की गंभीरता का अंदाज एक घटना से लगाया जा सकता है। वे मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की मृत्यु के बाद स्वयं को तनहा महसूस करने लगे थे। दोनों में कितनी गहरी दोस्ती थी, यह किसी से छुपी बात नहीं है। बस, भोपाल से जुड़ी उनकी दोस्ती की एक सामान्य घटना याद है। मौलाना की मौत के बाद पंडितजी पहली बार भोपाल गए। भोपाल में आज़ाद साहब की एक छोटी बहन रहा करती थी। पंडितजी भोपाल-यात्रा में बहन के घर जाना न भूले। जब बहन से मिले तो वे भावुक हो गए। भरे गले से कहने लगे :

'तुम यह मत समझना बहन कि मौलाना चला गया है। एक भाई गया है, अभी एक और भाई जिंदा है।' पंडितजी इस भाई-बहन के रिश्ते को अंतिम दम तक निभाते रहे। उन्होंने इंसानी रिश्तों को सबसे अधिक महत्व दिया। भौतिक प्रभावों को इंसानी रिश्तों की गरिमा पर कभी हावी नहीं होने दिया।

"ये विश्वास, ये आस्थाएँ, मानवीय संबंधों की ऊष्मा विरासत में मिले थे उन्हें। इसलिए आधुनिकता के साथ-साथ गौरवमय अतीत के साथ भी जुड़े रहना चाहते थे पंडितजी। अपनी अंतिम इंदौर यात्रा के दौरान कॉलेज के छात्रों को संबोधित करते हुए नेहरूजी ने कहा था—आधुनिक तकनीक के साथ-साथ गौरवशाली अतीत को भी अपनाए रखना चाहिए। इसलिए पंडितजी प्राचीनता और आधुनिकता तथा अतीत एवं वर्तमान के अभूतपूर्व संगम थे। वे कहा करते थे कि जो व क्ष अपनी जड़ें, अपनी जमीन छोड़ देता है, वह सूख जाता है, निष्प्राण हो जाता है; और जो व क्ष ताजा हवा नहीं लेता, वह बौना रह जाता है; वह भी सूख जाता है।"

इतना कहकर उपराष्ट्रपति डॉ. शर्मा कुछ रुके। यादों के साथ वे भावुक हो चले थे। वर्तमान में लौटते हुए करीब तीन कम सत्तर के डॉ. शर्मा कहने लगे—"नेहरूजी को अपनी म त्यु का एक प्रकार से पूर्वाभास हो गया था। इंदौर में ही उन्होंने विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा था— 'अब हम थक रहे हैं। अब इस मुल्क को तुम लोगों को ऊँचा उठाना है। हाथ ऊँचा उठाओ। तुम्हारे बाजुओं में ताकत है। देश को आगे बढ़ाओ।' 'अब हम थक रहे हैं'— उनका यह वाक्य बार-बार मेरे कानों में गूँजता रहा, और इसके साथ ही उनका यह बुलंद आह्वान भी— भारत को ऊँचा उठाना है।

दीपावली, 1988

"कौन कहता है नेहरू तानाशाह थे !"

एक सुहावनी सुबह। मखमली घास पर धूप खिली हुई थी। दिल्ली के अशोक होटल के एक कक्ष में टेलीफोन की घंटी बज उठती है ट्रिन... ट्रिन ... ट्रिन। झटपट फोन उठाया जाता है। दूसरे छोर से आवाज आती है :

"यह जवाहरलाल है।"

"यह हिटलर है।" कक्ष के छोर से उत्तर था।

"देखो करंजिया, यह जवाहरलाल है। क्या अब तुम मुझे पहचानते हो?" उस छोर ने सवाल किया।

"यस सर, मैं पहचानता हूँ। आई.एम. सॉरी," कक्ष में ठहरे करंजिया ने विनोदी मूड के लिए खेद व्यक्त किया।

"सॉरी कहने की कोई जरूरत नहीं। मैं आशा करता हूँ कि तुम ठीक से व्यवहार करोगे। आज तुम संसद आ रहे हो?" उस छोर से भारत के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का पत्रकार-सम्पादक रुस्तमजी खुर्शेदजी करंजिया से उर्फ रूसी करंजिया से सवाल था।

"बिल्कुल संसद पहुँच रहा हूँ, फटकार-खाने के लिए," करंजिया ने फिर विनोदी मूड में आत्मविश्वास के साथ उत्तर दिया।

"अब तुम ठीक तरह से पेश आओ," प्रधानमंत्री ने एक बार फिर ताकीद किया।

"यकीन करिए, मैं ठीक तरह से पेश आऊँगा। आप मुझे आदेश दीजिए, मेरा बर्ताव ठीक रहेगा," करंजिया ने नेहरू को आश्वस्त किया।

"बहुत अच्छा। आज का दिन शुभ रहे" और इसके साथ ही प्रधानमंत्री के निवास

स्थान तीनमूर्ति से आया टेलीफोन कट गया। रूसी करंजिया ने अपनी स्मृतियों की दीर्घा में करीब तीस साल पुरानी इस घटना को एक गुलदस्ते का रूप दे रखा है।

सितंबर का अंतिम दिन और बंबई का ब्लिट्ज कार्यालय। बाहर बरसात की झड़ी। अपने कक्ष में बैठे चार कम अस्सी के हरफनमौला सम्पादक करंजिया नेहरू पर बात करते हुए यादों के गलियारे में खो-से जाते हैं। बरसात की झड़ी और स्मृतियों की झड़ी वातावरण में भावुकता पैदा कर देती है। ब्लिट्ज सम्पादक करंजिया यादों में डूब अपनी बात जारी रखते हैं :

"प्रधानमंत्री से फोन पर बात समाप्त करने के पश्चात मैं संसद भवन गया, जहाँ मुझे अपनी भर्त्सना का सामना करना था। नेहरूजी को इस घटना से काफी पीड़ा थी। वे नहीं चाहते थे कि सदन में बुलाकर मुझे फटकारा जाए, परन्तु वे विवश थे। उन्होंने यह जरूर सुनिश्चित किया कि मुझे अधिक परेशानी का सामना न करना पड़े। इसके लिए उन्होंने अपने दामाद फिरोज गाँधी, हुमायूँ कबीर सहित कुछ प्रभावशाली सांसदों को इशारा कर दिया था कि मुझे सम्मान के साथ सदन में लाया जाए। इसलिए संसद के वॉच एंड वार्ड स्टॉफ से मेरा पाला नहीं पड़ा। मुख्य द्वार पर ही सांसद मुझे मिल गए और सदन में ले गए। मैं बड़े मजे के साथ सदन में फटकार का सामना करता रहा। हालाँकि कुछ लोगों ने मुझे परेशान करने की कोशिश भी की, पर समर्थक सांसदों की भी कमी नहीं थी। यह जरूर था कि नेहरूजी विवश थे। वे नहीं चाहते थे कि मुझे संसद में बुलाकर डाँटा जाए। इसलिए उन्होंने तत्कालीन अध्यक्ष श्री अयंगार से अनौपचारिक तौर पर कहा भी कि मुझे कुछ नहीं होना चाहिए। पर सदन में पंडितजी सिर झुकाए बैठे रहे और मोरारजी देसाई का चेहरा चमकता रहा।

"आखिर सदन में फटकारने की नौबत क्यों पैदा हुई?" मैंने पूछा।

"मैं स्व. कृपलानी को लगातार कृपुलानी या किपुलानी लिखता रहा। इसलिए मुझे अपमानित करने के लिए सदन में बुलाया गया। परन्तु नेहरूजी के प्रयासों से मैं अपमानित होने से काफी बचा रहा। फटकार का दृश्य समाप्त होने के बाद मुझे चिन्ता हुई कि अब मेरे और नेहरू के संबंध हमेशा के लिए समाप्त हो चुके हैं। नेहरू कभी नहीं चाहेंगे कि मुझ जैसे व्यक्ति के साथ कोई रिश्ता रखा जाए। अब मैं उनका कभी साक्षात्कार नहीं ले सकूँगा। संसद भवन से बाहर आते-आते मैं काफी चिंतित हो उठा। मैंने अपनी चिन्ताओं से तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन को अवगत कराया। उन्होंने कहा कि कोई चिन्ता मत करो। शाम को

चाय पर मेरे यहाँ आओ। शाम को चाय पर उपराष्ट्रपति के यहाँ पहुँचा। मेरे साथ मेरी पत्नी और पुत्री थी। कुछ देर बाद मैं क्या देखता हूँ कि प्रधानमंत्री नेहरू की कार उपराष्ट्रपति भवन में दाखिल होती है। चन्द क्षणों में नेहरू हमारे साथ चाय की चुस्कियाँ लेने लगते हैं; मेरी पत्नी और बच्ची से बात करते हैं; उनके हालचाल पूछते हैं और अंत में मेरी ओर मुड़कर पूछते हैं :

" 'कैसे हो?'

" 'मैं कुछ चिंतित हूँ।'

" 'चिंतित? मगर क्यूँ?'

" 'सदन में फटकार के कारण।'

" 'वो घटना तो बीत चुकी।' नेहरूजी ने बेफिक्री से कहा।

" 'मगर इसके परिणाम.' मैं चिन्ता में डूबा हुआ था।

" 'कैसे परिणाम?' तुनककर नेहरूजी ने पूछा।

" 'मेरे और आपके रिश्ते? आपके इंटरव्यू? और भी कई बातें हैं।' मुझे आशंकाओं ने घेर लिया था।

" 'संसद की घटना से इन सब बातों का क्या वास्ता? मथाई (नेहरू के निजी सहायक) से बात कर इंटरव्यू के लिए वक्त ले लो।' नेहरूजी ने आश्वस्त किया कि तीनमूर्ति के दरवाजे मेरे लिए बंद नहीं किए गए हैं। संसद की घटना के बावजूद हम दोनों के संबंधों के ताप में कमी नहीं आई। मैं उनसे नियमित रूप से इंटरव्यू लेता रहा। हर महीने उनके साथ एक इंटरव्यू तय था। यहाँ तक कि उनके निधन से कुछ पूर्व भी मैंने उनका इंटरव्यू लिया था।"

"नेहरूजी के साथ रिश्तों का सिलसिला कैसे शुरू हुआ? शुरूआत दिलचस्प होनी चाहिए?" मैंने करंजिया को कुरेदने की कोशिश की।

"बेहद दिलचस्प। पहली मुलाकात क्या थी, एक अच्छी-खासी मुठभेड़ थी।" हवाई हमलावरी सम्पादक यादों के गलियारे में खो जाते हैं। दिमाग पर कुछ जोर डालते हैं। चौथे दशक की यादों में डूब जाते हैं।

"बंबई के किसी जज के निवास पर पार्टी थी। मैं भी निमंत्रित था। जब मेरा परिचय कराया गया और कहा गया कि मैं फलाँ चर्चित लेख का लेखक हूँ, तो यह सुनते ही नेहरूजी मुझ पर पिल पड़े। आक्रामक मुद्रा में कहने लगे– 'तुम नौजवान हो। तुम्हें अभी विकसित होना चाहिए। स्वयं को चैम्पियन कहलाने से पहले कुछ

सीखो-जानो।' मैं यह सुनकर अवाक् रह गया। उनके इन तेवरों का सामना करने के लिए मैं तैयार नहीं था। परन्तु कुछ क्षण बाद वे पिघल भी गए और दोस्ताना अंदाज में कहने लगे : 'तुम कुछ अपने में सुधार करो।' उनका यह रूप देखकर मैं अभिभूत हो गया। वास्तव में वे एक महान व्यक्ति थे।"

"नेहरूजी को एक समय दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक तानाशाह कहा गया था। इस संबंध में आपका क्या अनुभव है?" मैंने सवाल दागा। करंजिया इस सवाल के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें यह सहन नहीं था कि भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को तानाशाह के रूप में याद किया जाए। उन्होंने तुरन्त इस टिप्पणी का प्रतिवाद किया। सहारा लिया स्म तियों का :

"निश्चित ही वे लोकतांत्रिक एवं लोकतंत्रवादी थे, परन्तु तानाशाह बिल्कुल नहीं थे; यह निष्कर्ष मैंने निजी अनुभव के आधार पर निकाला है।" फिर यादों का एक झोंका आया। करंजिया कहने लगे "यह किस्सा तब का है जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया था। चारों तरफ आलोचनाओं का माहौल था। संसद के अंदर और बाहर नेहरू सरकार की खिंचाई हो रही थी। रक्षामंत्री कृष्ण मेनन भी चारों तरफ से घिर चुके थे। कृपलानी किस्म के लोग बढ़ा-चढ़ाकर बातें कर रहे थे। एक जवान मरता तो सौ बताए जाते। एक इंच भूमि जाने पर उसको मीलों में दिखाया जाता। लम्बे समय से ताक में बैठे लोगों को नेहरू पर आक्रमण करने का अवसर मिल गया था। ऐसे वातावरण में रक्षामंत्री कृष्ण मेनन ने जो कि मेरे मित्र भी थे – मुझसे कहा कि मैं नेहरू से मिलूँ; प्रधानमंत्री नेहरू को सुझाव दूँ कि चर्चिल की तरह वे भी भारत में इमरजेन्सी की घोषणा कर दें। दूसरे युद्ध के दौरान प्रधानमंत्री चर्चिल ने ब्रिटेन में इमरजेन्सी लगा दी थी। संसद के सामान्य कामकाज स्थगित कर दिए गए थे। कृष्ण मेनन के बार-बार आग्रह के कारण मैं डरते हुए नेहरूजी से मिला। अपना संपूर्ण साहस बटोरकर मैंने प्रधानमंत्री से कहा :

"ऐसे वातावरण में आप इमरजेन्सी क्यों नहीं लगा देते? सारे अधिकार अपने हाथों में क्यों नहीं ले लेते ?" ओह गॉड! वे तमतमा उठे। कहने लगे :

" 'मैं तुम्हें देखना पसंद नहीं करता। इतने सालों में मैंने जो कुछ तुम्हें कहा, इतनी सारी बातें कीं, सब बेकार गईं? तुम मुझसे तानाशाह बनने के लिए कह रहे हो?' नेहरूजी चीख उठे।

"अपना वाक्य जारी रखते हुए कहने लगे– 'करंजिया, कहीं तुम पागल तो नहीं हो गए हो?"

मैं घबरा उठा। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ। उनके साथ मैं बहस नहीं कर पा रहा था। तर्क सूझ नहीं रहे थे। शब्द साथ नहीं दे रहे थे। उन्होंने आखिरी

ऐलान किया। मेरे कानों में आज भी उनके शब्द गूँज रहे हैं। द ढ़ता के साथ बोले :

" 'सुन लो, मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा।' उनकी इस घोषणा के साथ इस द श्य का पटाक्षेप हो गया। यह द श्य गवाह है इस बात का कि पंडित नेहरू कितने लोकतंत्रवादी थे। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में उनकी कितनी गहरी आस्था थी।"

"मीनू मसानी के मत में नेहरू का विकास आजादी के बाद नहीं हुआ। आजादी से पहले और बाद दोनों ही कालों में वे स्तालिनवादी एवं कम्युनिस्ट थे। वे स्वयं को विकसित नहीं कर सके। क्या इस टिप्पणी को सही कहा जा सकता है?" बातचीत को दूसरा मोड़ देते हुए मैंने सवाल दागा। पर पाया कि करंजिया हर मोड़ पर नेहरू के बचाव के लिए चट्टान के समान तैनात हैं। एक क्षण में उन्होंने मीनू मसानी की टिप्पणी को खारिज कर दिया। फैसला सुना दिया कि नेहरू को समझना मीनू मसानी के बूते की बात नहीं है। ऐसी टिप्पणी करनेवाले वे होते कौन हैं? एक साँस में करंजिया कह गए : "नेहरू एक महान क्रांतिकारी थे। एक महान जनरल थे। एक महान राजनीतिक प्रशासक थे। गाँधी और नेहरू, निश्चित ही विश्व के महानतम व्यक्तियों में से थे।"

"कहा जाता है कि नेहरू हमेशा दुविधाग्रस्त रहे। 'क्या करूँ, क्या न करूँ' के हेमलेटी कॉम्प्लेक्स के शिकार रहे। उनका व्यक्तित्व अंतर्विरोधों से ग्रस्त बताया जाता है। क्या आप इससे सहमत हैं?" एक और सवाल दागा।

"मैं समझता हूँ कि प्रत्येक महान व्यक्ति या महान मस्तिष्क में अंतर्विरोध होते हैं। कोई महान राजनेता अंतरर्विरोधों से मुक्त नहीं रह सकता। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए कोई भी महान मस्तिष्क समय लेगा। विश्व के महान नेता भी नेहरूजी से सलाह-मशविरा किया करते थे। इसलिए यह कहकर उन्हें खारिज कर देना कि उनका व्यक्तित्व अंतर्विरोधी था, गलत होगा। उनकी कार्यशैली एवं चिंतन में एक तारतम्यता अवश्य रहती थी।

"मूलतः नेहरू एक स्वप्नदर्शी, युगद ष्टा थे; समन्वयवादी थे; सबको साथ लेकर चलना चाहते थे। उन्हें यह विरासत गाँधीजी से मिली थी। हालाँकि गाँधीजी उन्हें अतिवादी, रैडीकल, यहाँ तक कि डिटो कम्युनिस्ट कहा करते थे। परन्तु नेहरू अपने विरोधियों को भी साथ लेकर चलना पसंद करते थे। शायद यही वजह रही कि वे सामंतवादी एवं पूँजीवादी तत्वों के प्रति नरम बने रहे। हालाँकि वे निश्चित तौर पर फासीवाद, सामंतवाद, साम्प्रदायिकता, जातिवाद आदि के सख्त खिलाफ थे। परन्तु विचारधारा के आधार पर वे देश को विभाजित नहीं करना चाहते थे। पूँजीवाद के विरुद्ध होने के कारण ही उनके काल में अनेक 'कंट्रोल्स' सरकार ने लागू किए। हालाँकि कुछ नियंत्रण सनकी किस्म के हैं, फिर भी उन्होंने लागू किए।

फिर भी मैं यह कहूंगा कि वे सबको साथ लेकर चलना चाहते थे। उनकी इस आदत को लेकर मैंने उनसे एक बार सवाल भी किया : 'नेहरूजी, आपने राष्ट्रमंडल की सदस्यता स्वीकार की है। इसका क्या स्पष्टीकरण है?'

" 'इसका स्पष्टीकरण है।' पंडितजी कहने लगे, 'भारत अपनी भौगोलिक-ऐतिहासिक स्थिति के कारण अलगाव में नहीं रह सकता। जिस तरह आज हम संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं उसी प्रकार राष्ट्रमंडल की सदस्यता की भी एक अपनी उपयोगिता है। राष्ट्रमंडल में हिस्सा लेकर ही राष्ट्रमंडल को सुधारा जा सकता है, उसे प्रभावित किया जा सकता है।' वास्तव में नेहरूजी 'सम्पूर्ण विश्व' को अपनाना चाहते थे। वे किसी भी कीमत पर भारत को अलगाव की स्थिति में नहीं रखना चाहते थे। उनकी विश्व-दृष्टि के कारण ही कर्नल नासिर, टीटो, सुकर्णो, एन्क्रूमा जैसे महान नेता भारत के करीब आए।"

"नेहरू के किस रोल ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया–एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में या प्रधानमंत्री के रूप में?"

"मैंने उनके दोनों रोलों को करीब से देखा है। जाहिर है मैं उनके पूर्व-1947 के रोल से अधिक प्रभावित हूँ। उस समय वे एक योद्धा थे। आजादी के बाद एक राजनीतिक प्रशासक। हालाँकि योद्धा की तरह ही वे एक नवजात स्वतंत्र राष्ट्र की बेशुमार समस्याओं से जूझते रहे। फिर भी एक महान योद्धा या राजनेता की तरह नेहरू की अपनी सफलताएँ और असफलताएँ रही हैं। कई मोर्चों पर उन्हें शिकस्त मिली। गाँधीजी का अंतिम व्यक्ति आज भी समाज में अंतिम इंसान के रूप में जी रहा है। धरा के अभागों के जीवन में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आ सका है। परन्तु नेहरू को इसके लिए पूरी तरह दोषी नहीं ठहराया जा सकता। भारत जैसे देश की विभिन्न भीषण समस्याओं का हल इतना आसान भी नहीं है। फिर एक राष्ट्र के जीवन में पंद्रह-बीस साल कुछ नहीं होते। आज रूस में क्या हो रहा है ? क्या वहाँ की व्यवस्था में पूर्णता है ? स्टालिन से गोर्बाचोव तक कितना परिवर्तन आ चुका है। अतः नेहरू जितने पूर्ण थे उतने ही अपूर्ण और इसी पूर्णता एवं अपूर्णता के साथ-साथ उन्होंने भारत को आगे बढ़ाया है। वे निश्चित ही अपने समय में आगे रहे।"

"यदि आज नेहरू जीवित होते, तो वर्तमान स्थितियों के प्रति उनका कैसा रवैया रहता?"

"नेहरू हर स्थिति में नेहरू रहते। वे किसी भी स्थिति में तानाशाह नहीं बनते, न ही इमरजेन्सी लागू करते। तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों और भारत के पड़ोसी देशों में तानाशाही है, सामंतशाही है। नेहरू के महान नेतृत्व के कारण ही भारत आज तक एक सुदृढ़ लोकतांत्रिक राष्ट्र है। मेरा यह स्पष्ट मत है कि नेहरू

तानाशाह नहीं थे, परन्तु उनकी पुत्री तानाशाह थी। सक्षप में नेहरू भारत में सर्वसम्मति से क्रांति चाहते थे।"

मगर क्या सर्वसम्मति से क्रांति संभव है? ऐसा नहीं हो सकता, इतिहास इसका साक्षी है।" मैंने करंजिया को भड़काने की कोशिश की।

"परन्तु नेहरू यही चाहते थे। वे भारत में एक समाजवादी समाज चाहते थे। पर नौकरशाही ने सब कुछ तबाह कर डाला। शायद ईश्वर भी भारत की समस्याओं का हल नहीं कर सकता।"

साक्षात्कार अंतिम पायदान पर था। मैंने पूछा, "पंडितजी के साथ अंतिम मुलाकात को किस तरह याद करना चाहेंगे?"

करंजिया का जवाब था, "आप जानते ही हैं, मैं नेहरूजी का हर महीने इंटरव्यू लिया करता था। मेरे लगभग सभी इंटरव्यू रिकॉर्ड किए गए हैं। हर इंटरव्यू आधे से एक घंटे का हुआ करता था। उनकी मृत्यु से करीब सत्ताईस दिन पहले मैंने उनका अंतिम इंटरव्यू लिया था। जिन क्षणों उनका इंटरव्यू चल रहा था, मैंने अनुभव किया कि वे काफी कमजोर हो चुके हैं। आवाज साफ नहीं है। शब्द भी स्पष्ट नहीं हैं। ठीक तरह से चल नहीं पा रहे हैं। देह-शक्ति उनका साथ छोड़ती जा रही है। परन्तु दिमागी तौर पर वे जिन्दा थे। पूरी तरह चैतन्य। इंटरव्यू की समाप्ति के बाद वे बमुश्किल उठे। मेरे कंधों पर झुके रहे। वे ठीक तरह से चल नहीं पा रहे थे, इसलिए उन्होंने दरवाजे से ही मुझे विदाई दी; अन्यथा वे मुझे नीचे तक छोड़ने आया करते थे। उनकी वह अंतिम स्मृति मेरे जीवन का हिस्सा बन चुकी है। उनकी काया शिथिल रही हो, आवाज मंद रही हो, शब्द अस्पष्ट रहे हों, परन्तु उन्होंने जीवन के अंतिम क्षणों तक हिंदुस्तान की तकदीर में, हिंदुस्तान के भविष्य में आस्था रखी।"

दीपावली, **1988**

"नेहरू तेलंगाना आंदोलन के खिलाफ नहीं थे !"

नेहरू और वामपंथियों के रिश्ते कभी सपाट नहीं रहे। दोनों के मध्य कभी दिसंबर-जनवरी की शीत लहरें चलीं, और कभी मई-जून की लूएँ भी। दक्षिणपंथी और वामपंथी दोनों ही क्षेत्रों में नेहरू अपने समाजवादी विचारों के लिए विवादास्पद बने रहे। मीनू मसानी जैसे घोर दक्षिणपंथी विचारक प्रधानमंत्री नेहरू को कम्युनिस्ट और वह भी स्टालिनवादी मानते रहे। वामपंथी उन्हें एक सहयात्री के रूप में देखते रहे। इसमें कोई शक नहीं कि उनके काल में ही अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी संसद में शक्तिशाली बनी। केरल में पहली कम्युनिस्ट सरकार अस्तित्व में आई और उसी नेहरू काल में कम्युनिस्ट सरकार के प्रथम प्रयोग की भ्रूण-हत्या हो गई। फिर भी वामपंथियों के बीच नेहरू-प्रशंसकों की कभी कमी नहीं रही; निश्चित ही सी.पी.आई. के पूर्व अध्यक्ष और वर्तमान में विभाजित अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव श्रीपाद अम त डाँगे नेहरू-इंदिरा प्रशंसा के कारण हमेशा विवादास्पद रहे हैं। काया से शिथिल, विचारों से बुलंद और एक-़कम नब्बे बरस में क्रांति का सपना सँजोए कॉमरेड डाँगे के साथ दादर में उनके निवास-स्थान पर हुई अनौपचारिक बातचीत के चन्द अंश :

डांगे : नेहरू और वामपंथियों के आपसी संबंधों की कोई बात नहीं है, क्योंकि वे मूलतः वामपंथी थे। पर नेहरू और कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक स्थितियाँ अलग-अलग रही हैं और यह स्वाभाविक भी है। वे कम्युनिस्ट पार्टी की आलोचना भी किया करते थे, परन्तु वे इसके खिलाफ नहीं थे। मुझे अच्छी तरह से याद है, जब हम लोगों को मेरठ षड्यंत्र कांड में फँसाया गया था, नेहरू अदालत में आया करते थे; हालाँकि हम लोग कम्युनिस्ट थे, पर वकील के रूप में वे यदा-कदा आते

रहे। जाहिर है उनकी सहानुभूति थी, इसलिए अदालत में आने की कोशिश की। नेहरू के साथ मोहम्मद करीम छागला भी आया करते थे।

उस समय नेहरू का मत था कि मेरठ षड्यंत्र का मुकद्दमा कम्युनिस्टों का ही नहीं है, जनता का है। इसलिए नेहरू खुद-ब-खुद अपनी पहल पर कोर्ट में चले आए, हम लोगों ने उन्हें बुलाया नहीं था। शुरू-शुरू में हम दोनों के बीच विशेष बात नहीं हुई, परंतु धीरे-धीरे हम लोग खुले। हालाँकि मैं आमतौर पर चुप रहा करता था, लेकिन एक दिन मैंने देखा कि वे स्वयं मेरे पास चले आए और बातचीत करने लगे। वैसे मेरठ मुकद्दमे का प्रचार भी देश-विदेश में काफी हो चुका था। इसलिए कांग्रेस को भी इसका समर्थन करना पड़ा। नेहरू के आने से इसे बल मिला ही।

जोशी : *क्या आप यह कहना चाहते हैं कि वे 1948 के तेलंगाना आंदोलन के समर्थक थे? इतिहास साक्षी है, उनके काल में यह आंदोलन कुचला गया।*

डाँगे : नेहरू तेलंगाना आंदोलन के खिलाफ नहीं थे। तेलंगाना आंदोलन पहले एक किसान आंदोलन के रूप में शुरू हुआ था। आरंभ में यह राजनीतिक आंदोलन नहीं था, इसलिए नेहरू ने इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया। वास्तव में सरदार बल्लभभाई पटेल थे जिन्होंने नेहरू पर दबाव डाला कि इस आंदोलन में हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। पटेल ने नेहरू को यह समझाने की कोशिश की कि यदि समय रहते इसे रोका नहीं गया तो इसका प्रभाव तेजी से फैल जाएगा। ऐसा भी समय आ सकता है जब हम दिक्कत में फँस सकते हैं। वास्तव में तेलंगाना आंदोलन एक बहुआयामी आंदोलन था। इसे केवल किसान आंदोलन या हैदराबाद निज़ाम की सत्ता समाप्त करनेवाला आंदोलन कहकर खारिज नहीं कर सकते। यह कई मुद्दों से जुड़ा हुआ था। इस प ष्ठभूमि में नेहरू के रोल को देखा जाना चाहिए।

जोशी : *मीनू मसानी कहते हैं कि नेहरू कम्युनिस्ट थे, स्टालिनवादी थे।*

डाँगे : मीनू मसानी पागल हैं। नेहरू कभी जेन्यूइन कम्युनिस्ट नहीं रहे। अलबत्ता वे एक समाजवादी थे। समाजवादी और साम्यवादी में फर्क होता है, यह तो समझते हो ना?

जोशी : *क्या उन्हें जेन्यूइन समाजवादी कहा जा सकता है?*

डाँगे : मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि वे एक जेन्यूइन समाजवादी थे। अब आप कहेंगे कि वे भारत में कोई बुनियादी बदलाव नहीं ला सके।

जोशी : *यह एक स्वाभाविक सवाल है। समाजवादी होने के बावजूद, आजाद भारत के ढाँचे में वे बुनियादी परिवर्तन लाने में विफल रहे हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।*

डाँगे : देखिए 1947 के पहले मुख्य मुद्दा था अँगरेजी राज का खात्मा, अँगरेजों को देश से भगाना; बुनियादी परिवर्तन लाने का सवाल नहीं था। जब आजादी मिली तो नेहरू को तबाही, साम्प्रदायिक दंगों, अराजकता का सामना करना पड़ा। चारों तरफ दंगों का विस्फोट हो चुका था। अँगरेजों की पूरी कोशिश थी कि भारत में कभी भी स्थिरता पैदा न होने पाए। इसमें कोई शक नहीं है कि महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू ने इस अराजकता पर काबू पाया। एक बात याद रखिए, भारत के राजनीतिक द श्य में नेहरू की दो भूमिकाएँ हैं। एक आजादी से पहले की और दूसरी आजादी के बाद की। दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। आजादी से पहले वे लड़ते रहे, जेल जाते रहे, उनकी एक बिल्कुल अलग भूमिका थी। परन्तु आजादी के बाद की भूमिका और भी पेचीदा व कठिन थी। अनेक समस्याएँ थीं, जो अँगरेजों से विरासत में मिली थीं। इन सबका हल आसान नहीं था। सामंतवाद को ही ले लीजिए। आजादी से पहले और बाद में दोनों ही कालों में सामंती ताकतें मजबूत रही हैं और आज भी हैं। परन्तु नेहरू के सामने सामंती शक्तियों के साथ लड़ने से बड़ी एक और लड़ाई थी। वह लड़ाई थी देश को स्थायित्व प्रदान करना। अँगरेज अंतिम क्षणों तक भारत का राजनीतिक स्थायित्व समाप्त करने की साजिश रचते रहे। इसलिए नेहरू ने इस लड़ाई को अधिक महत्व दिया। सामंतवाद जैसे मुद्दे प ष्ठभूमि में चले गए। इसीलिए प्रीवीपर्स की समाप्ति जैसा सवाल भी लम्बे समय तक लटका रहा। वे इसे अपने जीवन में समाप्त नहीं कर सके; उनकी पुत्री इंदिरा गाँधी ही कर सकीं।

यह सही है कि जिस ढंग का और जिस पैमाने का भूमि-सुधार होना चाहिए था, वह आज तक नहीं हो सका है। बिहार का राग तो सबसे अलग है। वहाँ आज भी जमींदार किसी भी हरिजन की झोंपड़ी में घुसकर कुछ भी कर सकता है। नेहरू के जमाने में भी यही प्रथा प्रचलित थी। पर जमींदारी या सामंतवाद का उग्रतम रूप जरूर खत्म हो चुका है। मैं नेहरू के ऐसे आलोचकों से भी सहमत नहीं हूँ, जो यह कहते हैं कि वे हर मोर्चे पर असफल रहे। सच्चाई यह है कि भारत जैसे देश के लिए नेहरू राज का काल काफी छोटा कहा जाएगा। उनके सामने गंभीर समस्याओं के साथ-साथ कई गंभीर सीमाएँ भी रही हैं। अब ये सीमाएँ महसूस होने लगी हैं। मिसाल के तौर पर वामपंथी सरकार भी सत्ता में आती है तो वह यह भूल जाती है कि वह क्या चाहती थी। देश में वामपंथी सरकार की आज सबसे बेहतर मिसाल पश्चिम बंगाल की सरकार है। पश्चिम बंगाल सरकार की एक रट है कि वह अपने प्रदेश में सुधार या परिवर्तन इसलिए नहीं कर सकती क्योंकि केन्द्र राजकीय मामलों में हमेशा हस्तक्षेप करता रहता है। मैंने वहां की सरकार से एक बार पूछा कि भाई यह बताओ कि तुम्हारे किस प्रस्ताव को केन्द्र सरकार ने नहीं माना है। सच बात यह है कि केन्द्रीय सरकार ज्योति बसु को काम करने से रोक

नहीं रही है और न ही उनके किसी काम का विरोध करती है।

जोशी : *इसका यह अर्थ निकला कि नेहरूजी एक सफल प्रधानमंत्री थे?*

डाँगे : निश्चित ही वे तत्कालीन परिस्थितियों और सीमाओं में एक सफल प्रधानमंत्री थे। पर यह भी सच है कि वे इन सीमाओं को तोड़ भी नहीं सके। उनकी सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि जिन तत्वों को वे समाप्त करना चाहते थे, उनकी सहमति भी इसमें चाहते थे। यह कैसे संभव है कि कोई सामंत या जमींदार या पूँजीपति अपने ही खात्मे की इजाजत नेहरू को देता। नेहरू जीवनपर्यन्त ऐसे तत्वों की सहमति की प्रतीक्षा करते रहे। परिणाम यह निकला कि वे अनेक कठिनाइयों में धँसते चले गए।

जोशी : *यदि आज नेहरूजी जीवित होते तो वर्तमान परिस्थितियों के साथ निपटने का उनका क्या तरीका रहता?*

डाँगे : अरे बाप रे... यह सब अनुमानबाजी है। अलग-अलग परिस्थितियाँ हैं। वर्तमान प्रधानमंत्री संजय गाँधी... क्यों संजय हैं न? *(याद दिलाते हुए–नहीं राजीव गाँधी हैं।)* अरे हाँ, राजीव गाँधी हैं। संजय गाँधी तो मर गया ना? ... हाँ तो मैं कह रहा था, ये राजीव गाँधी बिल्कुल अनुभवहीन हैं। समस्याएँ गंभीर हैं। वे इनका सामना करने में नर्वस हो जाते हैं। राजीव गाँधी को मालूम होना चाहिए कि उनका पाला दादाओं से पड़ा है। दादाओं से कम्युनिस्ट ही निपट सकते हैं। दादागीरी का मुकाबला दादागीरी से ही किया जा सकता है, हाथ जोड़ने से नहीं। पर राजीव गाँधी को दादागीरी के सब हथकंड़े आते नहीं हैं। उत्तरप्रदेश में ब्राह्मण, कायस्थ और राजपूतों की दादागीरी राजीव की समझ से बाहर की चीज है। अलबत्ता नेहरू इस डायनामिक्स को समझ सकते थे।

जोशी : *तब भी नेहरू काल ...*

डाँगे : देखिए नेहरू काल लगभग ठीक ही था; कोई बुरा नहीं था। यह सही है कि उनका झुकाव प्रतिक्रियावाद की ओर नहीं था। उन्हें प्रतिक्रियावादी ताकतों से नफरत थी। उन्होंने उनका डटकर मुकाबला किया। राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भारत पर प्रतिक्रियावाद लादना चाहती थी। उन्होंने दोनों ही स्तरों पर ऐसी शक्तियों के खिलाफ जंग की। यहाँ तक कि अमेरिकी विद्वान गैल्ब्रेथ भी नेहरू के साहसिक कदम से प्रभावित थे; वे उनकी गैर-प्रतिक्रियावादी विचारधारा एवं नीतियों की आलोचना नहीं कर सके।

दीपावली, 1988

असहमति के अर्थ
'तो पूरी तरह नंगा हो जाने दो'

किस्सा जनवरी 1971 का है। चुनाव-कवरेज के सिलसिले में तब मैं बस्तर गया हुआ था। सुखद संयोग था, डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा से वहाँ मेरी पहली मुठभेड़ हुई। तब भी वे जिलाधीश या नौकरशाह कम, एक जुनूनी सोशल एक्टीविस्ट ज्यादा दिखाई देते थे। एक अवधूत की भाँति चौबीसों घंटों जिले में अलख जगाए रहते थे; रात-बिरात कहीं भी जीप लेकर निकल जाना; रेस्ट-हाउस से दूर रहकर थानागुड़ी या झोंपड़ी में ठहरना और सुबह-सवेरे तक आदिवासियों की चौपालें लगाए रखना। एक घनी रात, बेलाडीला के जंगलों में जीप ही उलट गई, पुलिया के नीचे गिर गई; मरते-मरते बचे। यह लेखक भी जीप में सवार था। दैवी कृपा थी, किसी को खरोंच तक नहीं आई। आस-पास के गाँवों से आदिवासियों को बुलाया और जीप सीधी की गई। डॉ. शर्मा स्वयं स्टीयरिंग सम्हाले हुए थे। ड्राइवर पीछे बैठा हुआ था। तब मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्णकालिक कार्यकर्ता का पत्र लेकर उनसे मिला था। बस्तर की मुठभेड़ एक निरंतर संवाद में बदल गई। किन्हीं बुनियादी मुद्दों पर डॉ. शर्मा के साथ गंभीर मतभेद भी रहे। वे मुझे उस समय एक कट्टर हिन्दूवादी, यहाँ तक कि ब्राह्मणवादी दिखाई दिए। कुछ क्षेत्रों में उन्हें आर.एस.एस. समर्थक कहा जाता था। लेकिन संवाद जितने गाढ़े होने लगे, डॉ. शर्मा का मानवतावादी, उदारवादी, दलितवादी और राष्ट्रवादी रूप सामने आने लगा। आपातकाल के दौरान उन्होंने मार्क्सवादियों, जनसंघियों और जेपीवादियों की समान रूप से मदद की। निजी संबंधों में उन्होंने वैचारिक पूर्वाग्रहों को कभी आड़े नहीं आने दिया। एक ही कसौटी थी संबंधों की, व्यक्ति धरा के अभागों के प्रति प्रतिबद्ध है या नहीं। आदिवासी क्षेत्रों में किन्हीं संघर्षरत कार्यकर्ताओं को गिरफ्तारी से बचाने के लिए वे इस्तीफा देने के लिए तैयार हो गए थे। उस समय वे केंद्रीय गृह मंत्रालय में संयुक्त सचिव थे। बस्तर के कार्यकाल के दौरान ही डॉ.

शर्मा एक किंवदती बन चुके थे। विदेश-नियुक्ति के कई प्रलोभन उनके सामने थे। देश में ही कम से कम उपराज्यपाल बन सकते थे। वाइस-चांसलर बनना एक सामान्य बात थी। लेकिन, डॉ. शर्मा ने आयुक्त के पद पर रहते हुए भी सरकार से सिर्फ एक रुपया लिया; अपनी पेंशन पर गुजारा करते रहे। सरकार ने दिल्ली में जो फ्लैट दिया, उसमें आदिवासी, हरिजन और सामाजिक कार्यकर्ता आए-दिन रहते रहे; आयुक्त डॉ. शर्मा ने स्वयं को एक कमरे में सिकोड़े रखा।

मुझे यकीन नहीं था, डॉ. शर्मा इस हद तक स्वयं को डीक्लास्ड कर लेंगे, लेकिन उन्होंने करके दिखाया। एक झटके में नौकरशाही छोड़ दी, दिल्ली की चमक-दमक छोड़ दी और जा बसे ठेठ बस्तर के एक गाँव में। डॉ. शर्मा जहाँ समाज और इंसान के परिवेश को आदर्शवादी व मानवीय द ष्टिकोण से देखते हैं, वहीं वैज्ञानिक चिंतन के माइक्रोस्कोप से अंतर्विरोधों को समझने एवं उनका समाधान करने में भी जुटे हुए हैं। लोकतंत्र में कार्यपद्धति से मतभेद होना स्वाभाविक है, लेकिन ईश्वर-प्राप्ति या मुक्ति पर हक जितना सगुणवादियों का है, उतना ही निर्गुणवादियों का भी है। असहमति का दमन न राजनीति को कहीं ले जा सका है, न रूहानियत को अल्लाह तक पहुँचा सका है। 'समाज की तलछट, समाज का कलश बने', डॉ. शर्मा यही चाहते हैं। पिछले दिनों जगदलपुर में कथित 'असहमतों' की एक टोली ने उन्हें निर्वस्त्र करके पीटने की कोशिश की। वैचारिक असहमति के इस फासीवादी आख्यान के संदर्भ में उनसे बातचीत :

जोशी : *आप बस्तर के आला हाकिम रह चुके हैं। जिलाधीश के रूप में जगदलपुर की सड़कों पर आपकी हुकूमत रही है। बीस-इक्कीस बरस बाद वही सड़कें, वही नगर आपके साथ किए जा रहे वहशियाना व्यवहार के गवाह भी बनते हैं। ऐसे शर्मनाक क्षणों में आपके अंतर्मन पर क्या बीत रही थी?*

शर्मा : मैं समझता हूँ मेरे मन पर कुछ नहीं बीत रहा था। मैं यह सोच रहा था कि हो सकता है कि जिन लोगों के लिए मैं काम कर रहा हूँ वे भी यह मानें कि मेरा काम उनके खिलाफ है। इसकी एक वजह है। लोगों को भरमा दिया जाता है कि उनके विकास के लिए काम किए जा रहे हैं; वास्तविकता में ऐसा नहीं होता है। लेकिन, भ्रम के वातावरण में जब बुनियादी लड़ाई लड़ी जाती है तो इस तरह की घटनाओं का होना अपरिहार्य है। सच बात यह है कि जिन लोगों ने मेरे साथ ऐसा सलूक किया उन पर मुझे तरस आता है।

जोशी : *असभ्यतापूर्ण स्थिति का सामना करते हुए आपको दु:ख या पीड़ा हुई होगी?*

शर्मा : दु:ख तो बिलकुल नहीं हुआ, क्योंकि ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए

मैं मानसिक रूप से तैयार था। बात छोटी-सी है। जब आप निहित स्वार्थी तत्वों के खिलाफ आवाज उठाएँगे तो आपके साथ कुछ भी घट सकता है।

जोशी : *1970-71 में बस्तरवासियों ने आपको एक गाँधीवादी, ईमानदार, प्रतिबद्ध और निर्भीक प्रशासक के रूप में देखा है, और आज वे आपको एक जुझारू सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में देख रहे हैं। जब आपको सड़कों पर बर्बरतापूर्वक ढंग से नग्नावस्था में घुमाया जा रहा था तब जगदलपुरवासी मूकदर्शक क्यों बने रहे? उनकी इस खामोशी को विवशता कहें या मानसिक दासता या कायरता या अक्षम्य अपराध, और या लोकतंत्र की ट्रेजडी?*

शर्मा : एक बात तो यह है कि बस्तर में मेरी लोकप्रियता गाँवों में रही है। नगर हमेशा आदिवासी शोषण के केंद्र होते हैं। नगर के उच्च वर्ग ने मुझे कभी भी दिल से स्वीकार नहीं किया था। जिलाधीश कार्यकाल के दौरान मैंने जितने भी काम किए उनसे इन ऊँचे तबकों के हितों को चोट पहुँची, लेकिन आदिवासी का हित हुआ। उदाहरण के लिए मैंने तब वन-रक्षा की बात की, लकड़ी की बात की, इससे ठेकेदार नाराज हुए। जब व्यापारी वर्ग द्वारा किए जा रहे शोषण के खिलाफ कदम उठाया तो उनके गुस्से का निशाना बना। आदिवासियों की जमीन की रक्षा में कदम उठाए तो भू-लुटेरे मेरे खिलाफ हो गए। इसी तरह जब बैलाडीला में आदिवासी युवतियों के शोषण के खिलाफ आवाज उठाई और उनके देह-शोषण की रोकथाम की कोशिश की गई तो ये ही निहित स्वार्थी तत्व मेरे खिलाफ हो गए, क्योंकि इन्हीं तत्वों ने अपने घरों में आदिवासी लड़कियों को रखा हुआ था। संक्षेप में, मेरे हर कदम से किसी-न-किसी निहित स्वार्थ का अहित होता रहा है। इसलिए इन स्वार्थी वर्गों ने मुझे एक निरंकुश कलेक्टर के रूप में देखा। तो ये तत्व मेरी हुजूम से क्यों रक्षा करते? इतना ही नहीं, जिला प्रशासन खामोशी से सब कुछ देखता रहा।

जोशी : *देखिए, आपकी बात सही है। लेकिन, एक सभ्य व आधुनिक समाज में असभ्यतापूर्ण कारनामों का द श्य चल रहा हो, नगर के निचले व मध्य वर्ग के लोग खामोशी से सब कुछ देख रहे हों—इस सबको आप क्या कहेंगे?*

शर्मा : इस स्थिति की असली वजह समाज का विखंडन है। आज व्यक्ति स्वयं में समाता जा रहा है। समाज के बिखराव के दौर में सामूहिक मुद्दों पर त्वरित प्रतिक्रिया नहीं हो पाती है। और जो यह पढ़ा-लिखा वर्ग है, यह तत्काल प्रतिक्रिया से घबराता है; यह सोचने लगता है। इसीलिए जब न्यूयार्क की सड़कों पर बलात्कार किया जाता है तो लोग अपनी खिड़की से चुपचाप देखते रहते हैं। यह बुद्धिवादी, तर्कशील, विवेकशील समाज की नियति है। जब हम भावना से विवेक की ओर जाते हैं, तब ऐसा होता है; दूसरे शब्दों में, एक निश्छल व निर्मल प्रतिक्रिया लुप्त हो जाती है।

एक वजह यह भी थी कि मेरे जैसे व्यक्ति के साथ ऐसा हो सकता है तो इसका प्रतिकार करनेवाले सामान्य व्यक्तियों के साथ क्या नहीं हो सकता, यह भय भी उनमें रहा होगा। मैं यह भी कहना चाहूँगा कि इस तरह की घटनाओं से संकेत मिलते हैं कि फासीवादी ताकतों का तेजी से उदय हो रहा है।

जोशी : *आपको ऐसा नहीं लगता कि यह स्थानीय या जगदलपुर स्तर की कायरता कल राष्ट्रीय स्तर पर भी दिखाई दे, और जैसा कि आप कह रहे हैं, कल फासीवादी ताकतें राष्ट्रीय स्तर पर उभरती हैं तो उनका कोई प्रतिवाद ही न हो? क्या जगदलपुर नगर की कायरतापूर्ण तटस्थता को संभावित राष्ट्रीय कायरता के लक्षण के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए?*

शर्मा : कायरता ही क्यों लें? मैं तो समझता हूँ कि जब राष्ट्रीय स्तर पर फासीवाद उभरेगा तब इस कायरता को सही भी माना जा सकता है। हिटलर के जमाने में क्या हुआ? हिटलर ने प्रतिदिन बीस हजार लोगों को खत्म करने के कारखाने या गैस-चैम्बर बनवाए थे; आदमी की खाल के बटुए बनाए गए। फासीवाद में एक खास किस्म का माहौल पैदा करके आदमी को इतने नीचे गिरा दिया जाता है, सही आदमी को गलत करार दे दिया जाता है; सही बात कहने पर दंडित और विकास-विरोधी घोषित किया जाता है– जैसे मुझे किया गया – और एहसास कराया जाता है कि विकास विरोधियों की यही दुर्गति होनी चाहिए। मूर्ति-भंजक घोषित किया जाता है। मंदिर-मस्जिद की लड़ाई में यह तो नहीं देखा जाता कि इंसान की हत्या की जा रही है या किसी अन्य की। चूँकि विकास की नई मूर्तियाँ बनाई जा रही हैं, अतः जो इनका विरोध करेगा उसे मूर्ति-भंजक कहा जाएगा। और मैं मूर्ति-भंजक हुआ, इसलिए मुझे सजा मिलनी चाहिए।

जोशी : *फर्ज कीजिए, आप बस्तर के प्रशासक होते, और किसी को नंगा घुमाया जा रहा होता, तब आप क्या करते?*

शर्मा : मैं व्यक्तिगत रूप से पीड़ित व्यक्ति की रक्षा करता, और मैंने अनेक बार ऐसा किया भी है। जगदलपुर में ही एक बार सिनेमा में दंगा मच गया था, मैं अपने बंगले से निकला और सिनेमा हॉल में पहुँच गया। इसके बाद प्रशासनिक प्रक्रिया शुरू हो गई। मेरे ही प्रशासन के दौरान बैलाडीला में आदिवासियों पर पुलिस के अत्याचार हो रहे थे। मैं सीधा घटनास्थल पर पहुँच गया। इससे स्थिति बदल गई। जब प्रशासन का मुखिया असंदिग्ध ढंग से न्याय व पीड़ितों के साथ खड़ा हुआ दिखाई देता है तो उसके मातहत भी वैसा ही करने लगते हैं। जब मैं मध्यप्रदेश का डी पी.आई. था और परीक्षा में नकल बंद करवा रहा था, तब लड़कों ने मुझे घेर लिया और पीटने लगे। मैंने कहा कि तुम मुझे मारो, लेकिन मैं पुलिस नहीं बुलाऊँगा। यह देखकर अध्यापक और कुछ लड़कों ने ही मेरी रक्षा की, मुझे सुरक्षा दी। यह

पिपरिया की घटना है।

जोशी : *मान लीजिए, आपके स्थान पर कोई औरत होती और उसके साथ भी ऐसा अमानुषिक व्यवहार हो रहा होता, तब भी क्या जनता और प्रशासन खामोश रहता?*

शर्मा : अब यह तो हाईपोथेटिकल सवाल है।

जोशी : *जी नहीं, ऐसा हो चुका है। एक दूसरे भाजपा शासित प्रदेश राजस्थान में भी एक स्वयंसेवी महिला भँवरी बाई के साथ इससे भी घृणित व्यवहार हो चुका है। इसलिए यह काल्पनिक सवाल नहीं है।*

शर्मा : तो उसके साथ भी यही घटना घट सकती थी। उसे भी समाज-विरोधी और विकास-विरोधी करार दे दिया जाता।

जोशी : *जब आप प्रशासक थे, आपके तबादले लगातार होते रहे। प्रत्येक राजनीतिक शासक को आपसे कम-ज्यादा शिकायत रही। इसकी क्या वजह है?*

शर्मा : राजनीतिज्ञों के साथ जो मेरे संबंध रहे हैं उनके संदर्भ में मैं एक बात साफ कर देना चाहता हूँ। अपने संपूर्ण प्रशासनिक जीवन में व्यक्तिगत स्तर पर किसी भी राजनीतिज्ञ के साथ मेरे कटुता के संबंध नहीं रहे। मुझे इस बात का फख्र है कि मुझे हर स्तर पर हर किस्म के राजनीतिज्ञों से पर्याप्त सम्मान मिला है। लेकिन मेरे जो विरोध हुए हैं, वे नीतिगत प्रश्नों और नीतिगत कार्यों पर हुए हैं।

तो ऐसा है कि मेरा नजरिया शुरू से ही जनवादी रहा है। हर राजनेता मुझसे खुश रहा है। वे मुझसे सिद्धांत बनवाते थे, योजना बनवाते थे। जब तक आप इन दोनों बातों तक सीमित रहते हैं, किसी के निहित हित प्रभावित नहीं होते। लेकिन जब नीतियों पर अमल किया जाने लगता है, तब हित प्रभावित होते हैं; तब कहा जाता है कि भाई, इससे अधिक नहीं होना चाहिए, क्योंकि कार्यान्वयन की प्रक्रिया में व्यक्ति और वर्ग, दोनों के हितों को चोट पहुँचती है। बस यहीं से मतभेद शुरू हो जाते हैं। मैं नाम नहीं लूँगा, एक दफे एक मंत्री बहुत रेडीकल बोल रहे थे। मैंने उनसे कहा कि मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ। आप जो नीति व कार्यक्रम घोषित करेंगे, मैं उस पर चलने लगूँगा; लेकिन बीच में ही पीछे हटने को कहेंगे तो वह नहीं होगा। प्रशासक की हैसियत में भी मेरी एक छवि है। ऐसी ही स्थिति पी.सी. सेठीजी के साथ पैदा हो गई थी, अध्यापकों को भोपाल से बाहर भेजने पर। उनके ही निर्णय को जब लागू करने की कोशिश की गई तो कतिपय लोगों की व्यक्तिगत समस्याएँ पैदा होने लगीं। तब मैंने साफ कह दिया था कि हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं।

देखिए, कुछ दूर तक तो हमारी व्यवस्था जनवादी नीतियों को स्वीकार करती है। चूँकि वह अपने मूल चरित्र को बदल नहीं पाती है इसलिए किसी खास मुकाम पर पहुँचकर उन नीतियों का विरोध करने लग जाती है। तगड़े निहित स्वार्थ हावी

हो जाते हैं। नीतिगत सवालों को लेकर तीन मुख्यमंत्रियों– श्यामाचरण शुक्लजी, सेठीजी और अर्जुनसिंहजी– ने मेरे तबादले किए। मैंने कभी बुरा नहीं माना। तीनों ही स्थितियों में मैंने विरोध में एक शब्द भी नहीं कहा। जब मुझे बस्तर से हटाकर भोपाल लाया गया था तब वहाँ के सभी ग्यारह विधायकों ने राज्यपाल से मुझे वापस भेजने का अनुरोध किया था। इन विधायकों में आज के भाजपा मंत्री श्री बलिराम कश्यप भी तो शामिल थे। राज्यपाल सत्यनारायण सिन्हा ने मुझसे कहा भी कि यदि मैं चाहूँ तो वापस बस्तर जा सकता हूँ, तबादला रद्द किया जा सकता है। मैंने विनम्रतापूर्वक इंकार कर दिया था। मुख्यमंत्री श्यामाचरण शुक्ल ने वक्तव्य भी दिया था कि सरकार को शिक्षा विभाग में सुधार के लिए डॉ. शर्मा की जरूरत है। इससे मेरा मान ही बढ़ा था।

मैंने हमेशा यह माना है कि तबादला करने का अधिकार राजनीतिक शासकों का है। जब अर्जुनसिंहजी ने मेरा तबादला किया तो मैं छुट्टी चला गया। लेकिन तबादला करने के उनके अधिकार को मैंने कभी चुनौती नहीं दी। सेठीजी के अधिकार को भी चुनौती नहीं दी। इसलिए मैं कह सकता हूँ कि किसी राजनेता ने मुझे सिद्धांत के विरुद्ध गलत बात करने या कहने के लिए कहा तक नहीं। मैं समझता हूँ यह मेरी सबसे बड़ी सफलता है। यदि किसी राजनेता को मैं पसंद नहीं आया तो उन्होंने अधिक से अधिक मेरा तबादला ही किया। चूँकि राजव्यवस्था उनको चलानी है इसलिए तबादला करने या न करने का अधिकार भी उनका है। एक नागरिक प्रशासक इसको चुनौती नहीं दे सकता।

जोशी : *सामाजिक जवाबदेही को लेकर राजनीतिक शासक और नौकरशाहों के बीच मुठभेड़ें चलती रहती हैं। आपकी दृष्टि में इसके लिए कौन दोषी है?*

शर्मा : मैं समझता हूँ कि जवाबदेही के मामले में प्रशासन की ज्यादा जिम्मेदारी है। प्रत्येक प्रशासक संविधान की शपथ लेता है। राजनेता भी यही करता है। यदि कानून का पालन नहीं होता है तो यह प्रशासक का फर्ज है कि वह राजनेता को संविधान की स्थिति से अवगत कराए। मिसाल के तौर पर, बरगी बाँध की घटना लें; मछली-शिकार को लेकर हमारा शासन से झगड़ा चल रहा है। कानून स्पष्ट रूप से कहता है कि स्वयं के उपभोग के लिए आदिवासी मछली मार सकते हैं। लेकिन प्रशासन ने जो नीलामी का नोटिस जारी किया उसमें इसका कहीं जिक्र तक नहीं है। सिर्फ मत्स्य-आखेट की नीलामी कहा गया है। राज्य की नीति है आखेट को ठेकेदारी पर देना। इस पर हमने आयुक्त से कहा कि जो आपने नोटिस जारी किया है उसमें आदिवासी के अधिकार का उल्लेख तक नहीं है; आपका कर्तव्य है कि इसे आप राज्य सरकार के ध्यान में लाएँ। इसी तरह की कई और विसंगतियाँ हैं। नीलामी तक संविधान-प्रदत्त अधिकारों के विरुद्ध है, क्योंकि नीलामी से

आदिवासियों की जीविका प्रभावित होती है। अत: आयुक्त को चाहिए था कि इन विसंगतियों की ओर राज्य शासन का ध्यान खींचते। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। यहाँ तक कि एक मंत्री के पुत्र को ही ठेका दे दिया गया, क्योंकि उसने सबसे अधिक बोली लगाई थी। मैं इस पर कोई टिप्पणी नहीं कर रहा हूँ। सिर्फ यह कह रहा हूँ कि हमें समझना चाहिए कि इसके पीछे कौन-सी ताकत काम कर रही है। अब यहीं प्रशासक को चाहिए था कि वह स्टेंड लेता।

बस्तर में जब मैं जिलाधीश था तब मैंने किसी भी निजी क्षेत्र की माईनिंग-लीज पर दस्तखत नहीं किए थे। मेरी एक ही आपत्ति रहती थी कि खदान निजी क्षेत्र में नहीं होनी चाहिए; स्थानीय लोगों की इसमें हिस्सेदारी होनी चाहिए, सहकारी समिति होनी चाहिए। आबकारी नीति के मामले में भी यही हुआ। मैंने राज्य शासन की बात स्वीकार नहीं की। मैंने संविधान और कानून की रोशनी में राज्य शासन की नीतियों को देखा व परखा। विसंगतियाँ दिखाई दीं तो अपनी टिप्पणियों के साथ फाइल भोपाल भेज दी।

जोशी : *आपके समय से लेकर आज तक प्रशासक के मूल्य-संसार में किस तरह के परिवर्तन आपको नजर आते हैं?*

शर्मा : मैं समझता हूँ कि शुरू में प्रशासक में विकास के लिए उत्साह था। देश आजाद हुआ था, सभी युवा प्रशासक विकास के लिए संकल्पबद्ध थे। दायित्वबोध भी ज्यादा था। आज इसका अभाव दिखाई देता है। कैरियर-दृष्टि ज्यादा पनप रही है। इसकी एक वजह यह भी है कि राजनीतिक हस्तक्षेप बढ़ गया है। मंत्री और निचले स्तर की नौकरशाही के संबंध गाढ़े होते जा रहे हैं। पटवारी नायब तहसीलदार, थानेदार आदि के तबादलों में शिखर स्तर के राजनीतिक शासक हस्तक्षेप कर रहे हैं। इससे प्रशासक का मनोबल प्रभावित हो रहा है। अस्तित्व-रक्षा के लिए वह जवाबदेही से जी चुराने लगा है। कैरियरवादी मूल्य उस पर हावी होता जा रहा है।

जोशी : *आपकी जनकल्याण एवं विकास को लेकर खास दृष्टि रही है। लेकिन यह दोष-रहित नहीं दिखाई देती। उदाहरण के लिए, आपने बैलाडीला में अनेक आदिवासी युवतियों को बाहरी लोगों के शोषण से बचाया। लेकिन उनकी नियति क्या रही? उनका पुनर्वास ठीक ढंग से नहीं हो सका। उनके पतियों ने उन्हें छोड़ दिया। दंतेवाड़ा के महिला निराश्रित आश्रम में कई ऐसी युवतियाँ रह रही हैं। बँधुआ श्रमिकों की मुक्ति व पुनर्वास के संबंध में भी यही समस्या है। बँधुआ श्रमिक मुक्ति अभियान के नेता स्वामी अग्निवेश भी इस समस्या से जूझ रहे हैं। इस संबंध में आपका क्या कहना है?*

शर्मा : सबसे पहले तो मैं यह कहूँगा कि दृष्टि साफ होनी चाहिए। लड़कियों का

ही प्रश्न लें। मैंने आदिवासी युवतियों को पत्नी का एक कानूनी दर्जा दिलवाया। अब प्रशासन को चाहिए था कि मेरे जाने के बाद जो व्यक्ति युवतियों को रखने के लिए तैयार नहीं, उनसे जीवनयापन-भत्ता दिलवाया जाता। मैंने सिर्फ यह किया था, आदिवासी लड़की जिसके साथ रह रही थी उसे वह अपना पति समझती थी, जबकि बाहरी आदमी उसे अपनी रखैल समझ रहा था। मैंने लड़की को एक कानूनी पत्नी का दर्जा दिलवा दिया था। बस। इससे ज्यादा कुछ नहीं किया। कमजोर वर्गों की रक्षा की जिम्मेदारी भी तो प्रशासक की होती है। अब बँधुआ मजदूरों को ही लीजिए। इसमें तीन पक्ष हैं—बँधुआ मजदूर, उत्पादन के साधन और जमींदार। विसंगति यह है कि आपने श्रमिक को मुक्त तो करा दिया, लेकिन भूस्वामी और उत्पादन के साधन के संबंधों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किया। दोनों के संबंध यथावत रहे। ऐसी स्थिति में मुक्त मजदूर का स्थायी पुनर्वास कैसे किया जा सकता है? मेरा शुरू से यह मानना है कि मालिक और उत्पादन के साधन के बीच जो गलत रिश्ता है उसे पहले खत्म करो। उत्पादन के साधन और मजदूर के बीच खाई मत डालो। मेरा तो यह कहना है कि जो ईंट के भट्टे हैं या गिट्टी की खदानें हैं, उन पर बँधुआ मजदूरों का हक जमवा दीजिए।

जोशी : *लेकिन जमीन या भट्टी में जिसकी पूँजी लगी है... वह...*

शर्मा : देखिए, मैं पूँजी को नहीं मानता। पूँजी भी तो शोषण से पैदा होती है। और आज की स्थिति में तो वह भी नहीं है। मार्क्सवादी विचार में तो गरीबों के शोषण से पूँजी का निर्माण होता है और वह पूँजीपति के हाथ में जाती है। लेकिन अब यह स्थिति भी बदल चुकी है। अब तो पूँजी तिकड़म या मैनीप्यूलेशन से बन जाती है। हर्षद मेहता इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। आज की तिकड़मी अर्थव्यवस्था है, जिसमें मेहनत या नियोजन की भी जरूरत नहीं है। आप रातों-रात करोड़पति बन सकते हैं। पूँजीपति की पुरानी अवधारणा बदल चुकी है।

इसलिए मैं यह मानता हूँ कि भूमि पर जोतनेवाले का हक होना चाहिए। ईंट भट्टों पर बँधुआ श्रमिकों का अधिकार होना चाहिए। कालीन उद्योग पर बाल-श्रमिकों एवं उनके माता-पिता का अधिकार होना चाहिए। बिचौलियों और गैर-मौजूद जमींदारों को समाप्त किया जाना चाहिए।

इसलिए मैं हमेशा से यह कहता आ रहा हूँ कि आदिवासी-विकास तभी सफल हो सकता है जब आदिवासी को शोषण से मुक्ति दिलाई जाए; सिर्फ राहत देने से कोई भला होनेवाला नहीं है। एक घड़ा है जिसका पेंदा टूटा हुआ है, उसमें कितना पानी डालो, रुकनेवाला है नहीं। यही स्थिति आदिवासी एवं हरिजन समाज की है।

आप जानते ही हैं कि भारत की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है। देश के 70 फीसदी लोग जल, जंगल और जमीन से जुड़े हुए हैं। इन संसाधनों पर आदिवासियों का

हक अँगरेजों ने खत्म कर दिया था। अँगरेजी-शासन का अन्याय आज तक चल रहा है, बल्कि और गहरा हुआ है। इसी वजह से आज की अर्थव्यवस्था विभाजित हो गई है। देश के 5-10 प्रतिशत लोग कानून-व्यवस्था के तहत इन संसाधनों पर अपना हक जमाए हुए हैं। इसी प्रवृत्ति के तहत एक सेठ बस्तर में आकर चार करोड़ रुपए लगाकर जंगल, जमीन और अन्य संपदाओं पर अपना हक जमा लेगा; आदिवासी अपने ही घर में बेघरबार और लावारिस हो जाएँगे। दो-चार लोगों को नौकरी मिल जाएगी। इन नौकरीवालों को मेरे खिलाफ कर दिया गया है।

जोशी : *आज विश्व-स्तर पर जिस तरह की अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया चल रही है, भारत भी उसकी चपेट से बच नहीं सकता। उदारीकरण भी उसी का एक नतीजा है। तब आप किस प्रकार इन दबावों का सामना कर सकेंगे?*

शर्मा : पहली चीज तो यह है कि इस प्रक्रिया को सही रूप में देखा जाए। आज बिना कहे यह कहा जा रहा है कि गरीबों की बात कहना छोड़ दो। अब विश्व-स्तर पर 10-20 फीसदी लोग जो ऊपर हैं उन्हीं के लिए विकास करना है। इस व्यवस्था में 70-80 फीसदी लोगों को कीड़ा-मकौड़ा कहकर खत्म कर देना चाहते हैं। आज हमारी अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी विसंगति यह है कि सूक्ष्म स्तर पर बहुत थोड़े लोगों को स्थान देकर विशाल मानवता को मृगतृष्णा का शिकार बनाकर छोड़ दिया गया है। उदाहरण के लिए, प्रतिवर्ष लाखों लोग आई.ए.एस. की परीक्षा में बैठते हैं। बमुश्किल एक हजार ही परीक्षा पास कर पाते हैं। लेकिन मृगतृष्णा का मायाजाल फैला रहता है कि कभी तो आई.ए.एस. बनेंगे। अब यह मोहभंग किया जाना चाहिए, और दो देश की व्यवस्था अस्वीकार की जानी चाहिए। अर्थव्यवस्था के खगोलीकरण से काम चलनेवाला नहीं है। विकास के मापदंड भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप होने चाहिए। भारत, चीन जैसे देशों में संसाधन सीमित हैं और आबादी अधिक हैं, जबकि योरप एवं अमेरिका में आबादी कम है और संसाधन अधिक हैं। इस बुनियादी अंतर को ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

देखिए, पिछड़े क्षेत्रों के आंतरिक उपनिवेशीकरण की वजह से आदिवासी क्षेत्रों की ललाई, तरुणाई लुप्त दिखाई दे रही है। 1970-71 में आदिवासी युवक-युवतियों के चेहरों पर जो क्रांति मैंने देखी थी, आज वह नजर नहीं आती, क्योंकि उत्पीड़न व वंचन की प्रक्रिया तेज हो गई है। आज वे चूसे दिखाई देते हैं। इस कंगालीकरण की प्रक्रिया को रोका जाना चाहिए।

जोशी : *क्या औद्योगीकरण से कंगालीकरण की प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता?*

शर्मा : नहीं, इसकी वजह है। औद्योगीकरण की धुरी कौन होगा? आदिवासी तो हाशिए पर ही रहेंगे ना। राँची, भिलाई, बैलाडीला क्षेत्रों के अनुभव इसके गवाह

हैं। दुखद स्थिति तो यह है कि हमारी सरकार के सामने यह आँकड़े तक नहीं हैं कि औद्योगीकरण से कौन वंचित हुआ है। पड़ोसी राज्य उड़ीसा के कोरापुट जिले में भयानक तबाही मची हुई है। सब बाहरी लोगों का दबदबा हो गया है। आदिवासी खदेड़ दिए गए हैं। अब बस्तर में भी यही होने जा रहा है।

जोशी : *ऐसी स्थिति में विकास की प्रक्रिया क्या होनी चाहिए? आपको विकास-विरोधी माना जा रहा है, जबकि आप इससे इंकार करते हैं। तब विकास कैसे किया जाए?*

शर्मा : विकास में यह देखना होगा कि इसका असली लाभ किसको मिलेगा? देखिए, अब तक तो सार्वजनिक क्षेत्र पनप रहे थे। लेकिन, अब पिछड़े व आदिवासी क्षेत्रों में निजी क्षेत्रों को प्रोत्साहित किया जा रहा है। इसके साथ यह भी कहा जा रहा है कि जिसने धन लगाया है, उसको लाभ मिलेगा। इसलिए निजी क्षेत्र की कोई सामाजिक जवाबदेही भी नहीं रह गई है।

जोशी : *सो तो ठीक है। लेकिन बस्तर के विकास के लिए कुछ उद्योग-धंधे तो लगाने ही पड़ेंगे। इसलिए कौन-सी जुगत निकले जिससे विकास भी हो और आदिवासियों का शोषण भी न हो सके?*

शर्मा : देखिए, सबसे पहले तो मैं यह बतला दूँ कि मैं विकास-विरोधी नहीं हूँ। पिछले 40 सालों से हमने कभी यह सोचा ही नहीं कि आदिवासी को विकास-प्रक्रिया में केंद्र बिंदु बनाया जाए। बस यही सोचा कि विकास करते रहो, सब ठीक-ठाक होता जाएगा। अब देखिए, बुनियादी अंतर कहाँ है? केंद्रीय और उत्तरपूर्वी आदिवासी क्षेत्रों में आधारभूत अंतर दिखाई दे रहा है। नागालैंड के लोगों ने साफ शब्दों में कह दिया कि हम उद्योग तभी लगाएँगे जब वहाँ के लड़के-लड़कियाँ प्रशिक्षित होकर तैयार हो जाएँगे। मेघालय में रेल-लाइन नहीं बिछने दी, क्योंकि इससे बाहर के लोगों की घुसपैठ बढ़ जाएगी; जब आंतरिक तैयारी हो जाएगी तब उद्योग लगाने व लाइन बिछाने की इजाजत दे देंगे। मिजोरम का पूरा व्यापार मिजो लोगों के हाथों में है। लेकिन केंद्रीय आदिवासी क्षेत्रों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। आदिवासी संसार के दो भिन्न अनुभव हमारे सामने हैं। पूर्वी क्षेत्रों में शिक्षा पहले गई, विकास बाद में, जबकि केंद्रीय क्षेत्रों में विकास पहले और शिक्षा बाद में। हमारे यहाँ शिक्षा पर ध्यान ही नहीं दिया गया। इसीलिए मैंने जब ट्राइबल सब-प्लान बनाया तो पहला उद्देश्य शोषण से मुक्ति रखा। दूसरा था स्थानीय समाज को सक्षम बनाना। तीसरा था—परंपरागत अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करना और चौथा था—नई अर्थव्यवस्था को उसमें जगह देना। इसलिए 1978 में सखलेचा सरकार के दौरान ही मैंने आदिवासी शिक्षा को प्राथमिकता दी। इन्हीं बलिराम कश्यपजी के समय ही रिकॉर्ड भवनों का निर्माण शुरू कराया; 800 छात्रावासों के निर्माण की

योजना बनाई भी। उस समय विधानसभा में कश्यपजी के बयान इसकी गवाही दे सकते हैं। 1978 में बस्तर की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की थी। उक्त कमेटी ने एक समकक्ष विश्वविद्यालय (डीम्ड युनीवर्सिटी) की सिफारिश की थी।

आदिवासी उपयोजना में भी शोषण से रक्षा संबंधी कई प्रावधान स्वयं मैंने किए थे, विशेष रूप से आदिवासी क्षेत्रों से कच्चे माल की निकासी को लेकर। जब साल-बीज का ठेका दिया जा रहा था तब मैंने इसका विरोध किया था और कहा था कि बस्तर में ही इसका तेल निकालने का कारखाना लगाया जाए; बीज को बंबई भेजने से आदिवासी को क्या लाभ मिलेगा? आपको विश्वास नहीं होगा, साल-बीज को खरीदकर उसे हिंदुस्तान लीवर को देने-भर में ही बिचौलियों ने करोड़ों रुपए कमा लिए। फर्जी तेल-संयंत्र लगाए गए। बस्तर में ही वन-आधारित उद्योग लगाने की माँग तब से करता आ रहा हूँ।

अब जब सार्वजनिक क्षेत्र नहीं आ रहे हैं और निजी क्षेत्रों को प्रोत्साहित किया जा रहा है तो रक्षा की नई व्यवस्था भी विकसित की जानी चाहिए। सहकारी जैसी संस्थाओं की रचना की जाए। आदिवासी को 51 प्रतिशत हिस्सेदारी दी जाए। आदिवासी क्षेत्रों को एक लोकक्षेत्र की आवश्यकता है जो कि सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों से अलग होगा। आदिवासी क्षेत्रों में लगनेवाले उद्योगों पर समाज का नियंत्रण होना चाहिए। श्रम के आधार पर श्रमिकों की हिस्सेदारी होनी चाहिए।

जोशी : *दिल्ली और भोपाल का जो सत्ता प्रतिष्ठान है उसके चरित्र से तो यह नहीं लगता कि वह आपकी विकास की अवधारणा के अनुरूप कार्य करेगा!*

शर्मा : देखिए, लड़ाई तो इस समय सत्ता, व्यवस्था और लोगों के बीच की है। इसलिए बदलाव के लिए लोकशक्ति का निर्माण करना होगा।

जोशी : *आपका आशय समझ गया। लेकिन दिक्कत यह है कि पिछले 40 सालों में परिवर्तन के क्षेत्र में जो-जो प्रयोग किए गए, एक मुकाम पर पहुँचकर वे अप्रासंगिक हो गए। इस संदर्भ में विनोबाजी, जयप्रकाश नारायण, लोहिया और यहाँ तक कि नक्सलवादियों के अनुभवों को देखा जा सकता है। ये प्रयोग इन सीमित क्षेत्रों में ही सफल रहे, राष्ट्रव्यापी नहीं बन सके। ऐसा क्यों?*

शर्मा : भारत जन-आंदोलन की कोशिश यही है कि अब तक के प्रयोगों से सबक लेकर आगे बढ़ें और परिवर्तन की रणनीति तैयार करें। हम वोट की राजनीति से दूर रहना चाहते है। जे.पी. आंदोलन का हश्र हम देख चुके हैं। वोट की राजनीति से आप सत्ता पर कब्जा कर लेते हैं, व्यवस्था-परिवर्तन नहीं कर पाते हैं। बल्कि सत्ता आपको संचालित करने लगती है। अतः व्यवस्था में बुनियादी

बदलाव के लिए लोकशक्ति की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, देश के एक लाख गाँव यह फैसला करें कि हम किसी भी जनविरोधी कानून को नहीं मानेंगे। निश्चित ही इसका प्रभाव सत्ता प्रतिष्ठान पर पड़ेगा। वह लोकहित के कानून बनाने के लिए बाध्य होगा; जैसे मछली मछुआरे की, ठेकेदार की नहीं। आज के कानून में वह ठेकेदार की है।

जोशी : *आज उपभोक्ता संस्कृति की मार दिल्ली से लेकर जगदलपुर व दंतेवाड़ा तक फैली हुई है। दूरदर्शन, रेडियो और पत्र-पत्रिकाओं के जरिए यह संस्कृति तेजी से फैल रही है। इससे उत्पीड़ित वर्गों की मिलीटेंसी प्रभावित भी हो रही है। यह संस्कृति मृगतृष्णा को यथार्थ में बदलती हुई दिखाई दे रही है। यह समस्या मार्क्स, लेनिन, माओ, होची मिन्ह और गाँधी के सामने नहीं थी। आज इसका विस्फोट हो चुका है। आप इसका सामना कैसे करेंगे?*

शर्मा : देखिए, मैं यह मानता हूँ कि हर व्यवस्था में उसके विनाश के बीज होते हैं। विनाश के बीज यही हैं कि आज झुग्गी-झोंपड़ियों में टीवी के माध्यम से पाँच सितारा होटल की संस्कृति प्रस्तुत कर रहे हैं। कुछ देर तक उसको इल्यूजन रहेगा। लेकिन एक न एक दिन वास्तविकता से उसकी मुठभेड़ होगी ही। दूसरी बात यह है कि हमारे देश में पश्चिमी सभ्यता का जो भारतीय उपभोक्ता संस्कृति संस्करण है वह सार्वभौम नहीं हो सकता। इसकी प्रमुख वजह यह है कि हमारे पास साधन नहीं हैं।

जोशी : *कुछ समय तो पूँजीवाद इन लोगों को भरमाकर रख सकता है। अपने अस्तित्व के लिए पूँजीवाद समय-समय पर, नए-नए हथियार ईजाद करता आया है। जब लोगों का भरम टूटेगा तो नया हथियार मार्केट में आ जाएगा।*

शर्मा : उसकी भी एक सीमा है। आज जब ओजोन की परत में छेद होने लगे हैं तो पूँजीवाद कहाँ बचेगा? अब तक यह माना जाता था कि साधन निस्सीम हैं। लेकिन, अब यह धारणा समाप्त हो चुकी है। विकास के साधन सीमित हैं। साधनों की सीमा काल व स्थान की दृष्टि से निर्धारित करनी पड़ेगी। अमेरिका की अलग होगी, भारत की अलग और उसमें भी बस्तर या सरगुजा की अलग रहेगी। लेकिन दस प्रतिशत लोग इस सीमा को स्वीकार नहीं करेंगे, जबकि निचले स्तरों का दबाव बढ़ेगा। इससे अंतर्विरोध पैने होंगे।

जोशी : *क्या यह माना जाए कि बदलाव की दृष्टि से राजनीतिक पार्टियों की क्षमता चुक गई है?*

शर्मा : मेरे ख्याल से आप सही कह रहे हैं। इन पार्टियों ने विकास के नए प्रतिमान के संदर्भ में सोचा ही नहीं है। इसके ऐतिहासिक कारण हैं। पश्चिमवालों ने शिक्षा

के माध्यम से भारतीय बुद्धिजीवियों को अनुकूलित कर दिया है। आजादी के दौरान के बुद्धिजीवी–चाहे गाँधीजी रहे हों या नेहरूजी, पश्चिम में शिक्षित होते हुए भी यहाँ की जमीन से जुड़े हुए थे। लेकिन आज ऐसा नहीं है। पश्चिमी बुद्धिजीवियों से हमारा राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन आदि सभी पटे पड़े हैं। गाँधी, लोहिया, जेपी आदि को हाशिए पर रखा हुआ है। इसलिए आज का बुद्धिजीवी जो सत्ता में आ गया है वह अपने ही देश की चुनौती को समझ नहीं पा रहा है। उसके सामने पश्चिम के मॉडल हैं। इसलिए राजनीतिक पार्टियों के ऊपरी नेतृत्व को नई विसंगतियाँ दिखाई नहीं दे रही हैं।

जोशी : *तब क्या राजनीतिक पार्टियों की भूमिका ही नहीं रह गई है?*

शर्मा : ऐसा नहीं है; भूमिका है और रहेगी। लेकिन जन-आंदोलन को भी समानान्तर आधार पर विकसित करना होगा और पार्टियों के नजरिए को बदलना होगा, आंदोलन को वोट की राजनीति से अलग रखना होगा। एक तरह से आंदोलन और पार्टियाँ परस्पर पूरक हैं। लेकिन मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि मैं या मेरे सक्रिय साथी कभी चुनाव नहीं लड़ेंगे।

जोशी : *आपके संबंध में प्रचारित किया जा रहा है कि आपके संबंध नक्सलपंथियों से हैं। क्या नक्सलपंथियों के साथ संपर्क रखना गैर-संवैधानिक है?*

जोशी : देखिए, जब मैं अनुसूचित जाति-जनजाति आयुक्त था तब भी मैंने अपनी रपट में लिखा था कि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे देश में जो काम शासन, राज्यपाल, मुख्यमंत्री आदि को करना चाहिए था, वह उन्होंने नहीं किया। निचले स्तरों पर आदिवासियों को राहत नहीं मिली, तो शोषण व उत्पीड़न को लेकर एक प्रक्रिया शुरू हुई; उसे आप नक्सलवाद कहें या कुछ और, लेकिन उसने आदिवासियों को राहत दिलाई, यह एक सच्चाई है। जब मैं आयुक्त के रूप में आदिवासी क्षेत्रों में गया था तब चेतना मंडल नामक संस्था ने एक ज्ञापन दिया था कि गरीबों की झोंपड़ियाँ न जलाई जाएँ। क्या यह माँग असंवैधानिक है? चेतना मंडल ने लोगों में चेतना पैदा की है। जहाँ तक संबंध का प्रश्न है, हम लोग एक ही क्षेत्र में काम करते हैं; आंदोलनों में भाग लेते हैं। ऐसी स्थिति में किसी को नक्सलवादी कहना कठिन है। क्या पहचान है ? हो सकता है कि एक व्यापक नक्सलवादी नीति के तहत कोई दिल्ली में काम कर रहा हो; पीपुल्स वार ग्रुप का प्रतिनिधि हो और वो मुझसे बात कर रहा हो; तब कैसे उसकी पहचान की जाए कि वह नक्सलपंथी है ? 25 हजार के आंदोलन में कौन भाग लेता है, हम कैसे पहचान कर सकते हैं?

जोशी : *आप पर मूर्ति-चोर, लकड़ी-चोर होने के आरोप लगाए जा रहे हैं। इस संबंध में आपका क्या कहना है?*

शर्मा : अब देखिए, ऐसा है कि मैं 25 साल पहले बस्तर में कलेक्टर था। इसके

बाद स्थानांतरण हुआ। तबादले को रोकने के लिए भाजपा के नेता कश्यप सहित ।। विधायक राज्यपाल के पास गए थे। इसके बाद मैं भोपाल में रहा। काम के आधार पर इंदिराजी ने मुझे दिल्ली बुलवाया। बुलानेवालों में के.सी.पंत और डॉ. नूरुल हसन भी शामिल थे। उस समय तक भी कोई बात नहीं थी। इसके बाद मैं वापस भोपाल गया। सखलेचाजी के शासन में सचिव व आयुक्त पद पर काम किया। कश्यपजी उस समय आदिवासी कल्याण मंत्री थे, तब उन्होंने मेरा स्वागत किया था। इसके बाद पटवाजी भी कुछ समय के लिए मुख्यमंत्री रहे। फिर अर्जुनसिंहजी का शासन आया। इसके बाद दिल्ली में मैं संवैधानिक अधिकारी बना। राज्यमंत्री का दर्जा मिला। इस पूरे कार्यकाल में किसी ने भी इस तरह के सवाल नहीं उठाए। आपको आश्चर्य होगा यह जानकर कि, सभी कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों से मेरे नीतिगत मतभेद हुए हैं जबकि भाजपाई या जनसंघी मुख्यमंत्रियों से मेरे कभी मतभेद ही नहीं हुए, किसी एक बिंदु पर उनसे मेरी टकराहट नहीं हुई। उनके लोग तो मुझे जनसंघी ही मानते रहे।

जब मैंने जबलपुर में आदिवासी हरिजनों की मिलन मढ़ई कराई थी उस समय मुख्यमंत्री के रूप में सखलेचाजी आए थे, जशपुर स्थित कल्याण आश्रम के कर्ताधर्ता मिश्रीलालजी आए थे। तब कहा गया था कि मिलन मढ़ई आर.एस.एस. की प्रक्रिया है। कांग्रेस की जब सरकार आई तो उसने इसे समाप्त कर दिया। एक पब्लिक मीटिंग में इनके ही एक मंत्री ने मुझे आई.ए.एस. गाँधी की उपाधि दी थी।

अब इतने लंबे कार्यकाल के बाद कोई बात उठती है तो भी मैं जाँच के लिए तैयार हूँ। 1981 में मैंने आई.ए.एस. से स्वेच्छा से सेवानिवृत्ति ली। प्रश्न उठता है कि मेरे खिलाफ विभागीय जाँच क्यों नहीं कराई गई ? क्यों मुझे पदोन्नति दी गई ? फिर भी मैं सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश या सी.बी.आई. से जाँच के लिए तैयार हूँ। हालाँकि रिटायरमेंट के 10 वर्ष बाद कोई जाँच नहीं की जा सकती, फिर भी इस तथ्य को भुला दिया जाए और न्यायाधीश के तहत मेरे व्यक्तिगत जीवन और कार्यकाल की जितनी भी बातें हैं सबकी जाँच के आदेश दे दिए जाएँ। मैं जाँच का सामना करने के लिए तैयार हूँ। जाँच की दृष्टि से संवैधानिक संरक्षण एवं तकनीकी औपचारिकता को भी त्यागता हूँ। अब जो मुझे जगदलपुर में भाजपाइयों ने नंगा किया है तो मुझे पूरी तरह नंगा हो जाने दो, जिससे कि सभी गंदगी-धूल दूर हो जाए। मैं एक नई पारदर्शिता के साथ उत्पीड़ितों और दलितों की लड़ाई लड़ सकूँ, अब यही महत्वाकांक्षा है।

15 नवम्बर, 1992

आदिवासी कल्याण का सपना सबका अपना-अपना

आदिवासी विकास एक महत्वपूर्ण और विवादास्पद विषय है। मध्यप्रदेश में पिछले कुछ वर्षों के दौरान आदिवासी कल्याण के क्षेत्र में राज्य शासन ने कई कदम उठाए हैं। 1985 में प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने मध्यप्रदेश के विभिन्न आदिवासी अंचलों का भ्रमण करके वहाँ आदिवासियों की समस्याओं का जायजा लिया था। मुख्यमंत्री श्री मोतीलाल वोरा स्वयं उन गाँवों का दौरा कर चुके हैं, जहाँ प्रधानमंत्री गए थे। आदिवासी-समाज के उत्थान के बारे में उनका अपना स्पष्ट चिंतन है, कल्पना है। वे चाहते हैं कि आदिवासियों में जो बुराइयाँ हैं, कुरीतियाँ हैं, अंधविश्वास हैं, उनसे आदिवासी समाज को मुक्ति मिले, यह समाज स्वस्थ और शिक्षित बने। उन्होंने भोपाल में एक भेंटवार्ता में ये बातें स्पष्ट कीं।

इसके पूर्व इस प्रतिनिधि ने मध्यप्रदेश के दो प थक्-प थक् आदिवासी क्षेत्रों-बस्तर और झाबुआ के प्रतिनिधियों से आदिवासी-कल्याण के विषयों पर नई दिल्ली में चर्चाएँ कीं। इस प्रतिनिधि ने मध्यप्रदेश के सरगुजा तथा शहडोल जिले के आदिवासी क्षेत्रों की यात्राएँ भी कीं तथा वहाँ आदिवासी जनों से उनकी समस्याएँ जानी-समझीं। मुख्यमंत्री श्री वोरा से हुई चर्चा की प ष्ठभूमि में यही यात्राएँ तथा श्री भूरिया व श्री नेताम से हुई चर्चाएँ। वे समग्र रूप से यहाँ प्रस्तुत हैं। जगह-जगह घूमते हुए एक टेलीविजन कैमरे की तरह विषयों, मुद्दों और कथनों को पकड़कर एक जगह लाया गया है।

मुख्यमंत्री : आदिवासियों से मेरा प्रथम साक्षात्कार बस्तर में 1958-59 में हुआ था।

उस समय वहाँ कोई आदिवासियों का सम्मेलन था। मैं बस्तर के पूर्व सांसद श्याम शाह के साथ गया था। वहाँ आदिवासियों की समस्याओं पर एक ज्ञापन तैयार कर पं. नेहरू को भेजा जानेवाला था। तब से लेकर आज तक आदिवासियों की स्थिति में परिवर्तन आया है।

उस समय आर्थिक संपन्नता उनसे कोसों दूर थी। बस्तर के अबूझमांड में 'शिफ्टिंग कलटीवेशन' हुआ करती थी। दूसरे क्षेत्रों में भी मैंने आदिवासियों को समीप से देखने की कोशिश की थी।

अरविंद नेताम और भूरिया : हम भी स्वीकार करते हैं कि आदिवासियों की स्थिति में परिवर्तन हुआ है। सुधार भी हुआ है। पर समस्याएँ...

मुख्यमंत्री : मुख्यमंत्री होने के नाते मेरी हमेशा यह कोशिश रहती है कि आदिवासियों की समस्याओं को गहराई के साथ समझूँ। इसलिए मेरी सरकार ने आदिवासी क्षेत्रों में कार्यरत प्रशासनिक सेवाओं को चुस्त बनाया है। आदिवासियों को शासन तंत्र में स्थान भी दिया है। उनकी आर्थिक उन्नति और कृषि एवं शिक्षा के क्षेत्र में विकास के लिए विशेष योजनाएँ बनाई गई हैं।

नेताम एवं भूरिया : आदिवासी उत्थान के लिए मौजूदा प्रशासनिक तंत्र उपयोगी नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों के लिए अलग से एक 'आदिवासी केडर' बनाने की आवश्यकता है।

नेताम : वास्तव में नए ढंग की सोच की आवश्यकता है। प्रतिबद्ध अधिकारियों का एक पैनल बनाया जाना चाहिए। इसी प्रकार संवेदनशील कर्मचारी होने चाहिए।

भूरिया : मेरा तो यह मत है कि जिन शासकीय अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति आदिवासी क्षेत्रों में की जाती है, वे स्वयं को दंडित समझते हैं। सरकार को चाहिए कि प्रत्येक सरकारी अधिकारी व कर्मचारी के लिए आदिवासी क्षेत्रों में कम से कम तीन साल के लिए काम करना आवश्यक कर दे। बल्कि उनकी सेवा-शर्तों में इसे शामिल कर दिया जाए। मैं तो आदिवासी विकास के लिए बननेवाली योजनाओं से असहमत हूँ। इनकी प्रक्रिया गलत है। ये योजनाएँ ऊपर से बनाकर हम लोगों पर थोप दी जाती हैं। इनमें आदिवासियों की किसी भी स्तर पर हिस्सेदारी नहीं है। यह जरूरी है कि इनमें हम लोगों को विश्वास में लिया जाए।

***जोशी** : सरकार बाकायदा आदिवासी समाज को विश्वास में लेती है। आदिवासियों के विकास के लिए परिषदें भी गठित की गई हैं। इस संबंध में, नेतामजी, आपकी क्या टिप्पणी है?*

नेताम : मेरे अनुभव ठीक नहीं हैं। प्रदेश की आदिवासी सलाहकार समितियाँ

निष्क्रिय और बेकार पड़ी हुई हैं। उन्हें कोई पूछता नहीं है।

वोराजी : सफलता या असफलता को छोड़ दीजिए; आदिवासियों की समस्याओं के निराकरण में प्रदेश सरकार पूरी ईमानदारी के साथ प्रयत्नशील है। केंद्र सरकार के निर्देशों के अनुरूप प्रदेश सरकार ने विकास कार्यक्रम तैयार किए हैं। इसमें एकीकृत विकास योजनाएँ आदि शामिल हैं। सभी को राहत मिली है। वन-उपज की उपयुक्त बिक्री हो, और सही मूल्य आदिवासी को मिले, इसकी विशेष व्यवस्था की गई है। आदिवासी क्षेत्रों में खाद्यान्न की उचित मूल्यों पर आपूर्ति होती रहे, इस दिशा में भी विशेष कदम उठाए गए हैं।

नेताम : मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि वन-उपज का पर्याप्त मूल्य आदिवासी को मिल रहा है। बिचौलिया संस्कृति पूरी तरह समाप्त हो चुकी है। सच्चाई यह है कि वन-विभाग और सहकारिता विभाग उदासीन बने हुए हैं; दोनों में झगड़ा चलता रहता है। सहकारिता की दुकानों पर वन-उपज खरीदने के लिए पैसा नहीं रहता। इससे आदिवासियों को काफी नुकसान होता है। तेंदू-पत्ते और लाख की खरीदी में भी धाँधली फैली हुई है। व्यापारी और बिचौलिए खरीदते हैं और आदिवासी को कम से कम दाम देते हैं। कभी-कभी हफ्तों पैसे के लिए टरकाते रहते हैं। सहकारिता विभाग की उदासीनता के कारण मुझे भी कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मेरी वन-उपज कई महीनों पडी रही।

मंडला जिले के बेगा चक के आदिवासी : उचित मूल्य की दुकान नहीं है। वहाँ राशन नहीं है। वन-उपज की खरीदी के लिए सहकारी समिति की व्यवस्था नहीं है।

जोशी : *नेतामजी ! तब क्या यह माना जाए कि सरकार पूरी तरह से विफल रही है?*

नेताम : मैं ऐसा नहीं कहूँगा। पेयजल के क्षेत्र में आदिवासियों को राहत मिली है। बस्तर में अच्छे परिणाम निकले हैं। लोगों ने झरने का पानी पीना बंद कर दिया है। हैण्ड-पम्प का पानी पीते हैं।

जोशी : *मंडला के बेगा चक, बिलासपुर और सरगुजा के कई क्षेत्रों में देखा गया है कि हैण्ड-पम्प बेकार पड़े हुए हैं।*

नेताम : हाँ, यह शिकायतें हमारे यहाँ भी हैं।

नानसिंह : *(बेगा-चक के अजगर गाँव का सरपंच)* अब आप ही देख लीजिए, पीने के पानी की कमी है। हैण्ड-पंप काम नहीं करते, बेकार हो जाते हैं; महीनों ठीक करने नहीं आते हैं। कई बार शिकायतें कीं। सरकारी कुएँ भी हैं, पर पानी सूख गया है।

भूरिया : पर मेरा अनुभव ऐसा नहीं है। हमारे झाबुआ क्षेत्र में शासन ने पेयजल

की समस्या का काफी हद तक समाधान किया है।

नेताम : पेयजल के अलावा शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई, संचार आदि के क्षेत्र में भी आदिवासियों को लाभ हुआ है।

जोशी : *मुख्यमंत्रीजी, प्रधानमंत्री ने प्रदेश के कई आदिवासी गाँवों का दौरा किया है। आप भी करते रहते हैं। क्या आपके पास इसका कोई लेखा-जोखा है कि आप लोगों के जाने के पश्चात उन गाँवों की तस्वीर कैसी बनी?*

वोराजी : हम लोगों की यात्राओं से गाँववालों को काफी लाभ पहुँचा है। आदिवासियों ने प्रधानमंत्री और मेरी यात्राओं को बहुत पसंद किया है। उनमें कहने की हिम्मत पैदा हुई है। उन्होंने नि:संकोच अपनी समस्याएँ हमारे सामने रखीं। मैं लगातार ऐसे गाँवों के संपर्क में रहता हूँ जहाँ प्रधानमंत्री जा चुके हैं। पिछले दिनों मैंने खुद रायगढ़ के इचकेला गाँव की यात्रा की थी। पूरा जायजा लिया। प्रगति को संतोषजनक पाया। इन गाँवों के संबंध में प्रधानमंत्री सचिवालय को एक विस्त त रपट भी भेजी गई है।

जोशी : *(सरगुजा के कठघोड़ी गाँव के सरपंच नवलसिंह से) कठघोड़ी उन सौभाग्यशाली गाँवों में से एक है, जहाँ प्रधानमंत्री पहुँच चुके हैं, सरपंचजी। प्रधानमंत्री के दौरे से आपके गाँव को कोई लाभ हुआ है?*

नवलसिंह : कोई खास नहीं। गाँव जैसा पहले था, वैसा ही है। कई वादे किए गए थे कुछ हुआ नहीं। हाँ, एक बात है, नलकूप लग गया है। मिडिल स्कूल खुल गया है। पर अभी तक ग्राम पंचायत भवन नहीं है। सरकारी डॉक्टर नहीं है। मकान उदरत-फुदरत टूटे-फूटे हैं। औषधालय नहीं है। पंद्रह-बीस कि.मी. दूर जाना पड़ता है। सस्ते गल्ले की दुकान है, पर सामान नहीं है। हमारे गाँव में हरिजन सबसे गरीब हैं।

आनंदपुर की सुकनी बाई : (कठघोड़ी से कुछ दूरी पर स्थित गाँव। प्रधानमंत्री इस गाँव में भी गए थे) राजीव गाँधी आए थे, कोई फायदा नहीं हुआ। पीने का पानी नहीं मिलता। हैण्ड-पंप नहीं है। आदमियों को अनाज नहीं है। पशुओं को चारा नहीं है।

मुख्यमंत्री : सरकार का मूल उद्देश्य आदिवासियों के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन लाना है। गरीबी की सीमा-रेखा से ऊपर उठाना है। इसके लिए यह आवश्यक है कि आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा का विस्तार हो। आप जानते ही हैं पिछले दो सालों में आश्रमशालाओं की तादाद में व द्धि हुई है। सातवीं योजना में शाला भवनों के निर्माण पर जोर दिया जा रहा है, तदर्थ शिक्षकों की नियुक्तियाँ भी की जा रही हैं।

गोरा कनारी के आदिवासी : मिडिल स्कूल है, पर आश्रमशाला नहीं है। बरसात के दिनों में सात-सात बार बुडनेर नदी को पार करके बच्चों को स्कूल पहुँचना पड़ता है। प्राथमिक एवं मिडिल स्कूलों के स्वयं के भवन नहीं हैं। गोदामों में कक्षाएँ चल रही हैं।

धुरकटा की एक अध्यापिका : पहाड़ियों से घिरे इस दूरदराज गाँव में अध्यापकों की सबसे बड़ी समस्या आवास की है। अध्यापिकाओं के लिए और भी कठिनाई है। बालकों के आश्रम में कन्याशाला चलाई जा रही है। इस गाँव में दो अध्यापिकाएँ और आठ अध्यापक हैं। किसी के लिए रहने की व्यवस्था नहीं है।

भूरिया : झाबुआ में शिक्षा की स्थिति दयनीय है। एक शिक्षकवाली शालाएँ नाम के लिए चल रही हैं। शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

मुख्यमंत्री : यह आप स्वीकार करेंगे कि आदिवासियों के जीवन में कई बदलाव आ चुके हैं। उन्होंने जो प्रगति की है, उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। शासन की संवेदनशील द ष्टि के कारण धार, झाबुआ, बस्तर, सरगुजा, मंडला आदि आदिवासी-बहुल जिलों में ऐसे अधिकारियों को नियुक्त किया गया है जो गरीबों की भलाई चाहते हैं। आदिवासियों का शोषण रुका है। बाहरी तत्व आसानी से इन क्षेत्रों में पहुँच नहीं सकते। जिस ढंग से नक्सली तत्व बस्तर में आदिवासियों को गुमराह कर रहे हैं, उसे रोका जा रहा है। जब से इन क्षेत्रों में विकास कार्य शुरू किया गया है, तब से नक्सली गतिविधियाँ ठंडी पड़ गई हैं। हमने गाँव-गाँव में बिजली पहुँचा दी है। एक लाख से अधिक बिजली के कनेक्शन स्वीकृत किए हैं। इस रोशनी के प्रभाव में बाहरी तत्व आदिवासियों को आसानी से भटका नहीं सकेंगे।

नेताम : यह सही है कि आंशिक तौर पर आदिवासियों का शोषण रुका है। बेघरों को घर मिले हैं। काफी हद तक भू-लूट भी रुकी है। परंतु आदिवासी ऊर्जा व संपदा के शोषण का स्वरूप भी बदल गया है। आज विकास के नाम पर बगैर सोची-विचारी योजनाएँ हम पर लादी जा रही हैं। बस्तर का ही उदाहरण लीजिए। दक्षिण बस्तर में बोधघाट परियोजना लागू की जा रही है। बोधघाट बाँध बनने से करीब दस हजार आदिवासी विस्थापित होंगे। 30-40 लाख पेड़ डूब में आएँगे। 10 हजार हेक्टेयर भूमि और 42 गाँव डूबेंगे। दक्षिण बस्तर की अर्थव्यवस्था चौपट हो जाएगी। दिल्ली में अबूझमाड़ में पैदा खेती रोकने के लिए पाँच करोड़ रु. की योजना बनाई गई। भोपाल और दिल्ली ने स्वीकृति भी दे दी, परंतु स्थानीय लोगों को विश्वास में नहीं लिया गया।

भूरिया : मेरा तो ऐसा अनुभव है कि राज्य सरकार आदिवासी विकास के प्रति

गम्भीर नहीं है। राज्य सरकार की नीति मलेरिया की तरह उपचार करने की है। जब आदिवासियों में समस्याओं का विस्फोट होता है, तब तात्कालिक उपचार कर दिया जाता है; फिर सब कुछ शांत हो जाता है। हर समय चौकसी नहीं रहती। यह सच है कि 85-86 में अच्छा काम हुआ था; एक अच्छा माहौल बना था, परंतु पिछले साल यह माहौल समाप्त हो गया है। यदि किसी सरकार को आदिवासियों का विकास करना है, उनके जीवन में वास्तविक बदलाव लाना है, तो एक लक्ष्मण-रेखा खींचनी होगी। इस लक्ष्मण-रेखा के उस पार किसी ठेकेदार, सूदखोर और अन्य बाहरी तत्वों को जाने की अनुमति नहीं होगी।

नेताम : परिवर्तन के साथ यह भी जरूरी है कि आदिवासियों की सम द्ध परम्परा की रक्षा की जाए, आदिवासी आचार संहिता को लिपिबद्ध किया जाए। आज हो यह रहा है कि आधुनिकीकरण के नाम पर तथाकथित सभ्य समाजों की बुराइयाँ एवं कुरीतियाँ हमारे समाज में पहुँचती जा रही हैं। मिसाल के लिए, दहेज की बीमारी हमारे समाज में फैलती जा रही है। सभ्य किस्म के आदिवासी दहेज लेने लगे हैं; हिन्दू पद्धति से विवाह करते हैं और दहेज माँगते हैं।

जोशी : *मुख्यमंत्रीजी, प ष्ठभूमि ऐसी है, तो बताइए कि आदिवासियों की विकासधारा कैसे बहे ?*

मुख्यमंत्री : यह सही है कि हमें हर कीमत पर आदिवासी संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए। प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी भी कह चुके हैं। आधुनिकता के नाम पर उनकी परंपराओं का अतिक्रमण न हो, कोशिश यह भी की जानी चाहिए। पर इसका यह भी मतलब नहीं है कि वे लंगोटधारी ही बने रहें, दुनिया के बारे में जानें ही नहीं। हम नहीं चाहते कि वे अफ्रीकी आदिवासियों की तरह बने रहें। पं. नेहरू, श्रीमती इंदिरा गाँधी और श्री राजीव गाँधी का यही दर्शन है। इन नेताओं का मत है कि आदिवासी जंगल में भटकते रहें, अनजान बने रहें, प्राचीन बने रहें– ऐसा नहीं होने देना चाहिए।

13 मार्च, 1987

संवाद घंटाली की श्रीलता स्वामीनाथन से

राजस्थान के बाँसवाड़ा जिले का छोटा-सा गांव घंटाली और श्रीलता स्वामीनाथन एक-दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। दस साल पहले तक यह गाँव पटवारी के खसरा खातों में दर्ज था। आज यह राजस्थान और उससे बाहर चर्चा का केन्द्र बना हुआ है। बड़े-बड़े अधिकारी श्रीलता के टापरे में घंटाली के भील आदिवासियों के साथ संवाद स्थापित कर चुके हैं।

ठहराव में हस्तक्षेप का यह सिलसिला दस बरस से चल रहा है। श्रीलता और उसके साथियों के कामों की गूँज घंटाली में ही नहीं, बाँसवाड़ा, डूँगरपुर, चित्तौड़गढ़ और उदयपुर के दूर-दराज गाँवों में बसे 'धरा के शापितों' के बीच सुनाई देती है।

'वर्ग संघर्ष' के लिए 'स्व-वर्ग-मुक्ति यात्रा' श्रीलता की जिन्दगी का इत्तफाक नहीं है। सवर्ण परिवार के संस्कार, यूरोपीय मूल्य-व्यवस्था और भारतीय वंचितों के यथार्थ से जब श्रीलता का एक साथ सामना हुआ, तो उन्हें द्वंद्वों ने आ दबोचा। एक अपराधबोध जन्मा। श्रीलता कहती हैं, "मुझे अपने वर्ग, अपने वातावरण से घृणा होने लगी। मद्रास, दिल्ली और यूरोप में चैन पाने की कोशिश की। दिल्ली में थियेटर किया। लंदन में थियेटर किया। होटलों में घूमी। जीन-संस्कृति मेरी जिन्दगी थी। पर जब-जब भारतीय यथार्थ से मेरा पाला पड़ा, सवाल तेज होते चले गए। मैंने बार-बार स्वयं से पूछा, क्या दैहिक सुख-सुविधाएँ ही सब कुछ हैं? मेरा नर्वस ब्रेक डाउन होने लगता था। मैं चीख पड़ती थी कि क्या खुद के लिए जीना ही सब कुछ है? मुझे नया विकल्प चाहिए। और मैं कॉन्फ्लिक्ट को हल करने के लिए दिल्ली के महरौली खेतिहर श्रमिकों के बीच 1972-73 में सक्रिय हो गई।"

जिस तरह क्रांति के लिए गरीब वर्ग में पैदा होना बुनियादी शर्त नहीं है, उसी

तरह यथास्थितिवाद के लिए अमीर-वर्ग में पैदा होना भी जरूरी नहीं है। श्रीलता ने इस मर्म को समझ लिया था। मुक्ति और नए वर्ग-आधारों का निर्माण काफी कष्टकर था, इसे श्रीलता तब समझ सकी जब आपातकाल के दौरान उन्हें जेल में बंद कर दिया गया। दस महीने जेल में काटे। मद्रास में नजरबंद रखा गया। परन्तु वर्ग-मुक्ति की प्रक्रिया निरन्तर चल रही थी। उन्होंने राजस्थान के भूमिगत क्रांतिकारी चौधरी महेन्द्रसिंह से प्रेम-विवाह किया। आपातकाल समाप्त हुआ। विकल्प की तलाश में वह उदयपुर पहुँची। सेवा मंदिर में कुछ समय काम किया। वहाँ की यथास्थितिवादी संस्कृति रास नहीं आई। अंत में राजस्थान-मध्यप्रदेश सीमा पर स्थित बाँसवाड़ा के सबसे पिछड़े गाँव घंटाली की एक डूँगरी पर एक टापरा डाल लिया।

आदिवासी स्त्रियों के बीच काम करने और उनके अस्तित्व के साथ अपने को एकाकार करने के लिए कानपुर में दाई व प्रसूति-कर्म का प्रशिक्षण लिया।

श्रीलता को मैंने तीन मोड़ों पर देखा है। 1972-73 की एक फर्राटेदार लड़की। अपने में बिलकुल अलमस्त। उन्मुक्त संस्कृति की प्रतीक। दूसरे मोड़ पर 1978-79 में टापरे की छाँव-तले भीलों को दवाई बाँटते, चूल्हा जलाते और डूँगरी के नीचे बहती नदी से भरी मटकी सिर पर उठाते हुए। और अब तीसरे मोड़ पर एक जुझारू श्रीलता को देखा, जो बाँसवाड़ा-डूँगरपुर के भील आदिवासियों के लिए लडाई लड़ती है, पुलिस की लाठियाँ खाती है और जेल जाती है। साथी की तरह महेन्द्रसिंह उनके साथ है, पति बनकर नहीं। पिछले दिनों श्रीलता ने आदिवासियों और खेतिहर श्रमिकों को न्याय दिलाने के लिए सुप्रीम कोर्ट के दरवाजों पर दस्तक दी है। दिल्ली में श्रीलता के साथ इस नए मोड़ पर हुई मुलाकात का एक ब्यौरा :

श्रीलता : मैंने जीवन में पहली बार इतने दूर-दराज के गाँव देखे थे। महरौली के गाँव तो काफी विकसित थे। जब मैं इस गाँव में पहुँची, एक बिल्कुल अलग भारत मिला, जिससे मेरा कोई सरोकार नहीं था। घंटाली गाँव में पहुँचना भी मुश्किल था। बरसात के दिनों में यह एक टापू बन जाता था।

मुझे गाँववालों ने आरम्भ में स्वीकार नहीं किया। दो-तीन साल तक मैं एक रहस्य का केंद्र बनी हुई थी। मुझे लेकर कई प्रकार की चर्चाएँ चलती रहीं। कोई कहता, मैं भीलों को ईसाई बनाने आयी हूँ; कोई मुझे सरकारी जासूस कहता, कि मेरा काम गाँववालों पर नजर रखना है; कोई जादूगरनी कहता। महाजन, ब्राह्मण, पटवारी, जमींदार मेरे खिलाफ हो गए थे। आदिवासी-हरिजनों को मेरे खिलाफ

भड़काया जाता था।

अधिकारी मुझे शंका की द ष्टि से देखने लगे थे। मैं अक्सर गाँव में भीली घाघरा लूँगड़ी पहनती हूँ। एक दिन अजीब घटना हुई। मैं भील-वस्त्र पहने हुए जंगल में अकेली जा रही थी। एक वन-अधिकारी ने मुझे देखा और लपककर मेरा हाथ पकड़ लिया। मैं घबरा गई। कुछ सम्हलकर मैंने उसे अंग्रेजी मे डाँटना शुरू किया। वो तो मुझसे भी ज्यादा घबरा गया था। कोई भील-औरत अंग्रेजी में जबानदराजी करे, यह वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था। वह पीछे हट गया और मैं भाग गई। इस मामूली घटना से अंदाज लगाया जा सकता है कि जंगलों में आदिवासी औरतों के साथ वन व अन्य अधिकारी किस तरह का बर्ताव करते हैं। जब मैं घंटाली क्षेत्र में पहुँची थी, भील लोग गाँव के पटवारी, महाजन व सरकारी अधिकारियों से आँखें नहीं मिला सकते थे। पटवारी व पुलिस राजा थे।

जोशी : *कहा जाता है कि विदेशी पैसे के सहयोग से आपने घंटाली में कार्य शुरू किया। क्या विदेशी पैसे से परिवर्तन लाना संभव है?*

श्रीलता : राजस्थान में सबसे पहले मैंने उदयपुर की सेवा मंदिर संस्था के साथ काम शुरू किया था। कुछ समय के बाद अनुभव हुआ कि अधिक समय तक पटेगी नहीं। यह संस्था मूलत: यथास्थितिवादी व समझौतावादी रणनीति से काम कर रही थी। किसी के साथ संघर्ष इनकी कार्यप्रणाली में नहीं था। आदिवासी क्षेत्रों में संघर्ष पग-पग पर है। एक दिन मैंने इस संस्था से खुद को अलग कर लिया। डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, चित्तौड़गढ़ तथा उदयपुर जिलों में खूब घूमी और अन्त में घंटाली में डेरा डाला।

शुरू के महीनों में बंकर राय की तिलोनिया संस्था से सहयोग लिया। मैं स्वीकार करती हूँ कि मुझे ऑक्सफैम से धन मिला। भारत सरकार के विभिन्न विभागों से भी मिला। परन्तु काम के दौरान मुझे अनुभव हुआ कि विदेशी सहयोग पर निर्भर रहना ठीक नहीं है। मुझे अपने ही पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा, यह फैसला मैंने लिया। बंकर राय से भी मेरा रास्ता शुरू से ही भिन्न रहा है। उनकी संस्था से वित्तीय व अन्य संस्थागत सहयोग जरूर लिया था, परन्तु संस्था के बंधन से मुक्त होकर मैंने काम किया। बंकर राय की कार्यप्रणाली व सोच में भी द्वंद्व व संघर्ष नहीं है। वे विशुद्ध विकासवादी हैं, एक प्रकार से सुधारवादी, जबकि मैं और महेन्द्र समाज के अन्तर्विरोधों को तेज करने के पक्ष में हैं।

जब तक टापरा नहीं बना था, मैं एक भील-परिवार में रहा करती थी। महेन्द्र दूसरे क्षेत्रों में किसानों के बीच काम किया करते थे। भीलनी मंगला के टापरे में ही मेरी डिसपेन्सरी, प्रौढ़ शिक्षा और सिलाई-कटाई की कक्षाएँ लगा करती

थीं। इसी परिवार में रहकर मैंने आँगन को गोबर-मिट्टी से लीपना, चूल्हा फूँकना, घाघरा-लूँगड़ी बाँधना आदि सब सीखा।

जोशी : *ठहराव में एक हलचल कैसे पैदा की ? आपके हस्तक्षेप के क्या-क्या औजार बने रहे हैं ?*

श्रीलता : ग्रामीण विकास समिति बनाई। स्थानीय आदिवासी इसमें सक्रिय थे। इस जन-संगठन के माध्यम से भीलों में चेतना पैदा की। जब मैं यहाँ आई थी, आदिवासी स्त्रियों के साथ बलात्कार, भीलों की पिटाई, अधिकारियों द्वारा भीलों का मुर्गा-बकरा जबरन उठा ले जाना, यह सब यहाँ की जिन्दगी का एक हिस्सा था। जिन्दगी एक ठहरे तालाब की तरह थी। आज उसमें कोलाहल है, विद्रोह है; पुलिस अधिकारी मुझसे शिकायत करते हैं कि मैंने इन भीलों को बागी बना डाला है। अब ये हमसे सीधे मुँह बात नहीं करते। क्या ये हस्तक्षेप के प्रभाव नहीं हैं? बाद में इसी समिति को राजस्थान किसान संगठन में मिला दिया। पहले यह संगठन उत्तरी राजस्थान में सक्रिय था। अब यह दक्षिणी राजस्थान के जिलों में भी सक्रिय है। महेन्द्र इसका राज्य-संयोजक है।

इस संगठन के माध्यम से हम लोगों ने डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, चित्तौड़गढ, उदयपुर आदि में मजदूरों की लड़ाई लड़ी। बंधक श्रमिकों को मुक्त कराया। इसके अलावा हम लोगों ने एक नया आन्दोलन शुरू किया है, आदिवासी-हरिजनों के लिए स्थानीय लोक पंचायतें शुरू की हैं। प्रत्येक रविवार को ये पंचायतें लगती हैं। इनमें स्थानीय लोगों के विवादों का निपटारा किया जाता है। आदिवासी स्वयं इसके पंच होते हैं। सरकारी अदालतों में गए बगैर इन पंचायतों में बिना व्यय के विवाद हल कर दिए जाते हैं।

जोशी : *क्या आप कह सकती हैं कि आप पूरी तरह से वर्ग-विमुक्त (डीक्लास्ड) हो गई हैं? क्या आपने आदिवासियों के अस्तित्व के साथ खुद को एकाकार कर लिया है? क्या हस्तक्षेप की रणनीति को बिल्कुल सही मानती हैं?*

श्रीलता : मेरी पूरी कोशिश रही है कि अपनी पहचान को उनकी पहचान में गुम कर दूँ। मैं इसमें काफी हद तक सफल रही हूँ। द्वंद्व अब भी है जीवन में। पर आदिवासियों का विश्वास मैंने जीत लिया है। वे कहते हैं कि उनके लिए पहली बार किसी ने महाजन व सरकारी अधिकारियों से लड़ाई लड़ी। मैं उनके लिए जेल गई। पर कुछ विफलताएँ भी मिली हैं। सबसे बड़ी यह परेशानी हुई है कि जिन क्षेत्रों में हमारे संगठन का प्रभाव है वहाँ सरकारी अधिकारी विशेष रूप से जंगलात व पी.डब्ल्यू.डी. के काम नहीं करवाना चाहते, क्योंकि हमारे लोग निर्धारित मजदूरी माँगते हैं, घपले नहीं होने देते। किसी चीज में मिलावट का

अवसर अधिकारियों को नहीं मिलता।

इसके अलावा एक दिक्कत और है। हमने बंधक श्रमिकों को छुड़ा तो दिया, परन्तु उनके पुनर्वास की समस्या और भी भयंकर बन गई। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि रोग से उसका निदान अधिक जोखिम भरा है। ये हमारे ताजा अनुभव हैं।

जोशी : *बदलाव के मूलत: दो मॉडल हमारे सामने हैं। सर्वोदयी और नक्सलपंथियों ने अपने-अपने ढंग से ठहराव में हस्तक्षेप करने की कोशिश की है। लेकिन दोनों ही अपनी-अपनी मंजिल से काफी दूर हैं। देश में अपने प्रभाव-क्षेत्र का फैलाव करने में वे सफल तो नहीं ही रहे हैं। ऐसी स्थिति में परिवर्तन की कौन-सी रणनीति अधिक कारगर सिद्ध हो सकती है?*

श्रीलता : एक बात समझ लीजिए। एक पॉकेट में किसी प्रयोग से देश का विकल्प नहीं तलाशा जा सकता। देश की संगठित चेतना ही विकल्प है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में छोटे-छोटे प्रयोग चल रहे हैं। जब ये संगठित चेतना का आकार ले लेंगे, हम भी इसमें शामिल हो जाएँगे। राजीव गाँधी को कुर्सी पर बैठाना है या हटाना है, इससे मेरा कोई सरोकार नहीं है। प्रश्न पूरी व्यवस्था का है; सिर्फ चेहरों की अदला-बदली का नहीं है।

जोशी : *तब क्या यह मान लिया जाए कि देश में सही किस्म की कोई पार्टी नहीं है?*

श्रीलता : मैं तो सोचती हूँ कि कोई सच्ची क्रांतिकारी पार्टी नहीं है। मैं नक्सलपंथियों की 'व्यक्तिगत हत्या' की नीति से भी सहमत नहीं हूँ। दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों ने भी वर्गीय समझौते कर लिए हैं; सीटू और ऐटक अर्थवाद की शिकार हो गई हैं। पर हो सकता है कि यह दोनों पार्टियों की तात्कालिक रणनीति हो और आगे जाकर वे सही रास्ते पर चलने लगें।

जोशी : *पर आप भी तो आंशिक रूप से सुधारक के रास्ते पर हैं, और आंशिक रूप से संघर्ष के रास्ते पर। डिसपेंसरी, प्रौढ शिक्षा आदि सब रचनात्मक कार्य हैं। क्या आप समझती हैं कि इन विकासवादी कार्यों से समाज के अन्तर्विरोध पैने हो सकेंगे?*

श्रीलता : क्यों नहीं हो सकेंगे? यह आप पर है कि आप उसका इस्तेमाल कैसे करते हैं। शिक्षा से क्रांति भी लाई जा सकती है, और व्यवस्था को मजबूत भी किया जा सकता है। दवाई की गोली बाँटना सुधारवादी भी हो सकता है, और क्रांतिकारी भी।

14 सितम्बर, 1987

न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती से साक्षात्कार

'कानून को रहस्य न बनने दिया जाए !'

'जिसके पाँव इस्पात के, हाथ चाँदी के और जेबें सोने की हों, वही अदालतों की ऊँची सीढ़ियाँ चढ़ने में कामयाब हो पाता है।' यह मुहावरे का नहीं, बल्कि हमारे सामाजिक-जीवन का कुरूप सच है, जिसमें औपनिवेशिक समय के काले धब्बे अभी भी बाकायदा बरामद किए जा सकते हैं। लेकिन जनतांत्रिक चेतना के विकास ने सामाजिक न्याय के प्रति जिस अधीरता को जन्म दे दिया है, उसके चलते 'सच का मुहावरा' बदलने लगा है। न्यायालय की छतों से निकलकर, न्याय देनेवाला, नीली-छत के नीचे, धूप में, सच को सच की तरह प्रतिष्ठित करने के लिए आगे आ रहा है।

कानून की दुनिया में लोक अदालत एक ऐतिहासिक मुहावरा बन चुका है। शायद यह पहला मौका है, जब कानून और आम जनता से सरोकार रखनेवाले इस मुहावरे की पुकार नियमित अदालतों के गलियारों से बाहर महानगरों से लेकर दूरदराज आदिवासी क्षेत्रों तक एक साथ एक समान सुनाई देती है। कभी छठे दशक में पंचायती राज का नारा भी एक ऐसा ही टकसाली मुहावरा बना था। लोक अदालतें, पंचायती राज की एक आधुनिक विधि-संस्करण के रूप में देखी जा रही हैं, जिसमें महानगरों के पेचीदा झमेलों से लेकर गाँव के मेंड़-विवाद तक सिमट आए हैं।

न्याय के संसार में इस टकसाली अभिनव प्रयोग के सूत्रधार श्री पी.एन.भगवती सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अपनी न्याययात्रा बंबई के ग्वालियर टैंक से आरंभ करते हैं। देश के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद से हाल ही में अवकाश ग्रहण करने वाले श्री भगवती न्याय को एकांगी प्रक्रिया के रूप में नहीं देखते। वे समाज की अंतिम सतह पर स्थित खिड़कियों से न्यायव्यवस्था को आँकते हैं।

यह दृष्टि मिली उन्हें 1942 में ग्वालियर टैंक पर आयोजित गाँधीजी की एक सभा से।

श्री भगवती के न्याय-परिप्रेक्ष्य में उनके अनुभवों और योगदान को लेकर लेखक के साथ एक अंतरंग बातचीत हुई, उनके निवासस्थान पर। कई साल बिताने के बाद सरकारी बँगले को अलविदा करने की तैयारी चल रही थी और लदाई के लिए सामान बाँधा जा रहा था। सभी के चेहरों पर भागदौड़ थी। पर पद से मुक्ति के पश्चात भी श्री भगवती की व्यस्तता में कमी नहीं दिखाई दी। सवा घंटे की बातचीत में लोक-अदालतों के लिए जगह-जगह से बुलावे उन्हें मिलते रहे। एक तनावमुक्त फुर्ती के साथ श्री भगवती अपनी न्याययात्रा और उसके सामाजिक संदर्भों की कहानी आरंभ करते हैं :

कैसे प्रेरणादायक और अद्‌भुत क्षण थे वे, जब मैंने पहली बार महात्मा गाँधी को अपनी आँखों के सामने पाया। 8 अगस्त 1942 का दिन था। बंबई के ग्वालियर टैंक पर कांग्रेस का अधिवेशन बुलाया गया था। तब मैं एम.ए. का छात्र था; गणित में एम.ए. कर रहा था। शुरू से लेकर अंत तक प्रथम श्रेणी में रहा। गाँधीजी ने पहले अपना भाषण हिन्दी में दिया और बाद में अँगरेजी में। उनका हर वाक्य सीधा और सटीक था, हृदयस्पर्शी था। उन्होंने भारत की जनता की पीड़ा, दर्द, शोषण, सब मार्मिक शब्दों में सामने रखा। खामोशी के साथ जनता ने उन्हें सुना। जब मैंने उन्हें सुना, तब एक नया भगवती जन्म ले चुका था। मुझ पर इतना प्रभाव पड़ा कि मैं अगले दिन 9 अगस्त को आंदोलन में शामिल हो गया। पढ़ाई छोड़ दी। गिरफ्तार हुआ। एक महीने जेल में रहा। रिहाई के बाद भूमिगत हो गया। इसके बाद अच्युत पटवर्धन, श्रीमती अरुणा आसफअली के साथ काम किया। बहुत ही आश्चर्यभरे दिन थे वे। उस समय न कोई चिंता थी और न कुछ और। बस एक उत्सर्ग की भावना दिलों में थी। आजादी हमारा आदर्श थी। उस समय एक महान सपना हमने देखा था, एक ऐसे भारत का सपना, जो विश्व में महान कहलाए; विश्व मानवता का आदर्श बने। आज जब मैं उन दिनों की याद करता हूँ तो आँखें नम हो जाती हैं। आँसू आ जाते हैं। जिस भारत का सपना तब देखा था, वह आज कैसा भारत बन गया है? यह पीड़ा सालती है। मेरे जीवन में एक नया मोड़ आ चुका था। गाँधीजी के प्रेरणामय शब्द मेरे शेष जीवन को प्रभावित करते रहे और इसी प्रभाव के कारण मेरे जीवन में दूसरा मोड़ आया।

आंदोलन से वापस लौटा तो मैंने कानून की पढ़ाई की। बंबई में 1948 में प्रेक्टिस शुरू की। अच्छी चलती थी। पिताजी भी वकील थे। एक दिन मेरे सामने जज बनने का प्रस्ताव आया। मैंने तुरंत स्वीकार कर लिया, यह सोचकर कि प्रतिबद्ध

व्यक्तियों को जज बनना चाहिए; पैसे का मोह त्यागना चाहिए। मुझ पर माता-पिता के आध्यात्मिक संस्कारों का भी अच्छा असर पड़ा था। जीवन में दूसरे मोड़ की शुरूआत जज बनने के साथ होती है।

जब मैं गुजरात का मुख्य न्यायाधीश बना तब मुझे एक नए यथार्थ के दर्शन हुए। जब मैं जज था तब मैंने महसूस किया कि औसत जज परंपरावादी हैं। मुझे बताया गया था कि जज का काम केवल फैसला देना है, परिणामों में जाने की आवश्यकता नहीं है; न्याय और घटना की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है, यह जानना जरूरी नहीं है। परंतु गुजरात जाने के बाद एक नया यथार्थ उद्घाटित हुआ। मुख्य न्यायाधीश के पद पर रहते हुए मैं गुजरात के गाँवों में खूब घूमता। आदिवासियों व दूसरे उत्पीड़ित वर्गों के संपर्क में आया। जब मैं इन क्षेत्रों में गया तभी मुझे 'असली भारत' दिखाई दिया। मैंने पाया कि आदिवासी स्त्री-पुरुष बड़ी मुश्किल से दो जून का खाना जुटा पाते हैं। तन की लाज ढँकने के लिए उनके पास कपड़ा नहीं है। मौसम की मार से बचने के लिए सिर पर छप्पर नहीं है। जब मैं उनके बीच पहुँचा, तो उन्होंने मुझे हैरत-भरी दृष्टि से देखा।

उन्हें यह जानकर हैरानी हुई कि एक न्यायाधीश उनके बीच पहुँचा हुआ है। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि कोई जज उनके पास कभी पहुँच सकता है, उनके दरवाजे पर दस्तक दे सकता है। न्याय, अदालत, जज, सबके सब उनके लिए कोरा स्वप्न मात्र थे। इस स्थिति से स्पष्ट है कि हमारा न्याय कितना खोखला है। धरा के इन दलितों, उत्पीड़ितों के साथ साक्षात्कार मेरे जीवन में दूसरे मोड़ का कारण बना।

उन लोगों के बीच मैंने फैसला किया कि मैं कानून को इन लोगों के पास ले जाऊँगा। मैंने महसूस किया कि एक पर्दा मेरी आँखों के सामने है, इसे हटाना होगा; हृदय को न्याय के और उनके बीच सेतु बनाना होगा। मैंने मन बना लिया कि मैं न्याय को सामाजिक परिवर्तन का एक माध्यम बनाने की कोशिश करूँगा; न्याय की धारा को इस उत्पीड़ित भारतीय मानवता की सेवा में मोड़ूँगा। विश्वास करिए, इस निर्णय ने एक नया अर्थ मुझे और न्याय को दिया। मैंने न्याय को नया अर्थ देना आरंभ कर दिया। संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों के दायरे में न्याय को देखा और एक नई दिशा की शुरूआत हुई। गुजरात में रहकर गुजरात के मुख्यमंत्री से संपर्क कर कानून सहायता कार्यक्रम शुरू करवाया। मेरे सुझाव पर एक कमेटी गठित की गई और कानूनी सहायता निर्धनों को उपलब्ध कराने के संबंध में तरीका तलाशने की शुरूआत हुई। 1970 में कानूनी सहायता के संबंध में पहला प्रतिवेदन सरकार को दिया, जिसके बाद छोटे स्तर पर कार्यक्रम शुरू कर दिया। मेरी यात्रा यहीं नहीं रुकी। सर्वोच्च न्यायालय का

न्यायाधीश बनने के बाद भी मेरी यात्रा जारी रही। दिल्ली आने के बाद उसका और विस्तार हुआ, उसे राष्ट्रीय स्तर पर एक व्यापक आयाम मिला। केंद्रीय सरकार के साथ बातचीत हुई। कानूनी सहायता को लेकर मेरी अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई। 1977 में सरकार को प्रतिवेदन दिया गया। 1980 में इसे स्वीकार कर लिया गया। तय किया गया कि देश में एकसमान आधार पर कानूनी सहायता उपलब्ध कराई जाए। इसके अलावा इस कार्यक्रम के प्रभावी संचालन के लिए इस पर निगरानी रखने की व्यवस्था भी की गई। सही और जरूरतमंद को कानूनी सहायता उपलब्ध हो सके, इसका ध्यान रखना बेहद जरूरी है। इसके साथ ही लोगों में कानून के प्रति जागरूकता पैदा हो सके, इस दिशा में कदम उठाना भी जरूरी था। अनुभव यह है कि सामान्यत: नागरिकों में कानूनी चेतना का अभाव है। कानून नागरिकों को कई संरक्षण प्रदान करता है, परंतु जागरूकता के अभाव के कारण उन्हें इसका लाभ नहीं मिलता। कानून की प्रभावशाली भूमिका के लिए यह जरूरी भी है कि नागरिकों को अपने अधिकारों और कानूनी दायरों के संबंध में पूरा-पूरा ज्ञान हो। यदि जनता कानून को लागू करवाने में असफल रहती है, तो संपूर्ण कानूनी व्यवस्था केवल कागजी शेर बनकर रह जाएगी। इसके लिए जरूरी है कि संचार माध्यमों की सहायता ली जाए। दूरदर्शन, रेडियो, फिल्म, समाचार-पत्र इस क्षेत्र में बहुत कुछ कर सकते हैं। इसी संदर्भ में मैं लोक-अदालत की भूमिका को बहुत ही प्रासंगिक मानता हूँ। सच पूछा जाए तो लोक-अदालत ने मेरी यात्रा को एक आयाम दिया है। देश में लोक-अदालतें कितनी लोकप्रिय बनती जा रही हैं, इससे सब परिचित हैं। गुजरात में 130, राजस्थान में 150, महाराष्ट्र, कर्नाटक, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, आंध्रप्रदेश, केरल, उड़ीसा आदि राज्यों में कई लोक-अदालतें लग चुकी हैं। आप आश्चर्य करेंगे कि पिछले 16 महीनों में केवल वाहन आदि से संबंधित करीब 9000 दावे लोक-अदालतों के माध्यम से सुलझाए गए हैं। दावे करीब 16 करोड़ रुपए के थे।

विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों में भी कानूनी सहायता प्रकोष्ठ स्थापित किए जा रहे हैं। इन प्रकोष्ठों का एकमात्र उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी वर्ग गरीबों को न्याय दिलवाने में रचनात्मक भूमिका निभाए। विधि-छात्रों को समय-समय पर गाँवों में ले जाया जाता है, ग्रामीण परिवेश से परिचित कराया जाता है। इसके साथ-साथ सामाजिक एवं कानूनी सर्वेक्षण कराए जाते हैं। इन सर्वेक्षणों का अच्छा उपयोग लोक-अदालतों में किया जा सकता है। इसके अलावा विधि-पाठ्यक्रम में 'कानून और निर्धनता' एक ऐच्छिक विषय भी लगाया गया है। हमारी कोशिश यह भी है कि सामाजिक और गैर-राजनीतिक कर्मी भी कानून की प्राथमिक शिक्षा लें; विशेष तौर पर ऐसे समाजकर्मी जो शहरी और देहाती गरीबों के बीच मानव

कल्याण के काम में सक्रिय हैं। मेरा पक्का विश्वास है कि कानूनी शिक्षा से लैस होने पर समाजकर्मी तथा स्वयंसेवी संस्थाएँ काफी प्रभावशाली ढंग से काम कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों और संस्थाओं को प्रशिक्षण देने के लिए अनुदान भी दिया जाता है। इसे अर्थ विधि प्रशिक्षण कहा जाता है। इस शिक्षण के अच्छे नतीजे निकल रहे हैं।

सर्वोच्च न्यायालय में रहकर कई अच्छे अनुभव हुए हैं। न्यायव्यवस्था को राष्ट्रीय स्तर पर किस ढंग से प्रभावशाली बनाया जाए और उसकी दस्तक समाज के अंतिम व्यक्ति को भी सुनाई दे, इसका अनुभव किया है। फिर भी मैं मानता हूँ कि यह काम काफी बड़ा है। मेरा मत है कि भारतीय न्यायव्यवस्था को और अधिक लोकाभिमुख बनाने की आवश्यकता है; विशेष रूप से न्यायाधीशों के चिंतन और दृष्टि में बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता है। उनकी दृष्टि संवेदनशील होनी चाहिए, जिससे कि सामाजिक न्याय की प्रक्रिया तेज हो सके। उन्हें समाज की पीड़ा, त्रासदी, उत्पीड़न आदि सबसे सरोकार रखना होगा। उन्हें कानून को एक 'रहस्य' नहीं बनाना चाहिए। जब वे जनता के कष्ट देखें तब उनके हृदय पिघलने चाहिए। न्याय के प्रहरियों को चाहिए कि वे अपना प्रत्येक न्यायिक पग निर्धनों के आँसू पोंछने के लिए उठाएँ। मेरा यह पक्का विश्वास है कि न्याय के शस्त्रागार में जितने शस्त्र उपलब्ध हैं, यदि एक न्यायाधीश उनको सही ढंग से चलाना जानता है, तो कई परिवर्तन हो सकते हैं। लोकहित याचिका, कानूनी सहायता, लोक-अदालत आदि ऐसे ही हथियार हैं। मैंने अपने स्मरणीय फैसलों के माध्यम से इस दिशा में पहल भी की है। हाल ही में बिहार सरकार बनाम वधवा केस से एक नई मिसाल बनी है। श्रीराम केमिकल फर्टीलाइजर के गैस रिसाव के केस में दिया गया सर्वोच्च न्यायालय का फैसला भी मैं अपने जीवन का स्मरणीय फैसला मानता हूँ। मेरे न्यायिक जीवन के ये ताजा उदाहरण हैं। लेकिन, न्याय की यात्रा अपनी मंजिल से अभी काफी दूर है। जब तक कानून भूमिहीन, आदिवासी, हरिजन और अन्य गरीबों का सच्चा रक्षक नहीं बन जाता, न्याय की यात्रा अधूरी रहेगी। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना भी गलत रहेगा कि न्याय ने अपना विश्वास बिलकुल खो दिया है। जनता का विश्वास न्याय पर से उठा नहीं है। वह उसे आज भी अपना रक्षक मानती है। इस विश्वास को मैं राष्ट्र के जीवन में न्याय के महान योगदान के रूप में देखता हूँ।

26 जनवरी, 1987

सामाजिक न्याय का सपना अधूरा है

देश के न्याय जगत में सर्वोच्च न्यायालय के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश श्री कृष्णा अय्यर और प्रतिबद्ध न्यायव्यवस्था एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं। देश की आला न्याय-मचान से श्री अय्यर ने हमेशा जनप्रतिबद्ध न्यायव्यवस्था की बात कही; पूरी दबंगता के साथ तमाम कानूनी निजाम को यह कहकर खारिज कर दिया कि भारत के लिए यह एक औपनिवेशिक विरासत है। जब तक नींव की ईंटें नहीं हटाई जातीं, औपनिवेशिक न्यायव्यवस्था की इमारत देश पर लदी रहेगी।

न्यायमूर्ति अय्यर : वर्तमान न्यायव्यवस्था के संबंध में मुझे कोई गलतफहमी नहीं है। यह ब्रिटिश राज की विरासत है, जिसे आज तक हम ढो रहे हैं। आजादी के बाद भी इसके व्यक्तित्व और आकार में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आया है। हमारे संविधान के निर्माताओं ने सोचा था कि न्यायपालिका क्रांतिकारी मूल्य-व्यवस्था की पोषक सिद्ध होगी; संविधान की प्रस्तावना में जो संकल्प लिए गए हैं उन्हें यथार्थ का आकार देने का माध्यम बनेगी; देश की आखिरी परत पर चलनेवाली मैली-कुचली मानवता देश की राजनीतिक स्वामी बनेगी; राष्ट्रीय संसाधनों के आर्थिक लाभों से वह वंचित नहीं रहेगी।

दुर्भाग्य से यह स्वप्न अधूरा रहा; सामाजिक न्याय इस देश में चमक नहीं सका। पर इसके लिए सिर्फ न्यायपालिका को ही दोषी ठहराना भी सही नहीं है, कार्यपालिका और विधायिका भी उतनी ही जिम्मेदार हैं।

यह सही है कि भारतीय न्यायव्यवस्था बुरी तरह अँगरेजी अदालतों की मिसालों से ग्रस्त है। एक तरह से हमारे देश में 'ऐंग्लो-सेक्सोन न्यायप्रणाली' प्रचलित है, और यही मानसिकता कार्यपालिका व विधायिका पर छाई हुई है। दिल्ली के

नार्थ ब्लॉक, साउथ ब्लॉक, केंद्रीय सचिवालयों और, या प्रदेशों के सचिवालयों में चले जाइए, औपनिवेशिक मानसिकता हर जगह दिखाई देगी। अँगरेजी शासकों की तर्ज पर पूरी व्यवस्था श्रेणीतंत्रवाद की शिकार है। हम आज तक इसे पछाड़ नहीं सके हैं। यह संपूर्ण व्यवस्था पूरी सफलता के साथ नकारात्मक है।

हम कितनी ही लोकतांत्रिक या संसदीय व्यवस्था क्यों न अपना लें, पर असलियत यह है कि न्यायपालिका से लेकर विधायिका तक, कोई भी 'भारतीय जीनियस' के लिए वांछित परिवेश का निर्माण करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि कार्यपालिका और विधायिका दोनों ने बरतानिया के प्रतिमान अपना रखे हैं। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि लोग सोचते हैं, अकेली न्यायपालिका ही सब कुछ कर सकती है। यह सही नहीं है। मेरा यह द ढ़ मत है कि कार्यपालिका और विधायिका भी आज तक औपनिवेशिक हैं।

लेकिन इसका यह कतई अर्थ नहीं है कि मैं न्यायपालिका को उसकी जिम्मेदारियों से मुक्त कर रहा हूँ। आप जानते ही हैं कि मैं वैचारिक आधार पर निरंतर न्याय व्यवस्था का आलोचक रहा हूँ, और आज भी हूँ। मैं आपसे सहमत हूँ कि इसकी कोई सामाजिक जवाबदेही नहीं है। न्यायाधीश खुद को कानून समझते हैं हालाँकि उनसे यह उम्मीद की जाती है कि वे संविधान और विधि की सही ढंग से व्याख्या करें, उसका परिपालन कराएँ।

जोशी : *तब अड़चनें किस स्तर पर हैं? क्या यह माना जाए कि न्यायाधीशों में व्याख्या करने की योग्यता नहीं है, या उनकी मंशा नहीं है?*

श्री अय्यर : ऐसा नहीं है। असली मुद्दा न्यायाधीशों के सामाजिक दर्शन का है। सामाजिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ही व्याख्या की जाती है। क्या आपने कभी सोचा है कि न्यायाधीशों का चयन कैसे किया जाता है ? चयन की प्रक्रिया कैसी है? क्या हम उन वकीलों का चुनाव करते हैं जो नामी-गिरामी हैं और जिनकी प्रैक्टिस तगड़ी है? या संपत्तिधारी वर्ग में से किया जाता है?

आप जानते ही हैं कि इस देश की अधिकांश जनता सर्वहारा है। हमें अभिजातवर्गीय न्यायपालिका नहीं चाहिए। देश की न्यायपालिका का सामाजिक दर्शन भारतीय संविधान के आधारभूत आदर्शों के विपरीत है। यद्यपि यह सही है कि न्यायाधीशों में कई प्रतिभासंपन्न और सम्मानित व्यक्ति हैं। परंतु अनुभव यह है कि अँगरेजी शासक वर्ग पक्षपात के आधार पर जजों का चुनाव किया करते थे। वैसे वे स्वयं को तटस्थ भी घोषित किया करते थे। आज भी वही प्रक्रिया जारी है। परिपाटी ऐसी बनी हुई है कि किसी प्रगतिशील या रेडिकल न्यायाधीश को न्यायव्यवस्था में आसानी से प्रवेश नहीं मिल पाता है। चयन की प्रक्रिया ही दोषपूर्ण है। उच्च

न्यायाधीश, मुख्य न्यायाधीशों और न्यायाधीशों की नियुक्तियों में कार्यपालिका के प्रमुख प्रधानमंत्री के पास 'वीटो शक्ति' रहती है। जरूरी नहीं है कि भारत के चीफ जस्टिस के सुझाव माने ही जाएँ।

हालाँकि भारत के सर्वोच्च न्यायालय के पास अथाह शक्ति है; कई क्षेत्रों में तो वह इंगलैंड के हाउस ऑफ लॉर्ड्स और अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय से भी अधिक शक्तिशाली है, परंतु आज न्यायव्यवस्था के क्षेत्र में जो अराजकता दिखाई देती है वह न्यायाधीशों की चयन-पद्धति का परिणाम है। इस प्रक्रिया में भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, पक्षपात फैला हुआ है। इस संबंध में मेरा स्पष्ट मत है कि न्यायाधीशों के चुनाव में उनका सामाजिक दर्शन मुख्य कसौटी होना चाहिए; यह देखा जाना चाहिए कि प्रत्याशी न्यायाधीश की जनता के प्रति कितनी प्रतिबद्धता है; संविधान के संकल्पों को लागू करने के लिए वह कितना कृतसंकल्प है; वह कितना रेडिकल है। यह भी देखा जाना चाहिए कि क्या वह अमीरों के लिए न्याय का पक्षधर है, और गरीबों को देश की 'न्यूसेंस वेल्यू' समझता है। इसके साथ ही यह भी देखा जाना चाहिए कि न्यायाधीश धर्मनिरपेक्ष है या सांप्रदायिक; समाजवादी है या पूँजीवादी; और भारतीय मूल्य-व्यवस्थावादी है या विदेशवादी। ये तमाम सवाल राज्य की मुख्य मानसिकता से जुड़े हुए हैं। इसीलिए ब्रिटिश राज की कानूनी प्रक्रियाएँ और पेचीदगियाँ आज भी बराबर प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश नकल पर बार-बार 'अपील' और 'रिव्यू' की थका देनेवाली प्रक्रिया चल रही है। पच्चीस-पच्चीस और तीस-तीस बरस तक मुकदमे चलते रहते हैं। मेरे विचार से एक से अधिक बार अपील नहीं होनी चाहिए। हमें अधिक अपीलों और समीक्षाओं की आवश्यकता नहीं है।

जोशी : *आप न्यायव्यवस्था की आलोचना तो काफी कर चुके हैं; पर आप ही बताइए, ऐसी स्थिति में किया क्या जाए?*

श्री अय्यर : मेरा मत है कि न्यायप्रक्रिया को अत्यन्त सरल, सहज और सर्वगम्य बनाया जाना चाहिए। आज की विधि-भाषा मुकदमेबाजी को जन्म देनेवाली है; सामान्य व्यक्ति की समझ के परे है। अब तो विदेशी अदालतों में भी कानून की भाषा का सरलीकरण हो गया है। दीवानी और फौजदारी अदालतों और न्यायाधीशों को अपने फैसले ऐसे ढंग से देने चाहिए जिससे कि न्याय लोगों के लिए बेगाना न लगे। उलझावभरी विधि-भाषा के लिए हमारे विधिविद्, न्यायविद् और विधि आयोग जिम्मेदार हैं। इन्होंने इस क्षेत्र में कतई दिलचस्पी नहीं दिखाई है। कई दफे ऐसा भी देखा गया है कि कानून जिस उद्देश्य को लेकर बनाए जाते हैं, उसकी व्याख्या ठीक उनके विपरीत की जाती है। यह न्याय की एक 'रोगात्मक' स्थिति है। इसीलिए यह जरूरी है कि कोई कानून बनाते समय ही सरल और स्पष्ट

भाषा का प्रयोग किया जाए। फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि में सहजगम्य भाषा में कानून को ढाला जा रहा है। इसीलिए आरंभ में ही शब्दाडम्बर से बचा जाना चाहिए। दूसरा सुधार अदालती फीस को लेकर किया जाना चाहिए। कोर्ट फीस समाप्त की जानी चाहिए। यह एक औपनिवेशिक बुराई है। समझ में नहीं आता कि इसे जारी क्यों रखा जा रहा है?

जोशी : *तब यह समझा जाए कि देश की न्यायव्यवस्था बिल्कुल पिट चुकी है? न्यायाधीश सामाजिक न्याय दिलाने में असफल रहे हैं? न्यायव्यवस्था पर से जनता का विश्वास उठ चुका है?*

श्री अय्यर : ऐसा मैं नहीं कहूँगा। हमारी न्यायव्यवस्था ने कई अच्छे कार्य किए हैं। कई न्यायाधीश निश्चित तौर पर प्रगतिशील हैं। लोकतंत्र की रक्षा हुई है। देश की न्यायपालिका में जनता का विश्वास अभी है। इसीलिए हर घटना को लेकर जाँच आयोग बैठाने और अदालतों में जाने की माँग की जाती है। कार्यपालिका से जब इंसाफ नहीं मिलता, तब जनता अदालतों के दरवाजे खटखटाती है। इससे स्पष्ट है कि देश की न्यायव्यवस्था बिलकुल ही अर्थहीन नहीं बनी है; उसकी सार्थक भूमिका है। आज जब कार्यपालिका मानव अधिकारों पर नियंत्रण लगा रही है और संविधान की धारा 21, 19 और 14 की धाराओं का उल्लंघन हो रहा है, तब न्यायपालिका की सार्थक भूमिका की आवश्यकता और बढ़ गई है। अंत में यह कहना चाहूँगा कि न्यायाधीशों को सामाजिक बदलाव का 'उत्प्रेरक अभिकर्ता' बनना चाहिए; उनका व्यवहार शंकाओं से परे रहना चाहिए।

26 जनवरी, 1987

'वर्ना जनता चौरस्तों पर फैसला करेगी'

मालवा की भूमि में जन्मे, रचे-बसे, और दिल्ली में देश की आला अदालत तक पहुँचनेवाले न्यायाधीश श्री ओझा न्यायव्यवस्था को समाज की कठोर व खुरदरी सतह पर उतारना चाहते हैं। उज्जैन के अपने विद्यार्थी काल से कई स्वतंत्रता व समाजवादी आंदोलनों में सक्रिय हिस्सेदारी से ढला है श्री ओझा का मानस। मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और आज सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश रहने के बावजूद, श्री ओझा की द ष्टि से 'समाज के अंतिम लोग' ओझल नहीं हुए हैं। शिखर न्यायालय की भव्यता के बीच उनकी लोक-द ष्टि आज भी सुरक्षित है। तभी वे इंदौर व उज्जैन की गलियों के संघर्ष के दिन और उत्पीड़ित लोगबाग के संसार से जुड़े अनुभव बेसंकोच याद करते हैं। इसीलिए उनकी नजर में अदालतें गुलदस्ता नहीं हैं, और न ही कानून चंद अभिजात लोगों की पॉकेट में टँका कोई बेशकीमती सजावटी पेन। अदालत और कानून को वे ऐसा नहीं मानते कि समाज के चंद जोरावर लोगों ने जब चाहा अपना कवच बना लिया दोनों को। प्रस्तुत हैं, उनके बेबाक जवाबों के चंद हिस्से।

ओझा : आज देश की न्यायव्यवस्था अपनी सामाजिक जवाबदेही से मुकर नहीं सकती। यह एक गुणात्मक परिवर्तन आजादी के बाद आया है। अँगरेजों ने न्यायव्यवस्था शासन करने के लिए रची थी; साम्राज्यवादी शासकों की देश में बुनियादी परिवर्तन लाने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। आजादी के पूर्व अदालतों का काम महज नागरिकों के आपसी मतभेद हल करने तक सीमित था; अँगरेज न्यायपालकों की समाज के प्रति कोई जवाबदेही नहीं थी।

परंतु, अगस्त 1947 के पश्चात निश्चित ही एक रेडिकल (मूलगामी) बदलाव आया है। संविधान के अंतर्गत नागरिकों को मौलिक अधिकर मिले हैं। संविधान में नीति-निर्देशक सिद्धांत के अंतर्गत सरकार की एक जिम्मेदारी निश्चित की गई है। 1947 के पहले सब यह स्वप्न था।

पर यह मान लेना गलत होगा कि आजादी मिलने और स्वदेशी संविधान बनने से न्यायव्यवस्था में भी बुनियादी परिवर्तन आ गया है।

सचाई यह है न्यायविद् कि स्वातंत्रयोत्तर काल के नए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक यथार्थ को समझने में असमर्थ रहे। वजह थी कि न्यायव्यवस्था से जुड़ा निर्णायक वर्ग अँगरेजी मूल्य-व्यवस्था में शिक्षित-दीक्षित था। न्यायव्यवस्था के हर पायदान से लेकर शिखर तक जमे इस वर्ग ने अँगरेजी शासकों का झंडा यूनियन जैक उतरते व तिरंगा चढ़ते तो देखा, परंतु उसने अपने मन का रंग बदलना स्वीकार नहीं किया।

यही वजह थी कि 1950 से 1970 तक देश की न्यायिक प्रक्रिया में किसी रेडिकल बदलाव का अभाव रहा। इसके बाद ही बदलाव की प्रक्रिया शुरू हुई।

याद रहे, 1969 के पश्चात देश की राजनीति में नई गति आई। नए सामाजिक व राजनीतिक यथार्थ सामने आए। स्व. प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी के शासन काल में पूर्व नरेशों के प्रीवीपर्स समाप्त किए गए, बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया, भू-संघर्ष हुए, और न्यायव्यवस्था को सामाजिक संदर्भो में देखा जाने लगा।

देखिए, विकासशील देशों की विचित्र समस्या है। भारत जैसे विकासशील देश में बड़े पैमाने पर क्रांतिकारी कदम उठाने की आवश्यकता है। इस द ष्टि से हमारी न्यायव्यवस्था तैयार नहीं है। मूलत: हमारी कानून-व्यवस्था रूढ़िवादी है, खासतौर पर कानूनी-शिक्षा तो बुरी तरह रूढ़िवादी है। मेरा मानना है कि यह संविधान की मूल भावना के ही विपरीत है। इसलिए चौरस्ते का आदमी न्याय का पूरा फायदा उठाने में असमर्थ रहता है; केवल ऊँचे लोग ही इसका फायदा उठा पाते हैं। एक और विचित्र विसंगति समझ लीजिए। देश का संविधान क्रांतिकारी है, परंतु उसे लागू करनेवाले अत्यंत दकियानूस हैं।

(इस संदर्भ में बात चलती है तो न्यायमूर्ति श्री ओझा के खुरदरे अनुभव फूट पड़ते हैं, विगत मचल उठता है बाहर आने को। वे कहने लगते हैं कि न्यायविद् और प्रशासक दोनों ही अंतिम व्यक्ति के कल्याण के लिए वातानुकूलित कक्षों में योजना बनाते हैं। मसूरी स्थित प्रशासकों की लाल बहादुर शास्त्री अकादमी इस रोग से बुरी तरह ग्रस्त है।)

अभिजातवर्गीय न्यायाधीशों, प्रशासकों और वकीलों को क्या मालूम कि जिस झोपड़ी

को ज्वार की रोटी भी नसीब न हो वह कैसे जान सकती है कि सरकार क्या है, अदालत क्या होती है और कानून क्या होता है ...

जोशी : *बदल क्यों नहीं डालते ऐसी न्यायव्यवस्था को आप लोग?*

ओझा : सच बात यह है कि वर्तमान न्यायव्यवस्था का कोई माकूल विकल्प नहीं मिल रहा है, यद्यपि इसमें आमूल परिवर्तन की गुंजाइश बहुत है। मुकदमों की प्रक्रियाएँ बिलकुल सड़ियल हो गई हैं। इस प्रक्रिया के कारण गरीब लोग न्याय पाने से वंचित हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर, अदालती फीस का नियम बेतुका है। अरे भाई, अँगरेजों ने इस देश में न्यायव्यवस्था लागू नहीं की बल्कि इसकी दुकान खोली थी। यदि आपके खीसे में अदालती फीस चुकाने के लिए पैसा है, तब अदालत आपको सुनेगी। विकसित देशों में भी कोर्ट फीस नहीं है। समाजवादी देशों में तो होने का सवाल ही नहीं उठता।

पूर्व विधि मंत्री श्री जगन्नाथ कौशल को प्रस्ताव भेजा गया था कि इसे समाप्त किया जाए। लेकिन विरोध में कई तरह की बेतुकी दलीलें दी गईं। कहा गया कि यदि फीस समाप्त कर दी गई तो अदालतों में मुकदमों की बाढ़ आ जाएगी। मुफ्त का न्याय पाने के लिए कोई भी आना चाहेगा। अरे भाई, जनता को झूठा मानकर क्यों चला जाए।

सच बात यह है कि संविधान ने देश को समाजवादी लोकतांत्रिक भारत माना है; उसी भावना के अनुरूप न्यायव्यवस्था होनी चाहिए। यदि संविधान की भावना के अनुरूप भारत को समाजवादी बनाने में न्यायव्यवस्था सक्रिय भूमिका निभाने में असमर्थ है तो यह एक गंभीर मामला है। यदि आम आदमी न्यायव्यवस्था पर विश्वास करना छोड़ देगा तो वह खतरनाक दिन होगा।

अब जरा देखिए, वर्तमान न्यायव्यवस्था में सामाजिक न्याय के तत्वों का अभाव है। उदाहरण लीजिए, 19वीं शताब्दी में बने भूमि अधिग्रहण कानून के तहत अमीर व गरीब दोनों को समान क्षतिपूर्ति मिलेगी। यह गलत है। बाजार भाव से दोनों को समान क्षतिपूर्ति नहीं मिलनी चाहिए। सार्वजनिक कार्यों के लिए ली गई भूमि के मामले में अमीर व्यक्ति को कोई मुआवजा नहीं दिया जाना चाहिए। उसको सामाजिक मान-पत्र दिया जा सकता है, उसका सम्मान किया जा सकता है। परंतु, पैसा गरीब को ही दिया जाना चाहिए; और उसे दूसरी जगह बसाने की जिम्मेदारी भी शासन को लेनी चाहिए। परंतु, आज सुप्रीम कोर्ट ने ऐसे मुद्दों पर अपना नजरिया बदला है। उजड़े लोगों को पुन: वांछित जगह बसाने की जिम्मेदारी में उसने दिलचस्पी दिखाई है। इसी तरह डी.सी.एम. के गैस प्लांट के रिसाव से प्रभावित लोगों को मुआवजा दिलाने में भी सुप्रीम कोर्ट ने ऐतिहासिक

क्रांतिकारी फैसला दिया है। आप नहीं जानते, इस मुकदमें के माध्यम से कैसी-कैसी लड़ाइयाँ लड़ी गई थीं; यह एक तरह से गरीब और अमीर के बीच शक्ति-परीक्षण था। निश्चित ही इस फैसले से गैस पीड़ितों को फायदा हुआ है।

हालाँकि हमने समान कानून और कानूनी समानता का सिद्धांत स्वीकार किया है; कानून के समक्ष सभी समान हैं, यह माना है; परंतु ऐसा होता कहाँ है। एक धनी व्यक्ति या उद्योगपति अपनी पैरवी के लिए बड़े से बड़ा वकील तैनात करता है। आला अदालत में अमीरों के पक्ष में महँगे वकीलों की कतार लग जाती है। परंतु, गरीब व्यक्ति कुछ नहीं कर पाता। सच्चाई यह है कि कानून के समक्ष समानता का सिद्धांत अर्थहीन है।

इसीलिए हमने कानूनी सहायता का प्रावधान शुरू किया है। सामाजिक न्याय दिलाने की यात्रा में यह कदम महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से हमने कई महत्वपूर्ण फैसले किए हैं। पिछले दिनों असम हाईकोर्ट से संबंधित मामले में भी एक ऐतिहासिक फैसला दिया है। निचली अदालत से लेकर ऊपरी अदालत तक न्यायाधीश या न्यायपालक का यह दायित्व है कि वह गरीब व्यक्ति को इसकी जानकारी दे कि सरकारी सहायता पर उसे कानूनी सहायता उपलब्ध कराई जा सकती है। उसे बताया जाना चाहिए कि वह सरकारी खर्च पर वकील कर सकता है।

इसके अलावा, भारत जैसे पिछड़े और अशिक्षित देश में निर्धन वर्ग को कानूनों के संबंध में जानकारी दी जानी चाहिए। इस क्षेत्र में सामाजिक कार्यकर्ता, स्वयंसेवी संस्थाएँ आदि महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। कानून की जानकारी के अभाव में कई महत्वपूर्ण मुद्दे अदालत तक पहुँचने से रह जाते हैं। जन-समस्याएँ अधूरी रहती हैं। इस मामले में समाजकर्मियों को आगे आना चाहिए; जन-समस्याओं को अदालतों तक पहुँचाना चाहिए। जन-समस्याएँ 'लोक-हित याचिका' या पब्लिक इन्टेरेस्ट लिटिगेशन के माध्यम से उठाई जानी चाहिए। वास्तव में कानूनी सहायता और पब्लिक लिटिगेशन न्यायव्यवस्था को समाज के करीब ले जाने के दो महत्वपूर्ण माध्यम हैं।

इस दिशा में तीसरा महत्वपूर्ण कदम है—लोक अदालत। सच बात तो यह है कि लोक अदालत वर्तमान अदालती व्यवस्था से बहुत श्रेष्ठ है बशर्ते कि इसका सही उपयोग हो। लोक अदालतों की सफलता समाज के जागरूक व्यक्तियों पर निर्भर है। मेरा तो यह मानना है कि जब न्याय समाज से दूर चला जाता है तब ही विवाद पैदा होते हैं। इसलिए स्थानीय स्तर के मामले लोक अदालतों में निपटाए जाने चाहिए।

जोशी : *आवाजें उठ रही हैं कि कार्यपालिका और न्यायपालिका तथा विधायिका*

व न्यायपालिका के बीच तालमेल का अभाव है; टकराहट के नए बिंदु सामने आ रहे हैं। क्या इससे आप सहमत हैं ?

ओझा : एक बात समझ लीजिए कि संविधान कानून व अहिंसा के माध्यम से देश में क्रांति लाना चाहता है। परंतु, राजनीतिक व नागरिक प्रशासक उतने ही रूढ़िवादी हैं। मूलत: सरकार और अदालत के बीच कोई टकराहट नहीं है। हमने कानून के राज की अवधारणा मानी है। मुसीबत यह है कि प्रशासकों को यह बात मालूम नहीं है कि देश में कानून का राज है। प्रशासक कानून के मुताबिक काम नहीं करते। इसलिए कई दिक्कतें खड़ी हो जाती हैं। जरूरी यह है कि राजनीतिक व नागरिक प्रशासक दोनों को ही कानून का प्रशिक्षण मिले।

एक उदाहरण लें : जन-प्रतिनिधि अपने भाषणों में जन-समस्याएँ सार्वजनिक मंचों पर रखते हैं; संसद एवं विधानसभाओं में रखी जाती हैं। उनके अनुसार नागरिक प्रशासक कानून बनाते हैं। संसद व विधानसभाओं में बिल रखे जाते हैं। परंतु जन-प्रतिनिधियों की असली मंशा इस बिल में आ नहीं पाती। अँगरेजी में रहने के कारण भी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। जब कानून बन जाता है, और लागू किया जाता है, तब उसकी खामियाँ सामने आने लगती हैं। कई जन-प्रतिनिधि शिकायत करते हैं कि कानून असली उद्देश्यों के बिलकुल विपरीत हैं।

दूसरी दिक्कत कानून की व्याख्या की है। विधायिका ने कानून बना दिया। जब अदालत के समक्ष वह व्याख्या के लिए आता है, तब कई दोष उसमें दिखाई देते हैं। असलियत एक यह भी है कि अदालतों में कानून की व्याख्या अँगरेजी-मानसिकता से की जाती है, ब्रिटिश अदालतों और कानून के उल्लेख तराशे जाते हैं, ऑक्सफोर्ड शब्दकोश देखा जाता है।

कार्यपालिका स्तर पर जब बिल ड्राफ्ट किया जाता है, तब भी यही दिक्कत रहती है। बिल बनानेवाले पहले यह देखते हैं ब्रिटेन में ऐसा कोई कानून है या नहीं। यदि पहले से कोई उपलब्ध कानून है तो मामूली हेर-फेर के साथ उसका भारतीय संस्करण तैयार कर दिया जाता है। इन दोनों प्रक्रियाओं का परिणाम यह निकलता है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच नाहक मतभेद उभरते हुए दिखाई देते हैं जबकि मूल में मतभेद नहीं रहता, केवल समझ का फेर रहता है। पर अब इस आदत को बदला जा रहा है। कानून की व्याख्या अँगरेजी शब्दकोश से नहीं, बल्कि सामाजिक संदर्भों से की जाने लगी है; यह देखा जाने लगा है कि किस शब्द का प्रयोग किन परिस्थितियों में किया गया है; उन परिस्थितियों का सामाजिक संदर्भ क्या है।

राजनीतिक दलों को चाहिए कि विधायिका और न्यायपालिका के बीच टकराव

न हो, इसके लिए अपने यहाँ कानून विशेषज्ञों की कमेटियाँ गठित करें। विशेष रूप से सत्ताधारी दल की जिम्मेदारी अधिक है। यदि कार्यपालिका और विधायिका पूरी सतर्कता के साथ कोई कानून बनाती हैं तो टकराव की संभावना कम रहेगी। इसी से जुडा हुआ मुद्दा है सामाजिक जवाबदेही का। देखिये सरकार या संसद प्रत्यक्ष तौर पर समाज के प्रति उत्तरदायी है, परंतु अदालत परोक्ष रूप से उतनी ही जवाबदेह है। संक्षेप में तीनों की जवाबदेही जनता के प्रति है। जैसे ही कोई न्यायाधीश संविधान की शपथ लेता है, वह जनता के प्रति जवाबदेह बन जाता है। संविधा, समाजवादी भारत बनाने के लिए प्रतिबद्ध है। यदि कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका इस यात्रा के एक तालबद्ध सहयात्री बनते हैं, तो मैं नहीं समझता कि टकराव पैदा होंगे। यदि यात्रा भंग होती है, लोगों का विश्वास अदालतों से उठता है, न्यायाधीश मकई की रोटी व लहसुन की चटनी की भाषा से अपरिचित रहते हैं, तो निःसंदेह चौरस्तों पर जनता फैसला करेगी। तब एक नई न्यायव्यवस्था का जन्म होगा।

26 जनवरी, 1987

येल्तसिन : पूँजीवाद के नए-नए मौलवी

"1917 की अक्टूबर क्रांति और ताजा घटनाक्रम में बहुत फर्क है, सिर्फ महीना वही है। येल्तसिन तगड़े राजनीतिक जुआरी हैं। समझ में नहीं आता कि येल्तसिन को 'बिल येल्तसिन' कहें या क्लिंटन को 'बोरिस क्लिंटन'?"

'येल्तसिन और गोर्बाचोव दोनों ने देश तोड़ने की साजिश की थी। ताजा घटना के बाद लगता है कि येल्तसिन की विजय हुई है, लेकिन सेना इस विजय की कीमत वसूलेगी। अभी मास्को में पटाक्षेप नहीं हुआ है।"

"विश्व-दानव अमेरिका से मुक्ति में ही मानव-कल्याण हेतु रूस, चीन और भारत की संयुक्त शक्ति के विस्तार की संभावना छुपी हुई है।"

रूसी मामलों के विशेषज्ञ, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक डॉ. देवेन्द्र कौशिक से संवाद :

जोशी : *पिछले दिनों मास्को में जो कुछ हुआ, क्या वह स्वाभाविक था? क्या येल्तसिन-विरोधियों की हार के पश्चात सत्ता संघर्ष का पटाक्षेप हो चुका है?*

देवेन्द्र कौशिक : पश्चिमी मीडिया का प्रचार है कि दूसरी बोल्शेविक क्रांति टाँय-टाँय फिस हो गई; राष्ट्रपति येल्तसिन का स्थिति पर पूरा नियंत्रण है। मैं समझता हूँ कि 1917 की अक्टूबर क्रांति और मास्को की ताजा घटना में बहुत अंतर है। दोनों घटनाओं में एक ही समानता है, और वह है अक्टूबर महीना। वरना, दोनों की तुलना नहीं की जा सकती।

एक बात जरूर है कि जिन शक्तियों ने येल्तसिन की तानाशाही का विरोध किया है, उनमें साम्यवादियों की भूमिका अग्रणी रही है। लेकिन, गौरतलब है कि जिन लोगों ने संसद के समर्थन में सबसे पहले प्रदर्शन किया, उनमें एक बड़ा दस्ता पादरियों का भी था। तो समर्थन में जहाँ लाल झंडा था, वहाँ आर्थोडाक्स चर्च के पादरी भी खड़े थे; ऐसे लोग भी थे जिनका साम्यवादी विचारों से कोई लेना-देना नहीं था। यह ठीक है कि इस घटना ने उग्रवादी मोड़ लिया, लेकिन मैं समझता हूँ कि इसमें भी येल्तसिन की भूमिका काफी रही है।

राष्ट्रपति येल्तसिन रूस में 19वीं शताब्दी का मुक्त पूँजीवाद कायम करना चाहते हैं और वो भी हड़बड़ी में। उनमें जरा भी सब्र नहीं है। एक नए-नए मौलवी की तरह वे पूँजीवाद की बाँग दे रहे हैं। इसके लिए वे शक्ति का भौंडा प्रदर्शन करने से भी चूकते नहीं हैं। येल्तसिन ने जिस संविधान की शपथ ली और जिसकी वफादारी की कसमें खाते हुए राष्ट्रपति बने, आज वे उसी संविधान को रद्दी की टोकरी में फेंक देना चाहते हैं; वे उसे बाधक मानते हैं। हर संविधान की एक पवित्रता, वैधता होती है। संविधान बदले भी जाते हैं, लेकिन एक प्रक्रिया होती है उसकी भी। येल्तसिन संविधान को तोड़कर चुनाव कराना चाहते हैं। मैं यह मानता हूँ कि यदि संविधान बाधक बन रहा था तो येल्तसिन जनता में जाते, देश में घूम-घूमकर जनता को समझाते, संसद के खिलाफ जन-जागृति पैदा करते। वे लोगों से कह सकते थे कि किस तरह से संसद मुद्रास्फीति बढ़ा रही है, सरकार पर फिजूल के खर्चे लाद रही है।

पिछले मार्च-अप्रैल में रूस में मतसंग्रह हुआ था; तब मैं वहीं था। येल्तसिन घूम-घूमकर रेवड़ियाँ बाँट रहे थे। अंधाधुंध तनख्वाहें बढ़ा रहे थे। सैनिकों को घूस दी जा रही थी। इस सबसे मुद्रास्फीति बढ़ी। रूसी बजट का घाटा बढ़ा। इसके जो दुष्परिणाम सामने आए हैं उनके लिए वे संसद को दोषी ठहरा रहे हैं। एक बात और समझ लीजिए, संसद के जिन नेताओं ने येल्तसिन के विरुद्ध बगावत का झंडा उठाया था, वे राष्ट्रपति के भी सहयोगी रह चुके हैं। अलेक्सांद्र रुत्सकोई जैसे नेता भी आर्थिक सुधार के पक्षधर हैं। साम्यवाद की वापसी ये भी नहीं चाहते। लेकिन सुधार ऐसा चाहते हैं जिससे रोगी की मृत्यु भी न हो, और उसका इलाज भी हो जाए।

लेकिन येल्तसिन कट्टरवाद के रास्ते पर जा रहे हैं। राष्ट्रपति बनने के बाद उन्होंने घोषणा की थी कि अगले पतझर तक अर्थव्यवस्था में ठोस सुधार हो जाएगा। उन्होंने यह भी ऐलान किया था कि यदि सुधार नहीं हुआ तो वे रेल की पटरी पर अपना सिर रख देंगे। यह गैर-जिम्मेदाराना बयान था। इस घोषणा के बाद कई पतझर व बसंत आए और चले गए, लेकिन रूसियों की

हालत बद से बदतर होती चली गई। 2600 प्रतिशत की मुद्रास्फीति हुई। प्रतिमास 15 से 20 प्रतिशत मुद्रास्फीति की दर रही है। आज रूस में एक रोटी सौ रूबल की हो गई है, जब्कि इसकी कीमत संपूर्ण समाजवादी दौर में 14 कोपेक से अधिक नहीं हुई। एक रूबल में 100 कोपेक होते हैं। मेट्रो-ट्रेन का किराया 5 कोपेक हुआ करता था; आज वह 10 रूबल हो गया है। यदि ऐसी मुद्रास्फीति भारत में हो जाए तो हमारा क्या हाल होगा, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। रूस में तथाकथित आर्थिक सुधारों के दौरान निर्बल व कमजोर वर्गों के लिए राहत की कोई व्यवस्था नहीं की गई। अपंग व निःसहाय लोग मर रहे हैं। भारत की राजसत्ता का चरित्र पूँजीवादी है, फिर भी हमारी सरकार ने भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से राहत का प्रावधान रखा हुआ है। लेकिन येल्तसिन ने युद्ध के वरिष्ठ सैनिकों, महिलाओं, बच्चों, विकलांगों, पेंशन-याफ्ताओं जैसे वर्गों का कोई ध्यान नहीं रखा। सभी को मुक्त मंडी के भ्रमजाल में फँसा दिया। येल्तसिन समाज के 95 प्रतिशत लोगों से उज्ज्वल पूँजीवादी भविष्य के लिए कुर्बानी की माँग कर रहे हैं। पूँजीवाद के निर्माण की जो स्वाभाविक प्रक्रिया है, येल्तसिन उसे अँगूठा दिखाकर रूस पर मुक्त पूँजीवादी व्यवस्था थोप देना चाहते हैं।

रूस में अजीब प्रक्रिया चल रही है। पूँजीवाद में उत्पादन बढ़ना चाहिए, लेकिन रूस में वह तेजी से घट रहा है। पिछले दो-ढाई साल में 60 प्रतिशत उत्पादन गिर चुका है। यह किसी भी राष्ट्र के लिए खतरनाक स्थिति है। आज रूस में सटोरियों, अपराधियों का राज है। कालाबाजार में चीजों के दाम एक हजार प्रतिशत बढ़े हैं। जमकर मुनाफा लूटा जा रहा है। ऐसी हालत में उत्पादन बढ़ाने की फिक्र किसे है?

जोशी : *राष्ट्रपति येल्तसिन ने हमेशा स्वयं को लोकतंत्र का मसीहा घोषित किया है। पश्चिमी मीडिया ने इसका जमकर प्रचार भी किया। तब किन विवशताओं के तहत उन्होंने लोकतंत्र के मंदिर – संसद – के खिलाफ ही टैंकों का इस्तेमाल किया? क्या उनके लोकतंत्र के नारे ढकोसला थे?*

देवेन्द्र कौशिक : येल्तसिन को मैंने कभी भी लोकतांत्रिक नहीं माना। उनकी कार्यशैली आरंभ से ही तानाशाही की रही है। वे कम्युनिस्ट पार्टी की नौकरशाही के अभिन्न अंग रहे हैं। उन्होंने अपने कार्यकाल के दौरान कभी किसी से सलाह-मशविरा नहीं किया। वे पार्टी तंत्र को निरंकुश ढंग से चलाते रहे; इसके लिए वे कुख्यात हैं। पिछले मार्च में ही उन्होंने टीवी पर राष्ट्रपति शासन और आपातकाल की घोषणा कर डाली थी। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि इसके लिए आदेश तैयार कर लिए गए हैं। इसके बाद संसद में आलोचना हुई। संविधान

न्यायालय ने भी फैसला दे दिया कि येल्तसिन की यह घोषणा संविधान-विरोधी है; उन पर महाभियोग चलाया जा सकता है। केवल मात्र आठ वोटों के बहुमत से वे अपने विरुद्ध महाभियोग की कार्रवाई से बचे। इसके बाद उन्होंने उस समय वह निरंकुश कदम वापस ले लिया।

गोर्बाचोव के जमाने से ही रूस में एक चिंतनधारा चली थी। रूस में दो सिद्धांतकार हैं– मिगरानियान और कल्यानकिन। मिगरानियान आज भी येल्तसिन के राजनीतिक सलाहकार हैं। इन दोनों पंडितों ने उस समय एक थ्यौरी प्रतिपादित की थी। वे एक मजबूत राष्ट्रपति शासन प्रणाली चाहते थे। इन दोनों सिद्धांतकारों का मत है कि रूस में लोकतंत्र की स्थापना और बाजार पूँजीवाद के लिए एक एकाधिकारवादी कार्यपालिका होनी चाहिए। इसके लिए इन दोनों ने पश्चिम के अनुभवों का हवाला दिया। बगैर एकछत्र सत्ता के रूस में सुधार संभव नहीं हैं। ये दोनों गोर्बाचोव को एक मजबूत राष्ट्रपति के रूप में देखना चाहते थे, लेकिन उनमें इसके गुण नहीं थे। गोर्बाचोव कमजोर साबित हुए। इसके विपरीत येल्तसिन एक तगड़े राजनीतिक जुआरी हैं। वे बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने के लिए तैयार रहते हैं। उन्होंने जुआ खेला, और देखते-देखते सत्ता हथिया ली। मैंने मास्को में रहकर उनके इस खेल को देखा है। सत्ता हथियाने के लिए उन्होंने हर किस्म के हथकंडे अपनाए। मेरा तो यह मानना है कि येल्तसिन लोकतांत्रिक नहीं हैं, देशभक्त भी नहीं हैं। इसका मैं उदाहरण दे सकता हूँ। बेलोरूस के जंगल में बैठकर येल्तसिन और दो अन्य नेताओं ने सोवियत संघ को तोड़ने की साजिश रची। इसकी सूचना सबसे पहले उन्होंने अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश को दी। बुश ने तत्कालीन राष्ट्रपति गोर्बाचोव को सूचित किया कि आपका सोवियत संघ तो टूट चुका है। तब गोर्बाचोव ने येल्तसिन से कहा कि मुझे देश के विघटन की सूचना बुश से मिल रही है, कितनी शर्म की बात है? कोई भी लोकतांत्रिक और राष्ट्रवादी ऐसा नहीं करेगा। लेकिन गोर्बाचोव ने भी इसका प्रतिवाद नहीं किया। उनके हाथों से कमान फिसल चुकी थी। अत: मेरे मत में बोरिस निकोलायविच येल्तसिन असंवैधानिक कार्य करने के महारथी हैं। इतिहास उन्हें इसी रूप में याद रखेगा। आजकल तो बोरिस और बिल का दौर है। मेरी समझ में यह नहीं आता कि मैं येल्तसिन को "बिल येल्तसिन' कहूँ या क्लिंटन को 'बोरिस क्लिंटन' कहूँ? दोनों 'राजनीतिक समलैंगिकता' से पीड़ित हैं। वाकई मैं दुविधा में पड़ गया हूँ इन दोनों राष्ट्रपतियों को लेकर। दोनों के बीच ऐसा ताना-बाना बुना हुआ है कि व्हाइट हाउस और क्रेमलिन के बीच फर्क करना मुश्किल है। सच्चाई तो यह है कि गोर्बाचोव और येल्तसिन, दोनों ने अपनी निजी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राष्ट्रविरोधी कार्य किया, अपने विशाल राष्ट्र को तोड़ा।

जोशी : *इसमें कहाँ तक सच्चाई है कि येल्तसिन को जन-समर्थन प्राप्त नहीं था इसलिए उन्होंने सेना का इस्तेमाल किया?*

देवेन्द्र कौशिक : अगर जनता का समर्थन होता तो वे निश्चित ही फौज का इस्तेमाल नहीं करते। लेकिन वहाँ जनता काफी उदासीन है, और इस उदासीनता की वजह क्या है, इसे समझना जरूरी है। उदासीनता को टूटने में बहुत देर लग रही है। मैं समझता हूँ कि पिछले दो सालों में रूस की जनता ने जितना बर्दाश्त किया है, वह समझ के बाहर की चीज है। आज रूसियों में विचारधारा के प्रति 'सिनिसिज्म' पैदा हो गया है। आज वहां की जनता को न तो साम्यवाद से लगाव है, और न ही पूँजीवाद से। रूस में आज सिर्फ 'पेटवाद' की विचारधारा का राज है। उदरवाद को छोड़कर कोई भी वाद रूसियों को आकृष्ट नहीं करता है। लेकिन, मेरा यह भी मत है कि ताजा हिंसक घटना से चिंगारी फूटी है। जनता की उदासीनता तिड़की है, बारूद में आग लगी है। यह चिंगारी शोला बनेगी या नहीं, फिलहाल कुछ भी कहना मुश्किल है। इस पहले दौर में तो निश्चित ही शोले खामोश रहे हैं। लेकिन यह कम बात नहीं है कि मास्को की इंटीरियर सेना में फूट पड़ी, विद्रोह हुआ। फौज ने जरूर वफादारी दिखाई। मैं समझता हूँ कि आज राष्ट्रपति येल्तसिन की जीत नहीं हुई है, रूसी सेना की विजय हुई है। सेना इसकी कीमत येल्तसिन से जरूर वसूलेगी। सेना ने एक तरह से संसद भवन पर कब्जा करके राष्ट्रपति पर कब्जा कर लिया है। आगे-पीछे उन्हें इसकी कीमत चुकानी पड़ेगी। रूस का वर्तमान सैन्य बजट 56 बिलियन डॉलर का है। जरा कल्पना कीजिए, इसके विपरीत जापान का 22 बिलियन, चीन का 34 बिलियन और भारत तो 6-7 बिलियन डॉलर पर ही अटका हुआ है। मुझे लगता है कि अब रूसी सेना इस विशाल बजट में और इजाफा चाहेगी, सैन्य उद्योग में विस्तार की माँग करेगी। अपनी सत्ता की खातिर सेना को साथ रखने के लिए येल्तसिन को यह सब कुछ करना पड़ेगा। जाहिर है, इसका प्रभाव आर्थिक सुधारों पर पड़े बिना नहीं रहेगा। इससे सामान्य रूसियों की हालत और बदतर होगी। इतना ही नहीं, सेना को तुष्ट करने के लिए पूँजीवाद के निर्माण का स्वप्न भी भंग करना पड़ेगा। अत: मेरी द ष्टि में येल्तसिन की जीत नहीं, हार हुई है। अभी मास्को में पटाक्षेप नहीं हुआ है। अभी-अभी समाप्त द श्य में जनता का सुप्त आक्रोश भड़कता हुआ दिखाई दे रहा है। यह सतह से ऊपर आ गया है और सशस्त्र विरोध की शक्ल में प्रकट हो गया है। येल्तसिन विद्रोह को कुचलने के लिए मास्को से आगे भी बढ़ रहे हैं। मुझे तो रूस के विघटन की आशंका हो रही है।

जोशी : *इस पूरे घटनाक्रम में अमेरिका और उसके सहयोगी राष्ट्रों का जो रोल रहा है, उसके संबंध में आपका क्या कहना है? जिस ढंग से यूरो-अमेरिकी शिविर*

ने येल्तसिन को समर्थन दिया है, वह क्या एक किस्म का हस्तक्षेप नहीं है?

देवेन्द्र कौशिक : मैं यह नहीं मानता कि अमेरिकी समर्थन की वजह से येल्तसिन को कामयाबी मिली है। और, वैसे यह समर्थन अपेक्षित था; उन्होंने इसकी बुनियाद पहले ही डाल दी थी। येल्तसिन के विदेशमंत्री कोजीरोव ने अपनी ताजा अमेरिकी यात्रा के दौरान व्हाइट हाउस को संकेत दे दिए थे कि राष्ट्रपति संसद के खिलाफ कुछ सख्त कदम उठा सकते हैं; संसद को भंग भी किया जा सकता है। बिल क्लिंटन ने अपना आशीर्वाद तभी येल्तसिन को दे दिया था। अमेरिका और उसके सहयोगी राष्ट्रों ने अपने राष्ट्रीय उर्फ वर्गीय हितों को ध्यान में रखकर ही समर्थन की घोषणा की। चूँकि येल्तसिन मुक्त बाजार व्यवस्था लाने के लिए कटिबद्ध हैं, इसके लिए वे गृहयुद्ध और विघटन की जोखिम तक उठाने के लिए तैयार हैं; और अमेरिका भी यही चाहता है कि रूस का और अधिक विघटन हो। अमेरिकियों की दिलचस्पी सिर्फ गैर-कम्युनिस्ट या लोकतांत्रिक रूस में ही नहीं है बल्कि वे यह भी चाहते हैं कि भविष्य में रूस एक महाशक्ति और प्रतिद्वंद्वी के रूप में न उभरे। यह तभी संभव है जब रूस खंड-खंड हो जाए। रूस के देशभक्त लोग अमेरिकियों के इन मंसूबों को समझ भी रहे हैं। रूसी में एक कहावत है कि वहाँ का कृषक तब तक प्रार्थना नहीं करता जब तक आसमान से बिजली न कौंधने लगे। जैसे ही बिजली कड़कने लगती है, वह घबराकर प्रार्थना करने लगता है कि वह उसके घर पर न गिर जाए। इस घटना से बिजली कौंधी है; देशभक्त जागने लगे हैं; प्रार्थना शुरू हो गई है। फिलहाल तो यही कहा जा सकता है कि हम देखें और प्रतीक्षा करें।

जोशी : *मान लीजिए रविवार और सोमवार के हिंसक संघर्ष में येल्तसिन हार जाते, सेना संसद का समर्थन कर देती, तो उस स्थिति में अमेरिकी शिविर का क्या रवैया रहता?*

देवेन्द्र कौशिक : मैं नहीं समझता कि उस स्थिति में अमेरिका और उसके मित्रराष्ट्र रूस में कोई सैनिक हस्तक्षेप करते। यह संभव नहीं है। रूस की जलवायु में नेपोलियन, हिटलर तक के छक्के छूट गए थे, तो अमेरिकी क्या चीज हैं? एकमात्र महाशक्ति होने के बावजूद अमेरिकी यूगोस्लाविया में नहीं घुस पा रहे हैं; सोमालिया में उनके सैनिक मारे जा रहे हैं। रूस आज भी एक परमाणु शक्ति है, अमेरिका इस तथ्य की अनदेखी नहीं कर सकता। अमेरिका यह भी जानता है कि यदि उसने खुला हस्तक्षेप किया तो रूस के देशभक्त जाग जाएँगे; रूसी सेना उसका साथ नहीं देगी। अलबत्ता अमेरिका ने कूटनीतिक हस्तक्षेप जरूर किया है। अमेरिका यह भी जानता है कि येल्तसिन टिकाऊ नहीं हैं, उन्हें देर-सबेर सत्ता से हटना पड़ेगा। लेकिन वे येल्तसिन से रूस का

विघटन जरूर करा लेना चाहते हैं।

जोशी : इन तमाम घटनाओं का भारत जैसे विकासशील देशों पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

देवेन्द्र कौशिक : देखिए, कुछ सच्चाइयाँ, कुछ मजबूरियाँ हैं, जिन्हें हमें स्वीकार करना पड़ेगा। भारत में इतनी हिम्मत तो है नहीं कि वह फिर से द्वि-ध्रुवीय शक्ति-विश्व का निर्माण कर दे। एकल ध्रुवीय शक्ति-व्यवस्था की सच्चाई को सामने रखकर ही सोचना पड़ेगा। गुटनिरपेक्ष आंदोलन म तप्राय है। जब वह जीवित था, हम उससे फायदा उठाते थे। अब तो अमेरिकी महाप्रभु की हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है। मैं इस संदर्भ में चीन की प्रशंसा करूँगा। उसकी प्रतिक्रिया थी कि यह रूस का आंतरिक मामला है और इस समस्या का उपयुक्त समाधान होना चाहिए। चीन ने यह भी नहीं कहा कि इसका शांतिपूर्ण समाधान होना चाहिए। उन्होंने 'उपयुक्त समाधान' पर जोर दिया था। भारत को भी ऐसी ही प्रतिक्रिया व्यक्त करनी चाहिए थी। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। इसकी एक वजह है कि हम मानसिक रूप से गुलाम हो चुके हैं; हमारा शासक वर्ग स्वतंत्र ढंग से सोच ही नहीं सकता। चीन तो धौंस के साथ पूँजी लेता है। वह अमेरिकी कृपा पर आश्रित नहीं है। वह तो भूमिगत परमाणु परीक्षण भी करता है और उसके यहाँ अमेरिकी पूँजी भी लगाते हैं। साम्यवादी होते हुए भी चीन ने अपना राष्ट्रवाद नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन ने अमेरिका की खुलेआम भर्त्सना की। भारत का शासक वर्ग ऐसा नहीं कर सकता। हमने अमेरिका को खुश करने के लिए येल्तसिन के पक्ष में समर्थन व्यक्त किया, यह हमारे दीर्घकालीन राष्ट्रीय हित में नहीं है।

मैं समझता हूँ कि रूसी संसद की जीत में भारत का हित निहित था। उदाहरण के लिए, क्रायोजेनिक सौदे के मामले में रूस के विदेशमंत्री कोजीरोव ने भारत का साथ नहीं दिया बल्कि इसका विरोध किया; और जब कोजीरोव क्रायोजेनिक इंजन के सौदे का विरोध कर रहे थे, रूस की संसद भारत का समर्थन कर रही थी। अतः यदि संसद की जीत होती तो तीसरी दुनिया का पलड़ा भी भारी होता। येल्तसिन के रहते हुए यह संभव नहीं है। यह व्यक्ति गोर्बाचोव से भी ज्यादा यूरो-अमेरिकोन्मुख है।

इस संबंध में एक नाटक की घटना याद आती है। 1992 में प्रावदा में 'बिलियर्ड' नाम का एक नाटक छपा था। इसमें दो खिलाड़ी होते हैं और तीसरा व्यक्ति गेंद उठानेवाला होता है। इस नाटक पर गोर्बाचोव और येल्तसिन दोनों ने ही पाबंदी लगा दी थी। इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने बड़ी चतुराई के साथ गोर्बाचोव और येल्तसिन को षड्यंत्रकारी के रूप में चित्रित किया था। नौकर

के रूप में तीसरा पात्र जाहिरा तौर पर गूँगा-बहरा है, इसलिए दोनों खिलाड़ी खेलते समय षड्यंत्र की बातें करते हैं। नौकर जो कि वास्तव में गूँगा-बहरा नहीं था, इन दोनों खिलाड़ियों के संवाद चुपचाप नोट करता रहता है। यह नाटक 1991 में अगस्त-विद्रोह के पहले लिखा गया था। इसको पढ़ने के बाद किसी को यह संदेह नहीं रह जाता कि दोनों खिलाड़ी खेलते-खेलते साजिश रच रहे थे। खिलाड़ी एक-दूसरे से कहते हैं कि किस तरह से बगावत होगी; इस बगावत से किसको फायदा पहुँचेगा। एक खिलाड़ी कहता है कि इस बगावत के बाद मेरा रोल समाप्त हो जाएगा, आपको खेल जारी रखना है। सांकेतिक ढंग से कह दिया गया था कि यूरो-अमेरिकी शिविर का खेल कैसे जारी रखना है। और आप जानते ही हैं कि अगस्त 1991 में विद्रोह हो गया था। उक्त नाटक अगस्त से पहले लिखा गया था। लोकतंत्र के रक्षक होने का दावा करनेवाले येल्तसिन ने इसके मंचन की इजाजत नहीं दी और अगस्त-विद्रोह के पहले गोर्बाचोव ने भी मंचन की इजाजत नहीं दी। उस समय गोर्बाचोव सोवियत संघ के राष्ट्रपति थे, और येल्तसिन रूसी गणराज्य के राष्ट्रपति थे।

मेरे विचार में अगस्त-विद्रोह वास्तविक विद्रोह नहीं था, वास्तविक विद्रोह करने के लिए एक बहाना बनाया गया था। असली विद्रोह तो दिसंबर में होता है जब सोवियत संघ का विघटन किया जाता है। अब मैं एक सवाल पूछ सकता हूँ कि अगस्त-विद्रोह में भी टैंकों को निकाला गया था, लेकिन कोई भी गोली नहीं चली। जनता उस समय भी येल्तसिन के समर्थन में सड़कों पर खड़ी थी, लेकिन टैंकों की तोपों ने मुँह नहीं खोले। तब आज येल्तसिन के टैंकों ने आग क्यों उगली? कम्युनिस्टों को तानाशाह कहा जाता है। अगस्त-विद्रोह में तो कट्टरपंथी कम्युनिस्ट शामिल माने जाते हैं; उन्होंने अपने टैंकों, फौजों को आदेश क्यों नहीं दिए कि येल्तसिन की इमारत को ध्वस्त कर दिया जाए? दूसरी तरफ लोकतांत्रिक होने के नाते येल्तसिन को अधिक जिम्मेदार, उदारवादी, सहनशील होना चाहिए था, पर उन्होंने बिल्कुल फासीवादी तरीके से टैंकों से गोले बरसाने के निर्देश दिए। संसद के समर्थन में जनता अब भी सड़कों पर खड़ी थी। उन्हें क्यों मारा गया? अगस्त-विद्रोह में येल्तसिन के टेलीफोन तक नहीं काटे गए थे, जबकि आज संसद का पानी-बिजली तक काट दी गई थी। अगस्त में येल्तसिन अपने कार्यालय से बाहर निकलकर टैंक पर चढ़ते रहे, बुश से फोन पर बात करते रहे; किसी ने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया। लेकिन आज संसद के नेताओं को मारा गया, उन्हें गिरफ्तार करके जेलों में ठूँस दिया गया है। इसलिए मेरे मत में अगस्त-विद्रोह वास्तविक नहीं था, किसी षड्यंत्र का एक हिस्सा था। लेकिन उसकी ओट में असली विद्रोह दिसंबर में किया गया। 'बिलियर्ड' नाटक में इस षड्यंत्र को एक्सपोज किया गया है।

जोशी : *पिछले दिनों अमेरिकी राष्ट्रपति ने कश्मीर को ग हयुद्धग्रस्त क्षेत्रों में शुमार किया है। इस संबंध में आपका क्या कहना है?*

देवेन्द्र कौशिक : प्रतिक्रिया में एक शे'र याद आता है : इब्तदा-ए-इश्क में रोता है क्या, आगे-आगे देखिए होता है क्या! जब यह कहा जा रहा था कि अमेरिका पाकिस्तान को आतंकवादी देश घोषित करने जा रहा है तो हम झूम उठे थे; इसे भारत की कूटनीतिक विजय के रूप में देखा जा रहा था। तब मैंने कहा था कि खुशी मनाने के बजाय प्रतीक्षा करो और देखो। अमेरिका यह कभी नहीं चाहेगा कि रूस, भारत और चीन में कोई शक्ति-केंद्र उभरे। लेकिन यह ऐतिहासिक नियति है कि रूस, भारत और चीन की संयुक्त शक्ति ही विश्व-महाप्रभु की आपराधिक शक्ति को चुनौती दे सकती है। इसके लिए एक शर्त है कि रूस को येल्तसिनवादी नहीं, राष्ट्रवादी होना पड़ेगा। चीन को अंधराष्ट्रवाद छोड़कर उदार राष्ट्रवादी और भारत को दासत्वभाव छोड़कर देशभक्त व राष्ट्रवादी होना पड़ेगा। इन तीनों की संयुक्त ताकत में ही विश्व-दानव से मुक्ति और मानवता के कल्याण की किरण छुपी हुई है।

10 अक्टूबर, 1993

आत्म-तर्पण, आत्म-पाखंड भी है

कॉफी-हाउस और अस्सी साला विष्णु प्रभाकर, एक-दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। दिल्ली की उपभोक्ता संस्कृति का हृदय–कनाट प्लेस; इसके एक किनारे पर खड़ी बिल्डिंग में बसा है इंडियन कॉफी-हाउस। आँधी हो या तूफान, प्रभाकरजी की हर शाम इसी में गुजरती है। पुरानी दिल्ली की तंग गलियों से गुजरते, रिक्शा-ठेलों से टकराते, ताँगेवालों, टेम्पोवालों की चेतावनियाँ सुनते-सुनाते हुए वे अँगरेजों के बसाए इस वैभवशाली बाजार में दाखिल हो जाते हैं; और फिर मोहनसिंह प्लेस की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते कॉफी-घर पहुँच जाते हैं। जैसे-जैसे शाम ढलने लगती है, सभी ब्राण्डों एवं उम्र के लेखकों का जमघट इर्द-गिर्द लगने लगता है। राजकुमार सैनी, मस्तराम कपूर, रमेश उपाध्याय, भगवानसिंह, कांति मोहन, अरुण प्रकाश, अरविंद जैन, असगर वजाहत, पंकज बिष्ट, हंसराज रहबर, डॉ. सक्सेना, डा. शैलेन्द्र श्रीवास्तव आदि – एक लंबी फेहरिस्त है– के साथ दुनिया भर के मुद्दों को लेकर बहस शुरू हो जाती है। उपन्यासकार रमाकांत नहीं रहे; उनके सभ्य साहित्यिक नोंक-झोंक का रंग ही कुछ और हुआ करता था। विष्णुजी को सभी से बेपनाह सम्मान और प्यार मिलता है।

कॉफी-हाउस के साथ विष्णुजी का नाता आज का नहीं है, पुराना है। कनाट प्लेस के कई कॉफी-हाउसों एवं टी-हाउसों का उत्थान एवं पतन उन्होंने देखा है। वे बताते हैं कि किसी जमाने में कॉफी-हाउस संस्था एक स्वस्थ संस्कृति का प्रतीक हुआ करती थी। उन्होंने पुराने कॉफी-हाउसों में डॉ. राम मनोहर लोहिया, प्रो. रंगा, जैनेन्द्र, मोहन राकेश सहित अनेक दिग्गजों के बेबाक संवाद देखे हैं; खूब बहसें हुआ करती थीं, लेकिन दिलों में मलाल नहीं रहता था; दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त वातावरण था। विष्णुजी की पीड़ा है–आज सब कुछ बदल चुका

है। यह स्वस्थ संस्था बीमार हो चुकी है। बहसों में से ऑब्जेक्टिविटी समाप्त हो चुकी है। बहस में सब एक-दूसरे को ऊँचा-नीचा करने की कोशिश करते रहते हैं। कॉफी की चुस्कियाँ चढ़ाते हैं, लेकिन मन में एक-दूसरे को लेकर क्लेश पाले रहते हैं।

विष्णुजी ने दिल्ली को कई रंगों में देखा है। वे पहली बार 1924 में दिल्ली आए थे। तब वे 12 वर्ष के थे। कॉफी की चुस्कियों के साथ उनका नॉस्टेलजिया उमड़ता है। वे बताते हैं : उस समय दिल्ली एक बड़ा गाँव लगता था; बेहद शांति थी। तब घंटाघर, नई सड़क एक आबाद इलाका था। चाँदनी चौक में इक्की-दुक्की पुरानी दुकानें रह गई हैं। घंटेवाला हलवाई उनमें से एक है। उस जमाने में चावड़ी बाजार में वेश्याएँ रहा करती थीं। इक्के-ताँगे-ट्राम हमारी सवारी हुआ करती थीं। करौलबाग बसने लगा था। अजमेरी गेट से बाहर जाने में डर लगता था। रास्ते में ताँगे, गाड़ी, रिक्शा जाया करते थे। आज का भव्य नई दिल्ली स्टेशन बहुत मामूली किस्म का हुआ करता था। आज का प्रेस एरिया जंगल हुआ करता था। इंडिया गेट तक में उजाड़ का आलम था। मेरे सामने राष्ट्रपति भवन बना। कनाट प्लेस भी ऊँघता हुआ-सा लगता था। इक्की-दुक्की इमारतें थीं। संसद भवन के आस-पास भी सन्नाटा हुआ करता था। लेकिन, पुरानी दिल्ली में हमेशा चहल-पहल रहा करती थी, वह मशहूर हुआ करती थी। गर्मियों में ककड़ियाँ बेची जाती थीं, आवाज लगाकर—लैला की उंगलियाँ ले लो, मजनू की पसलियाँ ले लो। उस जमाने में हिन्दुस्तानी बोली जाती थी। जामा मस्जिद के क्षेत्र में कारखानदाजी बोली बोली जाती थी; जैसे—अबे, कहाँ जारिया है? अब दिल्ली की जुबा़न में काफी बदलाव आ गया है। उस जमाने में मश्की घूमा करते थे, कटोरे में पानी पिलाया करते थे। किस्सागो हुआ करते थे। मदारी हुआ करते थे। बिसातियों की अलग अदाएँ हुआ करती थीं। उस समय दिल्ली की गलियाँ— 'जागो मोहन प्यारे' से गूँजा करती थीं। इस भजन के साथ हम सब उठ जाया करते थे। हम सब यमुना स्नान के लिए तट पर पहुँच जाया करते थे। अब यह परिवेश समाप्त हो चुका है।

आपको आश्चर्य होगा यह जानकर कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को हम दिल्ली की गलियों में ले आए थे। कुंडेवालान में उनका कार्यक्रम हुआ। हम लोगों ने उनसे कविता सुनाने का आग्रह किया, लेकिन वे चुप रहे। इसी बीच भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू आ गईं। उन्होंने पूछा—क्या बात है? हमने कहा कि हम गुरुदेव से कविता सुनना चाहते हैं, ये सुना नहीं रहे हैं। इस पर तुनककर सरोजिनी नायडू ने कहा—वाट डू यू थिंक आई—आई एम नाइटएंगल आफ इंडिया। आई विल ऑस्क एंड ही विल रिसाइट। इसके बाद गुरुदेव ने अपनी तीन कविताएँ मुस्कुराकर सुना दीं।

1946 से मुझे कॉफी-हाउस का चस्का लगा। सबसे पहले कनॉट प्लेस के ही एक रेस्तराँ मिल्क बार में बैठा करता था। इसके बाद सन्नी कॉफी-हाउस, जनपथ के कॉफी-हाउस में बैठना शुरू किया। यहाँ बड़े-बड़े नेता आया करते थे। दिल्ली-पंजाब के पूरे साहित्यकार इस कॉफी-हाउस में आया करते थे। इसके बाद टी-हाउस में बैठना शुरू किया। टी-हाउस में बहस भी हुआ करती थी, झगड़े भी होते थे। एक बार किसी ने आत्महत्या भी कर ली। लेकिन एक बात थी उस जमाने में, यदि किसी टेबल पर मैं बैठा हूँ तो उसका बिल मैं ही दिया करता था। जहाँ मैं बैठता था उसे विष्णु प्रभाकर की टेबल कहा जाता था। औरों के साथ भी यही बात थी–लेकिन आज हम सब अपना-अपना बिल अदा करते हैं। समझ सकते हैं, यह व्यक्तिवादी प्रव त्ति का द्योतक है।

प्रभाकरजी का नॉस्टेलजिया तब टूटता है जब उनके लेखक-साथी आना शुरू कर देते हैं।

प्रस्तुत है उनके साथ एक आत्मीय बातचीत के जरूरी अंश–

जोशी : *जीवन के अस्सी बसंत देख चुके हैं, आप। इन्हें किन-किन रूपों में देखा? आज आप जीवन के जिस पड़ाव पर खड़े हैं, क्या कोई रिगरेट है आपको?*

विष्णु प्रभाकर : यदि आपका आशय इससे है कि मैं साहित्यिक जगत में सफल रहा या असफल, तो इसका उत्तर मैं नहीं दे सकता; समीक्षक ही इसका उत्तर देंगे। इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मैं असंतुष्ट नहीं हूँ। जो कुछ कर पाया, उससे और अधिक करने की इच्छा है। पर मैं यह नहीं जानता कि अस्सी वर्ष पूरे करने के बाद कितना जीवन और शेष है? कितना और कर पाऊँगा या नहीं? अगर जीवन शेष है तो मैं निश्चित ही निरंतर लिखता रहूँगा। लिखने की कुछ योजनाएँ भी हैं। साहित्य की बात मैंने इसलिए की थी कि इसमें इतनी विचारधाराएँ हैं, दल हैं, लेकिन मैं किसी एक से जुड़ा नहीं रहा। कुछ दिन के लिए प्रगतिशील आंदोलन के साथ जरूर जुड़ा था; वैसे अब तक जुड़ा हुआ हूँ। लेकिन उतने जोर-शोर के साथ सक्रिय नहीं हूँ। मैं आज भी प्रगतिशील विचारधारा को मानता हूँ, पर अपनी विचारधारा भी साथ लेकर चलता हूँ।

जीवन के आठ दशक जीने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अंतिम कुछ भी नहीं है। हमारे सामने मार्ग है। इस खोज के मार्ग पर निरंतर चलते चले जाना है। मनुष्य ने प्रगति भी की है, मैं यह भी मानता हूँ। लेकिन मेरी यह

मान्यता भी है कि मनुष्य की मूलभूत प्रव त्तियों में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। सारी प्रगति के बावजूद ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम, प्यार जैसी प्रव त्तियों में कोई बदलाव नहीं आया है। हम एक साथ बैठकर भी एक नहीं रह पाते हैं। समान विचारधारा के लोग जुलूस निकालते हैं, प्रदर्शन करते हैं, तो भी वे मन से एक नहीं हो पाते हैं। मैं व्यक्ति की बात कर रहा हूँ।

जोशी : *संभव है आप सही हों। परंतु, मानव-इतिहास का अनुभव यह भी है कि जब व्यक्ति की प्रव त्तियों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर सामूहिकता या सामाजिकता में रूपान्तरित किया जाता है तब निश्चित ही परिवर्तन आते हैं; पुरानी व्यवस्थाएँ ढहती हैं, नई व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आती हैं। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य की यात्रा पर ही विराम लग जाए।*

विष्णु प्रभाकर : मैंने आपसे पहले ही कहा है कि हम निरंतर आगे बढ़ते हैं। लेकिन मेरा कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य की बेसिक इंस्टिंक्ट में कोई अंतर नहीं आया है। यदि कोई अंतर आया है तो सिर्फ यह कि पहले भेड़िए के पंजे हमारे सामने होते थे, आज वे अंतर में छिप गए हैं। ये विचारधाराओं में दिखाई देते हैं। अब मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ। नारी को मनुष्य दबाकर रखता है। कहने के लिए हिन्दू धर्म में नारी को शक्ति माना जाता है, लेकिन पति के रूप में पुरुष नारी पर किस-किस तरह के अत्याचार करता है! आज क्या अखबार नारियों को जलाने की खबरों से भरे नहीं रहते? यही विरोधाभासपूर्ण स्थिति अछूत के प्रति है। संविधान में एक पंक्ति लिखकर अस्प श्यता समाप्त कर दी गई। पर वास्तविकता इसके विपरीत है। आज अछूतों की स्थिति क्या है? इस वर्ग के बहुत कम लोग ही ऊपर उठ सके हैं।

जोशी : *जब आप किशोर थे, तब से आज तक कोई अंतर नहीं आया ?*

विष्णु प्रभाकर : इस संबंध में मैं आपको एक उदाहरण देना चाहूँगा। मैंने मिस्र की पाँच हजार वर्ष पुरानी एक पुस्तक देखी है। उस पुस्तक में भी यही भाषा है कि कैसा समय आ गया है; कोई किसी को समझता नहीं है; सारे मूल्य बिखर गए हैं; हम कहाँ से कहाँ पहुँच गए हैं? आज जो हम बीसवीं सदी में सोच रहे हैं, वही बात पाँच हजार साल पहले कही जा रही थी। लेकिन मैं ऐसा नहीं कहता कि कोई अंतर ही नहीं आया। फिर भी यह सही है कि नारी के प्रति पुरुष के व्यवहार में कोई अंतर नहीं आया है। आज नारी प्रधानमंत्री बनती है, दफ्तरों में बैठती है, उसने ढेर सारी प्रगति की है; पर स्त्री-पुरुष के संबंधों में बुनियादी अंतर नहीं आया है। नारी कितनी भी आधुनिक हो जाए, वह आज भी पुरुष के प्रति आकर्षित होती है, वह माँ बनना चाहती है। मेरे उपन्यास *अर्धनारीश्वर* की यही थीम है। पुरुष या स्त्री अपनी स्वतंत्र पहचान बनाए रखना चाहते हों

भले ही, पर वे अलग होते हुए भी एक हैं, एक-दूसरे में समाहित हैं। लेकिन कभी-कभी अहम टकराते हैं। विशेष रूप से उच्च वर्ग में इस अहम को हम सबलीमेट नहीं कर पाए हैं।

जोशी : *संक्षेप में, मनुष्य की अपनी निम्न प्रव त्तियों का सबलीमेशन नहीं हो पाया है?*

विष्णु प्रभाकर : जी हाँ, वैसे कोशिश की जा रही है।

जोशी : *लेकिन पूर्णता की प्राप्ति में मनुष्य की यह निरंतर प्रक्रिया नहीं है?*

विष्णु प्रभाकर : इसीलिए मैं किसी अंतिम नतीजे पर नहीं पहुँचना चाहता। मेरा रास्ता खुला है। मेरे उपन्यास की नायिका भी यही कहती है कि मैं निरंतर आगे बढ़ रही हूँ; मैं पराजय स्वीकार नहीं कर रही हूँ। महापुरुषों के जीवन से भी यही प्रतिध्वनित भी होता है। मार्क्स, महात्मा गाँधी, डॉ. अम्बेडकर जैसे महापुरुषों का राजनीतिक जीवन छोड़ दीजिए, मैं इनके व्यक्तिगत जीवन से बहुत प्रभावित हूँ। इनकी यात्रा मनुष्य की पूर्णता की यात्रा है। महर्षि दयानंद की कम आलोचना नहीं की जाती। मार्क्सवादी मित्र तो उनके कटु आलोचक हैं। पर इस यात्रा में उनका कितना योगदान है! पिछली सदी महापुरुषों से भरी पड़ी है और इस सदी में एक भी महापुरुष नहीं है।

जोशी : *यह आप कैसे कह सकते हैं? इस सदी के नायकों में लेनिन, माओ, गाँधी, होची मिन्ह जैसे इतिहास-पुरुषों को शामिल किया जा सकता है?*

विष्णु प्रभाकर : ये सब पिछली सदी के हैं।

जोशी : *आप यह कह सकते हैं कि इनका कर्म-काल पिछली सदी से आरंभ होता है और वर्तमान सदी को स्पर्श करता है ...*

विष्णु प्रभाकर : मैं यह मानता हूँ कि राजनीतिक लड़ाई से पहले सामाजिक संघर्ष की लड़ाई शुरू की जानी चाहिए। इस द ष्टि से राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती जैसे महापुरुषों ने सामाजिक क्रांति में अपना योगदान दिया। दयानंद ने जहाँ वेद की बात कही है, वहीं उन्होंने इस पर भी जोर दिया है कि सोलह वर्ष की आयु में विवाह किया जाना चाहिए। नारी और शूद्रों की शिक्षा के वे समर्थक थे। वे वर्ण व्यवस्था को कार्य विभाजन की द ष्टि से देखते थे। लेकिन बाद में कार्य विभाजन की अवधारणा का डीजेनरेशन हुआ। भारत में 1857 की पहली आजादी की लड़ाई की पराजय के बाद एक हताशा का वातावरण फैला हुआ था। अतः सामाजिक आत्म-मंथन की प्रक्रिया शुरू हुई। फलस्वरूप सामाजिक सुधारक क्षितिज पर उभरे। जातिवाद के विरुद्ध लड़ाई, सामाजिक सुधार का ही

एक हिस्सा थी। रानाडे, महात्मा फुले जैसे सुधारकों ने दोषपूर्ण सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन लाने की कोशिश की। देश के किसी भी कोने के ये सुधारक रहे हों, लेकिन उद्देश्य के मामले में संगठित एक आत्मा थे। उदाहरण के लिए, जब दयानंद बंगाल पहुँचे, तो उन्हें वहाँ के सुधारकों का सक्रिय सहयोग मिला। केशवचंद्र, विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ ठाकुर जैसे सुधारकों ने दयानंद को स्वीकार किया। जबकि गुजरातवासी दयानंद को अँगरेजी का एक शब्द भी नहीं आता था, तब इन नेताओं के बीच साभाजिक मुद्दे को लेकर वैचारिक समानता थी। ये लोग नारी-मुक्ति के पक्षधर थे। आज हम जिस युग में जी रहे हैं, उस अंधे युग की कल्पना ही नहीं कर सकते।

जब सामाजिक लड़ाई और राजनीतिक लड़ाई की बात होती है तो हिंसा और अहिंसा का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हमने दोनों के संबंध में गलत सोच से काम लिया। हमने यह मान लिया कि अहिंसा का मतलब हथियार डालना या आत्मसमर्पण करना है। इसी तरह से हथियार चलाना या बम डालना हिंसा है। सचाई यह है कि हिंसा मन से होती है। अहिंसा के साथ भी यही बात है। क्या हम परिवार में हिंसा से रहते हैं? इसी तरह से गाँधीजी ने आवश्यकता पड़ने पर हथियार उठाने से भी इंकार नहीं किया है। मेरे पास एक चेक विद्वान का पत्र सुरक्षित है। यह पत्र तब लिखा गया था जब रूस ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया था। चेक विद्वान ने अपने पत्र में मुझे स्मरण कराया था कि जब हिटलर ने उसके देश पर आक्रमण किया था, गाँधीजी चेकोस्लोवाकिया के साथ खड़े थे। लेकिन आज जब रूस हमारे देश पर आक्रमण कर रहा है, तब इंदिरा गाँधी हमारे साथ नहीं हैं। यह चेक विद्वान की वेदना थी।

मैं गाँधीवादी हूँ लेकिन मेरे सारे संबंध मार्क्सवादियों से हैं। मैं उनके कार्यक्रमों में भाग लेता हूँ, अपनी बात उनके सामने रखता हूँ। एक दफे एक रूसी विद्वान ने मुझसे कहा कि हम आपको इसलिए साथ रखते हैं, क्योंकि आप कम्युनिस्ट नहीं हैं। इसकी वजह यह थी कि उनके और मेरे बीच एक आधारभूत पुल है और वह यह है कि मैं सामंतवाद, साम्राज्यवाद और सांप्रदायिकता के खिलाफ हूँ। धर्मनिरपेक्षता का पक्षधर हूँ। इसी प्रकार मैं किसानों और श्रमिकों के हक का समर्थक हूँ। अलबत्ता, हम वहाँ नहीं मिलेंगे जहाँ से घ णा एवं हिंसा की बात शुरू होती है। वैसे मैं पंजाब में भगतसिंह और उनकी नौजवान सभा से जुड़ा रहा हूँ। सरकारी नौकरी करते हुए सक्रिय रहा हूँ। मेरे घर की तलाशी ली गई है।

जोशी : *हम इस सदी की अंतिम दहलीज पर खड़े हैं। आपने अभी समग्र द ष्टि की बात कही। क्या आप समझते हैं कि इन वर्षों में इस द ष्टि में बिखराव आया है?*

विष्णु प्रभाकर : निश्चित ही इसमें बिखराव आया है। लेकिन, मैं इसे स्वाभाविक मानता हूँ। देखिए, प्रगति की रेखा कभी सीधी नहीं रही। यह बिजली की तरह चलती है। हम पीछे नहीं हटे हैं। लेकिन, बीच-बीच में ऐसे बिखराव आते हैं कि हम दिग्भ्रमित हो जाते हैं। आज देखिए, तमाम राजनीतिक पार्टियाँ बिखरी हुई हैं। जनता दल से काफी उम्मीदें थीं। आज क्या हाल है उसका? टुकड़े-टुकड़े हो चुकी है। यह प्रगति का नहीं, घोर अगति का लक्षण है। यह सब कुछ व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के आधार पर हुआ है, न कि सामूहिक महत्वाकांक्षा इस स्थिति के लिए जिम्मेदार है।

जोशी : *स्वतंत्रता पूर्व की महत्वाकांक्षा और बाद की महत्वाकांक्षा में गुणात्मक अंतर है। आज देश की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया में प्रत्येक वर्ग अपना प्रतिनिधित्व चाहता है। महत्वाकांक्षा का यह नया आयाम है। क्या आप ऐसा नहीं मानते?*

विष्णु प्रभाकर : आपने यह सही कहा है। इसीलिए बिखराव आना स्वाभाविक है। लेकिन यह इतना व्यक्तिवादी हो गया है कि इससे किसी का हित होनेवाला नहीं है। यह घोर संकीर्णतावादी और जातिवादी हो गया है। इसकी प्रतिच्छाया बिहार में ही नहीं, सब जगह दिखाई दे रही है। भरतपुर की कुम्हेर त्रासदी इस प्रक्रिया की एक छाया मात्र है।

जोशी : *क्या ऐसी त्रासदियों से बचा नहीं जा सकता था? क्या इसके लिए जवाहरलाल नेहरू जैसे राजनेता जिम्मेदार नहीं हैं, जिन्होंने देश के आधुनिकीकरण एवं औद्योगिकीकरण की कोशिश तो की, लेकिन सामाजिक रिश्तों में बुनियादी परिवर्तन को अछूता रहने दिया?*

विष्णु प्रभाकर : ऐसी त्रासदियों से निश्चित ही बचा जा सकता था। आजादी के बाद हमारे महापुरुषों ने सत्ता हथियाने की कोशिश तो की, लेकिन समाज सुधार की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया। मुझे जवाहरलाल से सबसे बड़ी शिकायत यही है कि वे समाज सुधार के क्षेत्र में काफी कुछ कर सकते थे, देश की जनता के वे नायक थे, लेकिन उन्होंने भारत की जनता के प्यार का नाजायज लाभ उठाया। मेरे लिए तो नेहरू के बाद इंदिरा और फिर राजीव– यह सिलसिला ही पतन का लक्षण है।

जोशी : *अच्छा, साहित्य पर इन तमाम प्रव त्तियों का क्या असर पड़ रहा है?*

विष्णु प्रभाकर : देखिए, साहित्य तुरंत किसी चीज पर रिएक्ट नहीं किया करता। किसी भी चीज को साहित्य समग्रता में समझता है। उदाहरण के लिए, मन के तीन रूप होते हैं। जब कोई सांप्रदायिक दंगा होता है तो एक सामान्य व्यक्ति यही कहता

है कि हिन्दू-मुसलमान लड़ पड़े। मन का यह एक स्थूल रूप है। दूसरा रूप होता है सूक्ष्म। पत्रकारों में यह अधिक होता है। वे सांप्रदायिक दंगों का विश्लेषण करते हैं, उनकी गहराई में जाने की कोशिश करते हैं। लेकिन एक तीसरा मन और है, यह है सघन मन। साहित्यकार जब दंगे के बारे में सोचता है तो हिन्दू-मुसलमान की द ष्टि से नहीं; वह कहता है कि आदमी, आदमी से क्यों लड़ रहा है? आप खुद ही देख सकते हैं कि आज हिन्दू-मुसलमान ही नहीं लड़ रहे हैं; हिन्दू हिन्दू से लड़ रहा है; पाकिस्तान, अफगानिस्तान और अरब देशों में मुसलमान मुसलमान से लड़ रहा है। तो अब इस ओर क्यों नहीं ध्यान देते कि मनुष्य की मूल प्रव त्ति लड़ने की क्यों है? इन सब लड़ाइयों के पीछे आर्थिक व सामाजिक कारण हैं। एक वर्ग दूसरे वर्ग को दबाता है। अछूत समस्या भी यही है। मैं कह सकता हूँ कि सवर्ण वर्ग डॉ. अम्बेडकर को कभी भी अपना नेता नहीं मानेगा, भले ही वह भारतीय संविधान का मनु रहे। जो दर्जा गाँधी, जवाहर को मिला हुआ है, वह अम्बेडकर को सवर्ण नहीं देंगे। यह सवर्णों के अंतरमन की बात है। इसकी एक वजह यह भी है कि दलित वर्गों के नेताओं ने भी सवर्णों की नकल करने की कोशिश की; अपनी एक स्वतंत्र पहचान गढने की चेष्टा नहीं की। बौद्ध धर्म स्वीकार करने से समस्या का हल नहीं हो जाता।

सवर्ण भी कम पाखंडी नहीं हैं। राम-जन्मभूमि के बारे में. यह पाखंड बार-बार उजागर हो रहा है। कौन-से राम की बात करते हैं? राम क्या अयोध्या में पैदा हुआ था? सिर्फ तुलसी रामायण की बात क्यों की जाती है? राम के बारे में बाल्मीकि क्या कहते हैं? दक्षिण-पूर्व एशिया की रामायण क्या कहती है? जैन रामायण क्या कह रही है? बौद्ध रामायण, कन्नड़ रामायण क्या कह रही हैं? थाइलैंडवासी कहते हैं कि असली रामकथा तो उनके यहाँ है; भारतवासियों ने तो उसकी नकल की है। राम ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं। पौराणिक पुरुष हैं। तब इतना विवाद क्यों? अतः आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक-धार्मिक विसंगतियों को छोड़ा जाए।

जोशी : *क्या आप कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य ने विशेष रूप से आजादी के बाद के समाज के दलित, मैले-कुचले वर्ग के बहुआयामी उत्पीड़न और उनके आंतरिक व बाह्य संघर्ष को वांछित ढंग से प्रतिबिम्बित किया है?*

विष्णु प्रभाकर : नहीं किया। इसकी एक वजह यह है कि अधिकांश लेखक सवर्ण वर्ग के हैं। यद्यपि इन लेखकों की सहानुभूति दलित वर्गों के साथ है, लेकिन वे अनुभवजन्य यथार्थ से लैस नहीं हैं। सवर्ण लेखक दलितों की पीड़ाओं से अपरिचित हैं। वैसे, सीमित स्तर पर दलितों की बात कहने के प्रयास जरूर हुए हैं। मेरी हर रचना में दलित पात्र हैं।

मेरा यह मानना भी है कि दलित वर्गों के संबंध में दलित ही लिख सकते हैं।

महाराष्ट्र के दलित लेखक दया पँवार, नामदेव धसाल आदि इसकी मिसाल हैं, लेकिन हिन्दी क्षेत्र इससे रीता रहा है। वैसे तो पूरे भारत में सामंती प्रव त्तियाँ हैं। पर उत्तर भारत में ये प्रव त्तियाँ अधिक उग्र हैं। इसीलिए यहाँ शिक्षा का विस्तार कम रहा। जाहिर है, दलित अशिक्षा की चपेट में अधिक रहे हैं। वैसे अब दलितों को कोई नया नाम दिया जाना चाहिए। यह काफी कुछ घिस-पिट गया है।

जाति के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में भी बराबरी की आवश्यकता है। इसके लिए सबसे पहले धर्म और राजनीति के घालमेल को दूर करने की जरूरत है। दूसरी बात यह कि एकसमान आचार संहिता होनी चाहिए। सभी समुदायों के निजी कानून--विधान हैं। एक तरफ हिन्दू कोड बिल है, तो दूसरी तरफ शरीयत। सच पूछा जाए तो शाहबानू केस ने मुसलमानों को कई सौ साल पीछे फेंक दिया है, स्त्री-पुरुष में गैर-बराबरी की खाई को और चौड़ा कर दिया है। मैं तो यह मानता हूँ कि पुरुष चार शादियाँ कर सकता है तो औरत भी कर सकती है। इस बराबरी के आधार पर ही सामाजिक विसंगतियों को दूर किया जा सकता है। अतः समुदायों के निजी कानूनों के रहते हुए देश सही मायनों में सैक्यूलर हो ही नहीं सकता। सरकारी समारोहों में धार्मिक अनुष्ठान कराए जाते हैं। किसी भी धर्मनिरपेक्ष सरकार को नारियल फोड़ना, पूजा-अर्चना करना शोभा नहीं देता। इन सब विसंगतियों को समाप्त करना ही क्रांति है। इसके विरुद्ध लड़ाई की आवश्यकता है।

जोशी : *अभी आपने क्रांति की बात कही। इसी सदी में कम्युनिस्ट क्रांति हो चुकी है, जिसमें एक नया इंसान गढ़ने की पहल की गई। लेकिन, पूर्वी यूरोप के ताजा अनुभवों से यह यात्रा कुछ आधी-अधूरी दिखाई दे रही है। एक रचनाकार के नाते, इन घटनाओं से आपके दिलो-दिमाग पर क्या बीती?*

विष्णु प्रभाकर : कम्युनिस्ट क्रांति निश्चित ही उपयोगी रही है। इससे काफी हद तक मनुष्य जाति का कल्याण हुआ है, समाज की तलछट की गरिमा स्थापित हुई है। मैं यह नहीं मानता कि सोवियत संघ के पतन से कम्युनिस्ट दर्शन मर चुका है। जब तक धरा पर मजदूर, किसान, निर्धन, उत्पीड़ित रहेंगे, यह दर्शन जीवित रहेगा। लेकिन, इसमें कुछ खामियाँ रही हैं। इसने मनुष्य की निजता या स्वः को समाप्त कर दिया था, इसलिए इसके विरुद्ध आवाज उठी। मैं कई बार रूस तथा पूर्वी यूरोपीय देशों की यात्रा कर चुका हूँ। मैंने परिवर्तनों को धीरे-धीरे आते हुए देखा है। मनुष्य के 'मेरा' को सुरक्षित रखना होगा। साम्यवाद के दर्शन में इस संशोधन की आवश्यकता है।

जोशी : *आपका कर्म-काल काफी विस्त त है। आपने पीढ़ियों को उदित और विलुप्त होते देखा है; अपने समकालीनों के साथ संबंधों में बदलाव आता भी देखा है।*

इन बदलावों को आप किस रूप में रेखांकित करना चाहेंगे?

विष्णु प्रभाकर : मैं अपने समकालीनों को दो काल-खण्डों में विभाजित करता हूँ। एक स्वतंत्रता-पूर्व के समकालीन थे, और दूसरे आजादी के बाद के। 1947 से पहले के दौर में मेरे समकालीनों में एक मिशन था; त्याग, बलिदान, स्वतंत्रता-प्राप्ति और सामूहिकता उनके जीवन-मंत्र थे। लेकिन 1947 के बाद, एक उल्टी धारा बह निकली। हिन्दी साहित्य में 1947 से 57 तक का काल गत्यवरोध का काल है। अँगरेजों के विरुद्ध संघर्ष के दौरान एक स्वर्ग की कल्पना की गई थी। लेकिन, आजादी के बाद वह नहीं मिला। सारे जीवन-मूल्य बिखर गए। साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ा। समकालीनों के साथ संबंध प्रभावित हुए। हमने पुराने मूल्यों से मुक्ति तो ले ली, लेकिन नयों को जन्म नहीं दे सके; संबंधों में एक शून्यता, भटकाव पैदा हो गया। कोई ऐसा समकालीन साहित्यकार नहीं रहा, जिसमें समाज की प्रेरक शक्ति बनने की क्षमता हो। एक अजीब विडम्बना है। राजनीति से मोहभंग भी हुआ, और साहित्यकार इसके पीछे दौड़ते भी रहे। मैथिलीशरण गुप्त राज्यसभा के सदस्य बन गए। गुप्तजी में राजनीतिज्ञों को प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जरूर अपवाद रहे, उन्होंने साहित्य और राजनीति दोनों को समान रूप से प्रभावित किया। मैं किसी की निन्दा नहीं करता। लेकिन, साहित्यकार का सबसे बड़ा दुश्मन साहित्यकार है। आज तक हम लेखकों की कोई सहकारी समिति नहीं बना सके। राजकुमार सैनी, असगर वजाहत आदि ने बहुत कोशिश की। व्यक्तिवाद बहुत हावी हो चुका है। पहले भी था। हम हिन्दी लेखक परस्पर निन्दा में उलझे रहते हैं। दिनकर, गुप्तजी की निन्दा किया करते थे। मैथिलीशरणजी, जयशंकर प्रसादजी को पसंद नहीं करते थे। पंत और निराला में हमेशा खटकी। महादेवीजी लेखकों की सोसायटी बनाना चाहती थीं, नैनीताल में लेखकों के लिए कॉटेज बनाना चाहती थीं। लेकिन उनके प्रयास धरे के धरे रह गए। सच्चाई यह है कि एक लेखक दूसरे लेखक को सहन ही नहीं कर सकता। इतना जरूर है कि नए लेखकों में पुरानों से ज्यादा संकीर्णता, गुटबाजी और अहम् है। कॉफी-हाउस में अक्सर इसका अनुभव होता रहता है।

देखिए, मैं कोई बहुत बड़ा राइटर नहीं हूँ। मैं अपनी हैसियत जानता हूँ। लेकिन क्या आप किसी लेखक का यह कहना पसंद करेंगे कि जिस संकलन में विष्णु प्रभाकर का लेख है, उसमें वह अपना योगदान नहीं देगा? एक महान कवि ने अपनी रचना देने से इसलिए इंकार कर दिया क्योंकि मेरी रचना भी उस पुस्तक में छप रही थी। साहित्यकारों का आरोप है कि मेरे साहित्य में द्वंद्व नहीं है, सब कुछ सीधा-सपाट है; इसलिए मैं बड़ा साहित्यकार नहीं हो सकता। यानी विष्णु

प्रभाकर को महान नहीं कहा जा सकता। अब इसके लिए मैं क्या करूँ? यह चीज मुझे बहुत दु:ख देती है।

जोशी : *जीवन के इस पहर को किस ढंग से जीना चाहेंगे?*

विष्णु प्रभाकर : निरंतर लिखते हुए। मैंने कुछ लेखन की योजना बनाई है। नारी-प्रधान थीमें हैं। कुन्ती को नायिका बनाकर लिखने की सोच रहा हूँ। गोवा की एक सच्ची घटना पर आधारित एक लघु उपन्यास लिखने की योजना भी है। *अर्धनारीश्वर* प्रेस में है। स्व. पत्नी की स्म ति में भी कुछ लिखना चाहता हूँ। संस्कृत के नाटक *म च्छकटिकम्* को आधार बनाकर एक नाटक लिखना चाहता हूँ। लेकिन कैनवास बहुत बड़ा है। काफी समय चाहिए। जीवित रहा तो निश्चित ही लिखूँगा।

जोशी : *पिछले कुछ महीनों से राजेन्द्र यादव की लीडरशिप में हंस ने हिन्दू-उर्दू लेखकों के आत्म-तर्पण का अभियान चलाया हुआ है। उम्र के इस मोड़ पर आप इसमें किस तरह से शामिल होना चाहेंगे?*

विष्णु प्रभाकर : देखिए, मैं आत्म-तर्पण जैसी चीज पहले लिख चुका हूँ। *सारिका* में एक स्तम्भ शुरू हुआ था, तब मैंने लिखा था– 'प्रभाकर अपनी नजर में'। तब मैंने लिखा था कि कॉफी-हाउस में बैठे लोग प्रभाकर की चर्चा कर रहे हैं। एक भला आदमी था, मर गया। अच्छा हुआ मर गया, भले आदमी का साहित्य में क्या काम? साहित्य में तो द्वंद्व वाले जीवित रहने चाहिए। इस तरह की बातें लिखीं। आत्म-तर्पण लिखने के लिए मुझसे कहा गया था। मैं सोचता रहा कि क्या लिखूँ? आत्म-तर्पण एक तरह की आत्मश्लाघा ही है। आत्मनिन्दा का दूसरा अर्थ आत्मश्लाघा है। तो मैं सोच रहा हूँ कि कैसे लिखूँ इसको? कोई आदमी अपने बारे में सच नहीं बोलता। यहाँ तक कि दूसरों के संस्मरण भी हम ईमानदारी से नहीं लिख सकते। यदि लिखते हैं तो मित्र नाराज हो जाते हैं। मेरा यह अनुभव है।

जोशी : *तब इसका यह अर्थ लिया जाए कि आत्म-तर्पण एक तरह का आत्म-पाखण्ड है?*

विष्णु प्रभाकर : आपने सही शब्द का प्रयोग किया है, आत्म-तर्पण का दूसरा नाम है आत्म-पाखंड।

28 जून, 1992

देखी जमाने की यारी

संसद का गलियारा। एक आकृति अपने में डूबी, अपने में सिमटी, चली जा रही है। गलियारों की दीवारों में शोभायमान तैलचित्र उसका ध्यान भंग नहीं करते। वह अध्यक्ष, प्रधानमंत्री के कक्षों के सामने से गुजरती है। पुस्तकालय के गलियारे में मुड़ती है। इधर-उधर नजर उठाती है। फिर केंद्रीय कक्ष (सेंट्रल हॉल) की ओर मुड़ती है। किसी एक कोने में सिमटकर बैठ जाती है। नए-पुराने नेता आते-जाते रहते हैं। कोई उसकी उपस्थिति का नोटिस लेता है, कोई बेखबर गुजर जाता है। कभी उसके चेहरे पर उत्साह चमकता है, कभी वह बुझेपन में समा जाता है। यह आकृति कोई और नहीं, श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा हैं।

एक झटके से फ्लैशबैक दौड़ता है। कोई 1962-63 का किस्सा होगा। तब तारकेश्वरीजी अशोक रोड़ के आसपास रहती थीं। एक शाम उनके निवास पर काव्य-संध्या का आयोजन किया गया। महादेवी वर्मा सहित हिन्दी के शिखर-कवि काव्य-संध्या में उपस्थित थे। प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू भी पहुँचे हुए थे। तारकेश्वरीजी अस्वस्थ थीं। शायद उन्हें किसी दुर्घटना में चोट लग गई थी, इसलिए वे पलंग से उतर नहीं सकीं। पंडितजी ने पहले उन्हें देखा, इसके बाद वे कवियों के बीच पहुँच गए। कवियों ने उनसे बहुत आग्रह किया कि वे कुछ बोलें। पंडितजी ने सिर्फ एक वाक्य बोला—तारकेश्वरीजी को देखने आया था। आप लोगों से भी मुलाकात हो गई। आज मेरी छोटी बहन (महादेवीजी) का दिन है। वे जोरों पर हैं। इसलिए क्या बोलूँ! बस इतना कहकर चुप हो गए। तारकेश्वरीजी उस समय नेहरू सरकार की एक सदस्या थीं। क्या वक्त था उनका! चारों तरफ उनके चर्चे ही चर्चे थे। नेहरू मंत्रिमंडल का उन्हें आकर्षण-बिन्दु माना जाता था। मानो बिहार का सम्पूर्ण नूर नेहरू सरकार

पर उतर आया हो।

तारकेश्वरीजी के क्या जलवे थे! प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी से भिड़ पड़ीं तो भिड़ पड़ीं। कांग्रेस-विभाजन के समय उन्होंने बंगरप्पा का साथ दिया, सत्तापक्ष को दुत्कार दिया। हर जगह वे छाई रहीं। शेरो-शायरी में लिपटी उनकी भाषण शैली, उनकी तीखी-तर्रार, लेकिन मादक आवाज सुनने के लिए संसद के अन्दर व बाहर लोग उमड़ पड़ते थे। पर आह! आज... फ्लैश बैक टूटता है.... सत्ता के इस विशाल गोलाकार केंद्रीय कक्ष में तारकेश्वरीजी एक खोई हुई आकृति, एक अपरिचिता-सी दिखाई दे रही हैं। केंद्रीय कक्ष की बैंचों में धँसे नई फसल के सांसद क्या जानें, यह भव्य गुम्बद, ये मदांध गलियारे कभी इस अपरिचिता से बावस्ता रह चुके हैं। यह कहानी अकेली तारकेश्वरीजी की ही नहीं है, इस केंद्रीय कक्ष में यह कहानी अनेकों की है। इसने कइयों को बुलंदी पर छलाँग लगाते देखा है और पलक झपकते लुढ़कते भी देखा है। बैंचों पर कई ऐसे चेहरे मिल जाएँगे जो अकेले, गुमसुम और यादों में डूबे दिखाई देंगे। कल उनके इर्द-गिर्द पूरा संसार झिलमिलाता था। संसद के दरवाजे पर सैल्यूट बजाया जाता था। सूर्योदय व सूर्यास्त को इंच-टेप से नापने में माहिर इंचटेपी पत्रकार उन्हें घेरे रहते थे : "सर! आज आपका क्या रिएक्शन है, आपने बहुत दिनों से कुछ बोला नहीं, आज कोई कॉपी मिलनी चाहिए आपसे, सदन में कैसी खिंचाई की थी आपने, बस! मजा आ गया, आपने बहुत दिनों से कोई प्रेस कांफ्रेंस नहीं की, आज हो जाए, इस बहाने कुछ गपशप हो जाएगी..." और न जाने ऐसे कितने सवाल उनके कानों को गुदगुदाते रहते थे। आज किसी एक कोने में दुबके ऐसे चेहरे अकेले चुपके-चुपके चाय की चुस्कियों और यादों की हिचकियों के साथ इस इंतजार में दिन गुजार देते हैं— कि कोई पास आकर उनकी प्रतिक्रिया पूछे, सर! उदारीकरण के संबंध में आपका क्या कहना है? देश में बढ़ती सांप्रदायिकता व जातिवाद के संबंध में आपकी क्या प्रतिक्रिया है? क्या भारत की वर्तमान विदेश नीति आत्मघाती नहीं है? क्या भारत-पाक जंग संभव है? आज देश में किसकी हुकूमत चल रही है—शेषन की या राव की? पर कोई सवाल उन तक नहीं पहुँचता। ऐसे चेहरे खरामा-खरामा सेन्ट्रल हॉल और गलियारों से गुजरते हुए संसद से बाहर निकल जाते हैं। संसद के बाहर जब वाहनों के धुएँ में ये चेहरे खोने लगते हैं तब एक गीत कानों पर दस्तक देने लगता है—

देखी जमाने की यारी, बिछड़े सभी बारी-बारी।

राजनीति की दुनिया भी, फिल्मी दुनिया से कम नहीं है। फिल्मी सितारों की तरह राजनीति के भी सितारे होते हैं। एक परदे पर चमकता है, दूसरा जनता के बीच। दोनों की जिन्दगी तकरीबन समान है। कल जो 'हीरो' होता है, आज

वह जीरो हो जाता है। कल जो नेता या नायक कहलाता था, आज उसे चरित्र अभिनेता या सहायक नेता का भी रोल नहीं मिलता। कभी तो ऐसा भी होता है कि एक ही रात में वह नायक से खलनायक बनकर रह जाता है। जनता उसे रद्दी की टोकरी के हवाले कर देती है। फिल्म की तरह जब बॉक्स ऑफिस पर राजनीति हिट नहीं होती है तो नेता प ष्ठभूमि में गुम हो जाता है। वह इस उम्मीद में जीने लगता है कि एक बार फिर उसकी राजनीतिक फिल्म जुबली, सिल्वर जुबली, गोल्डन जुबली मनाएगी; वह मुख्यमंत्री, कैबिनेट मंत्री और प्रधानमंत्री बनेगा। वैसे फिल्मी कलाकारों की तुलना में राजनीतिक प्राणियों की जिजीविषा बला की होती है। राख की ढेरी में दबा नेता कब शिखर पर दिखाई दे, यह ईश्वर ही जानता है। इस सिलसिले में एक घटना याद आ रही है। 1992 के मध्य का किस्सा होगा। माखनलाल फोतेदार तब राव मंत्रिमंडल में स्वास्थ्य मंत्री हुआ करते थे। अपने दफ्तर में एक दोपहर मुलाकात में इस लेखक से कहने लगे–"जोशी ! भाग्य बड़ी चीज है। किसी ने सच ही कहा है कि देवता भी इसे नहीं पढ़ सकते।" "फोतेदारजी, कुछ खुलासा कहिए। कुछ समझ में नहीं आ रहा है।" मैंने पूछा। तब वे धीरे-धीरे खुलने लगे। उन्होंने कहा कि मैं भारत की ताजा राजनीति में तीन नेताओं को भाग्यशाली मानता हूँ। ये तीन व्यक्ति हैं–वी.पी.सिंह, चन्द्रशेखर और नरसिंहराव। किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि इनमें से कोई प्रधानमंत्री बन जाएगा। राजनीति के इतिहास में चन्द्रशेखर तो बिल्कुल चमत्कार हैं, केवल 50-55 सांसदों के बल पर प्रधानमंत्री बन बैठे। राव साहब को राज्यसभा का टिकट नहीं मिला था। वे अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर हैदराबाद लौटने की तैयारी कर रहे थे। भाग्य देखिए, देश के मालिक बन बैठे। तीनों ही लगभग नेपथ्य में चले गए थे। लेकिन रातों-रात मंच के नायक बन बैठे। इसे कहते हैं भाग्य। मैं तो इसके बाद से भाग्य में विश्वास करने लगा हूँ।" यह कहकर उन्होंने बड़ी महीन मुस्कान चमका दी।

मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री श्यामाचरण शुक्ल पर भी भाग्य की कृपा-वर्षा खूब हो चुकी है। दस वर्ष तक वे प्रदेश की राजनीति में हाशिए पर रहे। इंदिरा गाँधी और राजीव गाँधी की कृपाद ष्टि उन पर कभी होगी, इसी आशा से वे दिल्ली-रायपुर के बीच झूलते रहे। दिल्ली की राजनयिक बस्ती चाणक्यपुरी स्थित अपने मालछा मार्ग निवास से वे कूटनीति करते रहे। लेकिन प्रधानमंत्री निवास की कृपा उन पर कभी नहीं हुई। वे मुख्यमंत्री तभी बने, जब राजीव गाँधी चुनाव हार गए और उन्हें प्रधानमंत्री निवास छोड़कर 10-जनपथ जाना पड़ा। करीब डेढ़ दशक के बाद जब श्यामाचरणजी मुख्यमंत्री बने, तब इस घटना को किसी चमत्कार से कम नहीं माना गया था। कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वे तिबारा मुख्यमंत्री [illegible] हीरो के रूप में दर्ज शुक्लजी एक बार पुनः

राजनीति पर चमकेंगे। पर परिस्थितियों ने यह चमत्कार कर दिखाया। यह बात अलग है कि दुर्भाग्य ने उन्हें फिर दबोच लिया। उनका पिछला कार्यकाल चन्द महीनों का रहा। इस दफे भी वे मुख्यमंत्री नहीं बन सके। लेकिन उनकी आस अभी टूटी नहीं है। वे जीवन के इस पड़ाव पर एक बार फिर सूबे की कमान थामने की उम्मीद में दिल्ली-भोपाल-रायपुर के बीच झूलते रहते हैं। चंद्रशेखर के करीबी लोगों का कहना है कि पूर्व प्रधानमंत्री का राजयोग भी अधूरा रहा है। वे एक बार फिर से राष्ट्र की राजनीति के नायक बनेंगे और साउथ ब्लॉक (प्रधानमंत्री सचिवालय) पहुँचेंगे।

दिल्ली में सियासत की फिल्म इसी तरह चढ़ती-उतरती रहती है। दिल्ली को कोई नेता अपना परमानेंट डेरा नहीं बना पाता है जब तक उसकी फिल्म चलती है, वह अपना पड़ाव डाले रखता है। दिल्ली के मिजाज पर काबीना मंत्री अर्जुनसिंह की टिप्पणी सटीक है। वे कहते हैं, "दिल्ली कब किसकी हुई है? यह तो सिर्फ पड़ाव है। जिसने इससे लौ लगाई, समझो उसने मुसीबत मोल ली।" परदे से वह कब उतर जाए, इसकी खबर किसी को नहीं। जब फिल्म उतर जाती है या उतार दी जाती है तो दिल्ली से उसका बोरिया-बिस्तर बँधना शुरू हो जाता है। ऐसे कितने ही नेता हैं, जो दिल्ली के कोनों में पड़े जी रहे हैं या अपने-अपने ग ह-राज्यों में गुमनाम जिन्दगी जी रहे हैं। इसकी एक लम्बी फेहरिस्त है।

छठे-सातवें दशक के युवा तुर्क नेताओं में चंद्रशेखर ही एक बचे हैं जिनकी फिल्म पिटती-पिटती अभी तक चल रही है। दर्शकों में उनकी माँग अभी तक बनी हुई है। दिलीप कुमार, देवानंद जैसे अभिनेताओं के चाहनेवालों की कमी कहाँ हुई है? दीदार, गंगा-जमुना, मुगले-आजम, टैक्सी ड्राइवर, गाइड के दीवाने कम नहीं हैं। जब भी देश में संकट दिखाई देता है, लोगों की निगाहें चंद्रशेखर पर बरबस लग जाती हैं। यह बात अलग है कि कभी वे भारतीय राजनीति के लगभग केंद्र बिन्दु हुआ करते थे। लेकिन उनके दूसरे सहपात्र मोहन धारिया, चंद्रकांत की भूमिकाएँ समाप्त हो चुकी हैं। चंद्रकांत आंध्रप्रदेश के राजभवन तक सीमित हो चुके हैं और धारिया महाराष्ट्र में खो चुके हैं। इंदिरा युग के देवकांत बरुआ, नंदिनी सत्पथी, बंसीलाल, भगवत झा आजाद, शशिभूषण, निजलिंगप्पा, बी.पी. मौर्य, होमी दाजी, सुभद्रा जोशी जैसे नेता राजनीतिक फलक से तकरीबन गायब हो चुके हैं। इंदिरा युग में इन नेताओं का अपना-अपना प्रभामंडल हुआ करता था। इनमें से अनेक इंदिरा गाँधी के उपग्रह थे। कई स्वतंत्र ग्रह भी थे, लेकिन उनका अस्तित्व इंदिरा-विरोध पर टिका हुआ था। इंदिराजी के निधन के बाद ऐसे नेताओं की स्वतः राजनीतिक मौत भी हो गई।

इंदिरा गाँधी के कट्टर समर्थकों में देवकांत बरुआ को कौन भूला सकता है। ये

वही नेता हैं, जिन्होंने आपातकाल के दौरान दिल्ली के बोट क्लब मैदान में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में 'इंडिया इज इंदिरा, इंदिरा इज इंडिया' जैसे नारे का आविष्कार किया था। इसके लिए उन्हें इंदिरा दरबार का विदूषक भी कहा गया। इंदिरा कांग्रेस के अध्यक्ष पद को सुशोभित करनेवाले इस विद्वान नेता का कोई नामलेवा नहीं बचा। कांग्रेस के अध्यक्षों की सूची में इनका नाम जरूर शामिल है। लेकिन किसी भी महत्वपूर्ण अवसर पर इनकी उपस्थिति दर्ज नहीं होती। नंदिनी सत्पथी का सितारा भी डूब चुका है। उड़ीसा की यह नेता कभी इंदिराजी की आँख की पुतली हुआ करती थी। इंदिरा-मंत्रिमंडल में प्रधानमंत्री के बाद इन्हें सबसे ज्यादा शक्तिशाली मंत्री माना जाता था। काबीना मंत्री से भी इनकी हैसियत ज्यादा थी जबकि थीं केवल राज्यमंत्री। 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान इनकी तूती बजती थी। इंदिराजी के साथ साये की तरह लगी रहतीं। इन्हें वामपंथी रुझान की नेता कहा जाता था। उड़ीसा की मुख्यमंत्री भी बनीं। पूरे उड़ीसा पर छाई रहीं। विवादास्पद भी रहीं। लेकिन, पिछले एक दशक से गुमनाम जिन्दगी जी रही हैं। शायद आत्मकथा लिख रही हों। पर वे दिल्ली के लिए बेगानी हो चुकी हैं। दिल्लीवाले उन्हें भूल चुके हैं। यही दशा डॉ.सरोजिनी नहिषी, डॉ. राजेन्द्रकुमारी वाजपेयी जैसी नेताओं की है। अलबत्ता, ये दोनों दिल्ली में जुगनू की तरह दिखाई दे जाती हैं। कमेटियों-वमेटियों में इन्होंने अपनी घुसपैठ बना रखी है, पर सत्ता-मंडल से दूर हो चुकी हैं। अब सौभाग्य का कोई झोंका ही इन्हें सत्ता-ग्रहों के पास पहुँचा सकता है। सुभद्राजी की भूमिका भी समाप्त हो चुकी है। इंदिरा गाँधी की प्रथम पारी में ये चमकीं तो खूब चमकीं। तत्कालीन जनसंघ के खिलाफ इनकी मोर्चाबंदी देशविख्यात है। इंदिराजी ने भी इन्हें जमकर आसमान पर चढ़ाया। अटलबिहारी वाजपेयी जैसे रुस्तम को इन्होंने बलरामपुर सीट से हराया। लेकिन आपातकाल में इनकी संजय गाँधी से नहीं पटी, सो इंदिरा गाँधी की नजर से उतर गईं। अंत तक दोनों में मतभेद बने रहे। आज सुभद्रा जोशी दिल्ली के एक कोने में खामोश जिन्दगी जी रही हैं; कभी-कभी सांप्रदायिकता के खिलाफ आवाज जरूर बुलंद कर देती हैं।

सुभद्राजी की समकालीन श्रीमती अरुणा आसफ अली भी अस्ताचल की ओर हैं। दिल्ली के वी.आई.पी. क्षेत्र में स्थित विट्ठलभाई पटेल भवन में वे जीवन-क्षितिज के उस पार जाने की प्रतीक्षा में जीवित हैं। कभी वे दिल्ली की 'शान' हुआ करती थीं। वह जमाना था जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना आजाद जैसे महारथियों का। वे दिल्ली की मेयर रहीं। उन्होंने *पेट्रियट*, *लिंक* जैसे प्रकाशन निकाले। इंदिराजी के प्रथम काल तक सत्ता प्रतिष्ठान में उनकी तूती बजती थी। प्रधानमंत्री से लेकर मुख्यमंत्री तथा विपक्ष के नेता तक उनके साथ परामर्श किया करते थे। उनके द्वारा स्थापित 'लिंक हाउस' का क्या जमाना था! वामपंथी

बुद्धिजीवियों व पत्रकारों का यह मक्का-मदीना माना जाता था। जनता पार्टी के शासनकाल में भी इनका दबदबा रहा। अनेक पुरस्कारों से इन्हें सम्मानित किया जा चुका है। एक प्रकार से अरुणाजी को पुरस्कार प्रदान कर सरकार और संस्थाएँ स्वयं को पुरस्कृत अनुभव करती रही हैं। आज वे अतीत-स्मृतियों में समाती जा रही हैं। नेताओं की भीड़ उनके इर्द-गिर्द नहीं रहती। वे भी पसंद नहीं करतीं। उनके *लिंक* के साथी उनसे बिछुड़ चुके हैं। कुछ ने उन्हें दगा दिया, कुछ ने उनका साथ छोड़ दिया, और कुछ ने दूसरी राह पकड़ ली। पर आज भी अरुणाजी को एक 'जीवित लीजेण्ड' कहा जाता है।

प्रकाशचंद्र सेठी, बंसीलाल, निजलिंगप्पा जैसे नेताओं को दिल्ली ने भुला दिया है। क्या जमाना हुआ करता था इन नेताओं का ! निजलिंगप्पा बनाम इंदिरा द्वंद्व आज भी दिल्लीवालों को याद है। 1969 में संगठन कांग्रेस और नई कांग्रेस की जंग से दिल्ली का सत्ता-प्रतिष्ठान हिल उठा था। निजलिंगप्पा, अतुल्य घोष, एस.के. पाटिल, चह्वाण, संजीव रेड्डी, मोरारजी देसाई, कामराज, तारकेश्वरी सिन्हा जैसे नाम अखबारी सुर्खियों में छाए रहते थे। एक तरफ निजलिंगप्पा थे, दूसरी तरफ इंदिरा गाँधी। यह अलग बात है कि जीत इंदिराजी की हुई। इसके साथ ही निजलिंगप्पा के पतन की प्रक्रिया भी शुरू हो गई। अब वे कर्नाटक के किसी कोने में चैन की साँसें ले रहे हैं। उनके समकालीन एक-एक करके ब्रह्म में विलीन होते जा रहे हैं। उनके ही एक सहयात्री योद्धा मोरारजी देसाई भी दिल्ली की स्मृतियों में समा चुके हैं। कौन भुला सकता है मोरारजी भाई की हठधर्मिता को। एक बार ठान ली तो वे इंदिराजी के सामने कभी नहीं झुके। उनका नेतृत्व स्वीकार किया तो तहेदिल से किया, लेकिन सिद्धांत की बात उठी तो प्रधानमंत्री का निर्णायक विरोध भी किया। बैंकों के राष्ट्रीयकरण की बात उन्होंने कभी स्वीकार नहीं की। किसी वक्त में राष्ट्र की राजनीति की धुरी रहनेवाले पूर्व-प्रधानमंत्री मोरारजी भाई आज बंबई के किसी फ्लैट में बिस्तर पर पड़े हुए हैं। पूर्व-प्रधानमंत्री चंद्रशेखर उन्हें याद करना कभी नहीं भूलते।

इंदिरा शासन के नक्षत्र बंसीलाल और प्रकाशचंद्र सेठी भी अब इतिहास बन चुके हैं। बंसीलाल दिल्ली के एक कोने में बरबस राजनीतिक वैराग्य का जीवन काट रहे हैं, और प्रकाशचंद सेठी उज्जैन व इंदौर के बीच झूलते रहते हैं। दोनों का कोई नोटिस नहीं लेता। दिल्ली के बड़े-बड़े नेता इन शहरों की यात्रा करते हैं, लेकिन कई बार सेठीजी से मिलना जरूरी नहीं समझते। एक यात्रा में यह लेखक प्रणव मुखर्जी के साथ उज्जैन गया हुआ था। उन्हें बताया भी गया कि सेठीजी नगर में ही हैं और अस्वस्थ हैं। लेकिन उन्होंने उनसे मिलने की चिन्ता नहीं दिखाई। प्रणवजी के लिए सेठीजी एक ऐसे हीरो लग रहे थे, जिसकी फिल्म हमेशा के लिए डिब्बे में बंद हो चुकी है।

कोई डिस्ट्रीब्यूटर उसे दुबारा परदे पर लाने के लिए तैयार नहीं है। पिछले वर्ष सेठीजी ने दिल्ली आकर प्रधानमंत्री राव से मुलाकात भी की थी। उन्होंने राव साहब से यह भी कहा था कि "मैं स्वस्थ हूँ। मैं आपको चल-फिरकर दिखा सकता हूँ। मेरे बारे में अस्वस्थता की अफवाहें फैलाई जा रही हैं।" उनकी यह स्वैच्छिक सफाई भी किसी काम नहीं आई।

दिल्ली की नजर से वे उतर चुके हैं। वही हाल बंसीलाल का है। दोनों ही नेता समकालीन हैं। बंसीलालजी भी दिल्ली-हरियाणा के बीच अपना वक्त नापते रहते हैं। इनकी हरियाणा विकास पार्टी पिट चुकी है। मुख्यमंत्री भजनलाल ने इसके विधायकों को फोड़ लिया है। बंसीलालजी के हाथों से कबूतर उड़ चुके हैं। ये दोनों ही नेता इंदिराजी के लाड़ले रह चुके हैं।

बंसीलाल को आधुनिक हरियाणा का सूत्रधार कहा जाता है। क्या दबदबा था जब वे मुख्यमंत्री थे। देखते ही देखते इन्होंने हरियाणा को देश के अग्रणी सूबों के नक्शे में खड़ा कर दिया था। कृत्रिम पर्यटन स्थलों का राज्यभर में जाल बिछवा दिया था। प्रधानमंत्री इस जाट नेता के करिश्माई नेतृत्व पर लट्टू थीं, जिसने गुडगाँव के पास मारुति उद्योग के लिए पुत्र संजय गाँधी को जमीन देकर माँ-प्रधानमंत्री- इंदिरा गाँधी को अपनी मुट्ठी में बंद कर लिया था। आपातकाल में बंसीलाल ने रक्षामंत्री के रूप में जमकर जलवे दिखाए। फौजियों को अनाप-शनाप हुक्म देते रहे। विवादों से भी घिरे रहे। इंदिरा गाँधी के दूसरे काल में रेलमंत्री रहे। बस! इसके साथ ही उनके पतन का सिलसिला भी शुरू हो गया। राजीव काल में वे सत्ता-मंडल से बहुत दूर जा चुके थे। इसकी वजह एक ही रही कि उनमें जाट-मेरुदंड साबुत था। राजीवजी के दरबार में वे कभी हाजिर नहीं हुए। तभी से वे एक छिटके तारे में बदल गए। अब उनके दिन फिरेंगे, इसकी दूर-दूर तक संभावना नहीं है।

सेठीजी की नियति भी इससे भिन्न हो सकती है, ऐसा नहीं लगता। सेठीजी का पीछा सत्ता छोड़ सकती है, यादें नहीं। वे यह कैसे भूल सकते हैं कि कभी उनका निवास प्रधानमंत्री के बगल में हुआ करता था। 1980 में जब इंदिरा गाँधी दूसरी बार प्रधानमंत्री बनी थीं, तब उनका पहला रात्रिभोज सेठीजी के घर पर आयोजित किया गया था। तब वे फूले नहीं समा रहे थे। कई मंत्रालयों को उन्होंने सुशोभित किया। इंदिराजी का अटूट विश्वास उन्होंने प्राप्त किया। लेकिन राजीव-शासन की शुरूआत के साथ ही उनका सत्ता-वनवासकाल शुरू हो गया। अब इसका अंत होने की कोई संभावना नहीं है।

राजनीति का बाजार संवेदनहीन होता है। यह सत्तापक्ष एवं विपक्ष का भेदभाव नहीं करता। बलराज मधोक को देखिए। जनसंघ के शीर्षस्थ नेता हुआ करते

थे। आज जो स्थिति लालकिशनचाँद अडवाणी की है, किसी जमाने में प्रो. मधोक की हुआ करती थी। मधोक को सुनने और देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती थी; इनके बारे में कालम के कालम रँगे हुए होते थे। इन्होंने भारतीयकरण का नारा उछालकर राष्ट्र को चौंका दिया था। पर आज इन्हें संसद के गलियारों में अपने में डूबे हुए जाते देखा जा सकता है। कोई इनकी तरफ नहीं देखता। इन्होंने तत्कालीन जनसंघ को जीवित रखने की कितनी कोशिश की, पर यह 'नॉन स्टार्टर' निकली। वैसे इनके समकालीन अटलबिहारी आज भी राजनीति के आकाश में चमक रहे हैं। मधोक की अगली पीढ़ी के नेता मदनलाल खुराना, विजयकुमार मल्होत्रा आदि दिल्ली में छाए हुए हैं।

विपक्षी नेताओं में मधु दंडवते, सुरेन्द्र मोहन, यशवंत सिन्हा, अरुण नेहरू, मोहम्मद आरिफ खाँ, देवीलाल, ओमप्रकाश चोटाला, रामधन, चिमनभाई मेहता, सतपाल मलिक जैसे नेता भी सत्ता के आकाश में लुप्त दिखाई दे रहे हैं। इनके निवासों के लॉनों में सूनापन बिखरा रहता है। अरुण नेहरू और आरिफ खाँ तो बिल्कुल ही खामोशी में खो गए हैं।

यशवंत सिन्हा को उम्मीद थी कि भाजपा में शामिल होने के बाद वे चमकने लगेंगे। लेकिन किस्मत ने दगा दे दिया है। भाजपा ने उन्हें राज्यसभा का टिकट भी नहीं दिया। अब वे सदन के अंदर जा भी नहीं सकते। यदि यही हाल रहा तो वे भी अतीत बन सकते हैं। इस मामले में जयपाल रेड्डी प्रासंगिक बने हुए हैं। जब-तब वे सटीक टिप्पणियाँ करते रहते हैं। मधु दंडवते भी संसद के गलियारे में अपने विश्लेषणों से चमकते रहते हैं। लेकिन प्रेस के लिए दंडवतेजी अब कोई 'कॉपी' (गरमागरम खबर) देने लायक नहीं रहे।

व्यावहारिक राजनीतिक दृष्टि से मधु लिमये और सुरेन्द्र मोहन की हैसियत जरूर लुप्त हो गई है। वैसे ये दोनों कभी सत्ता-कक्ष में रहे भी नहीं। एक प्रकार से दोनों को सत्ता से हमेशा 'एलर्जी' रही है। लेकिन सत्ता प्रतिष्ठान इनके इर्द-गिर्द घूमता रहा है। जमाना इंदिरा गाँधी का रहा हो या देसाई का या चरणसिंह का, मधुजी चर्चा में हमेशा रहे हैं। लोकसभा में तो मधुजी सत्तापक्ष को छकाते रहे हैं। सुरेन्द्र मोहनजी की सादगी हमेशा आकर्षण का केंद्र रही है। दोनों प्रेस चितेरे रहे हैं। आज भी जब मधुजी संसद के गलियारे और केंद्रीय कक्ष में पहुँच जाते हैं तो नेता एवं पत्रकार दोनों इन्हें घेर लेते हैं। एक त्वरित समीक्षा की माँग होने लगती है। यही स्थिति सुरेन्द्रजी की है। मधुजी कुछ रिजर्व रहते हैं, जबकि सुरेन्द्रजी दोनों हाथ फैला देते हैं। ऐसे नेताओं को अपवाद कहा जा सकता है, जिन्हें वक्त हाशिये पर फेंकने में अभी तक विफल रहा है। लेकिन, पत्र-पत्रिकाओं के सफों पर इनकी उपस्थिति अब ज्यादा दर्ज होती है। दोनों ही व्यक्तियों में

बला का जीवट हैं। एक नई दिल्ली के निवासी हैं और दूसरे जमुना पार जा बसे हैं। संसद के पुस्तकालय में दोनों को अध्ययनरत देखा जा सकता है। सुरेन्द्रजी फिल्मी मोह से बँधे नहीं हैं। हिन्दुस्तान के कब किस कोने में वे जा धमकेंगे, फुटपाथों पर बहस करते कितने घंटे गुजार देंगे, यह कहना मुश्किल है। मधुजी की सेहत इजाजत नहीं देती है इसलिए वे दिल्ली में ही ज्यादा वक्त बिताते हैं।

जमीन की भीड़ में खो जानेवाले नक्षत्रों की कमी नहीं है। जिसे राजीव-काल याद है वह अरुणसिंह को नहीं भूल सकता। साउथ ब्लॉक (प्रधानमंत्री सचिवालय व रक्षा मंत्रालय) इनके इशारों पर नाचा करता था। त्रिमूर्ति (राजीव गाँधी, अरुणसिंह और अरुण नेहरू) हिन्दुस्तान को हाँका करती थी। लेकिन, बारी-बारी से ये दोनों राजीव गाँधी से बिछड़ते हुए चले गए। अरुणसिंह को तो राजनीति से वैराग्य ही हो गया; वे कुमाऊँ की पहाड़ियों में जा बसे। सुनते हैं, अब उनका मन वादियों से भी उचट गया है। अलबत्ता उनके समकालीन सतीश शर्मा और मणिशंकर अय्यर राजनीति में पूरे जोश के साथ जमे हुए हैं। कहते हैं, अरुणसिंह के लिए सियासत में आना एक दुर्घटना थी, जिसका दर्द वे ज्यादा समय तक बर्दाश्त नहीं कर सके। वे गुमनाम जिन्दगी की नियति से बच नहीं सकते थे। इसी दौर के एक पात्र और थे; ये छोटे-मोटे नायक भी रहे और बड़े खलनायक भी। दोहरी भूमिका निभाने के लिए चर्चित ये पात्र हैं–संजयसिंह, संजय गाँधी के बाएँ हाथ। 1980 में संजयसिंह ने उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री पद पर अपना दावा ठोंककर देश को चौंका दिया था। मोदी हत्याकांड और अमिता प्रेमप्रसंग में इनका नाम खूब उछला। चुनाव में गोली से घायल भी हुए। लंदन में इलाज कराया। वी.पी.सिंह की सरकार में मंत्री बने। अब खामोशी के साथ चैन की जिन्दगी गुजार रहे हैं।

ऐसे ही एक अन्य पात्र हैं अकबर अहमद उर्फ डम्पी। इन साहब ने भी उत्तरप्रदेश की सियासत में तूफान मचा रखा था। संजय-संस्कृति के धाकड़ प्रतिनिधि के रूप में इन्हें देखा जाता था। संजय गाँधी की अकालमृत्यु के बाद ये संजय मंच में सक्रिय हो गए, इंदिरा गाँधी से टक्कर लेने लगे। राजीव गाँधी ने इन्हें कभी मुँह नहीं लगाया। मेनका गाँधी का झंडा जरूर थामे रखा इन्होंने, पर वह भी इन्हें कहीं पहुँचा नहीं सका। उत्तरप्रदेश की सियासत बदल चुकी है। नए समीकरण उभर चुके हैं। मेनका गाँधी कहीं हैं नहीं। सोनिया गाँधी इन्हें तरजीह नहीं देतीं। लिहाजा डम्पी उखड़े-उखड़े घूम रहे हैं।

मेनका गाँधी की दुनिया भी इससे बेहतर नहीं है। जब मेनका गाँधी उठी थी, आँधी बनकर उठी थी : अपनी सास प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी से बगावत की; लखनऊ में संजय मंच की घोषणा की। मेनका ने इंदिराजी से जमकर टक्कर

ली। उन्हें आधी रात में अपने स्व. पति का घर यानी प्रधानमंत्री निवास छोड़ना पड़ा। राजीव गाँधी के खिलाफ अमेठी से चुनाव लड़ीं और हारीं। लेकिन मेनका ने हिम्मत नहीं हारी। जनता दल सरकार में उन्होंने पर्यावरण मंत्री बनकर दिखा दिया। विडम्बना देखिए, संसद में राजीव गाँधी विपक्ष में थे और मेनका सत्तापक्ष में। 1991 के चुनाव ने मेनका गाँधी को एक झटके के साथ हाशिए पर फेंक दिया। इस स्थिति से उभरने के लिए वे छटपटा रही हैं। सुर्खियों में बने रहने के लिए वे यदा-कदा पर्यावरण से जुड़े कार्यक्रम करती रहती हैं और प्रदूषण के खिलाफ भाषण देती रहती हैं। जहाँ तक उनकी राजनीतिक हैसियत का सवाल है, उस पर एक सवालिया निशान लग चुका है। लोगों का कहना है कि राजीव गाँधी की हत्या के साथ ही मेनका के राजनीतिक जीवन की भी अकाल मृत्यु हो चुकी है। कोई चमत्कार ही उन्हें राजनीति के कक्ष में लाकर खड़ा कर सकता है।

हरिदेव जोशी, नारायणदत्त तिवारी, रामकृष्ण हेगड़े जैसे नेता अपने-अपने राज्यों के नायक रह चुके हैं। पर आज इन्हें चरित्र-अभिनेता का भी रोल नहीं मिल पा रहा है। स्थिति के मिजाज को समझकर जोशीजी तो स्वयं ही पृष्ठभूमि में चले गए हैं। यह उनके जीवन का सबसे अच्छा फैसला है, क्योंकि राजस्थान की राजनीति में उनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। नारायणदत्त तिवारी की भावी भूमिका पर प्रश्नचिह्न लग चुका है। उत्तरप्रदेश में कांग्रेस की हालत बद से बदतर हो गई है। केंद्र में आने के लिए लालायित तिवारीजी को राव साहब मौका नहीं दे रहे हैं। प्रधानमंत्री को लगता है कि यदि तिवारीजी को दिल्ली लाया गया तो वे उनके लिए खतरा बन जाएँगे। लेकिन सच्चाई यह है कि तिवारीजी के हाथों से उत्तरप्रदेश की कमान ही फिसल चुकी है। यद्यपि उनमें आज भी भीड़ जुटाने की क्षमता है, लेकिन उनकी नायक बनने की शक्ति चुक गई है। अब यही स्थिति अब्दुल गफूर, नाथूरामं मिर्धा, माधवसिंह सोलंकी, घनश्यामदास ओझा, रतुभाई आडाणी, भानुशंकर ज्ञानिक, वीरेन्द्र पाटिल, ए.के.सेन, प्रियरंजन दासमुंशी, सुरजीतसिंह बरनाला, गोविंदनारायण सिंह, श्रीमती शीला दीक्षित जैसे सूबाई नेताओं की हो चुकी है। ये नेता अपनी-अपनी भूमिका निभा चुके हैं। अब ये 'दी एंड' से मुखातिब हैं। कर्नाटक के रामकृष्ण हेगड़े राष्ट्रीय स्तर के नेता बनते-बनते रह गए। कभी उन्हें राजीव गाँधी के उत्तराधिकारी के रूप में देखा जाने लगा था। लेकिन जनता पार्टी के तत्कालीन अध्यक्ष चन्द्रशेखर और उनके बीच ठन गई। अध्यक्षजी यह कैसे सहन कर सकते थे कि उनके होते हुए किसी को भावी प्रधानमंत्री के रूप में देखा जाने लगे। कर्नाटक में ही असंतुष्टों द्वारा हेगड़े की टाँग खींची जाने लगी। कांड पर कांड बेपर्द होने लगे। भूमिकांड और टेलीफोन टेपिंग कांड ने हेगड़े को हिलाकर रख दिया। उनकी

साख सूखे पत्तों की तरह झरने लगी। राष्ट्रीय फलक से गिरकर अब वे सूबाई फलक में सिमटकर रह गए हैं। आगामी चुनावों में एक बार फिर उन्हें मुख्यमंत्री की कुर्सी मिल जाए, यह उनका ख्वाब रह गया है। देखिए, तकदीर क्या फैसला देती है!

अतीत के इन झिलमिलाते पात्रों की यादों पर विराम भी एक खूबसूरत चेहरे के साथ किया जाए। 4 फरवरी का किस्सा है। जयपुर में एक स्वर्ण जयंती समारोह का अवसर था। मुख्य अतिथि राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा के साथ श्रीमती गायत्री देवी उपस्थित थीं। मुख्यमंत्री भैरोंसिंह शेखावत ने अपने भाषण में रूप-पारखी की अदा से कह डाला, "महाराणी साहिबा, आपकी सुंदरता की तो विश्व भर में चर्चा रही है...." इतना कहना था कि समारोह स्थल में तालियाँ पिट गईं। राष्ट्रपतिजी ने जोर का ठहाका लगाया। गायत्री देवी मुख्यमंत्री की ओर रह-रहकर हाथ जोड़ती रहीं, मानों कह रही हों, 'बस करिए भैरोसिंहजी, बस करिए। वह जमाना और था।'

जब उनको मैंने इस मुद्रा में देखा तो यादों का रेला उमड़ आया। एक बार फिर फ्लैश बैक। 1962 के चुनाव। गायत्री देवी जयपुर लोकसभा सीट से खड़ी हुईं। उनके मुकाबले में अविभाजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रत्याशी सुश्री शारदा देवी हैं। गायत्री देवी जिधर से गुजरती हैं, सैकड़ों-हजारों हाथ हिलते हैं। कोई उनके चरण स्पर्श करता है, कोई भूमि पर लेट जाता है, कोई उनके स्वागत में आँसू बहाता है, कोई पुष्पों की वर्षा करता है। गुलाबी नगरी की औरतें तो जैसे निहाल हो गई हैं। साक्षात 'महाराणी' उनके द्वार पर खड़ी हैं। कोई उन्हें अन्नदाता कह रहा है, कोई उन्हें महाराणी साहिबा। जिधर से वे गुजर रही हैं, राजसी महक से वह स्थान धन्य हो रहा है। गायत्री देवी के प्रचार में तैनात हैं गोलकुंडा, चंगेज खाँ, बरसात जैसी फिल्मों के चर्चित सितारे प्रेमनाथ। जब चुनाव पेटी ने अपना फैसला दिया तो गायत्री देवी को देशभर में सबसे अधिक मत पड़े। उफ! पूरा जयपुर उमड़ पड़ा है। पग रखने के लिए ठौर नहीं है।

गायत्री देवी का यह दौर 1971 तक चलता रहा। लेकिन फिर उनकी लोकप्रियता में निरंतर ग्रहण लगता रहा। आपातकाल में श्रीमती इंदिरा गाँधी ने उन्हें तिहाड़ जेल के हवाले कर दिया। जेल में ही उन्होंने राजनीति से तौबा कर ली। 1977 के चुनाव में वे खड़ी नहीं हुईं। इसके बाद वे राजनीति की दृष्टि से निरंतर गुमनामी में खोती चली गईं। अलबत्ता सुंदरता के संसार में वे लगातार चर्चा का केंद्र रहीं। अमेरिका से उनकी एक आत्मकथा भी निकली। लेकिन तिहाड़ से मुक्ति के बाद उन्होंने एक क्षण के लिए भी राजनीति की ओर मुड़कर नहीं देखा है।

बहत्तर वर्षीया गायत्री देवी अब रियासती व औपनिवेशिक जीवन शैली में मगन रहकर जी रही हैं। वैसे मुख्यमंत्री शेखावत का मानना है कि आज भी इन 'महाराणीजी में चुनाव जीतने की क्षमता है।' खैर! यह तो भविष्य बतलाएगा। इसी रियासती गुलाबी नगरी में उनके सौतेले बेटे कर्नल भवानी सिंह को 1989 के चुनावों में पराजय का सामना करना पड़ा था। इसके साथ ही जयपुर के लोकतांत्रिक विवेक ने जयपुर घराने की राजनीतिक भूमिका का पटाक्षेप कर दिया था।

सत्ता की मायानगरी दिल्ली में चेहरों का उभरना और खोटे सिक्के में बदलकर डूब जाना वाकई बहुत पीड़ाजनक होता है। जब कोई उभरता है, यह मायानगरी सौ-सौ हाथों से उसे ऊपर उठा लेती है। औपनिवेशिक राष्ट्रपति भवन, प्रधानमंत्री भवन और भव्य कोठियों के विशाल लॉनों, पाँच सितारा होटलों में यह चेहरा उपभोग की वस्तु बन जाता है। पाँच सितारा सम्पादक और पत्रकार इस चेहरे पर फिदा रहते हैं। बड़े-बड़े फोटोग्राफर इस चेहरे का पारिवारिक एलबम तैयार करते हैं। यह चेहरा एक व्यक्ति न रहकर इस मायानगरी का एक 'शोपीस' बन जाता है। जैसे ही वह पिटने लगता है, उसे उतारकर फेंक दिया जाता है। दिल्ली में कई ऐसी सरकारी शरणस्थलियाँ हैं, जहाँ ऐसे चेहरों को 'डम्प' कर रखा जाता है। (इनमें मध्यप्रदेश के चेहरे भी शामिल हैं)। अब ये चेहरे 'एक्स्ट्रा का रोल' निभाते हैं, किसी बड़े नेता की सभाओं की शोभा बढ़ाते हैं : स्वतंत्रता दिवस एवं गणतंत्र दिवस पर इन चेहरों को याद कर लिया जाता है। इन दिवसों पर राष्ट्रपति के मुगल गार्डन में आयोजित चायपार्टी में इन्हें देखा जा सकता है। उनकी आँखों में उस भीड़ को देखा जा सकता है जो कभी उनके इर्द-गिर्द चक्कर लगाती रही होगी, अंगरक्षकों से वह घिरा रहा होगा, प्रत्येक सैल्यूट उसे गुदगुदाता रहा होगा। आज वह अकेले....भीड़ में सिर्फ अकेले चाय की चुस्कियाँ ले रहा है। गाड़ी-घोड़ा, फ्लैशबल्बों की चुँधियाती रोशनी, हाथ में नोटबुक लिए निजी सहायकों की टुकड़ी, बेशुमार अर्जियाँ थामे दर्शकों की अंतहीन कतार, संवाददाताओं के सवाल, ठकाठक सलाम.....सब कुछ तो पीछे छूट गए हैं। आज वह अकेला खरामा-खरामा मुगल गार्डन से बाहर निकल रहा है। 26 जनवरी को यह दृश्य देखकर एक पुराना गाना गुनगुनाने का जी चाहता है : देखी जमाने की यारी बिछड़े सभी बारी-बारी।

13 फरवरी, 1994

जयचंदों और मीरजाफरों की सियासत में एक पारदर्शी आदमी

इसी सर्दी का किस्सा है, रात के करीब आठ बजे होंगे। मैं दफ्तर से घर जा रहा था। इंडिया गेट के एक क्रॉसिंग पर मैं रुक जाता हूँ। रेड लाइट है। मेरी कार के ठीक पीछे एक सफेद मारुति कार खड़ी है। लेकिन कुछ ही क्षणों में वह कार मेरे बराबर दाई लेन में आकर खड़ी हो जाती है। मैं मध्य लेन में हूँ। मैं देखता हूँ कि मारुति कार में राजीव गाँधी सवार हैं, और स्वयं उसके चालक बने हुए हैं। ड्राइवर को पीछेवाली सीट पर नहीं, बल्कि बराबर में बैठा रखा है। कुछ शरारत भरी मुस्कान से वे मेरी ओर देखते हैं और हैलो करते हैं। इससे पहले कि मैं उतर कर उन्हें हैलो का उत्तर दूँ, हरी लाइट हो जाती है और वे अपनी कार को सीधे उड़ा ले जाते हैं। उनके पीछे सुरक्षा कार दौड़ती है। एक तरह से उन्होंने यातायात नियम का उल्लंघन किया था। उन्हें सीधा जाना था। पर वे मध्य लेन को तोड़कर दाईं वाली लेन में पहुँच गए थे। हैलो करते समय उनकी शरारत भरी मुस्कान की यही वजह थी।

उस समय मुझे लगा कि यह शख्स किसी भी दिन त्रासदी का शिकार हो सकता है। वर्तमान हिंसक राजनीतिक वातावरण में कोई भी गलत तत्व उनकी इस किशोर चंचलता का खौफनाक फायदा उठा सकता है। चूँकि उन्हें हमेशा तेज रफ्तार पसंद थी, इसलिए उनके शत्रु उनके वाहन के सामने किसी को भी खड़ा कर सकते हैं, उनसे अपना प्रतिशोध ले सकते हैं। अपनी इन आशंकाओं से मैंने संयुक्त सचिव श्री जनार्दन द्विवेदी को भी अवगत कराया। उन्होंने बताया कि राजीवजी को इन खतरों से कई दफे आगाह किया जा चुका है, पर वे सुनते कहाँ हैं! उन्हें खतरों की चिंता कहाँ है!

पिछली सर्दियों में गुजरात यात्रा के दौरान मैं उनके साथ था। अहमदाबाद हवाई अड्डे पर उतरते ही वे एक आजाद पंछी की तरह उड़ने लगे। अपनी तीन दिन की गुजरात यात्रा के दौरान वे कभी जीप पर सवार होते, कभी कार में और कभी ट्रेन में। डिब्बे से बाहर निकल और उचक-उचक जनता का अभिवादन स्वीकार करते। एक पुराने मित्र की तरह गर्मजोशी के साथ हाथ मिलाते। उनके साथ चल रहे इंका महासचिव श्री एच.के.एल. भगत से किसी पत्रकार ने पूछा भी राजीवजी ने सुरक्षा के सारे बंधन तोड़ डाले हैं; क्या आपको डर नहीं लगता? मुझे याद है श्री भगत का जवाब था : हमने हमारे नेता को जनता के हवाले कर दिया है। जनता और ईश्वर ही उनकी हिफाजत करेगा।

"क्या बताऊँ...बेचारा प्रतापभानु शर्मा मारा गया"। स्व. राजीव गाँधी का यह संक्षिप्त वाक्य किसी अन्य के लिए नहीं था, अपनी ही पार्टी के लोकसभा प्रत्याशी प्रतापभानु शर्मा के संबंध में कहा गया था। मैंने उनसे पूछा था : "राजीवजी, अटलजी लखनऊ के साथ-साथ विदिशा भी पहुँच गए हैं। अब क्या होगा?" वे कुछ क्षणों के लिए रुके, फिर उनके प्रौढ़ चेहरे पर किशोर मुस्कान में लिपटी चिंता की लकीरें उभरीं। क्षण भर में उन्होंने अपने मन की बात कह डाली, बिना किसी लाग-लपेट व परिणाम की चिंता के। चुनाव की पूर्व-संध्या पर किसी पत्रकार से अपने ही दल के उम्मीदवार के प्रति इस तरह की बात करना जोखिमभरा होता है, पर कांग्रेस अध्यक्ष स्व. राजीव गाँधी की चारित्रिक स्वाभाविकता एवं सहजता ने इस जोखिम को स्वीकार नहीं किया। फिर कुछ सोचकर अपने वाक्य में वे जोड़ने लगे : "ठीक है...जो हो गया सो हो गया...वाजपेयीजी को देखेंगे।"

यह वाकया मतदान के प्रथम दौर से कुछ दिन पहले का है। दिल्ली के अशोक मार्ग स्थित राज्यसभा सदस्या श्रीमती मागरिट अल्वा के निवास पर राजधानी के करीब दस-पंद्रह वरिष्ठ पत्रकार निमंत्रित थे। प्रणव मुखर्जी, बलराम जाखड़, शिवशंकर जैसे चंद वरिष्ठ इंका नेता भी आमंत्रितों में शामिल थे। करीब आधे घंटे देरी से पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी भी पहुँचे। बिल्कुल सफेदझक कुर्ता-पायजामा में। पैरों में फीते कसे जूते। चेहरे पर खिली उन्मुक्त मुस्कान और जिस्म पर छाई असीम फुर्ती। संयोग से श्रीमती अल्वा के निवास में प्रवेश लेने के साथ ही मेरी मुठभेड़ उनसे हो जाती है। देखते ही हैलो करते हैं, हाथ मिलाते हैं और हमेशा की तरह पूछ बैठते हैं : "हाऊ आर यू?" मैं कहता हूँ : "बिल्कुल ठीक हूँ।" और इसके साथ ही विदिशा से भाजपा नेता अटल बिहारी वाजपेयी की उम्मीदवारी को लेकर उन पर सवाल दाग देता हूँ। चूँकि माहौल बेहद अनौपचारिक था, इसलिए वे भी उसी रौ में बहते हुए चले जाते हैं।

जब शर्मा बनाम वाजपेयी जंग से ध्यान हटा तो मैंने उन्हें राज्यसभा के वर्तमान

सदस्यों को लोकसभा का टिकट देने के विवाद में उलझाना चाहा। राजीव गाँधी पर दूसरा सवाल दागा। सवाल-जवाब का सिलसिला कुछ इस तरह से है :

जोशी : *आपने राज्यसभा में सदस्यों को टिकट देने के मामले में अपवाद क्यों किया? आपने नीति बनाई थी कि किसी भी वर्तमान सदस्य को चुनाव में नहीं उतारा जाएगा। पर आप उस पर कायम नहीं रहे। ऐसा क्यूँ?*

राजीव : अरे भाई हमने कुछ चीटिंग की है। *(फिर वे जोर से हँसते हैं। मुझे उनके इस जवाब पर अचरज होता है।)*

जोशी : *चीटिंग (धोखेबाजी) ? क्या मतलब?*

राजीव : देखिए, अगर हम ऐसा नहीं करते तो राज्यसभा के सदस्यों का टिकट के लिए फ्लड-गेट खुल जाता। इस बार हर कोई टिकट माँग रहा था। इसलिए हमने यह पॉलिसी बनाई थी।

जोशी : *फिर आपने इसे तोड़ा क्यों? कुछेक को लोकसभा का टिकट दिया गया है।*

राजीव : *(खुलकर हँसते हुए)* जिन्हें टिकट देना था उनके नाम तो पहले से ही हमारे दिमाग में थे। अब यह थोड़ी बहुत चीटिंग हमें करने दीजिए।

कुछ ही फासले पर खड़ी श्रीमती अल्वा को इस जवाब से जरूर ठेस लगी होगी, क्योंकि वे भी चुनाव लड़ना चाहती थीं। मध्यप्रदेश से अजीत जोगी और सुरेंद्र सिंह ठाकुर भी टिकट माँग रहे थे लेकिन वे भी इस नीति की चपेट में आ गए। खूबी देखिए कि स्व. गाँधी ने यह गोपनीय बात बिना किसी नाटकीयता के साथ कह डाली। उन्होंने यह चिंता नहीं की कि उनके 'चीटिंग' शब्द का मेजबान अल्वा पर क्या असर होगा? उनके संबंध में वरिष्ठ पत्रकार क्या सोचेंगे? यदि यह अनौपचारिक वार्तालाप प्रकाशित हो गया तो इंकाजन उन पर धोखाधड़ी का आरोप लगा सकते हैं; टिकट माँगनेवाले राज्यसभा सदस्य असहयोग का रुख अपना सकते हैं। इन खतरों की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। वे एक बाल-प्रव त्ति से प्रेरित ये अंगारे हाथों में उछालने लगे। पत्रकार भी मूड़ में आ चुके थे। एक पत्रकार ने नई दिल्ली से राजेश खन्ना को भाजपा नेता लालकृष्ण अडवाणी के खिलाफ इंका उम्मीदवार बनाने के संबंध में सवाल कर डाला। देखा-देखी अन्य पत्रकारों ने भी सवाल दागे। सभी सवालों का मूल स्वर यह था कि राजनेता अडवाणी के खिलाफ अभिनेता राजेश खन्ना को खड़ा करने में कौन-सी तुक

है? पहले उन्होंने सभी के सवाल सुने। फिर जमकर अपनी हँसी लुटाई और अंत में सवालों पर विराम लगाते हुए उन्होंने कहा : "अरे बस.... यूँ ही मजा लेने के लिए खड़ा कर दिया। कुछ अडवाणीजी से मजा लेने दीजिए।" उनके इस जवाब से हम सभी आश्चर्यचकित थे। हम लोग हँस भी रहे थे और यह भी सोच रहे थे कि एक गंभीर सवाल को इंकाध्यक्ष कितने हल्के ढंग से ले रहे हैं? वे किसका मजाक उड़ाना चाहते हैं – अपना या अडवाणीजी का ? राजीव गाँधी राजनीति को संजीदगी के साथ क्यों नहीं लेते हैं? फुसफुसाहट के जरिए इस तरह की टिप्पणियाँ चलती रहीं। करीब एक-डेढ़ घंटे तक हम लोगों के बीच संवाद चला। वे अराजनीतिक और सामान्य नागरिक की तरह इसमें शरीक होते रहे। कभी वे अपनी खामियों को स्वीकार करते और कभी पत्रकारों से सुझाव लेते। डिनर समाप्ति के बाद उन्होंने प्रत्येक से हाथ मिलाया और अविस्मरणीय मुस्कान लुटाते हुए चले गए। उनके जाने के बाद कुछ पत्रकारों की टिप्पणी थी : क्या ऐसे पारदर्शी इंसान को राजनीति में होना चाहिए? क्या कोई सोच सकता है कि ऐसा व्यक्ति प्रधानमंत्री भी रहा है? राजीव गाँधी को राजनीति में नहीं होना चाहिए। वे इसके लिए नहीं बने हैं। उन्हें इससे अलविदा कर लेनी चाहिए।

उनकी इस किशोर निश्छलता को देंखकर कई स्म तियाँ उभरने लगती हैं। प्रधानमंत्री स्व. गाँधी के साथ कई दफे देश-विदेश की यात्रा करने का अवसर मिला। जब श्रीलंका की राजधानी कोलंबो में विदाई समारोह के अवसंर पर उन पर घातक हमला किया गया, तब भी उन्होंने इसे बड़ी सहजता से लिया। वह दिन मुझे अच्छी तरह से याद है। हम सभी भारतीय पत्रकार विमान में बैठ चुके थे, तभी किसी ने सूचना दी कि प्रधानमंत्री राजीव गाँधी पर श्रीलंका के किसी सैनिक ने हमला कर दिया है, वे बाल-बाल बच गए हैं। उनसे मिलने के लिए सभी संवाददाता व्यग्र थे। विमान उड़ने के करीब बीस-पच्चीस मिनट बाद वे हमारे बीच आए, बिल्कुल अनौपचारिक पोशाक में। शायद जीन पहन रखी थी। चेहरे पर प्रहार की शिकन तक नहीं थी। जैसे कि कुछ घटा ही न हो, वे इस तरह का व्यवहार कर रहे थे। प्रहार से ज्यादा वे भारत-श्रीलंका समझौते पर प्रकाश डालने के लिए उत्सुक थे। बार-बार आग्रह करने के बाद उन्होंने प्रहार के संबंध में जानकारी दी।

सुरक्षा घेरों कों तोड़ने में वे किशोर आनंद का अनुभव करते थे। जब वे प्रधानमंत्री थे तब भी उन्होंने कई बार इन घेरों को तोड़ा। ऐसी ही एक घटना याद है। तीन बरस पहले का किस्सा है, वे कड़कड़ाती सर्दी में अमेठी यात्रा पर थे। दिल्ली से उनके साथ गई प्रेस-टीम का मैं भी एक सदस्य था। प्रधानमंत्री का काफिला अमेठी से सुल्तानपुर जा रहा था। रात का समय था। राजीव गाँधी

ने जानबूझकर कच्चा रास्ता चुना। अचानक काफिला रुक गया। रात के 11 बजे होंगे। चारों तरफ सुनसान था। कारों के अचानक रुकने से हमें चिंता होने लगी। कई तरह की आशंकाएँ उठने लगीं। कहीं प्रधानमंत्री का कोई अनिष्ट न हो गया हो? इतना हम सोच ही रहे थे कि अँधेरे को चीरती हुई टार्च की रोशनी हमारे चेहरों पर पड़ी। आँखें चुंधिया गईं। कुछ सँभलने के बाद कार के बाहर देखा तो प्रधानमंत्री स्वयं टार्च लिए खड़े हैं। हम लोग हक्के-बक्के रह गए। साहस बटोरकर मैंने पूछा, "राजीवजी क्या बात है?" वे बिगड़ते हुए बोले, "बात क्या है... देख नहीं रहे हो इतनी कारें हम लोगों के पीछे आ रही हैं। तमाशा बना रखा है। मैं आज सभी कारों को चैक करता हूँ। इसके बाद ही मोटरकेड आगे बढ़ेगा।" इतना कहकर वे तपाक से आगे बढ़ गए। उनके साथ अंगरक्षक भी। हम लोग सोचने लगे कि क्या प्रधानमंत्री को कार-चैकिंग का काम करना चाहिए? यह काम तो किसी पुलिस अधिकारी को भी सौंपा जा सकता था। इस कड़कड़ाती सर्द अंधेरी रात में राजीव गाँधी नाहक खतरा मोल रहे हैं। जब तक प्रधानमंत्री काफिले के अंतिम छोर तक नहीं पहुँच गए उन्हें चैन नहीं मिला।

पन्द्रह मिनट के बाद लौटते हुए उन्होंने हम लोगों से कहा, "मैंने सभी कारें रुकवा दी हैं। कई बेकार के लोग साथ चल रहे थे। अब आपकी मीडिया कार के बाद कोई कार साथ नहीं चलेगी," इतना कहकर वे अपनी कार में सवार हो गए। कारवाँ चला तब हम लोगों ने राहत की साँस ली।

जब वे प्रधानमंत्री थे तब उनकी दक्षिण-भारत की यात्राएँ मैंने कवर की हैं। दक्षिण भारत में जरूरत से ज्यादा ही उनका स्वागत हुआ करता था। वे भरपूर इसका आनंद लिया करते थे। जब वे वहाँ की जनता के बीच होते तब वे किसी महासागर में गोता लगाते हुए दिखाई देते। एक यात्रा में तमिलनाडु-केरल सीमा पर उनकी जीप खराब हो गई। उसे वे स्वयं चला रहे थे। देखा, प्रधानमंत्री का कारवाँ दस-पंद्रह मिनट से हिल नहीं रहा है। हमने कार से बाहर निकलकर देखा कि प्रधानमंत्री स्वयं जीप के कल-पुर्जों की जाँच कर रहे हैं। इसी बीच गाँव के लोग जमा हो गए। अंगरक्षकों के घेरे को तोड़कर वे उनके बीच जाकर बतियाने लगे। श्री मणिशंकर के माध्यम से वे उनके साथ घरेलू बातें करने लगे। गाँववालों को यह अहसास नहीं होने दिया कि उनके साथ देश का प्रधानमंत्री बात कर रहा है। जनता के साथ ही नहीं, वे अपने गैर-राजनीतिक दोस्तों पर भी उतना ही प्यार उँडेल दिया करते थे। गुजरात यात्रा पर जाते समय दिल्ली-अहमदाबाद उड़ान के दौरान राजीव गाँधी रास्तेभर कॉकपिट में बैठे रहे। परिचारिका से पूछने पर पता चला कि उड़ान के कप्तान पूर्व प्रधानमंत्री के पुराने

दोस्त हैं। कभी दोनों एक साथ विमान उड़ाया करते थे और जब सवा-डेढ़ घंटे के बाद कॉकपिट से बाहर निकले तो वे जनता में समा गए।

राजीव गाँधी में सीखने की ललक हमेशा रहती थी। इसलिए उन्होंने यह दावा नहीं किया कि वे बुद्धिजीवी या विचारक हैं या समाज की बनावट को अच्छी तरह से समझते हैं। इसीलिए वे यात्राओं के दौरान जनता से छोटी-छोटी बातें पूछा करते थे, लोगों से जानना चाहते थे कि क्या उन्हें समय पर राशन मिलता है ? पेय जल मिलता है ? उनके यहाँ शिक्षा की क्या व्यवस्था है? गाँव में बिजली कहाँ से आती है? पटवारी क्या करता है? तहसीलदार या कलेक्टर अपनी जिम्मेदारी निभाते हैं या नहीं? कभी-कभी वे मौके पर ही अधिकारियों को झिड़क दिया करते थे। तमिलनाडु की यात्रा के दौरान एक कलेक्टर को उन्होंने बुरी तरह डाँट दिया। वे घबराकर हमारी कार में आकर बैठ गए। कहने लगे, "आज मेरी नौकरी गई।" बड़ी मुश्किल से समझाया कि ऐसा नहीं होगा। अगले पड़ाव पर राजीव गाँधी ने उन्हें तलब कर लिया। इसके बाद में वे प्रसन्न दिखाई दिए। स्थिति सामान्य हो गई।

1985 में मास्को से दिल्ली लौटते समय मैंने उनसे विमान में अनुरोध किया कि वे मुझे तत्काल इन्टरव्यू दें। पहले वे तैयार नहीं हुए क्योंकि अन्य पत्रकारों के इस तरह के अनुरोध को अस्वीकार कर चुके थे। पर मैंने हार नहीं मानी। जिद के अंदाज से मैंने दो-तीन दफे कहा। अंत में उन्होंने अपनी घड़ी की ओर देखते हुए शरारती मुद्रा में कहा : तो फिर मैं सात मिनट से ज्यादा नहीं दूँगा। इसमें काम चलाना होगा। मैंने तुरंत हाँ कर दी। उन्होंने तपाक से कहा : तो चले आओ मेरे केबिन में। और यह सात मिनट की बातचीत तीस मिनट में बदल गई। मैंने उनसे जानबूझकर कुछ वैचारिक सवाल कर डाले। मसलन मैंने पूछा : "राजीवजी, भारत में आप उदार या विकसित पूँजीवाद लाना चाहते हैं, लेकिन देश के सामाजिक-आर्थिक संबंध आज भी सामंती हैं; विशेष रूप से कृषि संबंध पूरी तरह से सामंती हैं। कैसे बदलेंगे?" वे मेरे सवालों को पूरी तरह से समझ नहीं पाए। उनके लिए इस तरह की वैचारिक शब्दावली शायद नई थी। इसीलिए उन्होंने अपनी सीमाओं को सामने रखते हुए कहा, "देखिए, अभी बहुत कुछ मुझे सीखना-जानना है। मोटे तौर पर मैं यह समझता हूँ कि हम उद्योग लगाएँगे, उससे बदलाव आएगा।" उस समय उन पर आध्यात्मिकता भी हावी थी। इसीलिए वे कहने लगे, "हम पूँजीवाद नहीं लाना चाहते। हमें आध्यात्मिक बनना है, भारत के आत्म-चिंतन को जगाना है।" मैंने दलील दी, "राजीवजी, आपके एप्रोच में काफी अन्तर्विरोध है। पूँजीवाद और आध्यात्मिकता के संग-संग रहने से समाज में कोई बुनियादी परिवर्तन आएगा, यह संभव नहीं लगता।" उन्होंने कहा, "हो सकता है। लेकिन प्रयोग करने में क्या हर्ज है।

नहीं जमा तो कुछ और रास्ता अपनाएंगे। मैंने अपने को खुला रखा है।" खुलापन या भोलापन राजीव गाँधी में इस कदर था कि वे यह समझ नहीं पाते थे कि गोपनीयता की सीमा कहाँ शुरू होती है और कहाँ समाप्त होती है? कौन-सी एवं कितनी बात सार्वजनिक रूप से कहनी चाहिए ? राजीवजी ने शायद जानबूझकर इस बोध को अस्वीकार किया या इसकी जरूरत नहीं समझी। गुजरात यात्रा के दौरान वे प्रदेश इंका विधायक दल की बैठक को संबोधित कर रहे थे। संयोग से मुझे भी अंदर बैठने की इजाजत मिल गई। वैसे प्रेस के लिए मनाही थी। मुझे देखकर राजीव गाँधी कहने लगे, "देखिए, बैठक की बातचीत सब ऑफ दि रिकॉर्ड हैं। *नई दुनिया* में छपनी नहीं चाहिए। आप लोग (विधायकगण) भी इसे बाहर न कहें।" इसके बाद उन्होंने पंजाब-कश्मीर के संबंध में सिलसिलेवार (घटनाओं पर) प्रकाश डाला। पूर्व राज्यपाल जगमोहन के संबंध में कुछ संवेदनशील जानकारी भी दी। श्री गाँधी के इस खुलेपन से इंका विधायक गदगद हो गए। बैठक समाप्ति पर फिर उन्होंने सभी को आगाह किया कि इन बातों की चर्चा बाहर न की जाए। लेकिन, अगले पड़ाव पर मैं क्या देखता हूँ कि इंका अध्यक्ष ने सार्वजनिक सभाओं में कश्मीर से संबंधित बातें बतलानी शुरू कर दीं। अगले दिन अहमदाबाद में उन्होंने सभी तथाकथित गोपनीय बातें सार्वजनिक कर दीं। उन्होंने स्वयं अपनी ही चेतावनी को भुला दिया। ऐसा उन्होंने जानबूझकर नहीं किया। चूँकि प्रौढ़ राजीव गाँधी के भीतर एक शिशु और किशोर राजीव गांधी निरंतर किलकारियाँ मारता रहता था, दुस्साहसिकता के लिए तत्पर रहता था, इसलिए बंद या खुली राजनीति की सीमाओं से वे अपरिचित दिखाई दिए। उनकी इसी सादगी का भरपूर ढंग से अनुचित लाभ भी उठाया गया। इंकाजनों में स्व. गाँधी को लेकर एक तकियाकलाम मशहूर था। चतुर इंकाई कहा करते थे—अगर मि. क्लीन से कुछ काम करवाना है तो उनसे तब मिलो जब वे सोने जा रहे हों वरना तुम्हारा बना-बनाया काम बिगड़ जाएगा। यहाँ तक कि गत अप्रैल में टिकट वितरण के दौरान कुछ लोगों ने यही फार्मूला अपनाया। इंकाजन कहा करते थे कि राजीव के फैसलों को बदलवाना बहुत आसान काम है। गुटीय लड़ाइयों में उनके इस भोलेपन का जमकर दुरुपयोग किया गया। प्रदेश सरकारें अस्थिर करवाई गईं। मुख्यमंत्री बदलवाए गए। मध्यप्रदेश सहित हिंदी राज्यों में यह खेल जमकर खेला गया। उनकी इस मासूमियत को देखकर गाँधी को मि. क्लीन से 'मिस्टर सिम्पल्टन' कहा जाने लगा। इस पर भी उन्होंने अपनी पारदर्शिता त्यागी नहीं। भले ही वे इसके परवान चढ़ गए। जयचंदों, मीरजाफरों, ब्रूटसों से भरी सियासत में इतना पारदर्शी होना कितना त्रासदीपूर्ण होता है !

मई, 1991

राजनीतिक पक्षाघात से जूझते चरणसिंह

लोगबाग कहते हैं कि बुढ़ापे में किसी को लकवा मार जाए, तब उसकी हमेशा के लिए छुट्टी समझो; वह कभी पूरी तरह भला-चंगा नहीं हो सकता। बिलकुल गलत। मेरे एक पड़ौसी हैं। नब्बे के पार होंगे। पिछले साल लकवे ने हमला कर दिया था। सैनिक अस्पताल में पूरे 6 महीने रहे। डॉक्टर तो हिम्मत हार चुके थे, मगर वृद्ध ने लकवे को मात दे दी। आजकल रोज-सुबह उठते हैं, बागवानी करते हैं, खूब खाते-पीते हैं, चहलकदमी करते हैं; घरवालों समेत सभी पड़ौसी हैरान हैं।

लकवे की एक दूसरी किस्म भी है। यह लकवा व्यक्ति को शारीरिक रूप से धराशायी नहीं करता, बाकी सब कुछ कर डालता है। खूबी इसकी यह है कि इसका इलाज किसी शफाखाने में नहीं हो सकता, और न ही डॉक्टर कुछ कर सकता है। रोगी एक ही फारमूला अपनाता है : "आस मत छोड़ो, देखो, इंतजार करो और फिर लपको।" यह है राजनीतिक लकवा। लोकसभा चुनावों के बाद से ही भारत के पूर्व प्रधानमंत्री चौ. चरणसिंह इस राजनीतिक पक्षाघात के शिकार हो गए थे। न कहीं उठना, न कहीं बैठना; सब पराए हो गए थे। उनका बंगला भी पक्षाघात का शिकार लगता था। वीरान-सुनसान।

खैर साहब ! पड़ौसी की तरह अस्सी के पार चौधरी साहब ने भी लकवे के सामने अपने घुटने नहीं टेके। दो-ढाई महीने राजनीतिक पक्षाघात की खाट पर पड़े-पड़े अपना पेट फारमूला अपनाते रहे। विधानसभा के चुनाव परिणामों के बाद से वे पड़ौसी की तरह चहकने लगे हैं। उनके इर्द-गिर्द लोगों का जमघट रहता है। बंगले में चहल-पहल लौट आई है। रोज सुबह-शाम लोधी गार्डन में पूर्व प्रधानमंत्री सैर के लिए जाते हैं। साथ में 10-15 लोगों का जुलूस रहता है।

चौधरी साहब अपनी छड़ी थामे तेज-तर्रारी के साथ चक्कर काटते रहते हैं। चुनावों के पहले उनके साथ उनका अंगरक्षक भी रहता था।

वैसे, चौधरी साहब को राजनीतिक पक्षाघात के दौरे कई बार आए हैं। 1980 में इंदिरा-शासन की वापसी के बाद उन्हें लंबे दौरों का सामना करना पड़ा था। परंतु, अब चौधरी साहब और उनके साथियों की आशाएँ फिर से बसंत में झूमने लगी हैं। विधानसभा के चुनाव परिणामों ने उनके हिए में नए-नए फूल खिलाए हैं। उनके शिविर में चौधरी साहब को राजगद्दी सौंपने की तैयारियाँ शुरू हो गई हैं। विधानसभा चुनावों में उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार जैसे प्रांतों में दलित मजदूर किसान पार्टी को मिली अप्रत्याशित उपलब्धियों ने चौधरीजी को पिछड़े वर्ग एवं किसानों के 'मसीहा' के रूप में फिर से जिला दिया है। उनके शिविर में सुझावों की मथनी खूब चल रही है– क्यों नहीं चौधरी साहब के विदेश-पलट पुत्र को राजगद्दी सौंप दी जाए? इसमें हर्ज ही क्या है? जब शासक दल, इंदिरा कांग्रेस, इस परिपाटी को बनाए हुए है, तब दमकिपा भला पीछे किसलिए रहे? अगर, अमेरिका-पलट पुत्र पिता की गद्दी पर बैठते हैं तो पिछड़ों के वोट-बैंकों पर कोई डकैती नहीं डाल सकता। वरना, देर-सबेर चौधरी साहब की गैरमौजूदगी में इंका इस बैंक पर डाका डालने से चूकेगी नहीं। इसलिए पुत्र को तुरंत गद्दी सौंप देने में ही भलाई है।

यह था किस्सा पक्षाघात-विजेता दो बुढ़ऊ वीरों का। इसी से कुछ मिलता-जुलता किस्सा मध्यप्रदेश के एक आयातित सांसद का है। देश में मध्यप्रदेश प्राकृतिक एवं वन संपदा के निर्यातक के रूप में विख्यात है, परंतु दिल्ली के संसदीय क्षेत्र में प्रदेश ने सांसदों का आयात करने में भी काफी नाम कमाया है। ऐसे ही एक सांसद हैं श्री जे.के.जैन। दिल्ली के निवासी हैं, परंतु मध्यप्रदेश से राज्यसभा के सदस्य बने हुए हैं।

पिछले दिनों उनके भी राजनीतिक लकवा के शिकार होने की आशंका यहाँ के क्षेत्रों में फैली हुई थी। परंतु, कई आशंकाओं के घटाटोप के बीच एक बार फिर इंका संसदीय बोर्ड के सचिव निर्वाचित होकर श्री जैन ने सभी को हैरत में डाल दिया है। इसी जीत की खुशी में उन्होंने 28 मार्च को अपने बंगले पर पुरानी दिल्ली के ठेठ अंदाज में बड़े ठाठ-बाट के साथ दोपहर की दावत दे डाली। चाँदनी चौक के पकवान, चाट, गोल-गप्पे, ठंडाई का आनंद लेने के लिए जब प्रधानमंत्री राजीव गाँधी पहुँच सकते हैं, तब भला लोकसभा अध्यक्ष बलराम जाखड़ और राज्यसभा की उपाध्यक्षा श्रीमती नजमा हेपतुल्ला के सदन-साथियों की फौज कैसे पीछे रह सकती थी ! चूँकि राजनेताओं के साथ चोली-दामन का संबंध है, इसलिए पत्रकार गैरहाजिर क्यूँ रहें !

पहले श्री जैन के किस्से का जायका ले लें, फिर दावत का। हुआ यह कि कुछ दिन पहले श्री गाँधी ने संसदीय दल के नेता के नाते इंका सांसदों को संबोधित किया; पंजाब पर कुछ टीका-टिप्पणी की। बाद में सचिव के नाते श्री जैन ने पत्रकारों को 'ब्रीफ' करते हुए कह दिया कि प्रधानमंत्री ने पंजाब के संदर्भ में कहा है कि यदि अमन-चैन रहता है तो सेना को बैरकों के हवाले कर दिया जाएगा, लोकप्रिय सरकार की बहाली होगी। जाने क्या हुआ, उसी दिन एक-दो घंटे बाद श्री जैन दौड़े-दौड़े सेंट्रल हॉल पहुँचे। प्रेस-दफ्तरों में फोन खटखटाए। पंजाब को लेकर जो ब्रीफ किया था, उसमें संशोधन का आग्रह किया। हम लोगों ने मान लिया। बात आई-गई हो गई। परंतु, मामले ने फिर तूल पकड़ा। उसी शाम कांग्रेस आला कमान के महासचिव श्री श्रीकांत वर्मा ने श्री जैन की पंजाब पर ब्रीफिंग और बाद में संशोधन दोनों का ही खंडन कर दिया। श्री वर्मा ने इतना तक कह डाला कि श्री गाँधी ने अपने भाषण में सेना की वापसी का कोई उल्लेख नहीं किया था।

तब से ही लग रहा था कि श्री जैन की पतंग कटनेवाली है। अब वे श्री गाँधी के लाड़ले नहीं रहेंगे। सचिव के पद से उन्हें कभी भी हटाया जा सकता है। उनके विरोधी सक्रिय हो गए और पद पर नजरें गड़ा दीं। इस प्रकरण का पटाक्षेप यहीं नहीं हुआ। एक-दो दिन बाद ही श्री गाँधी के भाषण का अधिकृत रूप जारी किया गया, जिसमें श्रीं जैन की ब्रीफिंग सही निकली और श्री वर्मा का खंडन गलत। शासक दल की इस हास्यास्पद स्थिति का अगला शिकार कौन होनेवाला है, यह कहना मुश्किल है; केवल अटकलों के पाल डाले जा सकते हैं। हाँ, तो वापस लौटें कस्तूरबा गाँधी मार्ग स्थित श्री जैन के विशाल बंगले पर। बंगले पर संसद के बाहर एक छोटी-मोटी संसद लगी थी। ऐसे मौकों पर, जब ठंडाई-चाट की बहार हो, राजनेताओं की आपसी चुहलबाजियाँ भी कम जायकेदार नहीं रहतीं। ठीक बीच में लंबे-तडंगे श्री जाखड को श्रीमती हेपतुल्ला और केंद्रीय राज्यमंत्री श्रीमती मार्गरेट अल्वा घेरे हुए थीं। और भी थे कई सांसद तथा पत्रकार, आसपास। अपने चेहरे के उतार-चढ़ाव के लिए चर्चित श्रीमती अल्वा शिकायत भरे अंदाज में कहने लगीं—"जाखड़ साहब, दुनिया भर में अकेले-अकेले घूम आते हैं, कभी साथ नहीं ले जाते!" "अल्वाजी, मैंने कब मना किया है? आज भी कह रहा हूँ।" जाखड़जी ने तपाक से कहा। श्रीमती अल्वा भी हाजिरजवाबी में पीछे रहनेवाली नहीं मानी जातीं : "जी नहीं, पिछले कई सालों से आप इसी तरह झाँसा देते आ रहे हैं। बोलिए, कब-किस डेलीगेशन में शामिल करनेवाले हैं?" "देखिए मैडम! पहले जो कहा है, अब भी वही कह रहा हूँ। अगर विदेश घुमा दिया तो आपको ऐसी शिकायत का मौका कब मिलेगा? कम से कम इसका तो ख्याल करें।" अध्यक्ष का यह कहना था कि चारों तरफ जोरों का ठहाका लगा। श्रीमती अल्वा

त्यौरियाँ चढ़ाते हुए लेजा गई।

राज्यसभा की उपसभापति श्रीमती हेपतुल्ला ने डी.एम.के. के एक सदस्य श्री वी. गोपालस्वामी के 'दिल जलने' का किस्सा छेड़ दिया। सदन में श्री स्वामी बहुत तेज बोलते हैं। आवाज इतनी बुलंद कि सदन काँप उठता है और वे स्वयं पतंग की तरह थरथराने लगते हैं। हैं भी लंबे व पतले-दुबले। उनकी गोली की तरह तेज, महीन व तीखी आवाज लोगों को चीर डालती है। उपसभापति ने इसकी शिकायत की। बताने लगीं कि उन्होंने कई दफे कहा है कि मि. स्वामी ! इतना तेज न बोला करें ! मेरी मौजूदगी का ध्यान रखें। शांति के साथ बात करें।

(इसी बीच श्री जाखड़ ने श्रीमती हेपतुल्ला को पूरे गौर से देखा। मुस्कुराए। उनके नयन-अवलोकन का आशय हो सकता है– 'अच्छा इतनी विशाल रूप-राशि के सामने स्वामी इतना चीख कैसे पाते हैं? कुछ तो ख्याल रखें।')

"परंतु जाखड़ साहब, मि. स्वामी अपनी आदत से बाज नहीं आते। एक दिन वो गलियारे में टकरा गए। मैंने उन्हें फिर समझाया। वो चीखकर कहने लगे– 'मैडम, माई हॉर्ट इज बर्निंग'।" श्रीमती अल्वा, जो अब तक चुपचाप सुनती जा रही थीं, तपाक से बोलीं, "मैंने मि. स्वामी को कह दिया है– आपका ब्लड प्रेशर हाई हो जाता है; किसी दिन हॉर्ट फेल हो जाएगा। अगर अब तेज बोले तो आपको जबर्दस्ती हॉस्पिटल ले जाऊँगी।"

जाखड़ साहब ने चुटकी लेते हुए कहा–"देखिए, आप लोगों के ऐसा कहने पर मि.स्वामी कहीं यह न कह बैठें– 'माई हॉर्ट इज बिकमिंग गार्डन-गार्डन।' (मेरा दिल बाग-बाग हो रहा है।)" और जोर का एक ठहाका लगा। इसी बीच श्री गाँधी के पहुँचने की खबर फैल गई। बस, रंग में भंग। चारों तरफ खामोशी। श्री गाँधी की चुटकी भर दृष्टि चुराने के लिए लोगों में हलचल मच गई। ऐसे मौके पर श्री गाँधी आबेहयात दिखाई दे रहे थे; इस सदी की तर्ज में कहें तो एक 'रेयर कमोडिटी'।

जब दुकान पूरी तरह उठ गई, तब खरामा-खरामा पहुँचे मध्यप्रदेश इंका संसदीय समिति के संयोजक श्री दिलीपसिंह भूरिया। श्री जैन ने खोमचे में बचा-खुचा जो रहा, श्री भूरिया को परोस दिया। वैसे श्री भूरिया आजकल पूरे जोरों पर हैं। उनकी पाग में एक कलँगी और लग गई है : नाउम्मीदी के बावजूद इंका संसदीय बोर्ड की कार्यकारिणी के सदस्य चुन लिए गए हैं। प्रदेश से अकेले हैं। श्री गाँधी के आसपास उठने-बैठने का मौका मिल गया है। प्रदेश की चिंताएँ फिर से उठने लगी हैं। इसीलिए उनके नेतृत्व में प्रदेश सांसदों ने प्रधानमंत्री को ज्ञापन भी दिया, और सूखाग्रस्त जिलों को पेयजल की राहत पहुँचाने की अपील

की। अब देखिए, प्रधानमंत्री क्या करते हैं!

पिछले सप्ताह प्रदेश के इंका क्षेत्रों में एक और घटना हुई। अर्जुनसिंह के खेमे के खास सेनापति श्री दिग्विजयसिंह प्रदेश अध्यक्ष मनोनीत कर दिए गए। कुछ खेमों को यह घटना रुची नहीं, क्योंकि वहाँ दूसरी उम्मीदें फैली हुई थीं; पूर्व मुख्यमंत्री का जादू कैसे तोड़ा जाए इसकी पैंतरेबाजियाँ चल रही थीं। फिलहाल तो, सब्र ही धर्म है।

2 अप्रैल, 1985

राजीव को गप्पियों के कृपांक

पत्रकार बड़े अटपटे जीव हैं; किसी से कुछ भी ऊलजलूल सवाल-जवाब कर बैठते हैं। हुआ भी यही। इसी माह के पहले इतवार प्रधानमंत्री की विज्ञान भवन में प्रेस कॉन्फ्रेंस थी। प्रधानमंत्री बनने के बाद, अपने छह-सात महीने के छोटे से इतिहास में श्री गाँधी का पहली बार औपचारिक तौर पर देस-परदेस के पत्रकारों से पाला पड़ा था। भारी तैयारियाँ की गई थीं। इंदिराजी के जमाने में पत्रकार वार्ता विज्ञान भवन के सम्मेलन कक्ष में हुआ करती थी। परन्तु, यह इतवारी वार्ता विशाल सभागार में हुई। पहली मुठभेड़ में ही एक पत्रकार ने ऊटपटाँग सवाल कर डाला, "मि. राजीव, आप प्रधानमंत्री के रूप में राजीव को किस प्रकार परिभाषित करेंगे?" सभी हँसे। श्री गाँधी का जवाब था, "आपको तीन सवाल करने की अनुमति देकर मैंने गलती की। ऐसा सवाल? तौबा!" सभागार में ठहाका।

यह सवाल हास्यास्पद लग सकता है, पर था मार्के का। आज दिल्ली के मठाधीश और छोटे-मोटे संपादक तथा कॉलम-लेखकों में राजीव गाँधी के व्यक्तित्व को किसी न किसी साँचे में फिट करने की होड़ लगी हुई है, मगर कोई माकूल फ्रेम सामने आया ही नहीं है। देखिए, भारत की सनातन संस्कृति में नायकों के लिए सात-आठ फ्रेम हैं : धीरोदात्त, धीरललित, धीर प्रशान्त, धीरोद्धत, अनुकूल नायक, दक्षिण नायक, शठ नायक और धृष्ट नायक। इन नायकों की श्री राम, युधिष्ठिर, दुष्यंत, भीमसेन, मेघनाद आदि से तुलना की जा सकती है; कुछ की चलताऊ और फिल्मी जबान में संजीव, बच्चन, सी. रामचन्द्रन, उत्तमकुमार, राजेश खन्ना जैसे आधुनिक नायकों से की जा सकती है। दो शब्दों में, वह वीर, विनयशील, त्यागी से लेकर पूँजीपति, कपटी, लम्पट और दिलफेंक तक हो सकता है।

यहाँ सवाल है राजीव भैया का। उनका छोटा-सा काल और छोटा इतिहास।

पत्रकार वार्ता में [illegible] मगर पूछनेवाले का तर्ज-बयाँ दूसरा था। सवाल था, "मि. गाँधी, आपकी नीतियों को वामपंथी कहें, या दक्षिणपंथी, या मध्यपंथी, केन्द्रीय दक्षिणपंथी या केंद्रीय वामपंथी।" ऐसा ही कुछ था। प्रधानमंत्री ने फटाफट पिटा-पिटाया जवाब दे दिया, "हम कोई भी पंथी नहीं हैं। जो देश के हित में है, वही करते हैं।" परिभाषा पर विराम।

राजधानी के बौद्धिक गप्पियों के बीच राजीव के किरदार की पैमाइश के समय उनके दो जवाबों का खास जिक्र किया जाता है। प्रधानमंत्री ने आपातकाल और रूस के साथ दोस्ती के संबंध में जैसे जवाब दिए हैं, उन्हें लेकर तूफान मचा है। गप्पबाजों की एक मंडली उन्हें 1975 की इंदिरा गाँधी का अवतार घोषित कर रही है, जबकि दूसरी मंडली एक 'प्रशिक्षणार्थी प्रधानमंत्री' के रूप में परिभाषित करती है। गप्पियों की राय है कि एक मँजा हुआ प्रधानमंत्री बड़ी होशियारी से ऐसे सवालों से पिंड छुड़ा सकता था। इंदिरा गाँधी होतीं तो वे कहतीं—आपातकाल एक काल्पनिक सवाल है। या जब जैसे हालात पैदा होंगे, तब देखा जाएगा। या आपातकाल लगाने जैसी सूरत नजर नहीं आती या आपातकाल के संबंध में हम अपनी स्थिति पहले ही साफ कर चुके हैं। हमारा घोषणापत्र पढ़ लीजिए। और रूस तथा अमेरिका के साथ दोस्ती के संबंध में कहतीं—देखिए, देश का हित पहले है। हम गुटनिरपेक्ष हैं, हम सबसे दोस्ती चाहते हैं। इत्यादि। मगर, युवा प्रधानमंत्री ने दोनों ही सवालों पर दोटूक जवाब दिए, "जरूरत पड़ी तो इमरजेंसी लागू की जाएगी। सख्त कदम उठाए जाएँगे। रूस के साथ हमारी दोस्ती पुरानी, भरोसेमंद और टिकाऊ है। फ्रांस और अमेरिका के साथ भी दोस्ती चाहते हैं।" मजेदार बात यह है कि उन्होंने दोस्ती के मामले में अमेरिका का नाम सबसे आखिर में लिया।

बस, फिर क्या था ! तूफान आ गया। अमेरिकी लॉबी नाखुश और रूसी लॉबी आश्चर्यचकित। मन की बात यह कि कूटनीतिक दृष्टि से दोनों ही लॉबियाँ इस तरह 'सरेआम' नहीं होना चाहती थीं। कूटनीति की दुनिया में होता यह है कि 'आप कहें कुछ, करें कुछ। आपके हर शब्द के दोहरे-तिहरे अर्थ रहें और मुकरने की गुंजाइश हमेशा बनी रहे।' इस दृष्टि से राजीव गाँधी 'मँजे खिलाड़ी' साबित नहीं हुए। मगर नापने की कई स्केलें हैं। श्री गाँधी की शैली नपे-तुले शब्दों में अपनी बात बगैर किसी लाग-लपेट के कहने की भी हो सकती है। हो सकता है, वे इसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर निर्यात करने पर तुले हुए हों, क्योंकि रूस और अमेरिकी यात्राओं के दौरान उन्होंने परंपरागत कूटनीतिक शैली का परिचय नहीं दिया था। पर, चूकता कौन है कहने से। गपोड़ कहने लगे हैं, 'राजीव गाँधी को सत्तर करोड़ लोगों के हितों की कीमत पर ट्रेनिंग दी जा रही है। भारत से अच्छा अनोखा स्कूल दुनिया में कहाँ मिलेगा !' कुल जमा सार

यह कि प्रधानमंत्री वाशिंगटन की नेशनल प्रेस क्लब जैसी छाप और धाक विज्ञान भवन में पैदा नहीं कर सके। फिर भी, लोग-बाग उन्हें 'ग्रेस-मार्क' देने के लिए तैयार हैं, ताकि आनेवाली परीक्षाओं में अपने को पुख्ता ढंग से 'इम्प्रूव' कर सकें और अव्वल नंबरों से पास हो जाएँ। वैसे गंभीरता से सोचें, तो राजीव गाँधी के नायकत्व की इतनी जल्दी परिभाषा करना ठीक भी नहीं रहेगा। सच्चाई यह है कि उन्होंने वर्तमान पद सामान्य परिस्थितियों में या संघर्ष के साथ प्राप्त नहीं किया है, यह तो राजपाटवादी मूल्य-व्यवस्था के इतिहास में होनेवाली दुर्घटनाओं या असाधारण परिस्थितियों का एक 'संयोग प्रतीक' है। अब उन्हें सच्चे नायक बनने में 'टेम' तो लगेगा ही। अभी न वे संस्कृत नाटकों के सुखान्त नायक, ग्रीक ट्रेजडी के भाग्यवादी दुखान्त नायक, शेक्सपीयर के कर्मवादी दुखान्त नायक या दिलफेंक व साहसी नायक और न ही आधुनिक अस्तित्ववादी या मोहन राकेश के *आधे अधूरे* नायकों में से कोई एक लगते हैं।

फिलहाल, उनकी परिभाषा 'आगे बढ़ो, निर्णय करो, गलती हो तो, ठीक करो, और फिर सावधानी से आगे बढो' के रूप में की जा सकती है। सच है, वह एक नई राजनीतिक शैली की रचना करना चाहते हैं। हाँ, उसकी अपनी पहचान होनी शेष है। मगर उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ राजगद्दी मिली है, वहीं विरासत में कुछ 'घूरे' भी मिले हैं, जो कि सिंहासन के इर्दगिर्द जमा हैं। इनके बीच वे अपनी पहचान कैसे बनाते हैं, यह देखना है अब।

अब देखिए, केन्द्रीय मंत्रिमंडल और संगठन में फेरबदल के मामले में इंदिराजी की तरह राजीव भैया भी खबरनवीसों को गच्चा देकर मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों को उड़ गए। उधर, राष्ट्रपति भी दक्षिण भारत कूच कर गए। चर्चाएँ गर्म थीं कि मंत्रिमंडल में भारी परिवर्तन किया जाएगा, कई दिग्गजों की छुट्टी कर दी जाएगी, कांग्रेस आलाकमान का नाक-नक्शा बदला जाएगा। लेकिन हुआ कुछ भी नहीं। राहत कुछ को मिली है, परन्तु सिंहासन बहुतों के डोल रहे हैं। कांग्रेस मुख्यालय में जो निठल्ले पदाधिकारियों के रूप में कुख्यात थे, अब वे सक्रिय हो गए हैं वरना हफ्तों उनकी जगह उनकी कुर्सी के दीदार हुआ करते थे। प्रधानमंत्री कहीं हों, राष्ट्रपति जहाँ भी हों, अटकलों के कम्प्यूटर थमे नहीं हैं। कहा जा रहा है कि संसद सत्र के ऐन मौके पर परिवर्तन किया जा सकता है या फिर सत्र समाप्त होते ही भारी परिवर्तन होगा। यह बात पक्की है कि राजीव गाँधी प्रधानमंत्री के साथ-साथ कांग्रेस अध्यक्ष भी बने रहेंगे। कांग्रेस शताब्दि वर्ष जो है। विज्ञान भवन की प्रेस वार्ता में उन्होंने कहा भी था कि उन्हें दोनों पद काट नहीं रहे हैं : 'मैं दोनों जगह आराम से हूँ।'

स्थापित वामपंथी क्षेत्रों में भी होड़ लगी हुई है। प्रधानमंत्री के अधिक करीब कौन

रहे—सी.पी.आई. या सी.पी.एम., इस बात पर होड़ है। पिछले दिनों युवक समारोह के अवसर पर दोनों पार्टियों के मुखिया नम्बूदरीपाद और राजेश्वर राव प्रधानमंत्री के दाएँ तथा बाएँ बैठे। बीच में थे राजीव गाँधी। कम्युनिस्ट पार्टी के मुख्यालय अजय भवन से रिसनेवाली जानकारियाँ हैं कि का. राजेश्वर राव खुद राजीव गाँधी के प्रति नरम रुख अपनाने की पैरवी कर रहे हैं। इसका सबूत यह कि उन्होंने राजीव की जमकर तारीफ की। कुछ ने तो यहाँ तक फब्ती कसी कि राव नहीं, प्रदेश का कोई कांग्रेसी नेता बोल रहा है व पार्टी में कांग्रेस समर्थक तत्वों का फिर से बोलबाला होता जा रहा है। मार्क्सवादी नेता नम्बूदरीपाद भी 'ब्लो हाट-ब्लो-कोल्ड' यानी कभी नरम-कभी गरम जैसा रवैया अपनाने के पक्ष में हैं। वैसे कलकत्ता नगर निगम में कांग्रेस को शिकस्त देकर मार्क्सवादियों ने यह जरूर जतला दिया है कि राजीव गाँधी उन्हें 'यूँ ही' न समझें। हुगली के कछार और सुंदरवन में जो लाल सत्ता है, वह कंप्यूटरी प्यानोबाजी से यूँ ही नहीं हटाई जा सकती। कुछ भी सही, दोनों पार्टियाँ राजीव और उनकी पार्टी के साथ कोई 'निर्णायक रार' लेने के पक्ष में नहीं हैं; अलबत्ता सत्र के दौरान घरेलू मामलों में कांग्रेस की खिंचाई से चूकेंगी भी नहीं।

लगता है, दोनों पार्टियों में एकता का सपना परीकथाएँ ही रहेगा। एक अरसे से दोनों पार्टियों के नेता बैठकें कर रहे हैं और बैठक के तुरंत बाद दोनों पार्टियों के नेता एक-दूसरे के खिलाफ लिखना और बोलना शुरू कर देते हैं। इसका दिलचस्प पहलू यह कि इस सबको 'राजनीतिक शास्त्रार्थ' की संज्ञा दी जाती है। पिछले दिनों इस संवाददाता के साथ बातचीत में वयोव द्ध मार्क्सवादी नेता और पॉलिट ब्यूरो के सदस्य बी. रणदिवे कहने लगे, "अरे वो कम्युनिस्ट ही क्या, जो चाय की चुस्की न ले और पॉलिटिक्स न करे। दोनों पार्टियों की बैठक में चाय चलेगी और बाहर पॉलिटिक्स भी।" देखिए, यह चाय और राजनीति खंडन-मंडन का ही कमाल है कि चुनाव में भी दोनों पार्टियाँ एक-दूसरे के उम्मीदवार को हराने से पीछे नहीं रहतीं। फिर भी 'दुनिया के मजदूरो एक हो' का नारा। नमन् ऐसी चाय और शास्त्रार्थ को।

16 जुलाई, 1985

बाँह पर ताबीज बाँधे कम्प्यूटरवाले गए विदेश

आजकल राजधानी में 'झाड़ी फ्ल्यू' का प्रकोप है। नागरिक आम हो या खास, सभी इसकी लपेट में है। रोग बहुत ताजा है और किसी अफ्रीकी या किसी और लाल-काले-पीले देश से नहीं आया है यह; 2 अक्टूबर की सुबह राजघाट से इसका जन्म और फैलाव हुआ है।

क्या कहें! नाश हो इन आतंकवादियों का! दिल्ली में झाड़ियों की शामत आई हुई है। जब से राजघाट पर झाड़ियों में दुबककर कथित आतंकवादी ने प्रधानमंत्री राजीव गाँधी पर हत्या का असफल वार किया है, तब से ही हर झाड़ी दुर्ग दिखाई देने लगी है। जिधर से राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति गुजरते हैं, समझ लीजिए उस रास्ते की सारी झाड़ियाँ चंबल का बीहड़ दिखाई देने लगती हैं। रात-बिरात-आनन-फानन में झाड़ियों की ऐसी-तैसी।

परसों का किस्सा ही लीजिए, *नई दुनिया* परिवार के वरिष्ठ पत्रकार अभय छजलानी को विदाई देने के लिए हवाई अड्डे जाना पड़ा। वे प्रधानमंत्री के साथ चार देशों की यात्रा पर जा रहे थे। वक्त रहा होगा रात के ग्यारह। विशेष बस में साथ में कुछ और पत्रकार भी थे। 15-20 कि.मी. लंबा रास्ता था। प्रधानमंत्री और दूसरे तमगाधारी खास नागरिकों को भी इसी रास्ते से गुजरना था। बस से दोनों ने देखा कि हर झाड़ी की तलाशी ली जा रही है। वर्दीधारी लोग झाड़ियों को जोर-जोर से हिलाकर देखते। उनमें टॉर्च मारते। रास्ते-भर लगे पेड़ों पर कई-कई टॉर्चों की रोशनी मारी जा रही थी। तभी कोई बंदूकधारी झाड़ियों पर संगीन घोंपता दिखाई दिया। अभयजी ने यह माजरा देखकर चुटकी ली : 'कल कोई ब्यूरोक्रेट [illegible] दे कि इनसे बचाने के लिए इन पर तारों का जाल बिछा

दिया जाए तो देख लेना वैसा ही हो जाएगा। हर झाड़ी को काँटेदार तारों की ओढ़नी ओढ़ा दी जाएगी और हर पेड़ के जिस्म पर काँच रोप दिए जाएँगे, ताकि कोई पट्ठा आतंकवादी ऊपर चढ़ ही न सके।' कुछ पलों के लिए हँसी की जुगलबंदी। विचार ने दस्तक दी, इतिहास कुछ सिरफिरे ही तो बनाते हैं, बाकी सब उसे ढोते रहते हैं लकीर के फकीर बनकर। सच तो यह है कि लकीर का फकीर बने, इसके लिए भी हमेशा कैसी भी घटना की जरूरत रहती है। 2 अक्टूबर 86 की सुबह से पहले झाड़ियाँ चैन की बंसी बजाया करती थीं; दरख्तों पर सावन का वास था; अब सुरक्षा गार्डों की तनी संगीनें हैं। संगरूर दे पुत्तर करमजीत सिंह, यह क्या कर डाला तूने?

इसी उधेड़बुन में हवाई अड्डा आ चुका था। प्रधानमंत्री तथा अन्य विदेशी अतिथियों के आगमन और बिदाई के लिए अलग हवाई अड्डा है। इसे बोलते हैं टेक्नीकल एरिया। वायुसेना की निगरानी में आठों पहर रहता है। पास के बिना परिन्दा भी पर न मारे। चारों तरफ झाड़ी फोबिया था ही। कड़ी सुरक्षा। जब पिछले वर्ष यह लेखक बहामा गया था, उसकी तुलना में सुरक्षा के इंतजाम अधिक थे। आतंकवादियों की मेहरबानियाँ भी बढ़ गई हैं। इस दफे एक अच्छी बात रही। व्यवस्था सहज और स्वाभाविक लगी। पहले की तरह हड़बड़िया नहीं। लगता है, अनुभवों का मामला है।

चलिए, झाड़ी फोबिया से फिलहाल मुक्ति लें। खास मौकों पर ही जगमगानेवाले इस हवाई अड्डे की दुनिया में भी झाँक लें। कम दिलचस्प नहीं है यह।

हवाई अड्डे का दृश्य वैसा ही था। स्व. इंदिरा गाँधी और राजीव गाँधी ने कई दफे कहा कि मुख्यमंत्री और दूसरे नेतागण हवाई अड्डे पर फिजूल में न आया करें; अपने प्रदेशों में रहकर ही जनता के दुख-दर्द को अंतिम बिदाई दिया करें। बात भी सही है। प्रधानमंत्री के लिए विदेश आना-जाना एक रुटीन मामला है। फिर भी साहब कौन सुनता है! कहने को प्रधानमंत्री बॉस हैं। पर इस मामले में कांग्रेसी एक नहीं सुनेंगे, चाहे कुछ भी हो जाए। देख लीजिए, हवाई अड्डे पर आंध्रप्रदेश की राज्यपाल कुमुद बेन जोशी मौजूद हैं। पूछा, "आप कैसे?" नई *दुनिया* से अपनापा जताते हुए बोलीं, "श्रीनगर से लौट रही थी। सोचा प्रधानमंत्रीजी को विदाई दे दूँ।" "आंध्रप्रदेश में सब खैरियत तो है ना?" उन्हें कुछ उकसाने की कोशिश की मैंने। "देखिए, क्या कहूँ। वैसे ठीक-ठीक ही हैं।" बस फिर एक दिन की इंदौर यात्रा की स्मृतियों में डूब गईं। इसके आगे क्या सवाल करता? उन्होंने बचने की तरकीब निकाल ली थी।

आगे बढ़ा तो राजस्थान के मुख्यमंत्री हरिदेव जोशी लपकते हुए मिले। नजर पड़ते ही बोले, "राजीवजी को विदा देने आए हैं।" [illegible] और विदाई

के लिए कतारबद्ध श्वेत चेलों में शामिल हो गए। उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री भी आ धमके। केंद्रीय नेताओं को तो होना ही था। ऐसे मौके पर प्रदेश के और भी ढेर सारे नेता मौजूद थे। अलबत्ता मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री मोतीलाल वोरा की गैरमौजूदगी साफ थी। पहले वे आनेवाले थे। अंतिम क्षणों में क्या हुआ, श्यामला हिल वाले जानें। और भी कई नामी-गिरामी नेताओं का जमघट लग चुका था। यह साफ था, पहले की तुलना में सांसदों की भीड़ कम थी।

बॉस को विदाई देनेवालों की दो श्रेणियाँ हैं, 'ज्यादा खास' और 'कम खास'। ज्यादा खास वाले वायुयान के बिलकुल करीब पंक्तिबद्ध 'अटेंशन मुद्रा' में खड़े रहते हैं। इनमें केंद्रीय मंत्री, मुख्यमंत्री, राज्यपाल, उपराज्यपाल, महापौर, तीनों सेनाओं के अध्यक्ष आदि रहते हैं। विमान से दूर लाइन में सांसद, अधिकारी, पत्रकार और सत्ता-गलियारों में घुसने के लिए जुगाड़ करनेवाले लोग रहते हैं। भाई लोग, पास मार लाते हैं। भीड़ की शोभा बढ़ाते हैं। अब चूँकि प्रधानमंत्री के आने में वक्त है, नेताओं की बातचीत का जायजा ले लिया जाए। कोने में खड़े हैं, काबीना मंत्री बसंत साठे। लंबे-तड़ाक और विवादास्पद। इन्हें साल में दो दफे विचारों की जुगाली का दौरा पड़ता है। इसलिए अखबारी सुर्खियों में बने रहते हैं। पिछले दिनों हैदराबाद से ट्रेनिंग लेकर लौटे हैं। जानते हैं, अधिकारियों के साथ-साथ मंत्रियों को भी ट्रेनिंग लेनी पड़ेगी। कैसा जमाना आ गया है!

"हाँ तो साठेजी, आपकी ट्रेनिंग कैसी रही?" इस संवाददाता से रहा नहीं गया। "बहुत बढ़िया। मजा आया।" साठेजी बोले।

"इस उम्र में और इस पद पर रहते हुए कुछ अजीब नहीं लगा नौकरशाही के साथ पढ़ते हुए? आप लोग तो पालीटिकल एक्जीक्यूटिव हैं।" मैंने उन्हें उकसाने की कोशिश की।

"नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं। काफी फायदा हुआ है। देखिए, जानते तो हम सब थे, पर इतनी बारीकी से नहीं। सेक्रेट्री लोग जैसा बतलाते, हम मान लिया करते थे। अब ऐसा नहीं हो सकेगा। ट्रेनिंग से सबसे बड़ा फायदा यह हुआ है कि अमुक परियोजना में क्या कमी है, वह क्यों नहीं लागू हो पा रही है, कुल मिलाकर हम पूरे प्रबंध का मूल्यांकन कर सकते हैं। आप जानते ही हैं, सरकार की कार्यशैली बदल रही है। कम्प्यूटर आ रहा है। हमें भी नए ढंग से अपने को ढालना होगा।"

इसी बीच आंतरिक सुरक्षामंत्री चिदम्बरम आ धमके। "लो ये आ गए। इनकी ही मेहरबानी से ट्रेनिंग लेनी पड़ रही है," साठेजी बोले। "चिदम्बरम, तुम्हारा दूसरा कैम्प कैसा रहा?" कुछ सकुचाते हुए लुंगीधारी राज्यमंत्री बोले, "बहुत अच्छा सर! अगला कैम्प फिर हैदराबाद में कर रहे हैं।"

इसी बीच एक दूसरे गृहराज्यमंत्री अरुण नेहरू टपक पड़े। लोग कुछ चौकन्ने हुए, परंतु उनके पीछे दौड़े नहीं। कभी वक्त था, अरुण नेहरू जिधर से गुजरते, इंकाइयों में कँपकँपी फैल जाती थी; नेताओं की भीड़ चीरते हुए चले जाते थे; लोग करबद्ध उनके पीछे हो लेते थे। मजाल है, कोई उनके चेहरे पर नजर गड़ा लेता! और आज? कहाँ गया वो जलाल? सब कुछ बेनूर। अरुण नेहरू चुपचाप मंत्रियों की कतार में खड़े हो जाते हैं। एक बुद्धिजीवी इंकाई कहने लगे, "जोशीजी, पानी उतर गया है, काफी। समझ लीजिए, अरुण नेहरू बिल्कुल डाउन हैं, वैसे आउट नहीं हैं।" कैसी विडम्बना है! उ.प्र. के मुख्यमंत्री वीरबहादुर सिंह भी उनके पीछे नहीं लपके। नजरें चुराते रहे और कहा यह जाता है कि उ. प्र. की सनद सिंह को नेहरू की बदौलत मिली है।

एक कोने में खड़े पूर्व विदेश सचिव भंडारी दिखाई दे गए। आजकल इंका में विदेश-मामलों के संयोजक हैं। सोचा, मौका क्यूँ चूका जाए! पूछ लिया, "क्या भारत का पूर्व से मोह भंग हो गया है? आजकल उत्तर से लौ खूब लगाई जा रही है?" तीर ठीक निशाने पर बैठा। रोमेश भंडारी बोल पड़े, "अरे भाई, इतनी जल्दी निष्कर्ष मत निकालो। अमेरिका के साथ मामूली सैनिक संबंध सुधारे जा रहे हैं। भारत की नीतियों में कोई बुनियादी अंतर नहीं आया है। सच तो यह है कि यह संभव भी नहीं है।" पास ही में प्रधानमंत्री सचिवालय के एक परिचित वरिष्ठ अधिकारी खड़े थे; कहने लगे, "यह बिल्कुल संभव नहीं है कि हम बरसों पुराना नाता तोड़ दें। रूस के प्रति जो नीति है उसमें कोई बुनियादी अंतर नहीं आया है। कुछ सैनिक हथियार खरीदे जा सकते हैं। बस।"

एक परिचित बुद्धिजीवी दिखाई दे गए। ऊँचे पाए के हैं। प्रधानमंत्री के मित्रों के बीच उठना-बैठना है। उनका निष्कर्ष था, "राष्ट्रपति रेगन के रहते हुए तो अमेरिका के साथ संबंध सुधर ही नहीं सकते। आगे जाकर भले ही कुछ दिखाई दे। फिलहाल संबंधों का दिखावा जरूर रहेगा।" एक दिन पहले इंका के एक वरिष्ठ नेता का मत था कि "अमेरिका और भारत के बीच एक खुले क्षितिज पर कुछ संबंध बनेंगे।"

ध्यान लौटा भंडारीजी पर, "कैसी लग रही है नई भूमिका – राजनयिक से राजनेता?"

"बिल्कुल ठीक। मैं तो पहले भी ऐसे ही रहता था। आप बहामा, अमेरिका में देख ही चुके हैं।"

"तब राज्यसभा की तैयारी जोरों पर होगी? 1988 दूर नहीं।" मैंने चुटकी ली।

"अरे भाई माफ करो," वे जैसे जान छुड़ाते हुए भागे।

इसी बीच प्रधानमंत्री पहुँच चुके थे। भागदौड़ शुरू हो गई। पत्रकार भी फटाफट जम गए। सबका अभिवादन स्वीकार करते हुए पत्रकारों तक पहुँचे। हल्के-फुल्के सवाल हुए। वे फूलों से लदे हुए थे। मेरे पास खड़े किसी नेता ने एक बड़ा चौड़ा ताबीज उनकी बाँह पर बाँधा। गले में कोई झाड़-फूँकवाली माला पहनाई। नेता अपने में कुछ बुदबुदाया। राजीव मुस्कराए। सोनिया गाँधी ने दिलचस्पी से देखा। 'आई बला को टाल तू' नेता ने कहा होगा। टोना-टोटका, कम्प्यूटर का मायाजाल और 21वीं सदी की गूँज, है ना विडंबनाओं व चमत्कारों से भरा भारत का आसमान !

14 अक्टूबर, 1986

कोई हारा, कोई जीता, दिल्ली के दिल पर यह बीता

सामने एक बड़ा-सा ब्लैक-बोर्ड लगा हुआ है—बिल्कुल सपाट, खामोश और तटस्थ; जैसे उसे इर्द-गिर्द खड़ी भीड़ से फिलहाल कोई मतलब ही न हो। मैं जहाँ हूँ, वह कनाट प्लेस है : राजधानी का खूबसूरत टुकड़ा, हिप्पियों की सैरगाह, चायघरों और कॉफी-हाउसों से भरपूर, सरकारी क्लर्कों के लिए चुटकी-भर तसल्ली और किसी ग्रामीण के लिए अजूबा।

देखते-देखते भीड़ बढ़ती जा रही है। फुटपाथों पर शोर उगना शुरू हो गया है। ब्लैक-बोर्ड पर हरकत हुई और सफेद चॉक ने चन्द अंक टीपे। ठहरे हुए हुजूम में हलचल मच गई और कुछ जोरदार आवाजें उभरीं– 'इन्दिरा गाँधी जिन्दाबाद, इन्दिरा गाँधी जिन्दाबाद।' चुनाव-परिणाम बोर्ड ने दिल्ली की चार सीटों पर और देश के अन्य भागों में सत्तारूढ़ कांग्रेस की सफलता की घोषणा की। दर्शकों की प्रतिक्रियाओं का सिलसिला तेजी से चल पड़ा :

एक ने कहा–"मिस्टर, हमने तो तुमसे पहले ही कहा था कि कांग्रेस की गुड्डी चढ़ जाएगी।"

दूसरे ने टोका–"अजी साहब, अभी तो ढेर सारे परिणाम बाकी हैं। देखिए तो सही ऊँट किस करवट बैठता है। मुझे तो पूरी उम्मीद है, इन्दिरा सरकार को बहुमत नहीं मिलेगा।"

तभी बीच में एक टैक्सी ड्राइवर कूद पड़े। मूँछों को बल देते हुए तुनककर कहने लगे–"ओ बादशाहो, साड्डी गल्ल सुनो। तुसी देख लेना सातों सीटें कांग्रेस को मिलेंगी। टैक्सीवाला दाँ सारा वोट इन्दिराजी नूँ गया है।"

दैनिक पत्रों के दफ्तरों के सामने हुजूम बढ़ता जा रहा था। *हिन्दुस्तान टाइम्स* और *स्टेट्समैन* के दफ्तरों के सामने लोगों की गहमागहमी, उनकी बेताबी, चिल्लाहटें, रास्ता देने के लिए कार-टैक्सी, बसवालों के अनुरोध और ट्रैफिक पुलिस की सीटियाँ–खीझ और उत्साह के मिले-जुले वातावरण की रचना कर रहे थे। एक संवाददाता झुँझलाकर बुदबुदाया–"आखिर ये लोग इतने बेचैन क्यों हैं ? सवेरे अखबार नहीं पढ़ सकते क्या?" एक महिला संवाददाता मुखरित हुई–"प्लीज़ अंडरस्टैंड दी ऐंग्जाइटी आफ दी पीपुल। दे आर विद दी मैडम (इन्दिरा गाँधी)।" सूचनापट पर नई कांग्रेस की विजय के कुछ अंक उभर आते हैं। कुछ लोग जोश में आ जाते हैं। ढोल-मजीरा, तबला, गिटार, वायलन सभी जैसे एक साथ एक स्वर हो, झंकृत हो जाते हैं। कहीं भँगड़ा चालू हो जाता है, कहीं ट्विस्ट। जीपों, स्कूटरों और ताँगों का जमघट हो जाता है। कनाट प्लेस को घेर लिया गया है। वृत्ताकार कनाट प्लेस में एक और वृत्त बन गया है। कॉफी-हाउसों में प्यालों की टकराहटें और भी तेज होती जा रही हैं। लोग कह रहे हैं–"एक नए दौर की शुरूआत हो रही है। फिरकापरस्त हारेंगे। वक्त के खिलाफ जानेवालों के खिलाफ वक्त चला जाएगा।" एक टी-टोटलर कहता है–"इसी बात पर एक कप चाय और हो जाए।" उसका साथी कहता है– "अबे नहीं, आज तो मौसम नशीला है। बोतल खुल जाए। जीत की खुशी जरा झूम के मने।" वे दोनों उठकर एक 'वाइन-शॉप' की तरफ चल देते हैं। नई कांग्रेस के कुछ समर्थक धीरे-धीरे एक काफिले में बदल जाते हैं और काफिला प्रधानमंत्री के निवास-स्थान की ओर बढ़ जाता है। मैं कनाट प्लेस से ऊबकर बहादुरशाह जफर मार्ग की ओर बढ़ रहा हूँ।

इस मार्ग पर समाचारपत्रों के कार्यालय हैं। सभी ने परिणाम-पट्ट लगा रखे हैं। भीड़ एकाएक झूम उठी। एक ने टैक्सी पर चढ़कर कागज के लाउडस्पीकर से आवाज लगाई–"बोल इन्दिरा गाँधी की जय। समाजवाद जिन्दाबाद। जनसंघ, स्वतंत्र, गप्पा कांग्रेस हाय-हाय-हाय।" दूसरी तरफ कुछ कम्पोजीटर और ठेलेवाले मिठाइयाँ बाँट रहे हैं। भीड़ में खड़े मेरे एक लेखक-मित्र ने फरमाया : "यह अच्छा नहीं हुआ। सफल लोकतंत्र के लिए सशक्त विरोधी दल निहायत आवश्यक है। आज लगता है संसद बेजान हो गई है। मतदाता एक बार और विवेकहीन हो गए हैं या उन्हें ठग लिया गया है।" एक पत्रकार तपाक से बोले : "मगर इस बेजानपन के लिए कौन उत्तरदायी है? यदि विरोधी नेता वास्तव में एक समर्पित विरोधी भूमिका निभाते तो सम्भवत: आज ऐसा नहीं होता। वे सही माने में जनता में विश्वास जगाने में असफल रहे हैं। एक सतही वातावरण में रहे। 'नेगेटिव अप्रोच' रखी। इन्दिरा गाँधी बुनियादी परिवर्तन ला सकेंगी, इसमें शक है। फिर भी यथा स्थिति को कहाँ तक ढोया जा सकता था।"

दरियागंज के चौमंजिले मकानों पर लगे टी.वी.एरियलों पर रात उतर आई है। टेलिविजन में एक पुरानी फिल्म दिखाई जा रही है। कई दर्शक फिल्म से बोर हो रहे हैं मगर सेट से आँखें हटाएँ भी तो कैसे; बीच-बीच में चुनाव-परिणाम जो दिए जा रहे हैं। साथ ही विभिन्न राज्यों से आई चुनाव फिल्में भी। राजस्थान की चुनाव फिल्म में जयपुर की राजमाता श्रीमती गायत्री देवी का चेहरा उभर आता है। उनसे पूछा गया है कि आपने मतदाताओं को क्या आश्वासन दिए थे और उन्हें पूरा करने के लिए क्या करेंगी? वह कह देती हैं कि मैंने आश्वासन दिए ही नहीं। आसपास बैठे लोगों के चेहरों पर एक हल्की-सी मुसकान तैर जाती है। इस उत्तर से शायद वह अनाश्वस्त ही रह गए हैं। सेट पर विजय कुमार मल्होत्रा का चेहरा कुछ थका-सा, कुछ चिन्तित-सा लग रहा है। वह कहते हैं कि चुनाव के परिणाम अप्रत्याशित हैं। इन्दिरा गाँधी ने अमीरी-गरीबी का सवाल उठाकर लोगों को अपनी ओर कर लिया है, लेकिन यह स्थिति चलनेवाली नहीं है। अधिकतर बुद्धिजीवियों ने जनसंघ को ही मत दिए हैं।

मुकुल बनर्जी का चेहरा अपनी ही विजय से कुछ विस्मित-सा लग रहा है। उन्हें जैसे अपनी जीत का विश्वास नहीं हो पा रहा है। सुखद आश्चर्य से धीरे-धीरे उनका चेहरा खिलता जा रहा है। रात के बारह बज चुके हैं। टेलिफोन घरघरा उठा है। टेलिफोन जयपुर से है और एक दबंग छात्र नेता कह रहे हैं—"यार, देश की इस गुलाबी नगरी में इतनी रात गए भी मस्तियों का सिलसिला चल रहा है। मिर्जा इस्माइल रोड और रामनिवास बाग में लोगों की बेशुमार भीड़ है। हर क्रासिंग चुनाव-चर्चा से गर्म है। मतदाता का कहना है उसने एक हद तक सामन्ती जुआ उतार फेंका है। मगर, मेरा कहना है अभी हम पूरी तरह से जुए से मुक्त नहीं हुए हैं। यह जुआ उतर सकता है बशर्ते कि इन्दिरा गाँधी ठोस कदम उठाएँ। मैं कहे देता हूँ—सामाजिक परिवर्तन के लिए जनता ने यह अन्तिम अहिंसात्मक हथियार राजनीतिक नेताओं को दिया है।"

टेलिफोन बन्द हो गया है। मैं भी थक गया हूँ। चुनाव-परिणाम का पहला दिन (मार्च 10, 1971) बीत गया है।

सुबह जैसे ही उठा हूँ, मेरा पड़ोसी कृष्ण मुद्गल खिड़की में से झाँककर कह रहा है : बच्चे जोर-जोर से चिल्लाने लगे हैं : "इन्दिरा गाँधी जीत गई। इन्दिरा गाँधी जीत गई !" उनके हाथों में पुस्तकें हैं। परीक्षाएँ शुरू हो चुकी हैं। फिर भी शोर है—जीत और हार का। मकान-मालिक पंडितजी फूले नहीं समा रहे हैं।

पुरानी दिल्ली में विशेष रूप से खामोशी छाई हुई है। चाँदनी चौक— जनसंघ का गढ़— बेगाना हो चुका है। चाँदनी चौक स्थित नगर निगम के घड़ियाल का

स्वर इक्के, ताँगे, ठेले और झल्लीवालों की कान चीरती आवाजों में डूब गया है। झल्लीवाला कह रहा है : "हमारी झुग्गियाँ हटाने का मजा देख लिया न।" पहाड़ी धीरज के निवासी शर्माजी बोल उठे : "दिल्ली की जनता भद्दे पोस्टरों और नारों से ऊब चुकी थी।" दिल्ली निवासियों के गिलों-शिकायतों का दफ्तर खुल चुका है। जितने मुँह उतनी हिकायतें, उतनी ही शिकायतें। दिल की निकालने में कोई किफायत नहीं कर रहा है। खुशी में झूमती हुई जनता प्रधानमंत्री के निवास की ओर बढ़ी जा रही है।

प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी दर्शन देती हैं। उन्हें फूलमालाओं से लाद दिया जाता है। इसी बीच किसी की दृष्टि उनके गले में हमेशा पड़ी रहनेवाली रुद्राक्ष की माला पर पड़ जाती है। वह अपने साथी से कह रहा है : "इस माला में अवश्य ही कोई न कोई जादू है।"

एक पत्रकार बधाई देने के साथ लड्डुओं की माँग कर बैठा है। लड्डुओं का दौर भी चल रहा है और सवालों की झड़ी भी जारी है। इन्दिराजी मुस्करा रही हैं और कह रही हैं कि मैं तो हमेशा मुस्कराती हूँ, परिस्थिति चाहे जैसी भी हो। बातों ही बातों में बधाई देनेवालों की यह सभा पत्रकार-सम्मेलन में बदल जाती है। सम्पत्ति-अधिकार, सर्वोच्च न्यायालय, प्रिवीपर्स, संविधान में संशोधन और नए नेता के चुनाव पर प्रश्न पूछे जा रहे हैं। वह कह रही हैं : "पहले मैं नेता तो चुनी जाऊँ।"

एक संवाददाता कह उठता है : "क्या इसमें आपको शक है?" वह उत्तर देती हैं कि प्रश्न शक का नहीं, प्रणाली का है।

होली। आठ बजे से रंग खेलना शुरू हो गया है। दोपहर हो चुकी है। चाँदनी चौक में घोड़ों के स्थान पर 'गधा दौड़' हो रही है। दौड़ में सत्तारूढ़ कांग्रेस को प्रथम, डी.एम.के. को द्वितीय और जनसंघ को तीसरा स्थान मिला है। काका हाथरसी घोषणा कर रहे हैं : "सभी पराजित उम्मीदवारों ने मूर्ख-दल में शामिल होने का फैसला कर लिया है। हम पहली अप्रैल को जबरन लोकसभा हथिया लेंगे क्योंकि अब बुद्धिमानों के दिन समाप्त हो चुके हैं।"

होली-मेला समाप्त हो चुका है। एक मन्त्री के घर पर कुछ व्यक्ति जमा हैं। मन्त्री महोदय बता रहे हैं कि मध्यावधि चुनाव की घोषणा के बाद बड़े-बड़े दिग्गज भी अनुमानों के चक्रव्यूह में घिरे हुए थे; सत्ता कांग्रेस के उत्साही नेता भी 180 से अधिक सीटों की उम्मीद नहीं कर रहे थे। अब इतनी सीटें आ गई हैं तो घबराए हुए हैं कि कहीं भीड़ में खो न जाएँ। जो सत्ता कांग्रेस का टिकट पाकर भी हार गए उनके तो रंग ही उड़े हुए हैं।

मैं अब फिर उसी ब्लैक-बोर्ड के सामने आ गया हूँ। वहाँ अब कोई नहीं है। केवल एक बल्ब जल रहा है। बोर्ड के पास एक व्यक्ति बैठा है और उसके हाथ में चाक है। अब किसी की निगाह उस बोर्ड पर नहीं जाती। 10 मार्च की भीड़ की वह खुशी अब शायद शिथिल हो गई है। लोगों की पहलेवाली उत्सुकता ढलती जा रही है। 'हमें क्या' वाला भाव चेहरों पर फिर उभरने लगा है।

28 मार्च, 1971

ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती का 757वाँ वार्षिक उर्स

सदा दोहरायी जानेवाली मुरादें, न खत्म होनेवाली फरियादें, मनचाही मन्नतें, दुआओं की चीखती माँगें–सभी कुछ भीड़ में था। फटी बिवाइयाँ, फटे कपड़े, लंगड़े-लूले, जमीन से घिसटते, कावड़ों में लदे, समय से पिटे, समय पर सवार, बुर्कों से ढके दल, बॉब-कट हेयर, सफेद चमड़ी के दल, तिलक-धोतीधारी, काली शेरवानी, लंबी दाढ़ी, पान चबाते लोग, नंगे बदन, उनके रहनुमा सफ़ेद टोपीधारी और पुलिस संरक्षक, भीख के लिए पसरते हाथ, खुशबू से तर बेशकीमती चढ़ावे; ये सब भीड़ के साथी थे। यह भीड़ 'सकून' की तलाश में थी। रेलों, बसों, कारों, ट्रकों और ऊँट-गाड़ियों से और कुछ पैदल भी आयी थी। इसी तरह बादशाह अकबर भी सकून की खोज में आगरा से अजमेर के लिए पैदल आया था। हजरत ख्वाजा ने अकबर की पुत्रेच्छा पूरी की थी। इसी पुत्र जहाँगीर ने हजरत ख्वाजा की मजार के अंदर सुनहरा कटहरा बनवाया और कृतज्ञ पिता अकबर ने मजार के दरवाजों में किवाड़ों की जोड़ी लगवायी। मजार के गुंबद पर सुनहरी कलश और कोनों पर सुनहरी कलियाँ लगवायीं। मध्य एशिया के सीस्तान कस्बे में 1143 में जन्मे, जिंदगी से छुटकारा पाने के लिए, संत हजरत सत्य और ज्ञान की खोज में घर से निकल पड़े थे। बुखारा, इराक, तबरेज और शाम होते हुए मक्का चले गये। हज करने के बाद मदीने में तत्कालीन विख्यात संत हजरत शेख उस्मानी हारूनी से भेंट की और उनके शिष्य बने और एक रोज गुरु की आज्ञा पा हजरत ख्वाजा भारतवर्ष की ओर चल पड़े। भारतवर्ष में अजमेर को अपना निवासस्थान बनाया। सदा यही दुआ माँगने लगे–"हे अल्लाह! मुझे दर्द दे दे।" और फिर लोगों ने अपने बेशुमार दर्दों से ख्वाजा साहब की झोली भर दी। फिर मजार के चारों और मुरादों, फरियादों और ख्वाहिशों, चढ़ावों का घेरा बन गया।

उर्स शुरू हुआ। पसीने से लथपथ हजारों की संख्या में लोग दरगाह शरीफ में दाखिल हुए। 85 फुट ऊँचे बुलंद मुख्य दरवाजे से गुजरकर धूल में सने पैर संगमरमर के फर्श की ओर मुड़ गये। फकीर की डफली तेजी से बजने लगी। उधर महफिलखाने से कव्वाली की आवाजें आने लगीं। छोटी और बड़ी देगों में भक्तों ने किशमिश, बादाम, पिस्ता, काजू, नारियल, सौ-सौ....दस-दस...एक-एक के नोट, सोने के आभूषण और अनाज फेंकना शुरू किया। पास ही 'अल्लाह मुराद पूरी करे, एक पैसा दिला दे, कल से भूखा हूँ, बाबा रोटी खिला दे, तेरी जोड़ी बनी रहे, फकीर को कपड़ा दिला दे, खुदा तेरी खैर करे–पेट का सवाल है'। देग भरने लगे। भिखारी बढ़ने लगे। ये वही देगें हैं जो बादशाह अकबर और बादशाह जहाँगीर ने बनवायी थीं। अकबर द्वारा बनवायी गयी देग में 100 मन चावल और जहाँगीर की देग में 80 मन चावल पकता है। ख्वाजा साहब की मन्नत माननेवाले एक-एक अमीर भक्तजन ये देग चढ़वाते हैं। बहुसंख्यक गरीब जन एक-एक मुट्ठी चावल या पैसा डालकर ही संतोष प्राप्त करते हैं। सोचते हैं, ख्वाजा साहब ने बहुसंख्यक भक्तजन का एक मुट्ठी भर चावल 'कबूल' कर लिया है। सुदामा भी तो मुट्ठी-भर चावल लेकर कृष्ण के पास गया था। ईसा ने भी गड़रियों के साथ भोजन किया था। तटस्थ मूक दर्शक के विचारों का सिलसिला टूटा, जब किसी ने पीपों में भरा शुद्ध घी देग में गिरवाया।

मन्नती बेशकीमती मोतियों और नोटों से लदी मखमली चादरें मजार पर चढ़ाने के लिए लाने लगे। आगे-आगे गाजेबाजे वाले और पीछे चादर चढ़ानेवाला और उसका परिवार, चादर चढ़ानेवालों की लंबी कतार-सी लगी हुई थी। दूसरी ओर बहुसंख्यक भक्तजनों की, लँगड़े, लूले, नंगे, अधनंगे, मैले-कुचैलों की कतार थी। यह कतार मन्नतियों से तन ढँकने और पेट भरने की भीख माँग रही थी, उन्हीं मन्नतियों से जो कि बाबा की मजार पर बहुमूल्य चादर चढ़ाने के लिए ले जा रहे थे। शायद चादर चढ़ानेवाले जानते हों–यहीं सूफी संत हजरत ख्वाजा फटे कपड़ों पर पैबंद लगाकर इंसान में दरिया की-सी सखावत (दानशीलता), आफ़ताब की-सी शफ़क्कत (दयालुता) और जमीन की सी तवज्जो (खातिरदारी) का उपदेश जिंदगी-भर देता रहा।

दालान में नमाज पढ़ी जाने लगी। दरगाह-बाजार के चप्पे-चप्पे पर सिजदे के लिए हजारों नमाजी सिर दिखाई देने लगे–कुल 60 हजार से अधिक। वैसे उर्स में डेढ़ लाख से अधिक तीर्थ-यात्रियों ने भाग लिया, जिनमें 137 पाकिस्तानी तीर्थ-यात्री भी थे।

इधर मन्नत माननेवालों की तैयारियाँ, 'तुला-दान' की शुरुआत– बच्चों का कीमती वस्त्रों और मेवा से तोल होने लगा। एक समय था बेऔलादवाले औलाद

होने पर हीरे-जवाहरात, सोने-चाँदी आदि से तुला-दान किया करते थे; अब... चीनी एवं गुड़ का भी दान जायज हो गया है। दूसरी ओर बच्चों से घिरे, परेशान माता-पिता तुला-दान को देख रहे थे। एक बच्चा गोदी में चीख रहा था, तीसरा कपड़े चबा रहा था और शेष आपस में झगड़ रहे थे। एक बच्चा अपनी माँ को पैंफ्लेट दिखा रहा था, जिसे उसने दरगाह-बाजार की सड़क पर से उठाया था। अम्मी द्वारा ध्यान न दिये जाने पर बच्चा अब्बाजान को पैंफ्लेट दिखाता है। उत्सुकता से अब्बा पढ़ते हैं—हुना लका दआ जक्रिया रब्बहू काला रब्बे हब ली जुरियतन, तैय्यितन, इन्नका, समीउददुआऐ। (पैगंबर हजरत जकरिया रब से दुआ करते हैं—'ऐ मेरे खुदा! मुझे एक अच्छी संतान दे। निस्संदेह तू प्रार्थनाओं को सुननेवाला है।') अब्बा की नजर बारी-बारी से अपने सात दुबले-पतले बच्चों पर गड़ जाती है और फिर तराजू में तुल रहे बच्चे पर आ टिकती है। परचे पर लिखा था—परिवार नियोजन कुरान और हदीस की रौशनी में। इस्लामिक रिसर्च सोसाइटी द्वारा तैयार कराया गया यह पर्चा राजस्थान परिवार नियोजन विभाग द्वारा वितरित कराया जा रहा था। दरगाह से थोड़ी दूर पर राज्य सरकार द्वारा पहली बार एक प्रदर्शनी आयोजित की गई थी, जिसमें 'भारत दर्शन', 'राजस्थान-दर्शन', 'परिवार-नियोजन', 'सहकारिता', 'अल्प बचत', 'जीवन बीमा', 'विकासशील अजमेर' आदि के मंडप थे। राजस्थान जनसंपर्क निदेशालय द्वारा शहर भर में सांप्रदायिक एकता का प्रतीक 'ख्वाजा साहब का उर्स—एकता का संगम' के पोस्टर लगाये गये। इसके साथ-साथ जीवन बीमा एवं परिवार नियोजन के पोस्टर भी बँटे।

आधी रात होने तक दरगाह शरीफ के बेगमी दालान, शाहजहाँ की मस्जिद, अकबरी मस्जिद, लंगरखाना, नक्कारखाना भीड़ से खचाखच भर गये।

सुबह शुरू हुई देग पकने और फिर उसके लुटने के साथ। मोमजामाधारी लोग गर्म देग में देखते-देखते कूद पड़े और बाल्टियाँ भर-भरकर प्रसाद बाहर लाने लगे। प्रसाद के लिए भीड़ उमड़ पड़ी। होड़ शुरू हुई। प्रसाद बँटने लगा।

यह सिलसिला छह दिन तक चला। सातवें दिन गुलाबजल का छिड़काव हुआ, जिसे 'कुल के छींटे' कहते हैं। प्रातः ग्यारह बजे 'महफिलखाने' में साजों की मस्त धुन में कव्वालियाँ शुरू हुईं। ये कव्वालियाँ जहाँ ख्वाजा साहब की स्मृति को ताजा करती हैं, वहीं मिलीजुली प्रार्थनाओं का रूप भी प्रस्तुत करती हैं। दरगाह के सबसे बड़े धर्म-गुरु सज्जादानशीन, जो कि ख्वाजा साहब के वंशज हैं, सदारत करते हैं। सज्जादानशीन पूरे सम्मान और सजधज के साथ आये; मगर उनकी सजधज, भव्यता में कितना स्थायित्व है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। कहने को सज्जादानशीन दरगाह के मालिक हैं, परंतु असलियत कुछ और है। कुछ

वर्ष पूर्व तक 50 रुपये माहवारी में उन्हें जीवन-यापन करना पड़ता था। पिछले दो सालों में बढ़कर यह राशि दो सौ रुपये हो गयी। इस बार काफी जोर देने पर 500 रुपये प्रतिमास, यानी 6 हजार रुपये प्रतिवर्ष कर दी गयी। चढ़ावों से लाखों-करोड़ों की आय होती है, लेकिन सज्जादानशीन का जीवन-स्तर धनाढ्य होने का भ्रम पैदा नहीं कर सकता।

अपरान्ह तीन बजे मजार का जन्नती दरवाजा बद हुआ। ख्वाजा साहब ने भी अपनी कुटिया के दरवाजे इसी प्रकार 6 रजब, 625 हिजरी (21 मई, 1238) को रात्रि की नमाज के बाद अंतिम बार बंद किये थे। दिन निकलने के साथ-साथ शिष्यों ने मजार की स्थापना के लिए दौड़-धूप शुरू कर दी थी।

उस महान संत की मृत्यु हुए शताब्दियाँ बीत गयीं, परंतु उनकी आध्यात्मिक महानता एवं इंसानियत के संदेश आज भी जनसमूह की जबान पर हैं।

27 सितंबर, 1990

रेत और हरियाली

राजस्थान के कुछ पश्चिमी जिलों में 5-6 वर्ष के बाद हुई पहली वर्षा से इतना कोहराम मचा कि जैसलमेर, बाड़मेर तथा अन्य अकाल-ग्रस्त भागों में अकाल-राहत-कार्य 15 अगस्त से बंद करना पड़ा। वर्षा के बाद कुछ लोगों ने यहाँ तक दावा किया कि पिछले एक सौ वर्षों में ऐसी वर्षा कभी नहीं हुई। फिर क्या था; एक तरफ अकाल-राहत-कार्य बंद कर दिये गये और दूसरी तरफ खेतों में ऊँट-बैलों के साथ-साथ पुरुषों, महिलाओं और बच्चों ने हल चलाये।

पहली फसल की नन्ही कोंपलों ने सिर उठाना शुरू ही किया था कि भयंकर आँधी ने आ दबोचा। बाड़मेर और जैसलमेर जिलों के खेतों की क्यारियों में रेत ही रेत दिखाई देने लगी। पौधे टूटने लगे। अकाल से पिटा किसान फिर आँधी से पिटा। जैसे ही अकाल-राहत-कार्य बंद हुए, किसान की रही-सही आशा भी सो गयी। पौधों को पोसने के लिए मजबूरन उसे महाजन का सहारा लेना पड़ा, परंतु उसने भी देने से इंकार कर दिया। कारण स्पष्ट था–वह वसूली के प्रति आश्वस्त नहीं था। कुछ दयालु महाजनों ने कर्जा दिया भी और आज की जवान फसलों का वह महज एक सस्ती-सी सहायता पर एकमात्र दावेदार भी बन बैठा। अक्टूबर के मध्य में फसल कटने पर भी किसान भूख और कर्ज से ही दबा हुआ है।

रामदेव का मेला : जैसलमेर और जोधपुर के मध्य में स्थित रूणेचा में, जहाँ बाबा रामदेव का मेला लगता है, आज भी अकाल के अवशेष हैं। लोगों के चेहरे भयभीत और झुलसे हुए हैं, पर प्रकृति का कोपभाजन बनने के बावजूद वे मेले में शामिल होते हैं। राजस्थान के पश्चिमी क्षेत्र से सात वर्ष के निरंतर अकाल की धीरे-धीरे सिमटती अनचाही छाया में गत चार सितंबर को रूणेचा ग्राम में

मुसलमानों के पीर और हिंदुओं के देवता बाबा रामदेव का मेला लगा।

सात वर्ष के बाद पश्चिमी क्षेत्र में हुई पहली वर्षा के पश्चात लगा यह मेला जहाँ हजारों की संख्या में ग्रामीणों को आकर्षित कर सका, वहीं दूर-दूर के शहरी लोगों ने भी इसमें भाग लिया। पिछले वर्षों में पानी के अभाव के कारण मेला फीका-फीका रहने लगा था, परंतु इस वर्ष डेढ़ लाख से अधिक तीर्थ-यात्रियों ने बाबा रामसा पीर के दर्शन किये और सहसा महिलाओं के मुख से निकल पड़ा :

गेहरी गेहरी वर्षा भाईड़ा,
पीछा की कर आया,
साँची साँची बात बता दो म्हाने
कंवर अजमलरा।

परंतु न तो वहाँ इतनी गहरी वर्षा ही थी और न ही पर्याप्त पानी। हाँ, डूबते को तिनके का सहारा अवश्य मिला था। अकालक्षेत्र के वासियों को गत जुलाई की वर्षा ने इसी "तिनके' का सहारा दिया था। फिर क्या था—ऊँट, बैल, घोड़ागाड़ियों के साथ हजारों कदम मेले की ओर चल पड़े। शहरों से बसें, कारें, जीपें, साइकिलें और ट्रक आने लगे।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि इसी समय अजमेर में ख्वाजा निजामुद्दीन चिश्ती का भी उर्स चल रहा था। दोनों स्थानों पर हिंदू-मुसलमान श्रद्धा के फूल चढ़ा रहे थे। दोनों की मजारें चढ़ावे से दबी हुई थीं। यह दिलचस्प बात है कि बाबा रामदेव की समाधि न होकर मजारें है। जागीरदार अजमलजी के यहाँ 1461 के आसपास जन्मे बाबा रामदेव के हिंदू और मुसलमान समान रूप से भक्त हैं। किंवदंती है कि मक्का से पाँच पीर रामदेव के दर्शन करने आये। उस समय रूणेचा के जंगलों में रामदेव घोड़ा चरा रहे थे। यह देखकर एक पीर ने व्यंग्य करते हुए कहा—"क्या पशु चरानेवाला भी एक बाबा हो सकता है?" इस पर रामदेवजी ने कहा—"क्या ईसा भेड़ नहीं चराया करते थे? हजरत मोहम्मद भी ऊँटों को चारा दिया करते थे।" इस उत्तर ने पीरों को बहुत प्रभावित किया। हिंदू और मुसलमान दोनों ही बाबा रामदेव के शिष्य बनने लगे। सभी जातियों के लोग रामदेवजी के भक्त बन गये। एक शांत सुबह को रामदेवजी ने जीवित समाधि ले ली। तभी उस स्थान पर एक कब्र बना दी गयी। यह कब्र आज भी मौजूद है, जिसके पुजारी हिंदू हैं। मुसलमानों ने रामदेव को पीर और हिंदुओं ने बाबा कहना प्रारंभ किया, जो कि आज तक कहा जा रहा है

बाबा रामदेव के संबंध में अनेक चमत्कार से भरी गाथाएँ प्रसिद्ध हैं, जिन्हें सभी जातियों के लोग बड़े उत्साह से याद करते हैं। परंतु मेले की विशेषता चमत्कारों

से न होकर उसमें आनेवाले लोगों से है। यद्यपि पूर्व वर्षों की अपेक्षा मेले की ताजगी में कमी आती जा रही है, लेकिन आज भी महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, मैसूर और राजस्थान के विभिन्न भागों से दर्शनार्थी यहाँ आते हैं। काफी लोग दरगाह उर्स में शामिल होकर अजमेर से सीधे यहाँ चले आते हैं।

मेले में आनेवालों में 65 प्रतिशत व्यक्ति हरिजन, 30 प्रतिशत उच्च जाति के और 5 प्रतिशत मुसलमान हैं। इसके विपरीत अजमेर शरीफ़ के उर्स में 15 प्रतिशत हिंदू, 75 प्रतिशत मुसलमान और 10 प्रतिशत हरिजन होते हैं। बाबा रामदेव के मेले में ग्रामीणों और निर्धनों की संख्या अधिक देखी गयी, जबकि ख्वाजा साहब के उर्स में शहरी एवं मध्यम श्रेणी के व्यक्ति अधिक आये। दोनों स्थानों पर सांप्रदायिक एकता और मिलेजुले रस्म, रिवाज एवं व्यवहार का वातावरण था। अजमेर में सरकारी व्यवस्था की छाप स्पष्ट थी, जबकि दोनों स्थानों पर बाहर से आनेवाले व्यक्तियों की संख्या लगभग बराबर ही थी। एक और भी अंतर है–रूणचा एक पंचायत है और अजमेर जिले का मुख्यालय।

बाबा रामदेव के अनुयायी उन्हें कलियुग में एक अवतार के रूप में मानते हैं। अपने युग में उन्होंने कुल 24 चमत्कार बताये। सबसे प्रसिद्ध चमत्कार 'भैरव राक्षस' का वध माना जाता है। रामदेवजी ने लोककल्याण की दृष्टि से इस क्षेत्र के भैरव राक्षस को मारा था। बाबा रामदेव का जन्म भी विचित्र अलौकिक परिस्थितियों में हुआ था। इनके पिता अजमलजी ने द्वारकाधीश के मंदिर में ईश्वर से एक पुत्र-प्राप्ति का वरदान प्राप्त किया था।

रामदेवजी के वंश के लगभग सौ परिवार वर्तमान समय में रूणेचा एवं पोकरण क्षेत्र में बसे हैं। रामदेवजी के मंदिर की साल-भर की आय को परिवार के सदस्यों में समान रूप से वितरित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इसी आय से लँगड़ों-लूलों का एक अनाथालय भी चलाया जा रहा है। इसी वंश के एक सदस्य रूणेचा पंचायत के सरपंच हैं, जो कि मेले की व्यवस्था करते हैं। मेले के आयोजन में पंचायत समिति का सदैव से प्रमुख हाथ रहा है। ग्रामीण महिलाओं का एक रेला ऊँचे स्वरों में गाता हुआ मंदिर की ओर बढ़ रहा था।

चारों ओर मँजीरे, ढोलक, सारंगी, नगाड़े और एकतारे के स्वर गूँज रहे थे–उसी तरह जिस प्रकार दरगाह शरीफ़ में कव्वालियों एवं मुशायरों की आवाजें।

खुले आकाश की चाँदनी में रात-भर कीर्तन, नौटंकी, चलचित्र के प्रदर्शनों ने जंगल को सात दिन के लिए एक संगीत में डूबी खूबसूरत बस्ती में परिणत कर दिया था। दूसरी ओर मेले में लगी दुकानों की एक अलग ही कहानी थी।

छोटी-छोटी दुकानों में काँच की चूड़ियाँ, बिंदियाँ, गुलाल, सिंदूर, घटिया क्रीम-पाउडर, मणियों की मालाएँ, हाथी-दाँत के कंगन बिक रहे थे। दूसरी ओर बीमारियों को निमंत्रण देती हुई मिठाइयों एवं शरबतों की दुकानों पर ग्रामीणों का जमघट था। शायद अकाल के बाद पहली बार पकवान एवं रंग-बिरंगे शरबतों का मजा आया होगा।

दूसरी तरफ रामदेवजी के मंदिर के पिछवाड़े में स्थित रामतालाब पर लगी भीड़ कह रही थी–"कई सालाँ बाद ई तालाब में नहाबा को मन भररो मोको मिलो है।" (कुछ देर के लिए ही सही।) पिछले कई वर्षों से यह रामतालाब सूखा पड़ा था। इस बार 15 फुट पानी भर जाने के कारण तालाब मेले में प्रमुख आकर्षण-केंद्र बना रहा। इतना ही नहीं, अनेक ग्रामीण बच्चे, जिन्होंने कभी वर्षा नहीं देखी थी और न ही कोई सागर, रामतालाब को हैरत से देख रहे थे; यहाँ तक कि पानी के पास जाने में उन्हें डर लग रहा था। एक महिला ने जबरन अपने बच्चे को घाट पर ले जाकर पानी में उतार दिया और तैरना सिखाने लगी। वास्तव में इतना पानी एक ही स्थान पर देखकर चार-पाँच वर्ष के बच्चे तालाब को एक विचित्र दृश्य समझ बैठे थे। उन्होंने तो केवल एक ही दृश्य देखा था–भूख से तड़पते मनुष्य, प्यास से पीड़ित पशु और फिर उनकी मृत्यु। चारों ओर प्यास और फिर इतना सारा पानी ! बच्चों को विश्वास न हुआ, डरकर माँ से चिपट गये। मेले की समाप्ति के साथ-साथ महिलाओं ने बाबा रामदेव से प्रार्थना की।

"रतना राई रा बीरा बेगो बेगो जावजो बाई सुगना नो लावणी जियो।"
(रतना का भाई जल्दी-जल्दी जाओ और बहन को शीघ्र ही ससुराल से लिवा लाओ।)

जैसलमेर, बाड़मेर और जोधपुर के अकाल-ग्रस्त क्षेत्रों में जाते हुए जैसलमेर से कुछ पहले औरतों को 'लाव' (बैलों द्वारा खींचे जानेवाला रस्सा) ढोते देखा। आठ स्त्रियाँ तीन सौ फुट गहरे कुएँ से पानी लाव द्वारा निकाल रही थीं। बैलों के अभाव में इन महिलाओं को ही जुतना पड़ा। महिलाओं ने बताया कि उन्हें चार-पाँच मील पानी सर पर रखकर ले जाना पड़ता है। कुएँ से ढाणियाँ (बस्तियाँ) बहुत दूर-दूर थीं। दिन में कम से कम दो बार इसी प्रकार पानी ले जाना पड़ता है। कुएँ के पास एक ट्यूबवेल भी था, परंतु सरकारी लालफीताशाही के कारण पिछले काफी समय से खराब पड़ा हुआ था। गाँववालों ने अकाल की मार के बावजूद 15 सौ रु. एकत्र किये और सरकार से उस ट्यूबवेल को बनाने की प्रार्थना की। ट्यूबवेल बना, कुछ दिन चला, फिर खराब हो गया। ढाक के वही तीन पात। गाँव था– 'लाठी'।

बुलंद हौसले : इन महिलाओं के हौसले बुलंद थे। अकाल इनके चेहरे की मुस्कराहटें नोंच नहीं सका था। किसी भी चुनौती का मुकाबला करने की न खत्म होनेवाली स्पष्ट चाह उनके चेहरे पर झलक रही थी। याद आया, भूमि-संघर्ष के दौरान पूर्णिया जिले (बिहार) का दौरा किया, तो वहाँ की महिलाओं में इसका अभाव था। वहाँ की किसान महिलाएँ पस्तहिम्मत और जीवन के प्रति बेरुखी की शिकार मिलीं, जबकि जैसलमेर और बाड़मेर जैसा अकाल वहाँ नहीं था; पानी 40-50 हाथ पर ही उपलब्ध हो जाता था। अगस्त में चारों तरफ वहाँ हरियाली थी, परंतु एक न टूटनेवाली उदासी भी।

"फेमिन काम सूँ, पेट कोन भरीजे। मवेशी घँणरे धंधेस गुजारो हुवे है," जैसलमेर का दौरा करते वक्त अमर सागर के कालू माली ने कहा। जैसलमेर के इस गाँव में आधे से भी अधिक पशु अकाल में मर गये। कालू ने बताया कि 120 बकरियों में से 20 बकरी बची हैं और दस गायें मर गयीं। दस हजार का कर्जा हो गया, जिसमें तीन हजार सरकार का। कालू का कहना था कि खरीफ की फसल पकने तक अकाल-सहायता जारी रखी जानी चाहिए थी। इस क्षेत्र के संसद-सदस्य श्री अमृत नाहटा ने भी सरकार से माँग की है कि बाड़मेर एवं जैसलमेर के किसानों में पाँच करोड़ रुपया ऋण बतौर बाँटा जाये, जिससे कि पशु खरीदे जा सकें। इसी क्षेत्र के एक नखतू किसान की भी यही माँग है। उसकी 900 गायों में से 800 गायें मर गयीं और 125 बकरियों में से 25 बकरियाँ बची हैं। रामगढ़ के नज़रुल ख़ाँ ने कहा कि वर्षा से कोई लाभ नहीं हुआ; जो कुछ हुआ उसे बाद की आँधी ने समाप्त कर दिया। जिलाधीश ने पोकरण में बताया था कि आँधी से 50 प्रतिशत फसल का नुकसान हुआ है। उनका कहना है कि जिले में जल-समस्या नहीं है। परंतु ढाबला ग्राम के बूला महाराज ने बताया कि इसके अभाव में उनकी तीन सौ बीघा की फसल नष्ट हो गयी। वास्तविकता तो यह है कि जिले में ट्यूबवेल का भारी अभाव है; जो हैं उनमें से अधिकांश खराब पड़े हैं। इस बात से सहमति जिलाधीश ने भी व्यक्त की। जिले में ढाई सौ से अधिक ट्यूबवेलों की आवश्यकता है; उपलब्ध केवल 40 हैं, लेकिन किसान इनका भी उपयोग नहीं कर सकते। उनके पास इतना पैसा नहीं कि वे बिजली एवं पानी का बिल चुका सकें। सरकार पानी देना चाहती नहीं–वर्षा जो हो गयी; अकाल राहत-कार्य जो बंद हो गये। जिले के 512 गाँवों की लगभग 1 लाख 30 हजार जनसंख्या और लगभग 18 लाख पशु अकाल से प्रभावित हैं। सबसे अधिक क्षति पशुधन को पहुँची है। सीमा-क्षेत्र की सम तहसील के 85 प्रतिशत पशु समाप्त हो गये।

पशुधन के अभाव में वर्षा हुई, तो इसका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका। चारों तरफ घास ही घास है, परंतु इस बार कोई चरनेवाला नहीं। दूर-दूर

तक पशु देखने को नहीं मिलते। भूमि भी काफी थी, पानी भी, परंतु जोतने के साधन नहीं थे। सरकार ने कुछ ट्रैक्टर उपलब्ध भी कराये, लेकिन किराया बीस रुपया प्रतिघंटा होने के कारण गरीब किसान इससे वंचित रहे। निजी ट्रैक्टर की दर 25 रु. प्रतिघंटा थी। इसके साथ ही जिन किसानों ने अकाल के दौरान पशु-शिविर में अपने पशु जमा कराये थे वे उन्हें वापिस नहीं मिले। रूपसी ग्राम के नागूराम और खुशालराम ने अपने लिखित बयानों में कहा है कि उनकी गायें माँगने पर भी नहीं लौटायी गयीं। इस प्रकार की शिकायतें जिले भर में काफी सुनने को मिलीं।

जैसलमेर जिले की अपेक्षा बाड़मेर अधिक समृद्ध और विकासशील दिखायी दिया, हालाँकि वर्षा दोनों जिलों में लगभग समान ही हुई। बाड़मेर जिलाधिकारी की सूझबूझ के कारण वर्षा का अधिकतम लाभ किसानों को पहुँचा। बाड़मेर में ज्ञात हुआ कि उस समय जिले के किसानों को बकाया अकाल सहायता प्रतिव्यक्ति साढ़े बारह रु. दी जा रही थी; साथ ही मक्का देने की भी व्यवस्था थी। बाड़मेर जिले की यात्रा चौहटन्न तहसील से प्रारंभ की। इस तहसील में बालू के टीले, कँटीली झाड़ियाँ, पानी की गहराई और झरनों की अपनी विशेषताएँ हैं। इस तहसील में वर्षा की अधिक कृपा रही; चारों तरफ हरियाली ही हरियाली थी। ठीक इसके विपरीत जिले के गडरा रोड और शिव तहसील में पानी की भारी कमी थी। बूठीया, गागारिया, पाँदी का पार, रामसर, सेतराऊ, चाढी, सियाणी, देरासर और गडरा रोड में एक वर्षा की और आवश्यकता थी, जबकि शिवाणा और चौहटन्न तहसीलों में इतना बाजरा होने की अपेक्षा है कि अगले तीन वर्ष के लिए पर्याप्त होगा। वैसे जिले की चौहटन्न, धोरीमन्ना, सिणधरी, पचभद्रा और शिवाणा तहसीलों में अच्छी फसल होने की आशा है। इसके विपरीत पंचायत समिति बाड़मेर, शिव और बायतू में देर से बुवाई के कारण अच्छी फसल होने में संदेह है।

इन तहसीलों का दौरा करने पर ज्ञात हुआ कि जैसलमेर जैसी स्थिति यहाँ के किसानों की नहीं थी। वर्षा कम होने पर भी अधिकांश किसान संतुष्ट थे और उत्साही भी। अकाल के दिनों में बिहार के पूर्णिया एवं सहरसा जिलों में ठीक ऐसी ही स्थिति में किसानों में भय, आतंक और निराशा पायी गयी, किंतु यहाँ जीवन के प्रति एक स्पष्ट उत्साह झलकता था। अधिकारी से नजर मिलाने और न्याय माँगने की उनमें हिम्मत थी। आज से 15 वर्ष पूर्व जागीरदारी व्यवस्था में इसी जिले के ये ही किसान अत्याचार के विरुद्ध 'उफ' तक नहीं कर सकते थे। हमेशा छोटे-मोटे लगभग 70 करों से दबे रहते थे। खटिया-कर एवं बेकार-कर तक अदा करना होता था। इस परिवर्तन के संबंध में युवक जिलाधीश चंद्रप्रकाश का मत था कि अधिकारी वर्ग जब तक ग्रामीण जनता को एक मित्र के रूप में नहीं देखते तब तक किसान-वर्ग से सहयोग की अपेक्षा करना व्यर्थ

है। इस जिले में पशु हड़प करने या अकाल-सहायता की अमानत में खयानत करने की शिकायतें जैसलमेर जिले की तुलना में नहीं के बराबर थीं।

पहले इंद्र, फिर इंद्रा : अकालग्रस्त क्षेत्रों में श्रीमती इंदिरा गाँधी के अतिरिक्त मुश्किल से ही कोई नेता जाना जाता है। ग्रामीण महिलाएँ श्रीमती गाँधी को बड़े प्यार व दुलार से याद करती हैं। प्रधानमंत्री को विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता है। कोई उन्हें पं. नेहरू की लड़की कहता है, तो कोई किसान की रक्षक। गेहूँ गाँव के भील मोडो ने कहा, 'इंद्राजी आपणी रक्षा करा हे। कदई पाणी कोनीहो, जीको गाँव-गाँव पानी कर दियो।' गाँवों में कहा जाता है कि पहले इंद्र देवता बरसा, फिर इंद्रा देवी; यानी वर्षा हुई और फिर अकाल-सहायता मिली। किसान इस सहायता को एक सरकारी अहसान मानते हैं, न कि सरकारी कर्तव्य। अधिकार के प्रति लादी गयी नादानी आज भी किसानों में है। राज्य सरकार अकाल पर अब तक 90 करोड़ रुपयों से अधिक व्यय कर चुकी है, जबकि केंद्रीय सरकार इतनी राशि स्वीकार करने को तैयार नहीं। 20-22 करोड़ रुपये का झगड़ा अभी चल रहा है।

इन जिलों में प्रमुख धंधा पशुपालन है और खेती-बाड़ी एक प्रकार से 'पार्ट टाइम जॉब'। फिर भी इस क्षेत्र के किसानों को लगभग 6 महीने बैठे रहना पड़ता है, क्योंकि देश के अन्य भागों की भाँति इन जिलों में दो फसलें नहीं होतीं, केवल खरीफ की ही फसल होती है। यदि किसानों को राज्य सरकार लघु कुटीर-उद्योग उपलब्ध करा दे तो काफी लाभ हो सकता है। अपने निर्वाचन-क्षेत्र का दौरा करते समय गडरा रोड पर मिले युवा तुर्क नेता और संसद-सदस्य श्री अमृत नाहटा ने कहा कि इस क्षेत्र में एक विशाल दूध की डेरी स्थापित की जाये। इस डेरी पर कुल 80 लाख रुपया व्यय होगा और प्रतिदिन 12 हजार गैलन दूध का उत्पादन हो सकेगा। 1966 की जनगणना के अनुसार जिले में 6 लाख 36 हजार 992 गो-वंश के पशु एवं गायें, 27 हजार 887 भैंसें एवं पाड़े-पाड़ियाँ, 7 लाख 92 हजार 150 भेड़ें और 10 लाख 47 हजार 156 बकरे-बकरियाँ थीं। अकाल से पूर्व पशु-दर प्रतिव्यक्ति 6 थी, परंतु अकाल के बाद प्रतिव्यक्ति दो रह गयी है।

खयाल आया मौके का फायदा उठाकर क्यों न भारत-पाक सीमा-क्षेत्र का भी दौरा कर लिया जाये। पश्चिमी पाकिस्तान से बाड़मेर जिले की 180 मील की अंतरराष्ट्रीय सीमा का लगाव है। सीमा के सुरक्षा-क्षेत्र का जनजीवन बहुत ही शांत परंतु सजग और किसी भी खतरे का सामना करने के लिए मुस्तैद मिला। सीमा-क्षेत्र की यात्रा बाड़मेर तहसील में स्थित बाकासर गाँव से शुरू हुई।

बाकासर भारत-पाक सीमा से चार मील दूर सुरक्षा क्षेत्र में स्थित है। यहाँ से कुछ दूर पर ब्राह्मणों की ढाणी (बस्ती) की सीमा चौकी दिखायी देती है। इस सीमा पर राजस्थान, गुजरात और पाकिस्तान की सरहदें टकराती हैं। सीमा चौकी पर पहुँचते समय साँझ घिर आयी थी। चौकी पर सीमा सुरक्षा दल के जवान तैनात थे। कलेक्टर के साथ होने से कोई विशेष परेशानी नहीं हुई। वहाँ हमें बारी-बारी से सभी जवानों से मिलाया गया और फिर मुख्य सीमास्थल स्तंभ नं. 921 पर ले जाया गया। यहाँ से कच्छ का रण्ण साफ-साफ दिखायी दे रहा था। दूसरी ओर दूर-दूर तक फैला पाक-जंगल और ठहरा हुआ शांत पानी। आशंका हुई, न जाने कब इन जंगलों में आग लग जाये–कच्छ के रण्ण में तूफान आ जाये ! पास में खड़े जवान की ओर देखा–उसकी पैनी निगाहें घने जंगलों को चीर रही थीं।

कृत्रिम विभाजन : दूसरे दिन गडरा रोड की सीमा चौकी पर पहुँचे। दोपहर का समय होने के कारण दूर ऊँचे टीले पर स्थित पाक चौकी स्पष्ट दिखायी दी; गडरा शहर की ओर जानेवाला रास्ता भी, जिसे 1965 के युद्ध के पश्चात बंद कर दिया गया था। सुनने में आया कि चोरी-छिपे आवागमन अब भी जारी है। सीमा के दोनों ओर हिंदू-मुसलमान मिलजुल कर रहते हैं। दोनों में आत्मीयता आज भी है। जैसलमेर के सीमावर्ती गाँव बाहला और मियाजलाल में कुछ ऐसे राजपूत हैं जिनका चोरी-छिपे बेटी-व्यवहार पाक सीमा में बसी बराबर की राजपूत जाति से आज भी होता है।

गडरा रोड की सीमा-चौकी के जवान हमें स्तंभ नं. 843 के पास ले गये और एक झंडी पाक चौकी को दिखायी। तत्काल ही पाक चौकी से भी संकेत हुआ। कुछ देर बाद अब्दुल गनी नामक एक पाकिस्तानी रेंजर चौकी से उतरकर आया। हाथ मिलाया। अब्दुल ग़नी लाहौर का रहनेवाला था। कुछ देर के लिए तो ऐसा लगा कि विभाजन की यह रेखा कितनी कृत्रिम और घिनौनी है। यही बात अब्दुल गनी ने भी अनुभव की। सीमा-उल्लंघन के अपराध के भय से और सियासी नेताओं की स्वार्थ-बुद्धि द्वारा फैलाये गये जहर से बचने के लिए हमें पाक रेंजर का जल-पान का निमंत्रण अस्वीकार करते हुए सीमा से लौटना पड़ा। विभाजन के बारे में जैसलमेर के सीमावर्ती ग्राम रामगढ़ के ढीगाणे ख़ाँ के शब्द याद आ गये। उसने कहा था, "पाकिस्तान कोन्य हुयो, कब्रिस्तान हुयो, जिकमें आदमीरी कोई कद्र कोन्ही।" (पाकिस्तान नहीं, कब्रिस्तान बना है, जिसमें मनुष्य का कोई सम्मान नहीं)। बाड़मेर तहसील के गाँव भूकड़ के श्री सुभान ख़ाँ ने भी पाकिस्तानी पुलिस के अत्याचार की गाथा दोहरायी और भारतीय सीमा पुलिस के व्यवहार से पूरा संतोष व्यक्त किया।

सीमावर्ती क्षेत्रों का दौरा करने पर ज्ञात हुआ कि वहाँ सांप्रदायिकता उतनी गहरी नहीं है जितनी हम देश के सभ्य शहरों में पाते हैं। कुछ क्षेत्रों में तो सभी जातियाँ इतनी घुल-मिल गयी हैं कि उनमें अंतर करना मुश्किल हो जाता है। सीमा-क्षेत्र के मुसलमान याह्या खाँ के स्थान पर अपने पीर-पगार को अधिक मानते और समझते हैं; वैसे ही जैसे हिंदुओं का अपने कुलदेवता के मुकाबले देश के प्रधानमंत्री से सरोकार नहीं। उनके लिए भारत एवं पाकिस्तान दोनों ही पीर-पगार और देवताओं के सामने छोटे हैं। ऐसी दशा में किसी एक धर्म को माननेवालों पर संदेह रखना अनुचित ही कहा जायेगा। दोनों में ही राजनीतिक चेतना का भारी अभाव है। पाकिस्तान से हिंदुओं का निष्कासन अभी जारी है। कुछ समय पहले सोढा और चारण जाति के 28 परिवार सीमा पार करके आये, जिन्हें चौहटन्न के गाँवों में बसाया गया।

सुरक्षा की दृष्टि से भी कुछ पग उठाने आवश्यक हैं। अवैध रूप से सीमा का उल्लंघन करनेवालों को जमानत पर रिहा न किया जाये, पासपोर्ट के नियमों में सख्ती बरती जाये, सुरक्षा-क्षेत्र को और भी कड़ा किया जाये, बीस मील के क्षेत्र में कड़ाई के साथ परिचयपत्र जारी किये जायें और सीमा से सटे कुछ क्षेत्रों की आबादी खाली कर दी जाये। पाकिस्तान से लौटने पर लोग प्राय: कह देते हैं कि वे गुजरात चले गये थे। ऐसी स्थिति में नये कानून बनाना आवश्यक है। इसके साथ ही सीमावर्ती पंचायतों के कुछ ऐसे पदाधिकारी हैं जिन्हें भारत-पाक युद्ध के दौरान संदेहावस्था में गिरफ्तार किया गया था। उनके प्रति सतर्कता बरतने की आवश्यकता है।

मंदिरों की नगरी : यात्रा का अंतिम चरण किराट कूप के भग्नावशेषों के अवलोकन से आरंभ हुआ। किराट कूप को मंदिरों की नगरी कहा जाता है। यह जिले का ऐतिहासिक स्थान है और बाड़मेर एवं गडरा रोड के बीच में स्थित है। खँडहरों की इस नगरी में जब पहुँचे तो देखा कि आज भी इसके उत्थान-पतन की कहानियाँ, खंडित मूर्तियाँ मौन रूप से दोहरा रही थीं। वर्तमान का किराडू 12वीं शताब्दी में किरात कूप या किराट कूप के नाम से प्रसिद्ध रहा। प्रमुख सोमेश्वर मंदिर की दीवारों पर तीन शिलालेख आज भी खंडित दशा में विद्यमान हैं। शिलालेखों में पहला शिलालेख वि.सं. 1209 का, दूसरा 1218 और तीसरा 1239 का बताया जाता है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार इस नगरी के मंदिरों का निर्माण 12वीं शताब्दी के आसपास हुआ।

काले और गहरे भूरे रंग की पहाड़ियों और रेतीले विशाल टीलों के अंचल में बसे किराट कूप में देव-मंदिरों की कुल संख्या 24 बतलायी जाती है, परंतु आज 7 देव-स्थान ही कुछ सीमा तक सुरक्षित रह पाये हैं, शेष मंदिरों के मात्र खँडहर

रह गये हैं, जो समय की शिला पर किसी प्रकार अपना अस्तित्व आज भी बनाये हुए हैं।

प्रमुख देवालय सोमेश्वर की शिल्प-कला एवं कला-कृतियों को देखने पर सहसा खजुराहो और कोणार्क के मंदिरों की स्मृति करवट लेने लगती है। धार्मिक स्थानों पर पाषाणों में इतिहास की गौरव-गाथा, देवताओं की स्तुति और बसंतोत्सव के साथ-साथ वात्स्यायन के कामशास्त्र की स्पष्ट झलक दिखायी दी। एक ओर पितामह भीष्म की बाण-शय्या है, तो उसी के पास यौन-व्यापार के विभिन्न आसन चित्रित हैं। भोग, अनासक्ति और त्याग का एक जीवित संगम। एक ओर खंडित मूर्तियों को देखकर यूनान की 'वीनस' सामने उभरने लगती है, तो दूसरी ओर पाषाण-मूर्तियों से जैसे बाँसुरी, ढोलक, मँजीरे और मृदंग के स्वर फूट पड़ते हैं। मूर्तियों के रोम-रोम में संगीत स्पंदित हो रहा था। कीट्स के शब्द याद आये : "सुना हुआ संगीत तो मधुर है ही, परंतु, जिसे नहीं सुना, केवल अनुभव किया है, वह मधुरतम है।"

सोमेश्वर मंदिर के पास एक छोटा-सा शिवालय है, जिस पर रामायण के दृश्य अंकित हैं। इसी मंदिर से कुछ दूर शिव और ब्रह्मा के मंदिर हैं। यहीं से वैष्णव मंदिर भी दिखायी देता है, जिसके स्तंभों पर केवल तोरण शेष रहने से इसे 'तोरणिया का मंदिर' भी कहा जाता है। शेष चारों ओर खँडहर ही खँडहर हैं; कोई भी उनकी देखभाल करनेवाला नहीं। सरकार की ओर से 50 रुपये महीने पर एक व्यक्ति अवश्य नियुक्त किया गया है, लेकिन मुश्किल से ही किसी को उसके दर्शन हो पाते हैं। सरकारी उपेक्षा एवं उदासीनता के जाल में फँसे ये खँडहर धीरे-धीरे गायब होते जा रहे हैं; कोई रोकनेवाला नहीं। एक गड़रिये ने बताया कि अनेक सुंदर प्राचीन मूर्तियाँ राहत-कार्य के दौरान गायब हो गयीं। अकाल-राहत-कार्य से संबद्ध अधिकारियों ने उनकी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की। किराट कूप की यह भव्य कला आज निर्जन मरुस्थल में धीरे-धीरे पतनोन्मुख हो रही है।

1 नवंबर व 8 नवंबर, 1970

उत्तर-त्रासदी : परिदृश्य एक

पंजाब यात्रा : सिखों का आत्ममंथन

मान लीजिए, चारों शंकराचार्य मिलकर घोषणा कर दें कि जो उन्हें स्वीकार नहीं करता, हिंदू नहीं माना जाएगा। या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदेश जारी कर दे कि जो हिंदू उनकी शाखा में नहीं आएगा, हिंदू समाज से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। इसी तरह मुस्लिम लीग फतवा दे दे कि दूसरी पार्टियों को समर्थन देनेवाले मुसलमान 'काफ़िर' कहलाएँगे। यदि ऐसी स्थिति पैदा कर दी जाती है, तो उसका जवाब देश के पास क्या होगा? रास्ते दो ही हो सकते हैं : एक–संकीर्ण और कट्टरपंथी शक्तियों की प्रभुसत्ता स्वीकार कर सांप्रदायिकता की तंग-गहरी गुफाओं में अपने अस्तित्व को समेट लेना। दो–या फिर इन शक्तियों से जूझते हुए खुले उन्मुक्त वातावरण में जीना; देश की धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील शक्तियों को मजबूत बनाना।

कुछ ऐसी ही परिस्थितियों के बीच ग्यारह अगस्त को अमृतसर में सरबत खालसा का आयोजन किया गया। इस आयोजन के संबंध में चंद बातें बिलकुल साफ हैं। सरबत खालसा का आयोजन निश्चय ही शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी और अकाली दल के खिलाफ एक खुली बगावत मानी जाएगी। इसमें भी कोई शक नहीं कि पंजाब के सवर्ण सिखों–जाटों एवं खत्रियों– का बहुमत लोंगोवाल और टोहरा के साथ आज भी है। बाबा संतासिंह सिखों के निर्विवाद नेता बन गए हों, ऐसा कहना सच्चाई को नकारना होगा। यह भी सच है कि अमृतसर नगर के अधिकांश व्यापारी, मध्यमवर्गीय और नौकरीपेशा सिख सरबत खालसा में शामिल नहीं हुए। यह आलोचना भी सही है कि सरबत खालसा का आयोजन

सरकारी संरक्षण में हुआ। देश के सत्ताधारी दल इंदिरा कांग्रेस का सक्रिय समर्थन इसे प्राप्त था। केंद्रीय मंत्री बूटासिंह से लेकर अनेक छोटे-मोटे इंकाई नेताओं के चेहरे सम्मेलन में दमक रहे थे। यह चुनावी गणित भी सही उतरता है कि इसका फायदा कांग्रेस को चुनावों में होगा। यह निष्कर्ष निकालना भी गलत होगा कि सम्मेलन सिखों की समस्याओं के समाधान के मामले में एक अमोघ अस्त्र सिद्ध होगा। इन आशंकाओं को निराधार नहीं कहा जा सकता कि इस सरबत खालसा से सिख-हिंदुओं के बीच की खाई पटने के स्थान पर और चौड़ी हो जाएगी। यह सोचना भी गलत रहेगा कि इस आयोजन के पश्चात सिख लोंगोवाल एवं टोहरा की संगत त्याग कर कांग्रेस एवं बाबा संतासिंह की जमात में शामिल हो जाएँगे। ये सारे सवाल आयोजन से पहले और आयोजन के समय उठाए गए; आयोजन के बाद भी उठाए जा रहे हैं। आयोजन की पूर्व संध्या पर स्वयं इस लेखक ने अमृतसर शहर में घूम-घूमकर देखा कि वहाँ के सिख निवासियों में सरबत खालसा को लेकर कोई खास दिलचस्पी या उत्साह नहीं था बल्कि एक बेचैनी थी; घुटा-घुटा, सहमा-सहमा गुस्सा था उनमें। हिन्दू भयग्रस्त थे। आशंका थी कि अगले दिन सुबह दंगे हो सकते हैं, गोलियाँ चल सकती हैं, कर्फ्यू लग सकता है और मौतें हो सकती हैं। ग्यारह अगस्त की सुबह तक अमृतसर का कोई भी सिख या हिन्दू विश्वास के साथ नहीं कह सकता था कि सरबत खालसा होगा ही, भारी संख्या में लोग शामिल होंगे ही। चारों तरफ भय और आशंका का वातावरण था। मगर, सच्चाई यह है कि सरबत खालसा का आयोजन पूरे धूम-धड़ाके के साथ हुआ। पंजाब के कोने-कोने से ट्रकों, लारियों, ट्रेक्टरों और कारों में दिन-भर सिख आते रहे; यहाँ तक कि देर रात तक सिखों का आना जारी रहा। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि उनकी तादाद क्या रही होगी। फिर भी एक मोटे अनुमान के अनुसार डेढ़ लाख से कम सिख नहीं होंगे; अधिक भी हो सकते हैं। हर समय पंडाल में पच्चीस से तीस हजार के बीच सिख मौजूद रहे; इससे कहीं अधिक पंडाल के बाहर सड़कों और मैदानों में बैठे हुए थे। अगले दिन बारह अगस्त की सुबह भी हजारों सिख पुरुष-स्त्रियाँ पंडाल में जमे हुए थे। अधिकांश सिख बाबा संतासिंह के लिए नहीं बल्कि कांग्रेस पार्टी के बुलावे पर आए थे। अधिकांश सिखों को यह भी मालूम नहीं था कि सरबत खालसा के उद्देश्य क्या हैं? इसका आयोजन किसलिए किया जा रहा है? पूछने पर अनेक सिखों ने कहा कि वे अपने नेताओं के आदेश पर अमृतसर आए हैं। इच्छा यह भी रही है कि इस बहाने स्वर्ण मंदिर के दर्शन कर लेंगे। ग्यारह अगस्त को चार-पाँच घंटों के लिए सभी के लिए स्वर्ण मंदिर के दरवाजे खोल दिए गए थे। सरबत खालसा में शामिल होनेवाले लगभग सभी व्यक्तियों ने उस दिन हरिमंदिर साहब के दर्शन किए।

लेकिन, क्या सरबत खालसा को इस आधार पर ख़ारिज कर दिया जाए कि इसका आयोजन कांग्रेस की शह पर और सैनिक संरक्षण में हुआ? क्या इसके महत्व को इसलिए नकार दिया जाए कि इसमें शामिल होनेवाले हजारों सिखों की स्वयं की समझदारी कुछ नहीं थी? क्या इस आयोजन को इसलिए चुनौती दी जाए कि इसमें आनेवाले अधिकतर कांग्रेस समर्थक और मजहबी सिख थे? सिखों की सामाजिक-आर्थिक बनावट में मजहबी सिख सबसे निचले स्तर पर हैं। इन्हें हरिजन भी कहा जा सकता है। बाबा संतासिंह और जत्थेदार मानसिंह के पश्चात आयोजन-स्थल पर चर्चा के केन्द्रबिंदु श्री बूटासिंह स्वयं अनुसूचित जाति के मजहबी सिख वर्ग से थे। शायद इसीलिए ज्यादातर मजहबी तथा अन्य पिछड़े वर्गों के सिख वहाँ दिखाई दिए।

पंजाब सूबे के विभिन्न जिलों से आनेवाले अनेक सिखों के साथ बातचीत करने पर कुछ और भी अनुभव होते हैं, जिन्हें आयोजन मंच पर लगी मोटी मसनदों के सहारे नहीं समझा जा सकता, जैसा कि पंजाब के मामलों के कुछ घोषित विशेषज्ञ पत्रकारों ने किया है। बाबा संतासिंह और कांग्रेसी नेताओं के बीच गद्दों पर बैठकर सरबत खालसा को एक एकांगी दृष्टिकोण से समझने की कोशिश हुई है। या यह भी कहा जा सकता है कि सम्मेलन में मौजूद खेतिहर श्रमिक सिख, भूमिहीन मजहबी सिख, सीमांत किसान, मामूली आय वाले सुतार सिख जैसी जनता की विशाल उपस्थिति उनके लिए अस्तित्वहीन बन गई।

मगर, जब नीचे जाजिम और नंगी जमीन पर ज़मी जनता के बीच बैठकर उसकी नजरों से सरबत खालसा को देखा जाता है, तब एक दूसरी ही तसवीर उभरती है। दर्जनों मजहबी सिखों ने बताया कि अकाली दल के जाट और खत्री सिख उन्हें गाँवों में वोट नहीं डालने देते। गाँवों में उन्हें आतंक में रखा जाता है। भिंडराँवाले के उग्रपंथी चेलों ने उन्हें सताने की हमेशा कोशिश की। जब भी उन्होंने गाँव के हिन्दुओं को बचाया, ऊँचे सिखों ने उन्हें पीटा। "हम यही सोचकर आए हैं कि सरबत खालसा में हमारी बात सुनी जाएगी; बूटासिंह नेता बनेगा, जिससे मजहबी सिखों की ऊँचे सिखों के बीच इज्जत बढ़ेगी; गाँवों में हमें कोई तंग नहीं करेगा।"

कई सिखों ने जो कि किसी भी पार्टी के नहीं थे, गुस्से से कहा कि उग्रपंथियों ने गुरुद्वारों की पवित्रता भंग कर दी थी, "हम उसे बचाने के लिए आए हैं।"

अमृतसर के दिलदार सिंह ने कहा कि अकालियों की गलती धर्म को राजनीति से जोड़ने की रही है, अब कांग्रेस भी वही कर रही है। लोकदल के बख्शीश सिंह का मत था कि बाबा संतासिंह सही काम कर रहे हैं : "सरबत खालसा का अच्छा असर पड़ेगा, अकालियों की करतूतों का पर्दाफाश होगा।" अधिकांश लोगों

की प्रतिक्रिया थी कि सरबत खालसा के आयोजन का सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि लोगों के दिलों से भय दूर होगा, सिख जनता खुलकर उग्रपंथियों और भिंडराँवाले की भूमिका के संबंध में बातचीत कर सकेगी, ठंडे दिमाग से सोचना शुरू होगा। लोग यह भी सोचेंगे कि धर्म और राजनीति को गड्डमड्ड न किया जाए। अकाली दल और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी ही सिखों की प्रतिनिधि संस्थाएँ नहीं हैं, जो जहाँ और जब चाहें सिखों को जिस किसी खूँटे से बाँध दें। सरबत खालसा में भाग लेने से सिख अछूत नहीं हो जाएगा।

यह भी सोचना गलत है कि सिख सरबत खालसा में निस्वार्थ भाव से या किसी परोपकार की भावना से शामिल हुए। अधिकांश सिख अपने हितों के प्रति पूरी तरह सचेत थे। काश्तकार सिखों ने खुले मन से कहा, "हम तो किसान हैं। हम तो अपने स्वार्थ के लिए यहाँ आए हैं। इंदिरा बीबी से बोल देना अगर जमींदार खुश रहे तो सब ठीक रहेगा। हमारी माँगें पूरी होनी चाहिए। बिजली की दर कम होनी चाहिए। खाद, पैट्रोल, डीजल के दाम घटने चाहिए। चावल का दाम बढ़ाया जाना चाहिए। किसान सुखी रहेंगे तो फिर कोई आतंक नहीं होगा। अकालियों की नहीं चलेगी।" पास खड़े कुछ मैले-कुचैले सिख जोरों से कहने लगे, "इंदिरा बीबी से यह भी कहना कि हम मजदूरों की मजदूरी भी बढ़ाएँ।" तपाक से जमींदार ने कहा, "हाँ-हाँ, खेतों में काम करनेवालों की मजदूरी भी बढ़नी चाहिए।"

सिखों से बातचीत करने पर यह सवाल भी सामने आया कि अगर सेना पूरी तरह से बैरकों में लौट जाती है, तो क्या पंजाब में सिख-हिन्दू दंगे नहीं होंगे? अमृतसर के ही अनेक सिख और हिन्दुओं को डर है कि फौज के हटने के बाद दंगे भड़क सकते हैं; कुछ सिरफिरे सिख फौजी कार्रवाई का बदला हिन्दुओं से ले सकते हैं। अकाली और भिंडराँवाले-समर्थक सिख फौज को हिन्दुओं की प्रतिनिधि के रूप में देख रहे हैं।

अमृतसर शहर में घूमने पर सहज ही यह अनुभव हो जाता है कि हिन्दुओं और सिखों के दिल-दिमाग चिरे हुए हैं; आपसी बातचीत में दोनों एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते हैं। आश्चर्य यह है कि इतना सब कुछ होने के बावजूद मुश्किल से ही कोई सिख मिलता है, जो भिंडराँवाले और उसके चेलों की आलोचना करने का साहस दिखाता है। डर से हिन्दू भी उतना ही खामोश रहता है। ऐसा लगता है, उग्रपंथियों के सौ खून माफ, मगर सेना का एक भी नहीं।

स्वर्ण मंदिर से कुछ दूर स्थित बाबा दीपसिंह शहीदाँ दा गुरुद्वारे में रोजाना नए-नए भड़कानेवाले पर्चे एवं भद्दे पोस्टर चिपकाए जाते हैं। पर्चों में यहाँ तक कहा जाता है कि ऐसे शहीदों की जरूरत है जो ऊधमसिंह और भगतसिंह का अनुसरण करते

हुए, 'इंदिरा बीबी' से बदला लेते हुए सिख कौम के लिए परवान चढ़ जाएँ। प्रधानमंत्री को एक हत्यारिन के रूप में प्रचारित किया जाता है। ऐसा लगता है, तर्क और विवेक दोनों ही अमृतसर से गायब हो गए हैं। स्वर्ण मंदिर परिसर से सटी एक गली में जब इस प्रतिनिधि ने कुछ सिख परिवारों से बातचीत की तो विचित्र अनुभव हुआ। नानक निवास के पिछवाड़ेवाली गली में रहनेवाले सिख परिवार के एक सदस्य ने पहले यह बताया कि स्वर्ण मंदिर में घुसने के बाद फौजियों ने उनके जेवरात लूट लिए। कुछ देर बाद ही उस परिवार के मुखिया ने अपने पुत्र की बात काट दी। उन्होंने कहा, "कुछ नहीं लूटा। सिर्फ इसलिए तलाशी ली थी कि कहीं कोई उग्रपंथी छिपा हुआ न हो, क्योंकि अनेक उग्रपंथी इस गली से फरार हो गए थे।" उसी गली के एक दूसरे परिवार के सदस्यों ने बताया कि सेना ने दो महीने तक के बच्चे को मारा है। लेकिन यह पूछने पर कि किसलिए मारा, वे चुप रहे। इसी परिवार के लोगों ने कहा कि स्वर्ण मंदिर में केवल चालीस उग्रपंथी छिपे हुए थे। उनके पास कोई खास हथियार या गोला-बारूद नहीं था। सेना के करीब पाँच सौ लोग मारे गए। रामदास की सराय में सैकड़ों सैनिकों के शव जलाए गए। कई दिनों तक बदबू आती रही। उनसे जब यह पूछा गया कि उग्रपंथी संख्या में कम थे, उनके पास शस्त्र भी कम थे, तब क्या सेना के जवानों ने सामूहिक आत्महत्याएँ कर लीं? तो इसका कोई जवाब उनके पास नहीं था।

अमृतसर के सिखों और हिन्दुओं में बेसिर-पैर की अफवाहें बुरी तरह से फैली हैं। लगता है, दोनों ही इसके साथ कुछ समय तक जीना चाहते हैं। दोनों के बीच संवादहीनता की स्थिति है। सामाजिक रिश्तों में सतहीपन और दिखावटीपन है। दोनों ही समुदायों के लोग इसे स्वीकार भी करते हैं। इस समय सिखों में मिलटेंट संकीर्णता है। वह हिंसात्मक हो सकती है। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं में भी हिंसात्मक संकीर्णता प्रतिक्रियास्वरूप जन्म ले सकती है। दोनों समुदायों की हिंसात्मक संकीर्णता कैसा रंग दिखा सकती है, इसका अंदाज लगाया जा सकता है।

अमृतसर शहर की तुलना में सरबत खालसा में मौजूद लोग अधिक खुले दिमाग के लगे। कट्टर संकीर्णतावाद के खिलाफ सरबत खालसा की शक्ल में जो पहल सामने आ रही थी, उसके प्रति सबों में हलचल थी; उसे समझने की उत्सुकता थी; इसके प्रभाव क्या-क्या हो सकते हैं, लोगों के बीच इसकी चर्चाएँ थीं। सिख जनता के बीच सूक्ष्म स्तर पर आत्ममंथन की प्रक्रिया चल रही थी।

किसी भी काम में जनता की भूमिका को इस आधार पर रद्द नहीं किया जा सकता कि वह कांग्रेस के साथ है, या अन्य किसी जमात के साथ। देखना यह होता है

कि जनता किसी घटना को किस संदर्भ में देखती है? उसकी कैसी प्रतिक्रिया होती है? उसका नेतृत्व प्रतिगामी है या प्रगतिशील? वह उसके साथ किस तरह का व्यवहार करती है? अब तक के घटनाक्रमों से यह तो कहा ही जा सकता है कि सरबत खालसा का आयोजन कट्टरपंथी संकीर्णतावाद से मुक्ति की दिशा में एक प्रगतिशील कदम है। जब ईरान के खुमैनी की धार्मिक कट्टरता या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हिन्दू राष्ट्रवाद का विरोध करना प्रगतिशील माना जाता है, तब अकालियों के कट्टर उप-सिख राष्ट्रवाद तथा जरनैलसिंह भिंडराँवाले की हिंसात्मक धार्मिक कट्टरता का विरोध करना प्रतिगामी कदम कैसे हो सकता है? छोटे रूप में ही सही, ऐसी पहल का स्वागत किया जाना चाहिए; उम्मीद रखने के साथ-साथ संघर्ष करना चाहिए कि धर्म का घिनौना इस्तेमाल भविष्य में न अकाली कर सकें और न ही कांग्रेसी या कोई अन्य दल। नि:संदेह धार्मिक कट्टरता के खिलाफ इस आयोजन के दूरगामी प्रगतिशील परिणाम निकलेंगे। सिख समुदाय की लोकतांत्रिक और उदारवादी शक्तियों को इससे बल मिलेगा।

29 अगस्त, 1984

हम आतंकवादियों को मिटा देंगे : संतासिंह

जोशी : *कांग्रेस और राजनीति से आपका क्या संबंध है?*

संतासिंह : दोनों के साथ कोई नहीं। हम धार्मिक लोग हैं। धर्म ही हमारा सब कुछ है। राजनीति को धर्म के मातहत रहना होगा, हम ऐसा मानते हैं। अकाली दल और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी ने राजनीति को प्रमुखता दी, धर्म को त्याग दिया; इसका परिणाम भी सिखों ने भुगत लिया। अब हम ऐसा नहीं होने देंगे। धर्म ही प्रधान रहेगा।

जोशी : *क्या यह सच है कि आपका सीधा संबंध इंदिरा गाँधी से है?*

संतासिंह : नहीं।

जोशी : *अच्छा बताइए, नेहरू परिवार के संबंध में आप क्या सोचते हैं?*

संतासिंह : हम निश्चय ही नेहरू परिवार को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस खानदान ने कई कुर्बानियाँ आजादी के दौरान दी हैं, आज भी दे रहा है। नेहरू और इंदिरा गाँधी दोनों ने ही देश को बहुत कुछ दिया है।

जोशी : *और किन नेताओं से प्रभावित हैं?*

संतासिंह : गाँधीजी से। हमने उन्हें देखा भी है; उनसे प्रेरणा भी ली है।

जोशी : *संत भिंडराँवाले शराब के खिलाफ थे, अम तसर से शराब के ठेके खत्म करवाना चाहते थे। सचाई यह है कि अम तसर की शराब की दुकानों पर सरदारों की सबसे अधिक भीड़ लगी रहती है। क्या आप कोई हुकुमनामा जारी करेंगे?*

संतासिंह : हम शराब को बुरी चीज नहीं मानते। समुद्र-मंथन से मिले रत्नों में से यह एक है। अगर सुरा बुरी होती तो देवतागण तब ही इसका परित्याग कर देते। इसलिए शराब बुरी कैसे हुई?

ज़ोशी : *पंजाब में कई जगह गरीबी मौजूद है। क्या इसे दूर करने में धर्म का प्रयोग करेंगे?*

संतासिंह : हम तो धार्मिक लोग हैं। यह राजनीतिक काम है। हम तो धर्म का प्रचार करेंगे। गरीबी और गैर-बराबरी सरकार दूर करेगी, हम नहीं।

जोशी : *सिख धार्मिक पुस्तकों के अलावा आपने और किन-किन पुस्तकों का अध्ययन किया है?*

संतासिंह : खास तौर पर सिख धर्म की पुस्तकें पढ़ी हैं। रामायण भी पढ़ी है। अब और धर्मों की किताबें पढ़ूँगा। सियासत की कोई किताब नहीं पढ़ी।

जोशी : *कुछ देर पहले आपने कहा था कि आप पार्टी बनाएँगे, खालसा पंथ को शुद्ध करेंगे। क्या आप अकाली दल से हटकर कोई नई पार्टी बनाएँगे ? आनेवाले चुनावों में आप किसे अपना समर्थन देंगे?*

संतासिंह : हमारी तो धार्मिक पार्टी बूढ्ढा अकाली दल पहले से ही है। नई पार्टी बनाने की जरूरत क्या है? अकाली दल सिखों की असली पार्टी नहीं है; वह तो नकली पार्टी है। हम उसे नहीं मानते।

जोशी : *अकाली पार्टी चुनाव लड़ती है। क्या आप भी लड़ेंगे?*

संतासिंह : सियासत से हमारा कोई सरोकार नहीं। हम चुनाव नहीं लड़ेंगे। हम तो सिर्फ धर्म का प्रचार करेंगे। चुनाव लड़ना तो सियासत है। जहाँ तक रही चुनावों में समर्थन की बात, उससे हमारा क्या लेना-देना? हमारे लिए सब बराबर। जो भी आशीर्वाद लेने आएगा, उसे दे देंगे। हम तो समदरसी हैं।

(इसी बीच उनका विलायतपलट चेला बोलने लगा : भगवान श्रीकृष्ण के यहाँ कौरव और पाण्डव दोनों ही मदद के लिए आए थे। कृष्ण भगवान ने दोनों में से किसी को भी निराश नहीं किया।)

जोशी : *अच्छा बाबा, अब बूढ्ढा अकाली दल का ऑफिस कहाँ रहेगा?*

संतासिंह : स्वर्ण मंदिर में ही रहेगा। स्वर्ण मंदिर इतना बड़ा है, कहीं भी हो जाएगा। *(बाबा का आशय स्वर्ण मंदिर परिसर से था, जिसमें अकाल तख्त के अलावा नानक निवास, तेजा समुद्री हॉल, गुरु रामदास की सराय शामिल हैं। समुद्री हॉल में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का दफ्तर भी था। अकाली प्रधान संत लोंगोवाल यहीं रहा करते थे। नानक निवास में भिंडराँवाले रहते थे।)* अकाल तख्त के असली हकदार हम हैं, बुड्ढा अकाली दल है। इसकी सारी जिम्मेदारी हमारी है, नकली प्रबंधक कमेटी की नहीं।

जोशी : *गुरुद्वारों के प्रबंध के लिए नई कमेटी बनाई जाएगी?*

संतासिंह : एक धार्मिक सम्मेलन बुलाया जाएगा। सब काम धार्मिक रीति से होगा। उसी सम्मेलन में कमेटी के सदस्य मनोनीत किए जाएँगे। मगर चुनाव कोई नहीं लड़ेगा। हाँ, जो बाहर का आदमी चुनाव के लिए मदद माँगेगा, वह अगर लायक हुआ तो हम आशीर्वाद देंगे।

जोशी : *स्वर्ण मंदिर के अलावा दूसरे गुरुद्वारों का क्या होगा? क्या आप अन्य प्रदेशों में भी जाएँगे?*

संतासिंह : दूसरे गुरुद्वारों का हम ही प्रबंध करेंगे। यहाँ से फुरसत मिलेगी तो दूसरे सूबों में जाएँगे। केरल, मद्रास और महाराष्ट्र से निमंत्रण मिला है। कई सनातन नेताओं ने भी बुलाया है। सिख तो हिन्दुओं की रक्षा के लिए ही पैदा हुआ है।

जोशी : *क्या 1928 में बने सिख कानून में आप परिवर्तन चाहेंगे?*

संतासिंह : हम जरूर नया कानून चाहेंगे, क्योंकि 1928 का कानून तो अँगरेजों ने बनाया था। यह गुलामी का कानून है। हम नई शिरोमणि प्रबंधक कमेटी और नया कानून बनाएँगे। सरकार भी इस कानून को पसंद नहीं करती।

जोशी : *इसकी क्या गारंटी है कि अब पंजाब में फिर से आतंकवाद सिर नहीं उठाएगा? कोई नया भिंडराँवाले पैदा नहीं होगा?*

संतासिंह : पंजाब की भूमि से हम आतंकवादियों को मिटा देंगे। सरकार को हम पूरी मदद देंगे। गुरुद्वारों को अपराधियों का अखाड़ा नहीं बनने दिया जाएगा, दूसरा भिंडराँवाले पैदा नहीं होने दिया जाएगा। इसलिए जल्दी ही धार्मिक सुधार का काम शुरू किया जाएगा। हिन्दू-सिखों में आज जो भय फैला हुआ है, उसे हम दूर करने की कोशिश करेंगे। हमारे लोग गाँव-गाँव, घर-घर जाएँगे; एकता के लिए हिन्दू-सिख दोनों से बात करेंगे। सब ठीक हो जाएगा।

जोशी : *क्या सेना को वापस बैरकों में भेजा जाना ठीक रहेगा?*

संतासिंह : सेना की कोई जरूरत नहीं है। परंतु, सरकार आतंकवाद को समाप्त करना चाहती है, इसलिए सेना बाहर है। आतंकवादी असल में गीदड़ और कायर हैं, छिपकर हमला करते हैं, खुलकर मैदान में नहीं आते; यह धर्म के खिलाफ है।

जोशी : *बाबा, किस अधिकार के तहत आप नई गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी बना सकते हैं, आपने यह नहीं बताया?*

संतासिंह : हमारे बूड्ढा अकाली दल की ऐतिहासिक सिख परंपरा है। हमारे दल ने महाराजा रणजीत सिंह तक को सजा दी थी। हमारे पास आज भी वह दस्तावेज

है। सब तख्तों में हमारा तख्त सबसे ऊपर है। हमारे तख्त के पास आखिरी फरियाद की जाती है। हम सिख परंपराओं के तहत जिसे चाहे माफ करें, जिसे चाहे सजा दें। दूसरे जत्थेदारों का फैसला हम पर लागू नहीं होता। ये सब तनखइया हैं। स्वर्ण मंदिर के ग्रंथी प्रबंध कमेटी से पैसा लेकर ऐश उड़ा रहे हैं। प्रबंध कमेटी के गुलाम वही हुए, हम नहीं। सिख इतिहास बतलाता है कि महाराजा रणजीत सिंहजी के जमाने से ही अकाल तख्त हमारे दल के पास रहा है। फिर ये कौन होते हैं, हमें हुकुम देनेवाले? हमारा हुकुम चलेगा। हमारा फैसला अंतिम होगा।

जोशी : *तब क्या आप स्वर्ण मंदिर में हमेशा के लिए अपना डेरा डाल देंगे?*

संतासिंह : स्वर्ण मंदिर में नहीं रहेंगे। हम तो फकीर हैं। हमारे पास गाड़ियाँ हैं, घोड़े हैं। आज यहाँ, कल वहाँ। जब लोग अपनी गद्दियों से उतर जाते हैं, मुश्किल में पड़ जाते हैं, तब हमसे मिलते हैं। हम एक जगह रुकते नहीं। यहाँ का भी काम खत्म होने पर आगे निकल जाएँगे; हमें तो फकीर ही रहना है।

29 अगस्त, 1984

उत्तर-त्रासदी : परिदृश्य दो

पंजाब

"मानस की जात सभे एकई पहचानो, मानस सबई इक है अनेक को प्रभाओ है।"*—गुरु गोविन्द सिंह*

"सिख अच्छे योद्धा हैं, विजेता हैं। परंतु ... कुशल शासक नहीं हो सकते।" *—चंडीगढ़ का एक सिख छात्र*

"सिख कौम वीरता की पुजारी है, उसकी दीवानी है। वह किसी योद्धा को ही अपना नायक बनाना पसंद करेगी, कायरों को नहीं। इसके लिए वह कोई भी कीमत देने के लिए हमेशा तैयार है, अंजाम कुछ भी हो।" *—अमृतसर के एक सिख प्राध्यापक*

"सिख कौम फेनेटिक है। जो कोई गर्म नारा देता है उसके पीछे भेड़ की तरह लग लेती है। इसीलिए यह ट्रेजडी हुई।" *—अमृतसर होटल का एक हिन्दू कर्मचारी*

त्रासदी उपरान्त के पंजाब में सामान्य जन की ये चंद अभिव्यक्तियाँ सिख जाति के चरित्र को रूपांकित करती हैं। इतिहास साक्षी है : वीरता की कोख में स जन और त्रासदी दोनों हैं। एक योद्धा के किरदार का क्लाइमेक्स ट्रेजडी में होता है। योद्धा चाहे कृष्ण हो या बुद्ध, सुकरात, ईसा, मंसूर, नेपोलियन बोनापार्ट, भगतसिंह, सुभाष, गाँधी, चे ग्वेवेरा, किस्ता गौड़-भूमैया (बगैर वैचारिक मतभेद के)- सभी की जीवन-यात्रा का अंत त्रासदी से होता है। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि तत्कालीन राजसत्ता अपने हितों के परिप्रेक्ष्य में वीरता, योद्धा

और त्रासदी को परिभाषित करती आई है।

स्वर्ण मंदिर में तीन अक्टूबर की सुबह इन आवेगों के साथ आरंभ होती है। इस वर्ष मेरी यह तीसरी और विगत 18 महीनों में चौथी यात्रा है। स्वर्ण मंदिर में खड़े हुए, सवालों का रेला आता-जाता रहता है। सिख इतिहास में स्वर्ण मंदिर में जून की घटना किस तरह दर्ज होगी? एक महान ट्रेजडी या कानून और व्यवस्था की कोरी एक घटना? भारत सरकार के विरुद्ध लड़ा गया एक धर्म युद्ध या मुट्ठी-भर उग्रपंथियों, अलगाववादियों, तस्करों आदि की माफिया करतूतें? घटना के नायक संत जरनैल सिंह भिंडराँवाले, सहयोगी पात्र सुभेगसिंह, अमरीक सिंह और अन्य असंख्य पात्रों को किस रूप में परिभाषित किया जाएगा? उन्हें योद्धा घोषित किया जाएगा या सामान्य खालिस्तानी उग्रपंथी?

स्वर्ण मंदिर परिसर के मुख्य द्वार के ऊपर एक 'सिख अजायबघर' है। यह संग्रहालय से अधिक सिखों के संपूर्ण 'इथोस' (लोकाचार) की यहाँ जीवंत अभिव्यक्ति है। सिख-वीरता, सिख-योद्धा और उनके गौरवशाली उत्सर्ग की गाथाएँ यहाँ शक्तिशाली ढंग से प्रदर्शित की गई हैं। संग्रहालय का कण-कण शूरता की कहानी से गूँज उठता है। दर्शक के पोर-पोर में हलचल होने लगती है। एक कायर भी कुछ क्षणों के लिए तो योद्धा में रूपांतरित हो जाता है। तत्कालीन मुगल और अँगरेज शासकों के खिलाफ उसका समूचा अस्तित्व क्रोध से दहकने लगता है। और यहीं त्रासदी की एक चरमोत्कर्ष अवस्था का एहसास होने लगता है।

मैंने देखा, स्वर्ण मंदिर के मुख्य द्वार के बाहर दुकानों, थड़ियों पर भिंडराँवाले के विभिन्न मुद्राओंवाले रंग-बिरंगे चित्र बेचे जा रहे हैं। गुरु गोविंद सिंह के साथ उनके चित्र भी टाँगे गए हैं। काँचवाले फ्रेमों में दोनों के चित्र साथ-साथ हैं। सिख भक्तगण उन्हें खरीदते भी हैं। उन्हें श्रद्धा से निहारा भी जाता है। कोई आम सिख उन्हें उग्रपंथी, शरारती नहीं कहता। कोई उन्हें गोविंद सिंह का अवतार मानता है, कोई शहीद और कोई क्रांतिकारी, कोई सिखों का रक्षक। कोई उन्हें जीवित मानता है, कोई म त। कहीं यह एक नई आगाज की शुरूआत तो नहीं? चाहे जो भी हो, इससे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि सिख जाति का इतिहास उन्हें किस रूप में स्वीकार करने के लिए प ष्ठभूमि तैयार कर रहा है।

जहाँ मैं खड़ा हूँ, सामने गुरु नानक निवास है। वहाँ इस समय बिलकुल सन्नाटा है, ट्रेजड़ी में डूबा और ट्रेजडी से उभरता हुआ। फ्लैश बैक–पिछला बरस –1983। महीना अप्रैल। भिंडराँवाले के जोशीले भाषण। छोटे और गरीब जाट सिखों का उनके इर्द-गिर्द जमघट। हथियारबंद चेलों का पहरा। कमरों में कई तरह के उग्रपंथियों की भरमार। चारों तरफ मरजीवड़ों का मेला। एक उत्सर्ग की तैयारी।

वापस लौटता हूँ।

अकाल तख्त के सामने खड़ा हूँ। बिलकुल नया। कुछ क्षणों के लिए स्म तियाँ अपनी ओर खींची हैं। इसी बरस का तपता जून। तारीख अट्ठारह। एक उजाड़-खँडहर बेनूर खामोश अकाल तख्त। गोलियों से जर्रा-जर्रा छलनी। फर्श पर पड़ी सैकड़ों कारतूसें। कहा नहीं जा सकता, कौन-सी वीरता का जीता-जागता अस्थिपंजर? कौन-सी परिभाषा के योद्धा का दुखद अंत? अकाल तख्त की शक्ल ठीक उस ताँगे की तरह, जिसकी टक्कर सैनिक ट्रक से हो चुकी है।

और अब।

चमक-दमक, चहल-पहल, रंग-रोगन, रंग-बिरंगे दर्शकों से घिरा अकाल तख्त। कुछ दूर फासले पर स्थित हरिमंदिर साहिब से उठती स्वरलहरियों से गूँजता अकाल तख्त। अब गोलियों के निशान नहीं हैं, दर्शकों के दिलों पर घाव जरूर हैं। विनाश के बाद अकाल तख्त के नए रूप को देखकर उनकी आँखों में खुशी की चमक भी है, तो एक विषाद भी उनके चेहरों पर दिखाई देता है; विरासत में मिला अजेय होने का दर्प टूटने की मर्मान्तक पीड़ा स्पष्ट झलकती है। उन्हें लगता है कि उनका दर्प, दर्प नहीं था, एक फेंटेसी थी, जोकि आधुनिक व्यवस्था की संगठित शक्ति के सामने भंग हो गई।

फिर भी...लगता है अकाल तख्त का जीर्णोद्धार नहीं बल्कि पुनर्जन्म हुआ है।

स्वर्ण मंदिर का परिक्रमास्थल भरा हुआ है। भीड़ उमड़ी हुई है। लोग दीवारों पर गोलियों के निशान बारीकी से खोजने की कोशिश में लगे हैं। कभी संगमरमर के फर्श को उँगलियों से कुरेदते हैं, कभी स्वर्ण-गुंबद पर आँखें गड़ाते हैं। भीड़ में से कोई प्रधानमंत्री को भद्दी गालियाँ देता है–तेरे वंश का नाश हो, तो कोई राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह को। फुसफुसाहटें सुनाई देती हैं, एक हजार सैनिक मरे हैं, कई हजार सिख तीर्थयात्री (कोई उग्रपंथी नहीं कहता); चारों तरफ से टैंकों ने मंदिर को रौंद डाला, मरजीवड़ों के भी छक्के छुड़ा दिए, गुरु के सच्चे प्यारे निकले... धीरे बोलो, चारों तरफ सी. आई. डी. घूम रही है... बोलो–सत्श्री अकाल–जो बोले सो निहाल। राज करेगा खालसा...

सिखों के साथ हिंदू दर्शक भी हैं, परंतु उतनी संख्या में नहीं, जितनी संख्या में पिछले बरस देखे थे। अगस्त में बाबा संतासिंह की देखरेख में हुए सरबत खालसा के अवसर पर भी हिंदू काफी संख्या में मंदिर देखने आए थे। उस समय मजहबी सिख-दर्शकों की भी काफी भीड़ थी। निहंग भी बहुत थे। आज भक्त हैं, परंतु जाट और खत्री या खाते-पीते घर के भक्तगण अधिक दिखाई देते हैं। फिर भी, सिखों के साथ-साथ हिंदुओं ने भी माथा टेकना शुरू कर दिया है। वे सरोवर

के पवित्र जल का आचमन करते हैं। सरोवर की कार सेवा में हिंदू घरों की औरतें भी अपना योगदान दे रही हैं। उनका भविष्य पंजाब में सुरक्षित है, इस आशंका से ग्रस्त हैं।

दो दिन के पश्चात चंडीगढ़ में एक सिख परिवार ने सूचना दी है कि पंजाब से बाहर के सिख पंजाब में काफी संपत्ति खरीद रहे हैं। हिंदू पंजाबी अपनी संपत्तियाँ बेचने को तैयार हैं। इसके लिए वे राज्य से बाहर के सिखों से बातचीत कर रहे हैं। कुछ को अच्छे दाम मिल रहे हैं, कुछ को कम।

अपने आलीशान बंगले में साठ साला मेहरा कह रहे हैं, "भाई! हम तो बिजनेसमेन हैं। राजनीति से हमारा कोई लेना-देना नहीं है। सिख व्यापारी भी हमारे दोस्त हैं। वैसे तो सिख-हिंदुओं में कोई तनाव नहीं है, पर उनके मन में क्या है, कहना मुश्किल है। अम तसर में 80 प्रतिशत हिंदू और 20 प्रतिशत सिख व्यापारी हैं। तगड़ी होड है। अर्थव्यवस्था हिंदुओं के हाथों में है, वैसे 5 जून के बाद से हालात कुछ सुधरने शुरू हुए हैं। माल क्रेडिट पर मिलने लगा है। हमारी माँग है कि पंजाब की खास स्थिति को देखते हुए सरकार यहाँ के व्यापारियों को कुछ साल के लिए रियायत दे।"

राजनीति की बात चल पड़ती है। मेहराजी का दोटूक जवाब है, "हिंदुओं के बीच कांग्रेस का बोलबाला है। सिख नाराज हैं। चुनाव के समय सभी हिंदू इंदिराजी को वोट देंगे। मगर, पंजाब में असली शांति तब होगी, जब अकालियों की माँग मंजूर कर ली जाएगी।"

होटल के एक हिंदू वेटर का नजरिया मेहरा साहब से बिलकुल अलग है। वापस अपने कमरे में लौटा तो वेटर सामने पड़ गया। गपशप शुरू हुई। बगैर किसी उलझाव और लागलपेट के वेटर ने तपाक से कहा, "पंजाब में शांति तब हो सकती है जब पाकिस्तान के साथ दो-दो हाथ हो जाएँ, सर। इससे पहले सिखों के होश ठिकाने नहीं लगेंगे और न ही सिख-हिंदू एकता लौटेगी। बस हमारा तो यही फारमूला है...साहब।"

वेटर से मुक्ति मिली तो एक सिख प्राध्यापक के साथ बहस चल पड़ी। यह खत्री सिख हैं—संतुलित द ष्टिवाले, विवेक की रोशनी में घटनाओं की जाँच-परख के आदी। सरकार की आलोचना, तो सिखों की भी आलोचना। पासंग बराबर बराबर। कहने लगे, "देखिए साहेब, सिख एक बावली, जुनूनी कौम है; जो गरम और वीरतापूर्ण नारे लगाता है, उसके पीछे-पीछे चल पड़ती है।

"जो व्यक्ति जितने गरम नारे उछालेगा, वह उतना ही बड़ा सिखों का हीरो बन

जाएगा। सिखों की एक आदत बन चुकी है–दिल्ली के तख्त से हमेशा लड़ते रहना। चाहे लड़ाई सही हो या गलत, इसकी चिंता नहीं। जो नहीं लड़ेगा, सिख उसके पीछे कभी नहीं आएँगे। इसलिए हीरो बनने के लिए सिख नेता जान-बूझकर ऊँचे-ऊँचे नारे लगाते हैं। इसका अंजाम कुछ भी क्यों न हो।

"एक बात और। यह सोचना भी गलत है कि खालिस्तान हम सब चाहते हैं। सिखों का बहुमत खालिस्तान बिलकुल नहीं चाहता। आप खुद ही सोचिए, आज जिस तरह पाकिस्तान में सिखों के तीर्थस्थानों की यात्रा के लिए वीसा लेना पड़ता है, क्या खालिस्तान बन जाने के बाद पटना साहेब, गुरुद्वारा सीसगंज, रकाबगंज, बंगला साहेब आदि के लिए वीसा की जरूरत नहीं पड़ेगी ? हमारे आधे रिश्तेदार पंजाब से बाहर रहते हैं। हर सिख परिवार की यही कहानी है। किसी की पत्नी सिख है तो किसी का पति सिख है। एक भाई सिख है, दूसरा भाई हिंदू। कैसे तोड़ेंगे ऐसे रिश्तों को? पासपोर्ट और वीसा कहाँ तक जोड़ सकेंगे इन रिश्तों को? क्या बनेगा इन सबका? आप खुद सोचें। मुझे तो अमेरिका और पाकिस्तान की चाल लगती है–इस सबके पीछे।"

चाल किसी की भी हो, कसूर किसी का भी रहा हो, पर यह सही है कि एक औसत सिख उग्रपंथियों और उनके नायक भिंडराँवाले की खुली भर्त्सना, निन्दा करने को तैयार नहीं है; आपसी बातचीत में आलोचना अवश्य की जाती है, परंतु आम सिख-हृदय इसके लिए तैयार नहीं है। ग्रंथी, अकाली दल के नेता, गुरुद्वारा प्रबंधक समिति के पदाधिकारी आदि अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त हैं। वे न तो उग्रपंथियों को स्वीकार कर सकते हैं, और न ही अस्वीकार। एक तरफ सिख समाज के गुस्से का भय, दूसरी तरफ सरकार सहित बाकी देश की जनता से कटने का भय। एक अनिश्चितता। पिछले एक-दो सालों में स्वर्ण मंदिर में जो कुछ हुआ, उसे न रोक पाने का अपराध-बोध भी उनका पीछा करता रहता है। इस अपराध-बोध को छिपाने के लिए हर दूसरे दिन उनके वक्तव्यों में फिसलन देखने को मिलती है। इसे चालू शब्दों में दोगलापन भी कहा जा सकता है, परंतु है यह एक कशमकश। एक जाति की त्रासदी का भोगा यथार्थ।

हाँ, कुछ लोग इनसे हटकर भी हैं। रिक्शावाला, रेड़ीवाला, बूटपालिशवाला, मेहतर, स्कूटर-टैक्सी ड्राइवर, किसी फैक्टरी का मजदूर, खेतिहर श्रमिक–ये लोग दूसरे संसार की रचना करते हैं। इनकी प्रतिक्रियाएँ कहीं मेल नहीं खातीं। इनकी अभिव्यक्तियाँ पेचदार नहीं, सीधी-सपाट हैं। सभी में एक समानता है, "साहेब, खालिस्तान बने तो ठीक न बने तो ठीक, हमें तो यही करना है; राज तो करेंगे नहीं। रोज-रोज की मजदूरी करेंगे, तभी जिंदा रहेंगे। हमें न भिंडराँवाले से वास्ता और न सरकार से।"

हाँ, इनकी बला से ! खालिस्तान, उग्रपंथी, सरकार–सब उनके लिए बेमाने हैं। एक निर्लिप्त, एक तटस्थ स्थिति है। जून की घटना ने इन्हें कोई हिलाया नहीं। स्वर्ण मंदिर सौंपने या न सौंपने, और खालिस्तान बनने या न बनने से इनका कोई सरोकार नहीं है। यह जरूर है कि जब कर्फ्यू लगता है, तब इन पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ता है।

एक सिख टैक्सी ड्राइवर ने इस तटस्थ वर्ग की प्रतिक्रियाओं को बहुत ही ठेठ रूप में रेखांकित किया। टैक्सी गाँवों-खेतों से गुजरती हुई भारत-पाक सीमा की ओर दौड़ रही है। मध्यप्रदेश के कई शहरों में घूमा यह वृद्ध टैक्सी ड्राइवर बगैर किसी लाग-लपेट के अपने भाव व्यक्त कर रहा है। कहता है, "आप बाहर के लोग हैं। कुछ नहीं जानते। हमें मालूम है, नानक निवास में क्या-क्या होता रहा है; भिंडराँवाले के चेले क्या करते थे; किन-किन कमरों में चरस-गाँजा जमा किया जाता था; कहाँ-कहाँ के स्मगलरों ने वहाँ डेरा जमा रखा था। एंटीनेशनल लोगों को शरण मिली हुई थी। धड़ल्ले के साथ लोग पाकिस्तान जाते और आते। हमने सब देखा है। गुरुओं के नाम पर, सिख धर्म के नाम पर सबकुछ किया गया। जिसने विरोध किया उसे मार दिया। कई अखबारनवीस भी मारे गए। कई कम्युनिस्ट सिख युवकों ने भिंडराँवाले की पोल भी खोली, उन्हें भी मार दिया गया। *प्रीतलड़ी* का सुमीत सिंह और चिंगारी के सुखराज सिंह को इन्हीं दरिंदों ने मारा। दोनों अखबारनवीस सिख थे। भिंडराँवाले न हिंदू देखता था और न सिख।"

याद आती है *पंजाब केसरी* के लाला जगतनारायण और रमेशचंदर की हत्याएँ। भारत सरकार द्वारा जारी श्वेतपत्र के सफे तेजी से दिमाग पर दस्तक देते हैं। 20 मार्च 1981 से लेकर 2 जून 1984 तक तकरीबन पौने-छः सौ हिंसा की वारदातों से पंजाब गुजरता है। अनेक निरपराधों की हत्याएँ, कई बैंक डकैतियाँ, रेलवे स्टेशनों का जलाना, बसों से उतारकर लोगों को गोलियाँ मारना, नेताओं और अधिकारियों की हत्याएँ–सब कुछ धर्म के नाम पर, चंद लोगों की सनकों के लिए। श्वेतपत्र का हर सफा कहता है–सरकार हमेशा से सही थी। विरोधी दलों द्वारा जारी ब्यौरे सफों को काटते हुए दिखाई देते हैं। कौन सही, कौन गलत, बड़ा मुश्किल है यकायक कह पाना।

मगर ड्राइवर कहता है, "ये सब साजिश है। बाहरी देशों की। भिंडराँवाले के अकेले के बूते की बात नहीं। मैं जानता हूँ साहेब, गाँवों के लोग सरहद लाँघकर कैसे पाकिस्तान जा रहे हैं। हथियार और मोटी रकम लेकर लौटते हैं। सरकार नरम पड़ी तो समझो खालिस्तान बन गया।"

आखिर पौन घंटे के सफर के बाद वाघा बार्डर पहुँच गए। दोनों ओर भारत-पाक के सीमा-द्वार। दोनों के झंडे। तैनात सीमांत प्रहरी। मैं फोटो लेने लगता हूँ।

पाकिस्तानी रेंजर चीखता है, "जनाब, किसकी इजाजत से फोटो ले रहे हैं? आप हमारे फ्लैग का फोटो नहीं ले सकते। अपनी सरहद में रहकर अपने फ्लैग का लें।" रेंजर का चेहरा तना हुआ था। स्थिति न बिगड़े इसलिए दूसरे कोण से फोटो लेना मुनासिब समझा।

लौटता हूँ तो कस्टम अधिकारी बतलाते हैं, पिछले एक साल से पर्यटकों की संख्या में 50 से 60 प्रतिशत कमी आई है। पंजाब के हालात को देखते हुए भू-मार्ग से विदेशियों को वीसा जारी नहीं किया जाता है; पाकिस्तानी नागरिकों को तो बिलकुल ही नहीं दिया जाता। इससे उस पार के लोग नाखुश हैं। एक दिन पाकिस्तानी भी हिंदुस्तानियों को वीसा देना बंद कर देंगे। ये अधिकारी भी बतलाते हैं, सीमा का उल्लंघन चलता रहता है। ट्रेनिंग के लिए लोग आते-जाते रहते हैं। खबरें हैं, सरहद के उस पार तैयारियाँ चल रही हैं। वैसे सीमा-द्वार पर तनाव नहीं है। दोनों के बीच अच्छे संबंध हैं। जब कोई समस्या होती है, दोनों तरफ बने कमरों में भारत-पाक अधिकारी मिल-बैठकर उसे सुलझा लेते हैं।

वापस अमृतसर की ओर। चारों तरफ हरियाली। ट्रेक्टरों की गड़गड़ाहट। शहर की ओर जाते दूधिये। बातचीत का सिलसिला फिर चल पड़ता है। साठ साला ड्राइवर कहने लगता है, "शहरों से ज्यादा गाँवों की हालत खराब है। गाँवों में खूब तनाव है। वहाँ काफी गुस्सा है। गाँवों के लोग आसानी से माननेवाले नहीं। वो तो कहते हैं खालिस्तान की नींव उसी दिन पड़ चुकी थी, जिस दिन सेना दरबार साहेब (स्वर्ण मंदिर) में घुसी थी। अब तो वक्त की बात है। खालिस्तान बनकर रहेगा।"

होटल लौटता हूँ। दिल्ली से आए एक सिख शिल्पी से लाउंज में मुलाकात हो जाती है। यह सिख-परिवार कारसेवा में भाग लेने आया हुआ है। स्वर्ण मंदिर के दर्शन करके लौटा है। शिल्पी मत जाहिर करते हैं, "अकाल तख्त का पुराना नूर नहीं लौटा। रंग जरूर चमकते हैं, पर वो बात नहीं। सब जल्दबाजी में हुआ है। सिख कम्युनिटी इसे पसंद नहीं करेगी।"

आतंकवादियों के सवाल पर ये शिल्पी भी खामोश हैं। मगर इतना जरूर कहते हैं, "भिंडराँवाले मरे नहीं हैं। जिन्दा हैं।"

"यह बात आप कह रहे हैं, शिक्षित होकर।" मैं पूछता हूँ।

"देख लेना। अमेरिका के चुनाव खत्म होते ही अगले साल भिंडराँवाले दिखाई देंगे। खुद अमेरिका उन्हें दुनिया के सामने पेश करेगा।" वे विश्वास के साथ

कहते हैं।

"अभी क्यों नहीं सामने लाया जा रहा है?"

"इसके राजनीतिक कारण हैं। भिंडराँवाले पाँच जून को पाकिस्तान पहुँच गए थे।"

"सुभाषचंद्र बोस के संबंध में भी इसी तरह का प्रचार कई सालों से किया जा रहा है। क्या ऐसा नहीं लगता कि चंद स्वार्थी लोग मृत संतजी को जानबूझकर जिन्दा रखने का प्रचार कर रहे हैं?"

"ऐसा नहीं है। नेताजी और संतजी की स्थितियों में फर्क है। वे आसमान में थे, और ये जमीन पर। संतजी के जिन्दा रहने की गुंजाइश अधिक है। इस पर बहस करने से कोई फायदा नहीं। आप देख लीजिएगा, जनवरी-फरवरी में संतजी प्रगट होंगे।" इसके बाद हम दोनों चुप हो गए। विवेक और तर्क दोनों परास्त थे। घटनाओं के इस दौर में सबसे बड़ी त्रासदी विवेक के साथ हुई है। दो जून से पहले वीरता थी, विवेक नहीं था। आज आहत वीरता के लिए विलाप है, विवेक फिर नहीं। कोई भी आत्म-मंथन के लिए तैयार नहीं। कोई भी यह जानना नहीं चाहता कि भिंडराँवाले के प्यारे मरजीवड़े कहाँ तक सही थे, कहाँ तक गलत? खालिस्तान का निर्माण कहाँ तक सिख समुदाय के व्यापक हितों में है, और कहाँ तक उसके विरुद्ध? वर्तमान सिख नेतृत्व, अकाली दल एवं प्रबंधक समिति कहाँ तक कसूरवार है, और दिल्ली सरकार कहाँ तक बेकसूर? क्या वास्तव में हिन्दू साम्राज्यवाद इस देश में फैलता जा रहा है, जैसा कि आज पंजाब में प्रचारित किया गया है? ये सारे प्रश्न त्रासदी-उपरांत के संलाप में डूबे हुए हैं। त्रासदी की एक आवश्यक शर्त 'कैथारसिस'– एक सामूहिक कैथारसिस सिखों के चेहरों पर दिखाई देता है। क्या यह त्रासदी कभी कामदी (सुखांत) में रूपान्तरित होगी?

दीपावली, 1984

उत्तर-त्रासदी : परिदृश्य तीन

सदमों में डूबा पंजाब

भारत-पाक सीमा की एक चौकी हुसैनीवाला।

दोनों देशों की सीमा-चौकियों के श्वान एक-दूसरे पर जोर-जोर से भौंक रहे हैं। दोनों ओर के सीमा-प्रहरी श्वानों को काबू करने की भरसक कोशिश में हैं। मगर वे बार-बार बेकाबू हो जाते हैं; सीमा-रेखा को लाँघते रहते हैं; एक-दूसरे पर भौंकते और गुरति रहते हैं। सीमा-प्रहरी लाचार हैं, क्योंकि इंसानों के लिए सीमा-उल्लंघन सख्त वर्जित है। इस पार और उस पार, सीमाद्वारों पर खड़े सिविलियन दर्शक कुक्कुर और इंसान के इस मिले-जुले दृश्य में मग्न हैं। कभी वे कुक्कुरों पर हँसते हैं, और कभी प्रहरियों की बेबसी पर। और दूर-दूर तक फैले हैं—जंगल, बड़ी-बड़ी घासें तथा खेत।

यह बहु-आयामी दृश्य केवल सीमा-चौकी का ही नहीं है बल्कि समूचे पंजाब का एक अत्यंत संवेदनशील परिदृश्य है। सैल्यूलाइड मोनटाज के समान इस परिदृश्य पर कभी आतंक व हिंसा चमकती है, कभी हिंदू-सिख एकता गूँजती है, कहीं अंतहीन त्रासदियाँ यकायक परिवेश को ढँक लेती हैं। और कहीं क्षितिज को स्पर्श करते-नाचते हुए खेत-खलिहान चमक छितराते रहते हैं। कहीं कभी कोई चीज उठती है और कहीं कोई चीज शांत दिखाई देती है।

पिछले दो-तीन सालों में पंजाब की कई यात्राएँ कीं। हर यात्रा ने पंजाब की नई परत उठाई, एक नया संसार उद्घाटित हुआ। जब संत भिंडराँवाले जीवित थे, तब पंजाब कुछ और दिखाई देता था, प्रांत के पोर-पोर में गुर्राहटें और गर्जनें

भरी हुई थीं। कभी लगता था–चारों ओर कैथारसिस फैलता जा रहा है। ट्रेजडी की आहटें सुनाई देने लगी थीं। तीन जून चौरासी के पश्चात का पंजाब पूरा त्रासदीमय लगा–एक ऐसा शांत सागर, जो ज्वालामुखी की ताजा-ताजा प्रसव पीड़ा झेल चुका हो और फिर भी जीवन की खोई ताजगी वापस प्राप्त करने के लिए बेकल हो; या फिर जीवन पाने के लिए एक और त्रासदी का वरण करने को मचल रहा हो।

दिल्ली में इकत्तीस अक्टूबर की त्रासदी हुई। फिर त्रासदी पर त्रासदी। इसी सप्ताह एक बार फिर त्रासदी और शहादत की भूमि पंजाब की यात्रा पर गया। पंजाब की एक परत और खुली है। वातावरण में कई नई-पुरानी सुगबुगाहटें हैं। पुराने पात्रों ने नए मुखौटे लगाए हैं। कोई नया अध्याय रचने की तैयारी में है पंजाब। अब लिखा जानेवाला अध्याय महाविनाश का होगा या महासृजन का, यह भविष्य ही बतलाएगा। और मैं इन दो विरोधी छोरों के बीच 'त्रिशंकु पंजाब' की यात्रा आरंभ करता हूँ। मेरा सफर चंडीगढ़ से शुरू होता है; और जालंधर, मेहता चौक, बटाला, धारीवाल, गुरुदासपुर, डेराबाबा नानक, अमृतसर, तरनतारन, हरीकेपत्तन, हुसैनीवाला, फिरोजपुर, मोगा, लुधियाना आदि कई शहरों-कस्बों को नापता हुआ वापस चंडीगढ़ में समाप्त हो जाता है। इस चार दिन के सफर में किसान मिलते हैं, मजदूर मिलते हैं, कहीं राजनेताओं से बातचीत होती है तो कहीं पत्रकार-बुद्धिजीवी अपना विश्लेषण सामने रखते हैं। कहीं निहंगों की लंबी-लंबी टोलियाँ दिखाई देती हैं, तो कहीं सभी बड़े-बड़े गुरुद्वारों की परिक्रमा पर निकले सिख-परिवार। ट्रेक्टरों, ट्रकों, जीपों और कारों में सवार। गेहूँ की कटाई से पहले विश्राम के कुछ क्षणों में इस तरह की परिक्रमाएँ की जाती हैं। आजकल चंडीगढ़ से अमृतसर तक पंजाब केसरियामय दिखाई देता है। जिधर दृष्टि डालो, उधर हर दूसरे-तीसरे सिख के सिर पर पीली पगड़ी दिखाई देगी। शिशु हो या किशोर, युवक हो या वृद्ध–सभी की पागें बसंती रंग में रँगी हुई हैं। इन रंगों में से एक प्रतिध्वनि निकलती है–मेरा रँग दे बसंती चोला, या पगड़ी सँभाल जट्टा पगड़ी सँभाल।

पीली पगड़ी पहननेवाले कहते हैं, "हमारी यह पगड़ी शहादत की प्रतीक है।" एक समय था जब नीली और काली पगड़ियाँ दिखाई देती थीं। अकाली नेताओं का आह्वान है कि अब पीली पगड़ी पहनने का समय आ चुका है; सिख कोई भी बलिदान देने के लिए तैयार रहें। इसलिए पीली पागों के झुंड के झुंड दिखाई देते हैं। इन्हें देखकर नई आशंकाओं की छाया में कई जरनैल सिंह भिंडराँवाले, अमरीकसिंह, सुबेगसिंह, बेअंतसिंह, सतवंतसिंह आदि पलते हुए दिखाई देते हैं। स्व. भिंडराँवाले की मेहता चौक स्थित टकसाल याने गुरुद्वारा इसका साक्षी है।

सात अप्रैल की शाम जब मैं गुरुद्वारे के लंगर में बैठता हूँ, परिक्रमा पर निकली पीली पागधारियों की संगत से मुलाकात होती है। संगत का संयत गुस्सा उबलता है। पीली पगड़ीधारी कहते हैं, "कुछ होकर रहेगा। बदला लेकर रहेंगे।" संत लोंगोवाल समझौता भी कर लें, तब भी दंगों के शिकार सिख अपना अपमान कैसे भूल सकते हैं? इसीलिए कहते हैं, कुछ होकर रहेगा।

इसी तरह की भावना खुली-दबी, कम-अधिक सभी शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में दिखाई दी। चाहे शहरी हो या ग्रामीण, गरीब हो या अमीर–औसत सिख के दिल में यह टीस है कि उसकी गरिमा को आघात लगा है। उसका पहले जैसा रुतबा, बोलबाला अब नहीं रहा। वह इसकी गहराई में जाने के लिए तैयार नहीं है कि उसका रुतबा और बोलबाला कितना सही था, और कितना गलत। वह इसकी जाँच करने को भी तैयार नहीं है कि तीन जून एवं इकत्तीस अक्टूबर से पहले उसका कद कितना स्वाभाविक था, और कितना अस्वाभाविक। पंजाब में हर कोई कहता है, "पहले सरदारों को सरदारजी, सरदार साहब, कहा जाता था। हर कोई उनसे डरता था। हजारों की भीड़ और गिनती के सरदार दोनों बराबर रहते थे। आज हमसे कोई नहीं डरता। कोई हमारा सम्मान नहीं करता। दिल्ली के दंगों ने हमारी गरिमा को ठेस पहुँचाई हैं। हम यह कैसे सहन कर सकते हैं?"

इन सवालों के जवाब में जालंधर, अमृतसर और दूसरी जगह के हिंदू सवाल करते हैं, "जब यू. पी. का भैया पंजाब की सड़कों पर रिक्शा चलाता है तो हम उसे चीखते हुए बुलाते हैं–अबे ओ रिक्शावाले इधर आ। जब कोई सिख रहता है तब बुलाते हैं–सरदारजी, सरदार साहब, उधर चलोगे? उसकी मर्जी होती है तो बैठाता है, नहीं तो भगा देता है। दंगों के बाद इस संबोधन में अंतर आया है। और क्यों न आए ? क्यों दोनों में फर्क किया जाए ? किसी का कद बड़ा क्यों समझें?" जालंधर के एक प्रसिद्ध हिंदी दैनिक के बड़े व्यक्ति ने बड़ी बारीकी से कदों का विश्लेषण करते हुए कहा, "भाई जोशीजी, किसी भी दंगे और खून-खराबे से हमें घृणा है। चाहे दिल्ली के दंगे हों या पंजाब के, इंसान ही मरता है। परंतु दिल्ली के दंगों से जहाँ हमें दुख है, वहीं थोड़ी-बहुत राहत भी। अगर दिल्ली में दंगे नहीं हुए होते, तो आज हमें आप यहाँ जिंदा नहीं देखते। पुलिस और सेना नहीं होती, तो हमारा नामो-निशान मिट जाता। जब बसों में, घरों में हिंदुओं को चुन-चुनकर मारा जा रहा था, उस समय सिखों को मलाल क्यों नहीं हुआ?" इसी तरह के आपसी शिकवे-शिकायत हर जगह सुनने को मिलते हैं। परंतु आश्चर्यजनक यह है कि प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की हत्या भी एक अपेक्षित पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित की लकीरें पंजाब के सिख समाज में बनाने में विफल रही है। तीन जून के पश्चात इंदिराजी की यह नियति अपरिहार्य बन चुकी थी, ऐसा सबका निष्कर्ष है। इसका यह अर्थ भी नहीं कि हत्या की भर्त्सना करनेवाले

सिखों की कमी है। अनेक सिख मिले, जिन्होंने हत्या की जमकर भर्त्सना की; यहाँ तक कहा कि, "यह किस सिख धर्म या इतिहास में लिखा है कि एक निहत्थी स्त्री-अबला पर गोली चलाई जाए? सिख गुरुओं ने ऐसा कभी नहीं सिखाया।" कई सिखों ने पंच-ग्रंथियों की भी जमकर आलोचना की; सवाल किया, "इन सिख ग्रंथियों को इसका क्या हक है कि सिख समाज को जहाँ कहीं भी ले जाएँ?" इन ग्रंथियों को मालूम होना चाहिए कि आज का सिख समाज बीसवीं शताब्दी में जी रहा है, अट्ठारहवीं शताब्दी में नहीं। इंदिरा गाँधी की हत्या के समय अगर ये ग्रंथी उलटा-सुलटा बयान नहीं देते, खामोश रहते, तो दिल्ली के दंगे टल सकते थे। परंतु उकसानेवाले बयान दे देकर ग्रंथी सिख पंथ को तबाह करने पर तुले हुए थे।"

लेकिन हर जगह सुनने को यह भी मिला कि इस दंगे के पीछे इंदिरा कांग्रेस की सुनियोजित योजना थी। सिखों में यह धारणा काफी गहरी उतरी हुई है कि एक नवंबर को प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने खुद मुख्यमंत्रियों को दंगा भड़काने के लिए वापस प्रदेशों को भेजा; दंगों की जाँच कराने और दोषी को दंड देने से सिखों का नब्बे प्रतिशत गुस्सा ठंडा हो जाएगा; वे बदला लेने का ख्याल छोड़ देंगे। सिख अपनी कमजोरियाँ भी सामने रख देते हैं; वे कहते हैं, "हम हिपोक्रेट नहीं हैं। प्यार-दुलार से हमारी गर्दन काट लो, परंतु अकड़ने से काम नहीं चलेगा। सरकार को चाहिए कि सिखों की इस मानसिक बुनावट को समझे।"

इसका यह अर्थ भी नहीं निकाला जाना चाहिए कि बदले की भावना सिख-हिंदू रिश्तों को हमेशा के लिए तोड़ देगी। पंजाब से बाहर प्रचार है कि सिख-हिंदू एकता खत्म हो चुकी है, दोनों के सदियों पुराने रिश्ते टूट चुके हैं; कि पंजाब सांप्रदायिकता के ज्वालामुखी पर बैठा हुआ है; कि पंजाब में हिंदुओं को मारा जा रहा है, हिंदू वहाँ घुट-घुटकर जी रहे हैं; कि गाँवों को छोड़ हिंदू शहरों में आ गए हैं, अपनी सम्पत्तियाँ बेच रहे हैं–यह सब कुत्सित और झूठा प्रचार है।

पंजाब में कहीं भी हिंदू-सिख साम्प्रदायिकता का दावानल दिखाई नहीं दिया। शहर हों या कस्बे, दोनों समुदायों के बीच परस्पर संबंध आज भी विश्वास पर टिके हैं। खासतौर पर गाँवों में प्रगाढ़ प्रेम देखने को मिला। भिंडराँवाले के ठिकाने मेहता चौक में अनेक हिंदुओं ने निःसंकोच कहा, "हमें कोई खतरा नहीं है। हिंदू-सिखों में पहले जैसा प्यार है। जब भिंडराँवाले जिंदा थे तब भी किसी हिंदू को कोई नुकसान नहीं पहुँचा। संतजी को दोनों ही समुदाय मानते हैं। आज भी संतजी के गुरुद्वारे में दर्शन के लिए हिंदू भी जाते हैं।"

यह बात स्वयं इस लेखक ने भी देखी। स्वर्ण मंदिर सहित अन्य कई गुरुद्वारों में भी हिंदू भक्त मिले। अमृतसर से कुछ दूर तरनतारन गुरुद्वारे में चल रही

कार-सेवा में हिंदू उसी श्रद्धा से सक्रिय थे, जिस तरह सिख। गुरुद्वारों की परिक्रमा में सिख और हिंदू दोनों ही शामिल थे। गाँवों में भी सिखों की तरह हिंदू जमींदार भी खेती में व्यस्त थे। बल्कि, जो थोड़े-बहुत हिंदू पंजाब से जाना चाहते थे, उन्हें उनके पड़ौसी सिखों ने ही रोका, सुरक्षा का आश्वासन दिया। फिरोजपुर में इस तरह की मिसालें मिलीं। फिरोजपुर में एक गाँव वजीरपुर है। गाँव में तमाम हिंदू जमींदार हैं, पंडित हैं। दिल्ली की घटनाओं के बाद ये हिंदू गाँव छोड़कर जा रहे थे, परंतु पड़ौसी गाँव भागसिंह की बस्ती के सिख जमींदारों ने उन्हें जाने नहीं दिया। इन सिख जमींदारों ने हिंदुओं से कहा, "मरेंगे साथ-साथ, जिएँगे साथ-साथ। गाँव से नहीं जाने देंगे।" आज इन हिंदुओं की गेहूँ की खेती लहलहा रही है।

वैसे, कुछ हिंदुओं ने पंजाब छोड़ा भी है। परंतु अमीर हिंदुओं ने। गुरुदासपुर जिले में कुछ हिंदू मिले। वे कहने लगे, "जो मालदार हिंदू हैं, वे ही डरकर भाग गए। हम मेहनती लोग हैं। हमें किसी से कोई डर नहीं। पंजाब में ही रहना है, और यहीं मरना है।" ये चंद शब्द इस बात के सूचक हैं कि पंजाब में भय किस वर्ग को है। सेठ वर्ग ने अपनी रक्षा के लिए भव्य मकानों पर गोरखे तैनात कर रखे हैं। परंतु, आम हिंदू में असुरक्षा की भावना नहीं है।

सिख और हिंदू कहते भी हैं, "आप ही बतलाइए कि हिंदू-सिख लड़ कैसे सकते हैं? किसी का पिता हिंदू है तो किसी की माता सिख? किसी का भाई हिंदू है, तो किसी की बहन सिख परिवार में है। एक ही घर में बड़ा भाई सिख बन चुका है, तो छोटा हिंदू ही है।"

हिंदू-सिखों के इतने पेचीदा, नाजुक और अजीबोगरीब रिश्ते इतनी आसानी से टूट जाएँगे, इसका विश्वास सहजता से नहीं होता। अलबत्ता हिंदू-सिख के बीच संदेह की लकीरें सतह पर उभर चुकी हैं। आत्मीयता के तले कुछ-कुछ संकोच, आशंका और भय मिले हैं। बस 'कुछ भी हो सकता है' जैसी बातें होती रहती हैं। इसके जवाब में यह भी कहा जाता है, 'जो भी होगा देखा जाएगा।' चाहे जैसा भी वातावरण सही, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि जहर सतह पर ही है। भय की जड़ें गहरी नहीं हैं, और न ही फैली हुई हैं। इसलिए सतह की इन लकीरों को आसानी से मिटाया जा सकता है।

गुस्सा, बदले की भावना, आहत अहम, घायल गरिमा, तिड़का विश्वास, उलझी दिशा और अनिश्चित भविष्य इन सबके चक्रव्यूह में फँसा है पंजाब। सिख-पंथ को इस चक्रव्यूह से निकलने के लिए किसी मसीहा, किसी शहीद की प्रतीक्षा है। संत भिंडराँवाले को मानसिक रूप से जिंदा रखने में वह अपनी मुक्ति का विकल्प देखता है। प्रचार किया जा रहा है कि संतजी जिंदा हैं। तीन जून को सेना के

स्वर्ण मंदिर में घुसने से पहले ही संतजी पाकिस्तान भाग गए थे। परंतु, इसका जवाब किसी के पास नहीं है कि वे पाकिस्तान या अमेरिका में प्रकट क्यों नहीं होते? प्रेस कांफ्रेंस क्यों नहीं करते? इसका जवाब किसी के पास नहीं है। बल्कि, कुछ समझदार सिख कहते हैं, "संतजी को जिंदा रखकर एक नई दुकानदारी खड़ी की जा रही है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस के मामले में भी ऐसा ही हुआ है।"

आहत अहम की कुंठा से मुक्ति के लिए सिख पंथ को चाहिए कोई बसंती चोला। इसलिए स्व. भिंडराँवाले को जीवित रखना उसकी एक त्रासदीपूर्ण ऐतिहासिक आवश्यकता है। कभी खालिस्तान के संबंध में बहकी-बहकी बातों में वह इस कुंठा से मुक्ति खोजता है। सिख कहते हैं, "हमारा अब इस देश में मन नहीं लगता। यहाँ हमारी गरिमा सुरक्षित नहीं है। हमारा अलग राष्ट्र होना चाहिए जहाँ हमारी प्रतिष्ठा सुरक्षित रहे।"

इस तरह की बातें कहनेवालों की संख्या अधिक नहीं है। पंजाब के बाहर आम खयाल है कि औसत सिख खालिस्तान चाहता है। परंतु, यह बिलकुल गलत है। औसत सिख खालिस्तान नहीं चाहता। भूमिहीन सीमांत किसान और दूसरे गरीब तबके खालिस्तान के संबंध में बिलकुल बात नहीं करते। वे कहते हैं, "हमें काम करना है, रोजी कमाना है और रोटी कमाना है। खालिस्तान से हमारा कोई लेना-देना नहीं है।" सम द्ध तबके में कुछ लोग जरूर बढ़-चढ़कर खालिस्तान की बातें करते हैं। लेकिन उनकी शैली से ऐसा लगता है कि वे दबाव-धौंस से सरकार को झुकाना चाहते हैं, ताकि उनके हित पूरे होते रहें। खालिस्तान की बात करनेवाले सम द्ध किसान कहते हैं, "हमें अनाज के उचित दाम नहीं मिलते। समय पर बिजली और खाद नहीं मिलती। हर जगह रिश्वतखोरी है। आढ़तिया लूटता है। सरकार हमारी रक्षा नहीं कर सकती।"

बावजूद इन छोटी-बड़ी शिकायतों के आम सिख भारत के साथ रहना चाहता है। जहाँ भी मैं गया, अधिकांश सिखों ने यही कहा, "भारत छोड़कर कहाँ जाएँ। इसकी आजादी के लिए हमारे पुरखों ने खून बहाया है। हमारे रिश्तेदार पंजाब से बाहर हैं।" रौब के साथ यह भी जोड़ देते हैं, "देश की ट्रांसपोर्ट इकोनोमी हमारे हाथों में है। पंजाब से बाहर सिख बड़े-बड़े ठेकेदार, उद्योगपति, होटल-मालिक और किसान हैं। इन सबको हम कैसे छोड़ सकते हैं? यह सब कुछ हमें पाकिस्तान थोड़े ही दे सकता है? बस हमें शांति और सम्मान चाहिए।"

सिख पंथ को शांति, सम्मान और पूर्ण गरिमा चाहिए। देश का कौन नागरिक इस आधारभूत आवश्यकता से असहमति रख सकता है? हिंदू-सिख दोनों को ही यह गरिमा चाहिए। चंडीगढ़ के प्रेस क्लब में इन मुद्दों पर सिख-हिंदू पत्रकार जमकर बहस करते हैं। दोनों ही समुदायों के पत्रकार बीयर का पैग चढ़ाते हुए

अपने-अपने समुदाय के पोंगापंथियों की जमकर खिल्लियाँ उड़ाते हैं। ठहाकों के बीच कहते हैं, "पंडित और ग्रंथी दोनों ही सोशल पेरासाइट हैं।" और बीयर के दौर।

हुसैनीवाला चौकी से लौटता हूँ तो दाईं तरफ कुछ फासले पर शहीद-त्रिमूर्ति भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव– की समाधियाँ हैं। कोई इनके पास खड़ा होकर अपनी आत्मा को टटोले और पूछे– "बताओ हे शहीदो, कौन है तुममें सिख, कौन हिंदू, कौन मुसलमान? और कौन है भारतवासी और कौन है खालिस्तानी?" कोई होगा बिरला माई का लाल, ऐसे सवाल करते समय जिसकी आँखें शर्म से झुकेंगी नहीं।

14 अप्रैल, 1985

संत लोंगोवाल ने कहा था–

'अपने ही खेल खेल गए'

एक घटना सात समंदर पार की। घटी कोई आठ सौ साल पहले। 29 दिसंबर, 1170 को इंगलैंड के एक कैथेड्रिल पूजाघर में महाधर्माध्यक्ष (आर्चबिशप) थॉमस बैकेट की हत्या उसके अपनों ने ही कर दी। साक्षी था सलीब पर लटका ईसा। बैकेट का अपराध था – परमात्मा और न्याय के पथ पर चलते रहना। परंतु उसके ही मित्र शासक किंग हेनरी को यह स्वीकार नहीं था। वह नहीं चाहता था कि उसका मित्र बैकेट जनता में अपने न्याय के लिए लोकप्रिय होता रहे। हेनरी चाहता था कि उसका आर्चबिशप मित्र उसके स्वेच्छाचारी और आतंकवादी शासन पर धार्मिक वैधता की मोहर लगा दे। परंतु, बैकेट को यह स्वीकार नहीं था। परिणाम, हेनरी ने चार हत्यारे भेजे। हत्यारों ने महाधर्माध्यक्ष को पहले 'विश्वासघाती गद्दार' घोषित किया, और अंत में सूली पर लटके परमात्मा के सामने उसकी नृशंस हत्या कर दी।

ठीक वैसा ही दृश्य 20 अगस्त, 1989 को भारत में दोहराया जाता है। संत हरचंद सिंह लोंगोवाल की हत्या उनके ही पंथ के व्यक्ति पूजाघर-गुरुद्वारे में परमात्मा-रूप गुरु ग्रंथ साहिब के सामने कर देते हैं। अंतर केवल यह था कि बैकेट की हत्या तलवार से की जाती है और लोंगोवाल की गोलियों से। पर दोनों का प्राणोत्सर्ग अन्याय के विरुद्ध था। संगरूर और लोंगोवाल पहुँचने पर मुझे महाधर्माध्यक्ष बैकेट तथा संत लोंगोवाल एक-दूसरे में रूपांतरित होते प्रतीत हुए। पंजाब-समझौते के पश्चात संतजी को भी उग्रवादियों ने उसी प्रकार पंथ का गद्दार घोषित कर दिया था, जिस प्रकार हेनरी ने बैकेट को राष्ट्रद्रोही घोषित किया था। बैकेट की तरह लोंगोवाल का अपराध था – परमात्मा के

मार्ग पर चलते हुए अन्याय और आतंक के विरुद्ध लड़ना, हिंदू-सिख एकता बनाए रखना। आतंकवाद के प्रमुख को यह स्वीकार कैसे हो सकता है कि पंजाब में शांति लौटे, संतजी एकता के मसीहा बने रहें; पंजाब में आतंक और हिंसा के नवजात कालदूतों के समानान्तर एकता, अहिंसा और अमन-चैन की सत्ता कायम करें। संतजी के इस स्वप्न को वे लोग तोड़ना ही चाहते थे। गुरुद्वारे में परमात्मा की अरदास करते हुए संतजी का प्राणान्त करना, इससे अच्छे और कौन से क्षण हो सकते थे! हेनरी ने जो षड्यंत्र बैकेट के लिए रचा था, संतजी के लिए उनके अपनों ने भी उसकी पुनरावृत्ति की।

घनी रात्रि में, लोंगोवाल गाँव के बाहर बने गुरुद्वारे में संतजी की समाधि पर टिमटिमाती दीप-शिखा के पास खड़े शहीद संत के एक खास सेवक ने अपनी शंकाएँ इस प्रतिनिधि से व्यक्त कीं। यह सेवक संतजी के साथ अंतिम क्षणों तक था। सेवक की आशंकाएँ ही नहीं थीं बल्कि दृढ़ विश्वास था कि संतजी के असली हत्यारे दूसरे ही हैं, जिन्हें पकड़ा गया है वे केवल निमित्त मात्र हैं, भाड़े के टट्टू हैं। इस व्यक्ति का संकेत आतंकवादियों की ओर नहीं था, ऐसे व्यक्तियों की ओर था जो अकाली दल के महत्वपूर्ण सदस्य हैं। पंजाब समझौते के बाद से उन्हें संतजी की लोकप्रियता से चिढ़ हो गई थी। ये तत्व नहीं चाहते थे कि लोंगोवाल पंजाब के एकछत्र नेता बनें। ऐसे तत्वों ने आतंकवादियों को अपने खेल का मोहरा बनाया और संतजी को रास्ते से साफ कर दिया। गुरुद्वारे में चर्चा यह भी थी कि संतजी ने संगरूर अस्पताल पहुँचने से पहले कार में अपने एक-दो खास सहयोगियों से ऐसे कथित तत्वों की ओर इशारा भी किया। कहते हैं अस्पताल में दम तोड़ने से पहले कार में संतजी ने कहा था, "अपने ही खेल खेल गए।" गुरुद्वारे में ऐसे तत्वों के नाम दबे-दबे अस्पष्ट स्वर में लिए गए। चर्चा यह भी सुनने को मिली कि संतजी की मृत्यु और उनके दाह-संस्कार के समय अकाली दल के कतिपय तत्वों ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। हर काम में तटस्थता दिखाई। लोंगोवाल गुरुद्वारे में संतजी की हत्या को रहस्यमयी माना जाता है।

रहस्य का यह पर्दा लोंगोवाल गाँव में ही नहीं था, पूरे पंजाब में था। पंजाब-हरियाणा की संयुक्त राजधानी चंडीगढ़ इस रहस्य का गढ़ था। सिख-हिन्दू दोनों ही संतजी की हत्या के लिए उग्रवादियों से अधिक उनके कतिपय साथियों के नाम लेते हुए मिले। यहाँ तक सुनने को मिला कि ये साथी अपनी खाल बचाने के लिए अब चुनाव में सक्रिय हो गए हैं, अकाली दल के कार्यवाहक अध्यक्ष बरनाला को सहयोग दे रहे हैं। चंडीगढ़ से बाहर पटियाला, संगरूर, लुधियाना, अमृतसर, गुरदासपुर, जालंधर, रोपड़, आनंदपुर आदि क्षेत्रों में संतजी की हत्या को एक गहरे षड्यंत्र के रूप में देखा जा रहा है। घटना-स्थल पर पकड़े जानेवाले कथित हत्यारे ज्ञानसिंह और मलविंदर सिंह तो अफीमची मोहरे थे, असली कातिल नहीं। कुल

मिलाकर लोगबाग इसे दल की आंतरिक कलह का परिणाम मानते हैं। पंजाब के कोने-कोने में संतजी की हत्या को पंजाब की ऐतिहासिक त्रासदी के रूप में देखा गया है। पंजाब अपराधबोध से ग्रस्त है। पश्चात्ताप और प्रायश्चित की लकीरें पंजाब के चेहरे पर देखी जा सकती हैं। शहरी और ग्रामीण दोनों ही पंजाब चाहते हैं कि ऐसी नृशंस त्रासदी की पुनरावृत्ति न हो।

इसीलिए राजीव-लोंगोवाल समझौते का स्वागत हुआ है। पंजाब के सभी वर्गों ने इसे एक नए युग की शुरूआत के रूप में देखा है। ग्रामीणों पर इसका प्रभाव अच्छा मिला है। पढ़े-लिखे लोगों ने भी इसका स्वागत किया। वैसे एक सच्चाई यह भी है कि संतजी की हत्या से पहले समझौते को अधिक महत्व नहीं दिया गया था। संतजी ने अपने उत्सर्ग से इसे अमर बना दिया है। आम हिंदू-सिख कहता है कि संतजी की हत्या से पंजाब काँप उठा है। अब वह चाहता है कि समझौता उसकी कायाकल्प कर दे।

दूसरी सच्चाई यह भी देखने को मिली है कि खालिस्तान का बुखार उतार पर है। छुटपुट हिंसात्मक घटनाओं को छोड़ दें तो खालिस्तान का अब नाम नहीं लिया जाता। यहाँ तक कि अमृतसर और गुरदासपुर जैसे जिलों में, जहाँ भिंडराँवाले का बोलबाला रहा है, खालिस्तान के संबंध में कोई चर्चा करना पसंद नहीं करता। पिछले अप्रैल में स्थिति दूसरी थी। हर कोई कहता था कि खालिस्तान एक सच्चाई है। अब इसे स्वीकार नहीं किया जाता। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि संतजी की हत्या ने खालिस्तान को और भी असंभव बना दिया है। आम सिखों का कहना है कि संतजी की हत्या के कारण उग्रवादी खालिस्तानी जनता में अलग-थलग पड़ते जा रहे हैं। गाँवों में उनके आधार टूटते जा रहे हैं। उनके लिए गाँवों में शरण लेना मुश्किल हो गया है। इसलिए वे शहरों में शरण लेने के नए-नए रास्ते तलाश रहे हैं। भिंडराँवाले के ठिकाने मेहता चौक में उग्रवादियों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। अप्रैल में स्थिति इससे भिन्न थी। संत लोंगोवाल की हत्या ने मेहता चौक को भी दहला दिया है।

स्वर्ण मंदिर परिसर में जिस बड़ी मात्रा में धड़ल्ले से भिंडराँवाले की तस्वीर बिकती थी, अब वैसा नहीं है। अब तस्वीर बेचनेवालों को भय रहता है। अब यह अफवाह भी ठंडी पड़ने लगी है कि भिंडराँवाले जिंदा हैं। पिछली जून से लेकर अप्रैल 85 तक आम सिख यह मानता था कि जरनैल सिंह भिंडराँवाले जिन्दा हैं, बहुत जल्दी प्रकट होनेवाले हैं। लेकिन अब सिख-मानस बदला है। बाबा जोगिन्दर सिंह के संयुक्त दल के समर्थकों को छोड़कर कोई यह नहीं कहता कि भिंडराँवाले जिंदा हैं। सीमांत जिले गुरदासपुर और मेहता चौक तक में यह अफवाह सुनने को नहीं मिली।

लोग यह महसूस करने लगे हैं कि भिंडराँवाले मर चुके हैं। निहित स्वार्थी तत्व ही उन्हें जिंदा रखने की साजिश रचते रहते हैं। लोग कहते हैं कि सुभाषचंद्र बोस के साथ भी यही दुर्भाग्य रहा।

अप्रैल-यात्रा में चारों तरफ पीली पाग का चलता-फिरता मेला दिखाई देता था, लेकिन अब वह लुप्त होने लगा है। अकालियों की नीली पाग और उसके बाद कांग्रेसियों की सफेद पाग अधिक दिखाई देती है। इसके बाद सामान्य रंगों वाली पगड़ियाँ हैं। युवक वर्ग खास तौर पर केसरिया पागधारी है। चंडीगढ़ से लेकर पटियाला, अमृतसर और आनंदपुर तक कोई सिख भी भूल से यह नहीं कहता कि पंजाब में सिख-हिंदू एकता टूट चुकी है। उसके मुखड़े पर क्षणिक खरोंचें तो हो सकती हैं, परंतु गहरे घाव नहीं हैं। संतजी की हत्या से यह एकता और मजबूत हुई है, ऐसा आम हिन्दू-सिख का कहना था। समझौते से दोनों और करीब आए हैं। गाँव में रहनेवाले हिंदू कतई भयभीत नहीं हैं। शहरी क्षेत्रों के सिख भी उतने ही भयरहित हैं।

समझौते के लिए सिख संतजी के संबंध में कहते हैं : "उन्होंने पंजाब को जलने से बचा लिया।" और यही शब्द राजीव गाँधी तथा राज्यपाल अर्जुनसिंह के लिए कहते हैं। समझौता होने से राजीव गाँधी की लोकप्रियता निश्चित तौर पर सिखों के बीच बढ़ी है। गाँव के सिखों में उनकी छवि अच्छी हुई है। इंदिरा गाँधी से अधिक उन्हें सिखों का हमदर्द माना जाता है। श्री अर्जुनसिंह भी कम लोकप्रिय नहीं हैं। ऐसे हिंदू-सिख भी मिल गए जो यह कहने लगे कि यदि श्री सिंह पंजाब से चुनाव लड़ें तो उनकी जीत निश्चित रूप से होगी। अब तक के इस विवरण का अर्थ यह बिलकुल नहीं कि पंजाब में सब कुछ अच्छा ही अच्छा है और पूरा अमन-चैन है। जहाँ भी यह संवाददाता गया, हर जगह चुनावों में हिंसा फूटने की आशंका व्यक्त की गई। कोई भी यह मानने को तैयार नहीं था कि चुनाव बगैर खून-खराबे के संपन्न होंगे। असम के खूनी चुनावों का उल्लेख सभी ने किया। हिंसा की यादों के बीच इंसान ने हिम्मत नहीं हारी है। हिंदू-सिख किसी ने भी चुनावों को गैर-जरूरी नहीं बताया बल्कि लोगों ने साहस के साथ कहा कि हिंसा होती है, तो सामना करेंगे, परंतु चुनावों से भागेंगे नहीं। अनेक लोगों ने यह राय अवश्य व्यक्त की कि चुनाव कुछ समय के लिए टल जाते तो ठीक रहता। संत लोंगोवाल भी यही चाहते थे। कुछ पढ़े-लिखे सिख ऐसे भी मिले जिनका मत यह था कि उतावले मन से चुनाव झटपट में कराए जा रहे हैं। फिर भी किसी को कोई कड़वी शिकायत श्री सिंह से नहीं मिली। लोगों का कहना था कि चुनाव जब भी कराए जाते, हिंसा से बचा नहीं जा सकता था। उग्रवादियों को चुनाव बिलकुल मंजूर नहीं हैं; वे हर कीमत पर चुनावों को रोकने की कोशिश

करते। अतः ऐसा लगता है कि समूचे पंजाब ने हिंसा को अपनी नियति मान लिया है। हर जिम्मेदार व्यक्ति कहता है कि हिंसा से बचा नहीं जा सकता। कई गाँवों और शहरों में सिखों ने कहा कि संतजी के बाद भी शहादतें होंगी। पंजाब तैयार है, परंतु उग्रपंथियों के सामने घुटने नहीं टेकेगा।

पंजाब में सरकार बनाने के सवाल पर लोगों की मिश्रित प्रतिक्रिया थी। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि अधिकांश लोग इस मत के थे कि अकालियों की सरकार बनने से राज्य में टिकाऊ शांति स्थापित हो सकती है। अकाली सरकार आतंकवादियों का सफाया कड़ाई के साथ कर सकती है। कांग्रेसी सरकार बनने पर आतंकवाद बढ़ेगा। अकालियों का असहयोग बढ़ेगा। अधिकांश हिंदू-सिखों का मत था कि दूरगामी रणनीति के तहत कांग्रेस को चाहिए कि अकालियों की सरकार बनवाए। धीरे-धीरे उसे 'एक्सपोज' होने दे।

इसके विपरीत गाँवों में ऐसे भी सिख मिले जिन्होंने डंके की चोट कहा कि सरकार कांग्रेस की ही बनेगी, अकालियों की नहीं। कांग्रेस की सरकार ही पंजाब को स्थायी शांति दे सकती है। कांग्रेस और अकाली दोनों मिलकर पंजाब का विकास तथा आतंकवाद का सफाया कर सकते हैं। मानना पड़ेगा कि पंजाब में मतदाताओं का धर्म के आधार पर एक तरह से ध्रुवीकरण हो चुका है। हिंदू कांग्रेस को वोट देंगे और सिख अकाली दल को। परंतु मजहबी सिख कांग्रेस के साथ रहेंगे। देखा जाए तो अकाली दल घाटे में रहेगा। यदि कांग्रेस अपने पर उतर आती है तो अकाली दल का जीतना असंभव है। अकाली दल जीतेगा तो कांग्रेस के कमजोर उम्मीदवारों के कारण। याने कांग्रेस चुनाव हारने के लिए लड़ेगी, तभी अकाली दल की सरकार बनना संभव है।

इस चुनाव में सबसे ज्यादा घाटे में रहनेवाला दल है– भारतीय जनता पार्टी। पंजाब के हर क्षेत्र में यही सुनने को मिला कि हिंदुओं के वोट भाजपा की नहीं, कांग्रेस की झोली में जानेवाले हैं। जम्मू के चुनाव परिणाम दोहराए जा सकते हैं। वैसे भाजपा के कुछ नेताओं की छवि उजली है, जिनकी जीत की संभावना पूरी है।

कुछ स्थानों पर दूसरे दलों की स्थिति भी अच्छी है। दोनों कम्युनिस्ट पार्टियाँ मिलकर चुनाव लड़ रही हैं। कई जगह स्थिति अच्छी मिली। दोनों को पहले से अच्छी सीटें मिल सकती हैं।

लोगों में यह आशंकाएँ थीं कि चुनाव के बाद भी सतलुज, रावी, व्यास में उफान रहेगा; इतनी जल्दी थमेगा नहीं, लंबे समय तक रहेगा–ऐसा मानस औसत पंजाबी का बन चुका है। है न यह विडम्बना भरा परिदृश्य कि इस हिंसा के बीच भी

मनुष्य की ऊर्जा चुकी नहीं है। इस बार पंजाब में रिकार्ड तोड़ अन्न उत्पादन हुआ है। आतंक और हिंसा के साये में साँस लेते हुए पंजाब के पोर-पोर में थिरकन है। हिंसा ताल में बेताल अवश्य है, परंतु भँगड़ा उससे छूटता नहीं है। गाँवों में हीर की गूँज गूँगी नहीं हो जाती है। पूजाघर में फिर कोई संत लोंगोवाल हुतात्मा का चोला धारण करेगा, हीर तो फिर भी सतलुज की घाटियों में गूँजती ही रहेगी।

10 सितंबर, 1985

अपवित्रता और अस्वस्थता की संस्कृति

पिछले सप्ताह अमृतसर में था। कोई नई घटना तो नहीं थी। कई दफे जा चुका हूँ। पर इस यात्रा में स्वर्णमंदिर से एक-डेढ़ किलोमीटर फासले पर दुर्गियाना मंदिर गया था। पहली बार दर्शन किए थे अमृतसर के इस प्रसिद्ध हिंदू मंदिर के। पंजाब भर में इस मंदिर की चर्चा है। पिछले बरस भी यह मंदिर अखबारी सुर्खियों में रह चुका है। कहते हैं किन्हीं शरारती तत्वों ने इसमें गो-मांस के लोथड़े फेंक दिए थे। मुख्यमंत्री बनने के पश्चात् बरनाला मंत्रिमंडल के सदस्य स्वर्णमंदिर तो गए, किंतु इस मंदिर में नहीं आ सके थे, हालाँकि यहाँ मुख्यमंत्री के स्वागत की तैयारियाँ पूरी थीं। तब भी यह स्थल चर्चा का केन्द्र बन गया था। कहते हैं कि अमृतसर की हिंदू राजनीति का यह अखाड़ा है। सोचा, पंजाब न जाने कब आना हो, इसलिए इस बार इसे देख पुण्य संचित कर ही लिया जाए। स्वर्णमंदिर के समान यहाँ भी मंदिर के प्रवेशद्वार पर जूते रखे जाते हैं। जूते रखने पर टोकन दिया जाता है। उसी स्थान पर लिखा हुआ है : नि:शुल्क सेवा। यदि इच्छा हो तो दान दे सकते हैं। स्वर्णमंदिर में जूते वाले स्थान पर ऐसा नहीं लिखा है। जूता उतारा तो चारों तरफ बेहद गंदगी जमा थी। उसके इर्द-गिर्द बैठे थे सी. आर. पी. जवान जैसेकि वे मंदिर से ज्यादा घूरे की हिफाजत के लिए तैनात हों। पूछा, सफाई क्यों नहीं होती, तो मंदिर के कर्मचारियों ने मुँह बिचका दिया। मुख्य मंदिर परिसर में पहुँचा तो चारों तरफ सन्नाटा पाया। स्वर्णमंदिर के समान यह मंदिर भी तालाब के बीच में स्थित है। हरिमंदिर साहब के तालाब में स्नान करने को जी मचलता है, पर इस तालाब को देखकर उबकाई आती है। चारों तरफ पानी गँदला-गँदला। बदबू। लगा, शताब्दियों से इसकी सफाई नहीं हुई है।

मंदिर में मुख्य प्रांगण में अमुक लाला, अमुक सेठ, अमुक सेठानी के नामों की

संगमरमर पट्टियाँ चारों तरफ लगी हुई हैं। पट्टियों पर खुदा है : फलाँ ने 500 रुपए दिए तो फलाँ ने पाँच हजार रुपए। आलम यह कि गंदगी, लक्ष्मी और संगमरमर का अनूठा संगम था। स्वर्णमंदिर में शौर्य, बलिदान, त्याग, तपस्या और उत्सर्ग से पोर-पोर गूँजता है; हर आँगन, हर दीवार पर किसी सेनानी का नाम अंकित मिलता है–सूबेदार से लेकर जनरल तक। कुछ क्षणों के लिए लगता है कि संपूर्ण सेना, पंजाब रेजीमेंट, राजपूत रेजीमेंट, मराठा रेजीमेंट आदि आपके सामने है। 1947, 1962, 1965 और 1971 के युद्ध स्वर्णमंदिर के संगमरमरी आँगन की शोभा बने हुए हैं। पट्टिकाओं पर सैनिकों और युद्ध का वर्णन मिलेगा, नाम और राशि का बहीखाता नहीं। स्वर्णमंदिर में भुजाएँ तन उठती हैं और दुर्गियाना मंदिर में आँखों में किरकिरी चुभने लगती है। मुख्य मंदिर में जालों के जाल। ठीक मूर्ति के सामने। एकमात्र पुजारी से, जो कि दुखियारी काया लग रहे थे, पूछा : "क्यों पुजारीजी, मंदिर की सफाई नहीं होती ?" "अजी, कौन कराता है। यहाँ के सब लोग तो खाने-पीने में लगे हुए हैं, मंदिर की किसको चिंता।" पुजारीजी बड़े दुखी हृदय से बोले। "स्वर्णमंदिर तो बहुत स्वच्छ है।" "वो सिखों का है जी। हम हिंदुओं में वैसा सेवा भाव कहाँ !" सच है अमृतसर में हिंदू आबादी कम नहीं है। स्वर्णमंदिर में नगर के औसत सिख परिवार का सदस्य कार सेवा में भाग लेता है, मंदिर की सफाई में रोज शामिल होता है और खुशी-खुशी भक्तजनों के जूते उठाता है। गरीब हो या अमीर, सेवा में कोई अंतर नहीं। सभी समान। गाँव के गुरुद्वारे से लेकर अमृतसर के गुरुद्वारे तक यही धारा बहती है, लेकिन मंदिरों में इसके ठीक विरुद्ध मंदिर से बाहर निकला तो दोनों तरफ दुकानों में मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। नालियों में गंदगी बह रही थी। पीछे छूट रहा था मंदिर का कचोटता सूनापन और दुखियारी काया के शब्द।

पूजास्थल की स्वच्छता देश की स्वच्छता से न्यारी नहीं है। गंदगी का एक ही राग है, चाहे मंदिर हो या अस्पताल। अगले दिन दिल्ली से भोपाल लौटते हुए मुख्यमंत्री श्री मोतीलाल वोरा ने सरकारी विमान में प्रदेश के अस्पतालों की गंदगी को लेकर चिंता जाहिर की। इस चिंता ने अच्छी-खासी चर्चा का रूप ले लिया। इसमें शरीक हुए मुख्यमंत्री के साथ-साथ उनके निजी सचिव श्री बी.के.लोहानी और पुलिस अधिकारी श्री नटराजन। मुख्यमंत्री श्री वोरा ने अपना अनुभव सबसे पहले रखा। कहने लगे : "अस्पतालों में सफाई की सबसे बड़ी समस्या है। कुछ अस्पतालों को छोड़ दीजिए, बाकी हर जगह गंदगी है।

लोहानी : मेरा भी यही अनुभव है, सर। इंदौर के अस्पताल से पाला पड़ा था, न सफाई थी और न ही और कुछ। पंखे, एयर कंडीशनर सब बंद पड़े थे। भोपाल के हमीदिया अस्पताल की हालत और भी खराब है।

नटराजन : सर, दिल्ली के अस्पतालों की भी यही हालत है। एक टाइम था जब आल इंडिया मेडिकल इंस्टीट्यूट में सफाई रहती थी। आज वहाँ भी इसकी कमी है।

लोहानी : अस्पताल बीमारी के घर बन रहे हैं।

वोरा : डॉक्टर लोग न मरीजों की ओर ध्यान देते हैं और न ही सफाई की ओर; बस प्राइवेट प्रेक्टिस में लगे रहते हैं। इंस्टीट्यूट के डॉक्टरों ने निजी क्लीनिक खोल रखे हैं। मुझे इसका अनुभव है।

नटराजन-लोहानी : बड़ा मुश्किल है प्राइवेट प्रेक्टिस को रोकना।

वोरा : लगता है कि सभी प्रदेशों में चल रहा है।

लोहानी : सर, अस्पतालों की क्लीनलीनेस के बारे में शासन को कुछ करना पड़ेगा। वहाँ के सफाई कर्मचारी और डॉक्टर कुछ काम ही नहीं करते।

वोरा : बताइए क्या किया जाए।

लोहानी : सर, प्रदेश के अस्पतालों में सफाई का काम ठेके पर दे दिया जाना चाहिए।

नटराजन : इससे काम नहीं होगा। अस्पतालों के एडमिनिस्ट्रेशन का काम किसी आईएएस अधिकारी को दे दिया जाना चाहिए; डॉक्टरों के कंट्रोल की बात नहीं। लेकिन भोपाल और इंदौर के अस्पतालों का प्रशासन किसी अधिकारी को सौंप दिया जाना चाहिए।

लोहानी : सरकारी अधिकारी से काम नहीं चलेगा। शुरू में ठीक रहेगा, फिर वही पुराना ढर्रा शुरू हो जाएगा। सफाई का काम ठेके पर उठा देना चाहिए। इसे गलत मत समझें। मैं फ्री एंटरप्राइज (मुक्त व्यापार) की वकालत नहीं कर रहा हूँ। परंतु जो सच्चाई है, उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

वोरा : हाँ, इसके संबंध में सोचा जा सकता है। गंदगी तो दूर करनी ही पड़ेगी।

इसके बाद चर्चा का रुख भोपाल गैस त्रासदी, उससे प्रभावित लोगों और यूनियन कार्बाइड के अध्यक्ष एंडरसन की ओर मुड़ गया। चर्चा, दिल्ली से प्रकाशित हिंदी दैनिक *जनसत्ता* पर आ अटकी। उस दिन *जनसत्ता* में एक लेख़ हमीदिया अस्पताल पर प्रकाशित हुआ था।

वोरा : जोशीजी, आपने *जनसत्ता* का यह लेख पढ़ा ?

जोशी : *जी हाँ, इसमें लिखा गया है कि अस्पताल की लिफ्ट दो महीनों से बीमार*

है।

वोराजी : आज उतरते ही अस्पताल का इंस्पेक्शन कर लिया जाए; काफी दिन हो गए हैं। सच्चाई का भी पता चल जाएगा।

हवाई अड्डे पर मुख्यमंत्री का सरकारी विमान उतरता है। पायलट से कहा जाता है, सीधे हमीदिया अस्पताल चलो। चंद मिनटों में मुख्यमंत्री का काफिला हमीदिया अस्पताल के परिसर में होता है। मुख्य भवन के सामने बहता गंदा पानी मुख्यमंत्री का स्वागत करता है।

लोहानी : देखिए सर, जरा-सी सावधानी से काम लेते तो इस गंदगी को दूर किया जा सकता था। केवल एक नाली बनाने की जरूरत थी। निकास नहीं होने के कारण कितना गंदा पानी बह रहा है।

वोराजी के साथ-साथ हम सभी अस्पताल की लिफ्ट के सामने पहुँचते हैं। डीन से मुख्यमंत्री कहते हैं, "चलिए, लिफ्ट से ऊपर चलें। गैस पीड़ित वार्ड में चलना है।"

डीन का चेहरा फक। "लिफ्ट खराब पड़ी है, सर !" बुझे चेहरे से डीन कहते हैं।

वोराजी : लिफ्ट कब से खराब है।

डीन : डेढ़ महीने से, सर !

वोरा : अच्छा !

मुख्यमंत्री वार्ड में पहुँचते हैं। दूसरी मंजिल पर। सफाई कर्मचारी सफाई में जुटे हुए दिखते हैं। मुख्यमंत्री सब कुछ ताड़ जाते हैं। रसोई में जाते हैं। डीन का ध्यान कालिख की ओर दिलाते हैं। इसके बाद मरीजों के पलंग के सिरहाने रखे दवाई स्टैंड की ओर उनकी दृष्टि जाती है।

वोरा : देखिए डीन साहब, कितनी गंदगी है ! चारों तरफ जंग है। दवाई कैसे सुरक्षित रहेगी ! इन स्टैंडों को बदला जाना चाहिए। डीन बुदबुदाते हैं : सर्र !

मरीजों की भीड़ में से एक चेहरा सामने आता है। दवाई की पर्ची दिखाते हुए वह कहता है, "साहब, अस्पताल में दवाई नहीं मिलती है। बाजार से खरीदनी पड़ती है। ये देखिए साहब पर्ची।" वोराजी पर्ची की जाँच करते हैं। डीन अपनी कैफियत देते हैं। जिरह करते हैं कि "सर, यह हो ही नहीं सकता।"

मरीज : नहीं साहब, दवाई बाजार से ही खरीदनी पड़ी। ये रही रसीद।

मुख्यमंत्री फौरन कीचड़ पार करते हुए दवाई की खिड़की के पास पहुँचते हैं। दवाई देनेवाला कहता है : "स्टोर से नहीं मिली, सर !" मुख्यमंत्री दवाई-स्टोर पहुँचते हैं। रजिस्टर की जाँच करते हैं। स्टोर अधिकारी कहते हैं : "स्टोर में दवाई है। यह रहा रजिस्टर। जैसे ही डिमांड आती है, दवा सप्लाई कर देते हैं। हमारी कोई गलती नहीं है, सर !"

वोरा : डीन साहब, इस गरीब आदमी को चालीस रुपयों की दवा क्यों खरीदनी पड़ी ? आप जाँच करिए और दोषी व्यक्ति को यहाँ से हटाइए। शाम तक इसकी जानकारी दीजिए।

डीन फिर बुदबुदाते हैं : "सर्र !" इस बार उनका स्वर और बुझा-बुझा था।

मुख्यमंत्री की कार मरीजों की भीड़ पीछे छोड़ती है और एक बार फिर कीचड़ पार करती हुई शामला हिल्स (मुख्यमंत्री निवास) की ओर मुड़ जाती है।

यह कहानी अमृतसर और भोपाल की नहीं बल्कि पूरे देश की है। एक स्थल का कर्म मन को पवित्र रखने के लिए है और दूसरे का कर्म तन को स्वस्थ रखने के लिए। कैसी विडंबना है कि आज दोनों ही स्थल अपवित्र एवं अस्वस्थ हैं। अब मन और तन के मरीज जाएँ तो कहाँ जाएँ ! मुख्यमंत्री किन-किन अस्पतालों का चक्कर लगाएँगे ! मंदिर का पुजारी कब तक देखता रहेगा मकड़ी के जालों को और कब तक चलती रहेंगी ये बुदबुदाहटें।

10 दिसम्बर, 1985

आम आँखों के सवाल

सचमुच, पंजाब के मानस को समझना एक छलाँग में सतलुज लाँघने जैसी कहानी है। जितनी दफे पंजाब गया, एक नई सतह उठती और दूसरी सतह गुम होती दिखाई दी। एक यात्रा में एक सवाल सुलझता दिखाई दिया, दूसरी यात्रा में वही उलझता मिला। बिलकुल बेताल पच्चीसी बना हुआ है—पंजाब।

कहने का मतलब यह कि पंजाब के ताने-बाने में जितनी पैठ बनाने की कोशिश करेंगे, उतना ही उलझते चले जाएँगे। पिछले बरस विश्वास था कि पंजाब समझौता, संत लोंगोवाल की शहादत और विधानसभा चुनाव सारे सवालों का जवाब बन जाएँगे। एक नई कहानी का सिलसिला शुरू होगा। पंजाब ऑपरेशन ब्लू स्टार से पहले के काल में लौट जाएगा। 1984 की सभी त्रासदियाँ इतिहास का हिस्सा बन जाएँगी। पंजाब एक नया अध्याय शुरू करेगा।

पर, क्षितिज अभी धुँधला दिखाई देता है। रावी-सतलुज के तटों पर रुँधी-रुँधी चुप्पी भी है, रुँधा-रुँधा कोलाहल भी। बरनाला सरकार एक वर्ष की हो चुकी है। यह दावा करना उसके लिए मुश्किल है कि वह सारे सवाल जानती है, और उनके जवाब भी। उपलब्धियों और विफलताओं के संबंध में पंजाब की जनता का एक मिश्रित दृष्टिकोण है, बरनाला सरकार को जाँचने-परखने के सबके अपने मापदंड हैं। सुविधा व असुविधानुसार कसौटियाँ बदलती रहती हैं। चंडीगढ़ से लेकर मुक्तसर तक कसौटियों की विभिन्नता देखी जा सकती है।

अलबत्ता, पंजाबभर में बरनाला सरकार का एक वर्ष तक जीवित रहना ही ऐतिहासिक उपलब्धि के रूप में देखा जा सकता है। कल्पना करना मुश्किल था कि अकाली दल के विभाजन, बादल-तोहडा के गठबंधन, चंडीगढ-हस्तांतरण के टलजाने और निरंतर हिंसा के दौर के बीच सुरजीत सिंह बरनाला एक वर्ष तक

मुख्यमंत्री पद पर बने रह सकेंगे। यह सभी के लिए 'अजूबा' लगता है। आज भी कम झटके नहीं हैं। मुख्यमंत्री का आधे से ज्यादा समय अपने मंत्रियों को पटरी पर बनाए रखने, उनकी बिगड़ती छवियों को उठाए रखने, उग्रवादियों से जूझने और चंडीगढ़-दिल्ली के बीच शटल-कॉक बने रहने में बीतता है। मंत्रिमंडल के अनेक सदस्य विवादास्पद बन चुके हैं। पंजाब राजनीति का यह कम करिश्मा नहीं है कि मंत्री सरेआम अपनी सरकार की आलोचना करते हैं, नीतियों का उल्लंघन करते हैं, कानूनों को तोड़ते हैं, और फिर भी सरकार में बने रहते हैं। मुख्यमंत्री बरनाला धीरोदात्त मुद्रा में सभी को पुचकारते रहते हैं। पूरे पंजाब में उनके एक मंत्री द्वारा पुलिस अधिकारी को पीटने की चर्चा है।

किसी को उम्मीद नहीं थी कि बादल-टोहरा के सामने बरनाला टिक पाएँगे। आमतौर पर यह माना जाता है कि सिख जनता में बादल की लोकप्रियता बेजोड़ है। उनके ताजा पैंतरों की वजह से उग्रपंथियों का समर्थन भी उन्हें प्राप्त है। 19 सितंबर को अमृतसर में अखिल भारतीय सिख छात्रसंघ द्वारा आयोजित समारोह में बादल की मौजूदगी इस बात का प्रमाण है। दिल्ली में बादल-टोहरा की गिरफ्तारी का झटका भी बरनाला सरकार आराम से झेल गई। पंजाब का कोई दिन बगैर सांप्रदायिक-राजनीतिक हिंसक घटनाओं के नहीं बीतता है। मुक्तसर के पास हुए भयानक हत्याकांड के बावजूद बरनाला सरकार हिली नहीं है। सभी को हैरत है।

पर पंजाब का हिन्दू-सिख यह मानता है कि बरनाला सरकार का फिलहाल कोई विकल्प नहीं है। जब पूरे एक वर्ष की लाभ-हानि पर चर्चा चलती है, तब विशिष्ट व सामान्य दोनों व्यक्ति इस सच्चाई को स्वीकार करते हैं कि बरनाला सरकार उग्रपंथियों के प्रति नरम नहीं रही है। उसकी कोशिश रही है कि अपने अस्तित्व की रक्षा करने के साथ-साथ उग्रवाद का पूरी तौर पर सफाया किया जाए। शुरूआती दौर में मुख्यमंत्री बरनाला से यह अपेक्षा नहीं थी कि वे ईमानदारी के साथ उग्रवाद का सफाया करने की कोशिश करेंगे।

आज हिन्दू-सिख दोनों ही मानते हैं कि मुख्यमंत्री बरनाला और पुलिस महानिदेशक रिबेरो के संयुक्त प्रयास से पंजाब में शांति लौटने लगी है। हालाँकि हिंसक घटनाएँ जारी हैं, परंतु उनका उतना व्यापक प्रभाव जन-मानस पर दिखाई नहीं देता है जितना कि पंजाब से बाहर प्रचारित किया जाता है। पिछली यात्रा (जून) के पश्चात स्थिति में निश्चित ही गुणात्मक परिवर्तन नजर आने लगा है। उग्रपंथियों के खिलाफ सख्त कार्रवाई के कारण अल्पसंख्यकों में शांति व सुरक्षा की भावना पैदा होने लगी है। चंडीगढ़, अमृतसर, रोपड, तरनतारन, फिरोजपुर और मुक्तसर में सिख व हिन्दू दोनों ने यह बताया कि भय की वजह से जो हिन्दू चले गए

थे, वे धीरे-धीरे लौटने लगे हैं। यहाँ तक कि सीमांत क्षेत्रों के गाँवों से भागे अल्पसंख्यक भी वापस आ रहे हैं। तरनतारन क्षेत्र से गए अल्पसंख्यकों में नब्बे प्रतिशत अपने घरों को लौट आए हैं।

एक उपलब्धि और मानी जा रही है। पिछले कुछ समय से उग्रपंथियों के प्रति सामान्य सिख-जन के दृष्टिकोण में अंतर आ रहा है। छह महीने पहले तक किसी भी उग्रवादी के खिलाफ एक शब्द भी कोई सुनने के लिए तैयार नहीं था। मुझे अच्छी तरह याद है, पिछली यात्राओं में उग्रवादियों का विरोध किसी को सहन नहीं था। लोग यहाँ तक कहते थे कि पंजाब में कोई उग्रवादी नहीं है; सब केंद्र सरकार और बरनाला सरकार का षड्यंत्र है। भिंडराँवाले जिन्दा थे, तब कहा जाता था कि केंद्र की खुफिया एजेंसियाँ ही हत्याएँ करा रही हैं। पिछले वर्ष ऐसा भी दौर आया जब उग्रवादियों के संबंध में बात करना किसी को पसंद नहीं था। एक दौर यह भी चला कि उग्रवादी नवंबर का बदला लेकर छोड़ेंगे; खालिस्तान बनाकर रहेंगे। यह भी कहा जाता था कि सब कुछ विदेशी ताकतें कर रही हैं, सिख युवकों को बेकार में बदनाम किया जा रहा है। इस यात्रा में, इस दृष्टिकोण में परिवर्तन की रेखाएँ उभरती हुई दिखाई दी हैं। औसत व्यक्ति बरनाला सरकार के सख्त कदमों की प्रशंसा करने के साथ-साथ यह महसूस करने लगा कि है "बहुत हो चुका। अब यह खेल खत्म हो जाना चाहिए।" जहाँ भी गया, उग्रपंथियों के मुखर हिमायती नहीं दिखाई दिए।

लोग यह भी कहने लगे हैं कि उग्रपंथी जो कुछ कर रहे हैं, सिख कौम के हितों के खिलाफ कर रहे हैं। अमृतसर तथा दूसरे स्थानों पर यह भी सुनने को मिला है कि वे उग्रवादियों की गतिविधियों को जायज नहीं मानते। स्वर्ण मंदिर में पीली पागधारी ऐसे युवक भी मिले, जिन्होंने खुलकर कहा कि वे उग्रवादियों को संरक्षण देने के खिलाफ हैं; यदि गाँवों में कोई अवांछित तत्व दिखाई दे तो इसकी जानकारी सरकार को दी जानी चाहिए; जरूरत पड़ने पर दी भी जाएगी। व्यक्तियों में इस तरह के बदलाव और साहस का अनुभव पहली बार हुआ है।

उनके रुख में परिवर्तन तात्कालिक या अस्वाभाविक नहीं था। कहा जा सकता है कि इस लेखक को खुश करने के लिए उन्होंने ऐसा कहा होगा। यह धारणा गलत है। सहयात्री और इंदौर के युवा सामाजिक कार्यकर्ता सरदार गुरमीतसिंह ने अपने समुदाय के लोगों से कुरेद-कुरेदकर इस मुद्दे पर सवाल किए; उनके मन में झाँकने की कोशिश की। सिख होने के नाते गुरमीतसिंह ने विश्वास में लेकर उनसे जिरह की। एक मजहबी रिक्शेवाले ने तो 1984 की सैनिक कार्रवाई को वाजिब करार दे दिया। उसने कहा, "कहीं तो सफर रुकना चाहिए। आखिर कोई तो हद होती है। उग्रवादी कहीं रुकते ही नहीं थे। बीबी इंदिरा ने ठीक

किया था।" पिछले दो-ढाई साल में ऐसे शब्द पहली दफे सुनाई पड़े।

उभरते परिवर्तन की इन महीन रेखाओं को खारिज नहीं किया जा सकता। ऐसा करना पूर्वाग्रहों से पीड़ित होना माना जाएगा। यदि इन रेखाओं का विस्तार होता है, तो इसके परिणाम चौंकानेवाले हो सकते हैं। एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब समूचे पंजाब के मानस में उथल-पुथल मच सकती है। राज्य के दोनों बड़े समुदाय इकट्ठे होकर किसी भी समय उग्रवाद के खिलाफ सामने आ सकते हैं।

हिंसा रुकी नहीं है; किसी को इससे इंकार नहीं। सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या बरनाला सरकार के एक वर्ष के काल में दोनों समुदायों का पुश्तैनी ताना-बाना छिन्न हो गया है? आर.एस.एस. के कार्यकर्ताओं की हत्या, मुक्तसर की बस-ट्रेजडी जैसी घटनाओं ने कितना झकझोरा है—दोनों समुदायों को। इसमें भी कई उतार-चढ़ाव आए हैं। जून'84 की त्रासदी के पश्चात, मनों का फटना शुरू हुआ। नवंबर के दंगों ने सिख-हिन्दू रिश्तों को प्रभावित किया। सतह पर भय-आशंका का वातावरण उठा। फिर भी दोनों के मन पूरी तरह टूटे नहीं। हिन्दुओं का पलायन नहीं हुआ। पंजाब-समझौते और चुनाव के पश्चात भय-आशंका पर विश्वास की परत जमी। पर निरंतर व सुनियोजित हिंसा के विस्फोट से परत हठात् तिड़क गई। हिन्दुओं का पलायन शुरू हुआ। चार महीने का परिदृश्य बिलकुल निराशाजनक था। सीमांत क्षेत्रों से हिन्दुओं के पलायन का सिलसिला शुरू हुआ। उस समय औसत अल्पसंख्यक भयभीत और सहमा-सहमा था। यहाँ तक कि हिन्दू बुद्धिजीवी भी दुविधाग्रस्त था। अमृतसर, जालंधर, लुधियाना, बटाला, तरनतारन आदि स्थानों के हिन्दू व्यापारी उखड़ने लगे थे। एक तरह से वे पंजाब को 'अलविदा' करने के लिए तैयार हो चुके थे।

उस स्थिति में आज अंतर देखने को मिला है। हालाँकि आशंका-प्रति-आशंका का भूत पंजाब पर छाया हुआ है, पर बरनाला सरकार की इसे आंशिक उपलब्धि माना जा सकता है कि अल्पसंख्यकों का पलायन लगभग रुक गया है। इसकी पुष्टि सरकारी क्षेत्रों से ही नहीं होती, हिन्दू व सिख भी करते हैं। आज औसत हिन्दू उतना डरा हुआ नहीं है, जितना कि तीन-चार महीने पहले था। चंडीगढ़ से मुक्तसर तक यात्रा में देखा कि उनमें एक नया विश्वास जगा है। अनेक हिन्दुओं ने बताया कि सिखों के साथ उनके बहुत अच्छे संबंध हैं। गाँवों में भी स्थिति बहुत खराब नहीं है। तरनतारन में हिन्दू दुकानदारों ने पड़ौसी सिख दुकानदारों की प्रशंसा की। यह भी बताया कि जब मई में उग्रवादियों ने हिन्दुओं को मारा था, तब सिखों ने ही घायलों को अस्पताल पहुँचाया था। गाँवों में ऐसे भी सिख सरपंच तथा अन्य असरदार परिवार हैं जिन्होंने उग्रवादियों को ललकारते हुए

कहा कि "हिन्दू भाइयों को मारने से पहले हमारी हत्या करनी पड़ेगी।"

अल्पसंख्यकों का कहना था कि उन पर हमले पड़ौसियों ने नहीं किए हैं; हमलावर बाहर से आते हैं। यह स्थिति दिल्ली के नवंबर के दंगों से मिलती-जुलती है। यह सही है कि समृद्ध हिन्दू परिवारों ने पंजाब के बाहर ठिकाने बनाए रखने का मन बना लिया है। समृद्ध परिवारों ने बताया कि जोखिम उठाना उचित नहीं है। इसलिए दिल्ली तथा दूसरे प्रदेशों में नए ठौर-ठिकाने बनाए जा रहे हैं। गरीब और मध्यमवर्गीय परिवारों का दृष्टिकोण दूसरा है। उनका विश्वास अधिक मजबूत है। लौटे भी वही अधिक हैं जो गरीब हैं, क्योंकि नए ठिकाने लाभदायक नहीं निकले। जब से उग्रवादियों के खिलाफ कार्रवाई हुई है, अल्पसंख्यकों में विश्वास तेजी से उभरा है। "चाहे जो हो जाए, अब हमें यहीं मरना-जीना है।" कई जगह ऐसा सुनने को मिला। चार महीने पहले यह स्थिति कतई नहीं थी। उस समय पंजाब से पलायन की धुन सवार थी। जून-यात्रा के समय हिन्दुओं का एक ही मानस था : "अब पंजाब से अन्न-जल उठ चुका है।" इस दफे बदलाव स्पष्ट था।

पंजाब के बहुसंख्यकों के इस दृष्टिकोण को व्यावहारिक कहा जा सकता है कि हिन्दू-सिख के रिश्ते रक्त के अलावा भी कुछ हैं। गाँवों के सिखों का कहना था कि उनका आर्थिक अस्तित्व काफी कुछ हिन्दू व्यापारियों पर आश्रित है। "लालाओं से हमें जरूरत के समय उधार मिलता है। अनाज मिलता है। बीज मिलता है। उनके बिना हमारा काम कैसे चल सकता है?" फरीदकोट के एक ग्रामीण सिख ने सच्ची स्थिति हमारे सामने रखी। तरनतारन और फिरोजपुर में भी ऐसे ही उद्गार व्यक्त किए गए।

यह सही है कि हिन्दू सी.आर.पी. और बी.एस.एफ. की चौकसी चाहता है, सिख को यह पसंद नहीं; वह इसे हटाने के पक्ष में है। सीमांत एवं दंगा आशंकित क्षेत्रों में इन दोनों बलों को तैनात किया हुआ है। बहुसंख्यक इसे तनाव की जड़ मानते हैं जबकि अल्पसंख्यकों के लिए यह एक कवच है। अल्पसंख्यकों का यह कोरा भ्रम भी निकल सकता है कि इन सुरक्षा बलों के हटते ही असुरक्षा फैल जाएगी और नवंबर का प्रतिशोध भड़क सकता है। एक तर्क दिया जा सकता है कि बहुसंख्यक प्रतिशोध लेने पर आमादा हो जाएँ तो कितने अल्पसंख्यकों को बचाया जा सकता है? सामूहिक प्रतिशोध और गुटीय प्रतिशोध में अंतर है। नवबंर के दंगे के लिए समूचे हिन्दू समुदाय को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। इसी तरह मुक्तसर हत्याकांड से पूरे सिख समुदाय को कलंकित नहीं किया जा सकता। कहा जा सकता है कि दोनों ही समुदायों ने लम्पट और हिंसक तत्वों की सामूहिक तौर पर घेराबंदी करने की कोशिश नहीं की और न ही उन्हें पुलिस

के सुपुर्द किया। यदि भीड़ के कानून की नजर से देखें तो दोनों समुदायों ने कोई अपराध नहीं किया है, पर नैतिकता व सभ्य समाज के कानून की दृष्टि से दोनों ही अपराधी हैं। शायद दोनों ही समुदाय इस अपराधबोध से ग्रस्त हैं।

असहमति हो सकती है, पर बरनाला-सरकार की यह उपलब्धि मानी जाएगी कि दोनों समुदायों के विश्वास एक दूसरे के प्रति टूटे नहीं हैं। तनाव में कमी आई है। दिल्ली के तिलकनगर की घटनाओं का कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। यह कम उपलब्धि नहीं है कि पंजाब में विस्फोट की सामग्री जितनी सहजता के साथ उपलब्ध है, उसकी तुलना में दोनों समुदायों के सामाजिक और व्यावसायिक रिश्ते आश्चर्यजनक रूप से सहज व मधुर हो रहे हैं। पिछले वर्ष स्वर्ण मंदिर में हिन्दुओं का आना-जाना बन्द था; मुश्किल से इक्के-दुक्के हिन्दू दिखाई देते थे। इस दफे स्वर्ण मंदिर की परिक्रमा करते हुए अनेक हिन्दू देखे गए। अमृतसर और तरनतारन, दोनों ही जगह हिन्दुओं और सिखों की दुकानों पर दोनों समुदायों के खरीददारों की भीड़ थी। कुछ समय पहले तक यह प्रचार था कि एक दूसरे का आर्थिक बहिष्कार किया जाए। वह दोनों में से किसी भी समुदाय ने स्वीकार नहीं किया । क्या यह कम उपलब्धि है? यह सही है कि खालिस्तान का हौआ अभी खत्म नहीं हुआ है। उग्रपंथियों में आज भी जरनैलसिंह भिंड़राँवाले हैं। दिल्ली व चण्डीगढ़ के शासकों की अदूरदर्शिता की वजह से कभी खालिस्तान बना तो स्वर्गीय भिंडराँवाले उसके संस्थापक माने जाएँगे। अमृतसर और स्वर्ण मंदिर में लगे पोस्टरों से यह बात स्पष्ट है। पोस्टर की भाषा काफी भड़कानेवाली है। लेकिन, एक अंतर इस यात्रा में दिखाई दिया। पिछली यात्राओं के दौरान सामान्य व्यक्ति की दिलचस्पी भिंडराँवाले में काफी थी। हर जगह संतजी की चर्चा थी। आए दिन उनके जीवित होने के पोस्टर चिपकाए जाते थे। पंजाब के औसत बहुसंख्यक व्यक्ति की सहानुभूति भिंडाराँवाले के साथ थी। यहाँ तक कि कोई उन्हें मृत मानने के लिए तैयार नहीं था। अमृतसर में उनके जीवित या मृत होने पर बहस चलती रहती थी।

इस बार ऐसा कुछ नहीं देखा गया; यहाँ तक कि स्वर्ण मंदिर परिसर में चिपके पोस्टरों के प्रति भी कोई विशेष रुचि नहीं देखी गई। पहले की तरह भीड़ जमा नहीं थी। इस पर विवाद कम सुनने को मिला कि वे शहीद हो गए। स्वर्ण मंदिर में लगे पोस्टर के पास जमा व्यक्तियों से संतजी के संबंध में पूछने पर एक अनमना भाव उनके चेहरों पर था। पता नहीं वे जीवित हैं या मृत? पिछले वर्ष इस तरह का सवाल करना मुश्किल था। बहुसंख्यक समुदाय के कई व्यक्ति ऐसे भी मिले जिन्होंने भिंडराँवाले के तौर-तरीकों को पसंद नहीं किया। ऐसा लगा कि सामान्य जन में भिंडराँवाले की भूमिका को लेकर हलका-हलका आत्म-मंथन चल रहा है।

यह सही है कि खालिस्तान पर चर्चा मरी नहीं है। लेकिन उसकी सार्थकता के संबंध में सामान्य बहुसंख्यक ने सोचना जरूर शुरू किया है। हाल ही में एक प्रवासी परिवार ने चंड़ीगढ में विश्वास के साथ कहा कि यदि खालिस्तान के मुद्दे को लेकर पंजाब में चुनाव कराए जाएँ तो उसके समर्थक बुरी तरह हार जाएँगे। चंड़ीगढ़ विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक का मत था कि अगर संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में पंजाब में खालिस्तान पर जनमत संग्रह कराया जाता है तो यह माँग बुरी तरह पिट जाएगी। इस संबंध में दोनों का अपना दृष्टिकोण था। चर्चा यह उठी है कि सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से खालिस्तान कैसा रहेगा? चूँकि हिन्दुओं और सिखों के बीच रक्त के सबंध हैं, रिश्तेदारियाँ हैं, इसलिए सामाजिक दृष्टि से इसकी सार्थकता की पड़ताल आवश्यक मानी जा रही है। दूसरा इसलिए भी कि पंजाब की अर्थव्यवस्था का ताना-बाना शेष भारत से जुड़ा हुआ है। खालिस्तान बनने पर क्या वे सभी सुविधाएँ उपलब्ध होंगी जो आज प्राप्त हैं ? एक शंका यह भी है कि अगर बाहर के सभी सिख पंजाब में बस जाते हैं तो क्या असंतुलन पैदा नहीं हो जाएगा ? क्योंकि आबादी की अदला-बदली की स्थिति में पंजाब से जानेवाले हिन्दुओं की संख्या बाहर से आनेवाले सिखों की तुलना में कम होगी। ऐसी स्थिति में पंजाब के मूल और प्रवासी सिखों के बीच तनाव व अंतर्विरोध की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। उस समय एक नई सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक दौड़ शुरू होगी, जिससे पंजाब का आधारभूत ताना-बाना प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। अपने-अपने ढंग से इन सवालों पर मंथन दिखाई देता है, यद्यपि अभी वह मुखर नहीं है। पहले ये सवाल उठे नहीं थे। खालिस्तान के नारे के प्रति एक जुनून सवार था। उसके तार्किक आधार ने जन-मानस को झकझोरा नहीं था। लगता है, बदलाव आया है। जुनून का स्थान तर्क ले रहा है। गाँवों और कस्बों में इसके समर्थन में कोई खास चर्चा नहीं है। आज भी इसे चंद लोगों का 'रोला' माना जाता है। प्राध्यापक के इस तर्क में दम है कि "यदि पूरी सिख कौम का समर्थन रहता तो अब तक खालिस्तान को बनने से कोई नहीं रोक सकता था। तरनतारन के पीली-पागधारी मनजीतसिंह के मत में खालिस्तान कभी भी बहुमत की माँग नहीं रही। और यह गलत है कि सिख बहुमत खालिस्तान की माँग करेगा। यदि दिल्लीवाले समझदारी से काम लेते हैं तो यह माँग बिल्कुल ठंडी पड़ सकती है।"

एक मुद्दे पर कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। पंजाब के बहुसंख्यक समुदाय का केन्द्र के प्रति असंतोष कम नहीं हुआ है। जितनी मर्तबा पंजाब गया, नाराजगी कम-ज्यादा मिली; बिल्कुल समाप्त नहीं। पहले भी केन्द्र को 'सिखों के दुश्मन' के रूप में देखा जाता था और आज भी कमोबेश वही स्थिति बनी हुई है; यह बात अलग है कि कहीं अधिक है और कहीं कम। इस दफे उल्लेखनीय बात यह

मिली कि दोनों समुदायों के निचले तबकों में केंद्र के प्रति रवैया काफी बदला मिला। मानना पड़ेगा कि गरीब तबकों में राजीव सरकार की छवि अच्छी है। संभव है लोगों को यह अविश्वसनीय लगे, पर यह सच्चाई है कि अमृतसर व फिरोजपुर के गरीब तबकों में राजीव गाँधी की वही छवि अंकित होने लगी है जो कभी स्व. श्रीमती इंदिरा गाँधी की थी। दोनों समुदायों के रिक्शावाले कहते हैं कि "दिल्ली की सरकार हम गरीबों की मदद कर रही है। पर पैसा बीच में ही रुक जाता है।"

बहुसंख्यक समुदाय के बीच बरनाला सरकार की छवि बहुत अच्छी नहीं है, लेकिन खास खराब भी नहीं है। जब बहुसंख्यक समाज अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तब लगता है कि वह संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में बरनाला सरकार की उपलब्धियों और विफलताओं का मूल्यांकन नहीं कर पा रहा है। वह विभिन्न पूर्वाग्रहों से ग्रस्त लगता है। तब भी यह मानना पड़ेगा कि दोनों समुदायों के सामान्य जन में बरनाला सरकार के प्रति कोई तीव्र असंतोष हो, ऐसा महसूस नहीं हुआ। पंजाब की जनता राज्य-सरकार को और मौका देने व परखने के पक्ष में दिखाई दी। एक सच्चाई यह भी है कि बादल-टोहरा का बरनाला-सरकार-विरोधी अभियान जन-आंदोलन का आकार नहीं ले पाया है। कई जगह यह सुनने को मिला कि "बादल-टोहरा का विरोध निजी स्वार्थों से प्रेरित है पब्लिक के हितों से नहीं।" बादल-टोहरा इस आलोचना का कोई विश्वसनीय उत्तर नहीं दे पाए हैं कि उनका विरोध मुख्यमंत्री पद और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के अध्यक्ष पद के लिए है। जनता में यह सवाल घुमड़ रहा है कि "क्या बादल मुख्यमंत्री बरनाला का विकल्प बन सकते हैं?" क्योंकि पूर्व मुख्यमंत्री बादल आज जिस स्थिति पर पहुँच चुके हैं, वहाँ से वापस लौटना उनके लिए मुश्किल लगता है। यदि लौटते हैं तो उन्हें बरनाला बनना पड़ेगा। तब यह सवाल उठेगा कि वे किस नाते बेहतर हैं कि उन्हें श्री बरनाला के उपयुक्त विकल्प के रूप में स्वीकार किया जा सके? यदि दोनों ही नेता समान धरातल पर खड़े हैं तब नेतृत्व में परिवर्तन किसलिए? पंजाब-बेताल पच्चीसी को आगे बढ़ाने के लिए शिवालिक की तलहटियों में ये ताजे सवाल उठ रहे हैं और सबकी नजर केंद्र पर टिकी हुई है।

28 दिसंबर, 1986

त्रासदियों का पटाक्षेप
आगाज एक नई सुबह की

1994 की तेरह अप्रैल। बैसाखी का पर्व। आकाश बिल्कुल साफ है। दूर-दूर तक काले बादल नहीं हैं। इंडियन एयरलांइस का चार्टर्ड विमान अमृतसर की ओर उड़ा जा रहा है। पूरा विमान विशिष्ट यात्रियों से भरा हुआ है। कोई केबिनेट मंत्री है, तो कोई राज्यपाल और कितने ही मुख्यमंत्री व सांसद हैं। इस काफिले में साहित्यकार और सम्पादक भी शामिल हैं।

कुछ मिनट गुजर चुके हैं। जलपान हो चुका है। अब बारी है विशेष घोषणा की। एयर होस्टेस घोषणा करती है कि केंद्रीय मानव संसाधन विकासमंत्री श्री अर्जुनसिंह आप लोगों से मुखातिब होना चाहते हैं। अर्जुनसिंह माइक पर आते हैं। विशिष्ट अतिथियों का स्वागत करते हैं। अमृतसर के कार्यक्रम के संबंध में जानकारी देते हैं। कुछ परिवर्तन की घोषणा भी करते हैं। वे यह भी बतला रहे हैं कि प्रतिपक्ष के नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी अस्वस्थ हो गए हैं। उन्होंने कहलवाया है कि उनका प्रतिनिधित्व दिल्ली के मुख्यमंत्री श्री मदनलाल खुराना करेंगे। लोकसभा-अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल भी बंगलौर से समय पर पहुँच नहीं सके, इसलिए वे साथ में नहीं आ सके। कप्तान का रोल अदा करके अर्जुनसिंह पुन: अपनी सीट पर लौट जाते हैं।

दरअसल, इस पूरे 'शो' के सूत्रधार अर्जुनसिंह हैं। उनके निमंत्रण पर कांग्रेस और विपक्ष के मुख्यमंत्रियों, काबीना मंत्रियों, लोकसभाध्यक्ष, अन्य नेताओं, सम्पादकों और वरिष्ठ पत्रकारों को अमृतसर ले जाया जा रहा है। विमान में सवार हैं—मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री दिगविजय सिंह, बिहार के मुख्यमंत्री लालू यादव, राजस्थान के मुख्यमंत्री भैरोंसिंह शेखावत, हिमाचल के मुख्यमंत्री वीरभद्र सिंह,

दिल्ली के मुख्यमंत्री मदनलाल खुराना, गोवा के मुख्यमंत्री विल्फ्रेड डिसूजा, अरुणाचल के मुख्यमंत्री गेगांग अपांग, नागालैंड के मुख्यमंत्री एस.सी. जमीर, पांडिचेरी के मुख्यमंत्री वैद्यलिंगम्, सिक्किम के मुख्यमंत्री नरबहादुर भंडारी, जम्मू-काश्मीर के पूर्व-मुख्यमंत्री फारुक अब्दुला, त्रिपुरा के राज्यपाल रोमेश भंडारी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता सोमनाथ चटर्जी, फारवर्ड ब्लॉक के नेता चित्त बसु, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेता गयासिंह, केंद्रीय राज्यमंत्री रामेश्वर ठाकुर, उपमंत्री कु. शैलजा, पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु के प्रतिनिधि व वरिष्ठ मंत्री प्रो. सत्यसाधन मुखर्जी, केंद्रीय संचार राज्यमंत्री पं. सुखराम, त्रिपुरा के मुख्यमंत्री के प्रतिनिधि केशव मजूमदार, सांसद सुनील दत्त, संजय डालमिया, लेखक-पत्रकार कमलेश्वर जैसी हस्तियाँ।

विशिष्ट अतिथियों के बीच चुहलबाजी शुरू होती है। दो विपरीत ध्रुव यानी खुराना और अब्दुल्ला साथ-साथ बैठे हैं। अब्दुल्ला चुटकी लेते हैं : "कहिए खुरानाजी! पावर में आने का मजा देखा? कितना सहना पड़ता है? हम तो देख चुके हैं।" यह चुटकी दिल्ली विधानसभा में हुए हंगामे के संदर्भ में ली गई है। खुरानाजी कुछ मुस्कुराने की कोशिश करते हैं, लेकिन उनके चेहरे पर पीड़ा भी झलक उठती है। वे कहते हैं : "हाँ, देख रहे हैं। बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है। क्या जमाना आ गया है, अब विधानमंडल के झगड़ों को थानों में निपटाना पड़ रहा है। इससे तो राजनीतिज्ञों की साख ही घटेगी। पिछले दिनों विधानसभा में जो भी हुआ, बहुत बुरा हुआ। मैंने लाख समझाया कि थाने में रपट मत लिखवाओ; आपस में बैठकर मामला तय कर लेते हैं, पर किसी ने मेरी नहीं सुनी और संबंधित विधायक थाने में पहुँच गए।" पाठकों को याद होगा, दिल्ली विधानसभा के अंतिम दिन कुछ भाजपा विधायकों और इंका विधायकों के बीच मारपीट हो गई थी। यह घटना विधानसभा अध्यक्ष के सामने हुई। इसके बाद कांग्रेसी विधायकों ने थाने में रपट दर्ज करवा दी। "तभी तो हम कहते हैं, पावर से बचो," फारुक चहकते हैं। फिर बात कश्मीर की ओर मुड़ती है। मैं पूछता हूँ : "डॉ. साहब घाटी का क्या हाल है? क्या शांति की कोई उम्मीद है?" वे पूरे विश्वास के साथ कहते हैं : "मुझे तो पूरी उम्मीद है कि कश्मीर में जल्दी ही शांति कायम होगी। इंशा अल्लाह।"

मैं देखता हूँ, ऐसी ही गप्पों के साथ हमारा विमान अमृतसर विमानतल पर उतरता है। विमान के बाहर स्वागत के लिए खड़े हैं पंजाब के मुख्यमंत्री सरदार बेअंतसिंह और केंद्रीय विदेश राज्यमंत्री श्री आर.एल.भाटिया। दोनों मंत्रिगण विशिष्ट अतिथियों का स्वागत करते हुए वीआईपी लाउंज में ले जाते हैं। पहले हम लोगों से कहा जाता है कि दस-पन्द्रह मिनट में सभी लोग सभास्थल की

ओर रवाना हो जाएंगे। पर ऐसा होता नहीं है। समय बढ़ता रहता है। कभी यह पता चलता है कि सभास्थल पर भीड़ बेहद कम है, बमुश्किल 4-5 हजार लोग पहुँच पाए हैं। कभी कोई यह कहता है कि विद्याचरण शुक्ल और शिवराज पाटिल के पहुँचने की प्रतीक्षा की जा रही है। करीब सवा घंटे के बाद संसदीय कार्यमंत्री विद्याचरण शुक्ल विमानतल पर अवतरित होते हैं। वे पंजाब सरकार के विशेष विमान से दिल्ली से अमृतसर पहुँचे हैं। पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार उन्हें चार्टर्ड विमान से ही सबके साथ अमृतसर पहुँचना था। लेकिन ऐन मौके पर वे अपना कार्यक्रम बदल डालते हैं। पंजाब सरकार का विमान दिल्ली बुलवाते हैं और अमृतसर पहुँचते हैं। कितना अजीब लगता है! नेता अपने-अपने अहं के परों पर सवार होकर शहीदों की चिताओं पर फूल बरसाना चाहते हैं। आंध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री विजय भास्कर रेड्डी, कर्नाटक के मुख्यमंत्री वीरप्पा मोइली और महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री शरद पवार को भी सभी के साथ पहुँचना था। लेकिन, पवार अकेले ही अपने विशेष विमान से सीधे अमृतसर पहुँचे। रेड्डी और मोइली ने असमर्थता व्यक्त कर दी। उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायमसिंह भी गच्चा दे गए। कोई अहं-जीवी नेता यह कैसे सहन कर सकता है कि अर्जुनसिंह के नेतृत्व में अमृतसर पहुँचा जाए; भले ही अवसर जलियाँवाला बाग-शहादत की हीरक जयंती का हो।

करीब सवा-डेढ़ घंटे प्रतीक्षा करने के बाद हमारा काफिला शहर की ओर रवाना हो रहा है। पाँच वातानुकूलित बसों में विशिष्ट अतिथियों को बैठाया जाता है। सुरक्षा का बंदोबस्त देखने लायक है। चप्पे-चप्पे पर पुलिस का पहरा है। पर यह बंदोबस्त किसी को चुभ रहा हो, ऐसा महसूस नहीं हो रहा है। पंजाब पुलिस के महानिदेशक एवं आतंकवाद विरोधी अभियान के नायक के.पी.एस.गिल काफिले के साथ हैं। सुरक्षा की कमान उनके हाथों में है। उनकी पैनी निगाहें हर दीवार, हर पेड़, हर पत्ते, हर खेत को चीर रही हैं। विमानतल से सभास्थल तक का रास्ता लोगों से भरा है। खेत मुस्कुराते हुए दिखाई दे रहे हैं और साथ में लोग भी। लगता है दोनों की एक लय, एक ताल है। दुकानों पर खरीददारों की भीड़ जुटी हुई है। थड़ियों पर चाय की चुस्कियाँ चल रही हैं। बच्चे किलकारियाँ मार रहे हैं। चारों तरफ बैसाखी की छटा छितराई हुई है। लगता है हम लोग किसी अजनबी अमृतसर में दाखिल हो रहे हैं।

काफिला शहर में पहुँच चुका है। जीवन बिल्कुल सामान्य है। छुट्टी का आलम है, पर वाहनों से भरे बाजार हैं। जगह-जगह स्वागतद्वार खड़े हैं। इमारतें सजी हुई हैं। पार्क, बच्चों और माता-पिताओं से भरे हुए हैं। लीजिए, सभास्थल आ चुका है।

विशाल सभास्थल है, दर्शकों-श्रोताओं के लिए इंतजाम भी भव्य है, लेकिन भीड़ की उपस्थिति का कद छोटा दिखाई दे रहा है। विशाल मंच पर अतिथि पहुँच चुके हैं। मंच का संचालन कर रहे हैं प्रसिद्ध कमेन्टेटर श्री जसदेवसिंह। जब भीड़ को अनुशासित करना होता है तब वे पंजाबी में बोलते हैं। वैसे संचालन हिन्दी में किया जा रहा है।

मंच क्या है, एक पूरा भारत मौजूद है। देश के कोने-कोने के नेता पहुँच रहे हैं। कार्यक्रम की शुरूआत अर्जुनसिंह करते हैं। वे प्रारंभ में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और सोनिया गाँधी के शुभ संदेश पढ़कर सुनाते हैं। फिर उनका अति संक्षिप्त भाषण होता है। इसके बाद बेअंतसिंह, शेखावत, शरद पवार, सोमनाथ चटर्जी, लालू प्रसाद यादव, रोमेश भंडारी, वी.सी शुक्ल, नरबहादुर भंडारी, जमीर, दिग्विजयसिंह, वैद्यलिंगम, खुराना, डॉ. अब्दुल्ला, रामेश्वर ठाकुर, डिसूजा, गयासिंह, सुखराम, अपांग, शैलजा, बलवंतसिंह रामूवालिया, चित्त बसु, वीरभद्रसिंह, ई.अहमद, सुनील दत्त, केशव मजूमदार, आर.एल.भाटिया आदि वक्ता बारी-बारी से जलियाँवाला बाग त्रासदी के शहीदों को श्रद्धांजलि देकर चले जाते हैं।

डॉ. अब्दुल्ला, लालू यादव, सुनील दत्त, शेखावत, पवार के भाषण श्रोताओं के दिलों को छू लेते हैं। डॉ. अब्दुल्ला तो बड़े नाटकीय अंदाज में अपना भाषण शुरू करते हैं। वे अपने भाषण की शुरूआत करते हैं, "वाहे गुरुजी का खालसा, वाहे गुरुजी की फतह, बोले सो निहाल, सतश्री अकाल", वे भीड़ से तीन दफे कहते हैं कि इस जयघोष को इतना जोर से बोलो कि 'पाकिस्तान हिल जाए।' वे अपने तूफानी भाषण में पाकिस्तान और अमेरिका की खूब खबर लेते हैं। वे कह रहे हैं कि ये देश सोच रहे हैं कि पंजाब और कश्मीर भारत से अलग हो जाएँगे; लडाकू विमान एफ-16 की धौंस भारत पर जमाना चाहते हैं। मजहब के नाम पर बरगलाया जा रहा है। हमें मजहब से बाँधा जा रहा है। वे नेताओं की ओर मुखातिब होकर कह रहे हैं, "आप लोगों से निवेदन है कि अपने-अपने स्वार्थों को भूल जाओ। देश को याद रखो। हिन्दुस्तान नहीं टूटेगा।"

अधिकांश वक्ताओं की थीम राष्ट्रीय एकता, अखंडता और धर्मनिरपेक्षता की होती है। उत्तर-पूर्वी राज्यों के मुख्यमंत्रियों के उद्‌गार काफी हृदयस्पर्शी हैं। इनके भाषण राष्ट्र की मुख्यधारा से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। सोमनाथ चटर्जी, दिग्विजयसिंह, चित्त बसु, गयासिंह जैसे वक्ता सांप्रदायिकता, साम्राज्यवाद, प्रतिक्रियावाद पर कड़ा प्रहार करते हैं; धर्मनिरपेक्षता को मजबूत करने का आह्वान करते हैं। जाहिर है, इन नेताओं का निशाना भारतीय जनता पार्टी और जमाते-इस्लामी रही होंगी। शेखावत व खुराना के निशाना बनते हैं–पाकिस्तान और राष्ट्रविरोधी तत्व। पंजाब की सुखद स्थिति पर शेखावत की टिप्पणी सटीक

रही। उन्होंने कहा कि, “अब काली रात गई, अब काले दिन गए।” मुस्लिम लीग के सांसद अहमद भी पीछे रहनेवाले नहीं थे। उन्होंने भी पाकिस्तान को नहीं छोड़ा, और अंत में कह दिया, “मुसलमानों की लाश पर भारत पर हमला होगा।”

यह दुखद संयोग है कि ठीक इसी वक्त भीड़ पर लाठीचार्ज शुरू हो गया। तीन-चार घंटे से भूखे-प्यासे लोग उकता चुके हैं। औरतों व बच्चों ने धीरे-धीरे खिसकना शुरू कर दिया है। उन्हें जबरन रोकने की कोशिश की जा रही है। सभा का पिछला हिस्सा तो लगभग उखड़ ही चुका है। ज्यादातर पंडाल खाली हो चुका है। मंच से जसदेवसिंह पंजाबी में बार-बार कह रहे हैं कि श्रोतागण धीरज रखें, बस चन्द मिनटों में ही सभा समाप्त होनेवाली है। पर भाषणों से पेट कब तक भरा जा सकता है? और जब जनता यह भी देख रही हो कि मंच पर विराजमान नेताओं को चाय, शीतल पेय, फल, मिठाइयाँ आदि बाँटे जा रहे हैं, भीड़ के साथ कुर्सियों पर जमे अधिकारियों एवं पत्रकारों को भी यह सब परोसा जा रहा हो, तब सब्र की अपीलें ‘छलावा’ ही लगेंगी। सो, जनता ने उखड़ना शुरू कर दिया। शो बिगड़ता देखकर बेअंतसिंह के सामने ही पुलिस ने लाठियाँ बरसाना भी शुरू कर दिया। 13 अप्रैल, 1919 को डायर ने स्वतंत्रता सेनानियों पर गोलियाँ बरसाई थीं, आज उन्हें श्रद्धांजलि देनेवालों पर स्वतंत्र भारत की पुलिस लाठियाँ बरसा रही है। कुछ ऐसा ही लगा।

खैर! करीब सवा तीन बजे सभा विसर्जित हुई। लोग जलियाँवाला बाग की ओर चल पड़ते हैं। शहीदों के स्मारक-स्थल पर अध्यक्ष शिवराज पाटिल, अर्जुनसिंह सहित सभी नेता अपने श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं। सभा समाप्ति से पहले पाटिल बंगलौर से सभास्थल पर पहुँच गए थे। लेकिन शरद पवार सभास्थल से सीधे हवाई अड्डे की ओर चले गए थे। इसलिए वे जलियाँवाला बाग नहीं पहुँच सके। इसके बाद हम लोग भी स्मारक-स्थल पर पुष्प चढ़ाते हैं। स्मारक-स्थल को देखकर नेहरूजी के शब्द कानों में गूँज उठते हैं। 1956 में इस स्मारक-स्थल का उद्‌घाटन करते हुए उन्होंने कहा था : “देश में हमारे बहुत सारे यादगार बनाए गए हैं। लेकिन, शायद यह सही हो कहना कि यह जलियाँवाला बाग का स्मारक, वो सबसे ज्यादा अहमियत रखता है। यादगार किसकी है? हमारी है, आपकी है, हम सब हिन्दुस्तान के रहनेवालों की है। असल में यह यादगार हिन्दुस्तान के कुछ बाहर भी जाती है और यहाँ जलियाँवाला बाग में जो गोली चली, जो उसने यह नहीं देखा किसपे चलती है, किस मजहब वाले पर– हिन्दू, सिख, मुसलमान वगैरह... जो ... जो थे, सब पे चली। और उसके बाद जो तहरीक, आंदोलन शुरू हुआ जोरों का, वो सारे मुल्क में हुआ, उस हिस्से में भी जो कि

आज पाकिस्तान कहलाता है, इसलिए यह एक यादगार हमारी तो है ही, लेकिन हमें मंजूर है कि पाकिस्तान के हमारे भाई-बहन एक यादगार इसको समझें और याद करें उस दिन को जब हम लोगों ने मिलकर सारे मुल्क की आजादी के लिए खून बहाया था।"

स्मारक-स्थल के बाद सभी नेता एक शामियाने के तले ठीक 4 बजे जलियाँवाला बाग के शहीदों को मौन श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। इसके बाद कौमी तराने और भजन गाए जाते हैं। इन पुनीत क्षणों में भी राजनीति अपना रंग दिखाए बिना नहीं रहती है। अर्जुनसिंह को पीछे धकेलते हुए मुख्यमंत्री बेअंतसिंह अग्रिम पंक्ति में आ बैठते हैं। जाजम् पर बैठे तमाम लोग इस दृश्य को देखकर हँस पड़ते हैं। अर्जुनसिंह को भी बरबस हँसना पड़ता है।

इस कार्यक्रम के बाद नेताओं का काफिला स्वर्ण मंदिर की ओर मुड़ता है। स्वर्ण मंदिर का परिसर बिल्कुल बदल चुका है। चूँकि 1983 से इस स्थान को देखता आ रहा हूँ, और अब चार-पाँच साल के बाद यहाँ आया हूँ, एक बिल्कुल नए परिसर के सामने स्वयं को खड़ा पा रहा हूँ। परिसर में नेताओं के साथ-साथ श्रद्धालुओं की भीड़ उमड़ी हुई है। एक मुक्त, निर्भय, निर्मल, एक लय-एक स्वर से ओत-प्रोत परिवेश की अनुभूति होती है। त्रासदी की कोख से किलकारी मारता हुआ पंजाब जन्म ले रहा है।

और, कुछ घंटों के पड़ाव के बाद वापस हम सुरक्षित विमान में दिल्ली के लिए सवार हो जाते हैं। इस यात्रा में एक चेहरा शुरू से अंत तक याद रहेगा, और वह है पुलिस महानिदेशक के.पी.एस.गिल का। एक सामान्य सिपाही की तरह यात्रा के अंत तक तैनात रहे। शायद यही वजह रही कि पंजाब की शांति के लिए राजनीतिक शासक बेअंतसिंह के साथ नागरिक प्रशासक गिल को भी श्रेय देना सभा में नहीं भूले थे। यह यात्रा एक यात्रा नहीं थी, देश के विभिन्न क्षेत्रों के निर्वाचित जनप्रतिनिधियों के रूप में गरजते भारत की तीर्थयात्रा थी और तीर्थस्थली थी जलियाँवाला बाग। सलाम ! अनाम शहीदो !!

16 अप्रैल, 1994

असम आन्दोलन : ताम्बूल के वनों में मौत की फसल

असम-यात्रा पर रवाना होने से पहले दिल्ली में लगातार समाचार मिलते जा रहे थे–असम में मौत का ताण्डव नृत्य चल रहा है, असम लोकतंत्र का कब्रिस्तान बन चुका है, असम ज्वालामुखी की चपेट में है, स्थिति बेकाबू हो चुकी है, असम की राजधानी गुआहाटी का नियंत्रण सेना को सौंप दिया गया है; कुछ भी सुरक्षित नहीं है, सिवाय मृत्यु के। एक एडवेंचर, उत्सुकता और दहशत को अपने में समेटे मैं जहाज पर सवार था।

दिल्ली से गुआहाटी के लिए जा रहे हवाई जहाज में चन्द सांसद, पत्रकार, सैनिक अधिकारियों के अलावा, बहुतायत मारवाडी व्यापारी यात्रियों की थी। उनके पहनावे से यह अंदाज लगाना मुश्किल था कि वे कब्रिस्तानवाले प्रदेश में जा रहे हैं। उनकी स्त्रियाँ कीमती वस्त्रों और स्वर्ण आभूषणों से सुसज्जित थीं। कुछ तो लहँगा-लुंडी बॉबकट हेयर में अजीबो-गरीब 'नुमाइश' लग रही थीं।

नाश्ते का समय। परिचारिका ने नाश्ता परोसना शुरू किया। शाकाहारी नाश्ता कम पड़ गया। बगल में बैठे एक नामी-गिरामी पत्रकार ने शाकाहारी नाश्ते की कमी को लेकर नागरिक उड्डयन मंत्री खुरशीद आलम खाँ को अच्छी-खासी लानत-मलामत भेजी उनकी गैर-हाजिरी में। अगली सीट पर बैठी एक संसद सदस्या ने हँसते हुए कहा : ये लीजिए मेरा शाकाहारी नाश्ता। मुझे तो सदन में कुछ बोलने के लिए अच्छा-खासा मसाला मिल गया है। मंत्रीजी की पूरी खिंचाई होगी। एक दूसरी सीट पर बैठे एक भद्रजन बड़े इत्मीनान के साथ एक पुस्तिका के सफे उलटते-पलटते जा रहे थे। पुस्तिका पर भूख से बिलखते और दंगों में घायल इंसानों के चित्र छपे थे और ऊपर अंकित था– 'आज का असम–लोकतंत्र

का कब्रिस्तान'। संसद सदस्य और पत्रकार पटना में उतर गए। डेढ़ घंटे की उड़ान के पश्चात मैं भी गुआहाटी हवाई अड्डे पर पहुँच चुका था।

हवाई अड्डे की दीर्घाएँ आने-जानेवाले मारवाड़ी परिवारों से भरी हुई थीं। इसके बाद पुलिस का अतिरिक्त पहरा साफ-साफ दिखाई दे रहा था। फिर भी स्थिति सामान्य थी।

नगर के लिए टैक्सी में रवाना हुआ। यातायात अप्रत्याशित रूप से सामान्य मिला। कार, स्कूटर, ट्रक, साइकिलें—सभी कुछ आम रफ्तार से चल रहा था। दुकानें खुली हुई थीं, खरीददारों की भीड़ थी। दीवारों पर नारे थे—पोस्टर थे; पर उतने नहीं, जितने कलकत्ता की दीवारों पर हर हालत में बरस भर देखे जाते हैं। एकबारगी लगा, गुआहाटी असम आंदोलन के प्रभाव से रीता है; सिर्फ 'अखबारी शोशा' है।

पहुँचने के कुछ देर बाद ही मैं असम आंदोलन के कार्यकर्त्ताओं के बीच था। आंदोलन का सारा काम नगर के मध्य स्थित मुख्य अस्पताल के अहाते में बने दो कमरों से संचालित किया जा रहा है। कमरों के बाहर बोर्ड लगा है—मेडिकल डॉक्टर एसोसिएशन। कमरों के सामने ही इमरजेंसी वार्ड है। साथ ही लगे ब्लड बैंक के कमरों में भी आंदोलन का काम चलता है। अस्पताल के भवन के ऐन सामने प्रदेश पुलिस का मुख्यालय है। चौबीसों घंटे पुलिस की लारियाँ, सी.आर. पी. की जीपें और सेना की ट्रकें खड़ी रहती हैं। दूसरी तरफ आंदोलनकारी अपना काम करते रहते हैं। यहाँ तक कि एसोसिएशन के कमरों में दंगापीड़ितों के लिए राहत सामग्री एकत्रित की जाती है और वहीं से टैक्सियों में लादकर भेजी जाती है। अस्पताल के गेट पर सशस्त्र जवानों का पहरा भी बदस्तूर रहता है।

कार्यालय में पहुँचा तो देखा बैठक चल रही है, चन्दा व रसद सामग्री जमा की जा रही है। मौजूद सभी कार्यकर्ता तीस बरस के नीचे लगे। अधिकांश मेडिकल के छात्र थे। उनके चेहरों पर मासूमियत थी, परवान चढ़ने की दीवानगी थी। परन्तु कहीं भी थकान, तनाव, निराशा, पराजय उन्हें छू तक नहीं गई थी। सभी इतनी सहजता से मिले, मानो असम में कहीं कुछ हो ही नहीं रहा है, सब ठीक से चल रहा है। लगता था, छात्र-कार्यकर्ता और असम आंदोलन एक दूसरे में समा गए हैं—अद्वैत की अवस्था में, जहाँ अंतर करना मुमकिन नहीं है।

कुछ क्षणों के पश्चात एक कार्यकर्ता शमा परवेज मुझे एक अलग कमरे में ले गईं और आंदोलन के संबंध में बातचीत करने लगीं। थोड़ी देर बाद उनकी छोटी बहन और अखिल असम छात्रसंघ (आसू) की सक्रिय स्वयंसेविका नसीम अख्तर परवेज भी वहाँ पहुँच गईं। दोनों बहनों का परिवार मूलतः बिहारी है और करीब

तीन-चार पीढ़ी पहले असम आया था। तब से परिवार यहीं का होकर रह गया है। दोनों बहनें टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी जानती हैं, उर्दू कतई लिख-बोल नहीं सकतीं। परवेज-परिवार की मातृभाषा असमी बन चुकी है। दोनों ने बताया कि आंदोलन के अनेक कार्यकर्ता मुसलमान हैं, जिनकी मातृभाषा असमी है। इस सिलसिले में उन्होंने तीन नाम गिनाए—नूरुल हुसैन (उपाध्यक्ष, आसू), नेकीबुर जमान (अध्यक्ष, आसू की कामरूप जिला शाखा) और गुलाम मुर्तजा अहमद (आसू के पूर्णकालिक स्वयंसेवक और प्रमुख वामपंथी सलाहकार)।

दोनों बहनों ने, जो कि पेशे से अध्यापिकाएँ हैं, असम आंदोलन को धर्मनिरपेक्ष सिद्ध करते हुए सी.आर.पी. द्वारा किए जा रहे अत्याचारों की कहानी सुनानी शुरू की। नसीम परवेज कातर और आक्रोशभरे स्वर में कहने लगीं, "क्या हम भारतीय नहीं हैं? आपकी पुलिस (सी.आर.पी.) हम असमिया लोगों पर रोज अत्याचार कर रही है। गाँवों में स्त्रियों के साथ बलात्कार किया जाता है। सुनिए, मैं बतलाती हूँ सी.आर.पी. का असली चेहरा। नौगाँव जिले के ठेकरागाँव में 13 मार्च को तीन औरतों के साथ सी.आर.पी. के लोगों ने बलात्कार किया। इससे पहले 6 मार्च को घूरेश्वर में बलात्कार का काण्ड हुआ। पाँच हिन्दू औरतें जवानों की वहशी पिपासा की शिकार हुईं। इससे पहले भी इस तरह की घटनाएँ होती रही हैं। आप इन्हें जरूर छापें; दूसरे प्रांत के हिन्दुस्तानी भाइयों को बताएँ कि असम के हिन्दुस्तानियों के साथ कैसा सलूक किया जा रहा है। क्या हम हिन्दुस्तानी नहीं हैं? बोलिए?"

नसीम को बीच में रोकते हुए शमा कहने लगी, "अब आप ही इंसाफ करें। जब अतिथि ही घर का मालिक बनने का षड्यंत्र रचे, तो कौन आतिथेय इसे सहन करेगा। पूर्वी बंगाल से आए विदेशी मुसलमान और हिन्दू हम असमियों के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं। वे असम के मालिक बनना चाहते हैं। असम की उपजाऊ भूमि पर विदेशी मुसलमानों का कब्जा है, सरकारी नौकरियों पर बंगाली हिन्दुओं का अधिकार है। असम का व्यापार भी गैर-असमी (मारवाडी का नाम नहीं लिया, परंतु संकेत स्पष्ट था) लोगों के हाथों में है। हम असम के लोग किधर जाएँ? गाँव-गाँव में झूठा प्रचार कराया जा रहा है कि आसू मुसलमानों के विरुद्ध है। यह सरासर गलत है। हम सिर्फ इतना ही चाहते हैं कि 1951 से विदेशियों का पता लगाया जाए और 1961 के बाद आनेवाले गैरनागरिकों को यहाँ से खदेड़ा जाए। एक मेहमान को जिन्दगी-भर अपने घर में कैसे रखा जा सकता है?"

दो युवक कमरे में दाखिल होते हैं। नसीम परिचय कराती है—कार्तिक मेधी (मेडिकल छात्र) और मुर्तजा अहमद। सामान्य औपचारिकता के बाद कार्तिक मेधी, कहने लगे, "देखिए, आप दिल्लीवाले हमारे आंदोलन के बारे में सही ढंग से नहीं

लिख रहे हैं। असम घूमने से पहले यह जान लीजिए कि आंदोलन गैर-साम्प्रदायिक है। आर.एस.एस. के लोग इसे हिन्दू-मुसलमान का रंग दे रहे हैं। बाहर के हजारों स्वयंसेवक गुआहाटी तथा दूसरे नगरों में बुला लिए गए हैं। गड़बड़ी फैलती जा रही है। मारवाड़ियों का इन्हें समर्थन प्राप्त है।"

करीब एक-डेढ घंटे की बातचीत के बाद मैंने आसू के लोगों से विदाई ली और फैंसी बाजार की ओर चल पड़ा। साथ में एक स्थानीय पत्रकार भी थे। पान बाजार का क्षेत्र पार करते ही फैंसी बाजार में पहुँचा, तो एक नया अनुभव मेरे सामने था। पान बाजार और फैंसी बाजार दो भिन्न गुआहाटी, दो भिन्न असम का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। दोनों बाजारों की सीमाओं पर थे पुलिस मुख्यालय और चर्च। पान बाजार असम की संस्कृति का प्रतीक था; वहाँ एक शालीनता, गरिमा, भद्र-संस्कृति की छाप स्पष्ट झलक रही थी। असम के पारम्परिक वस्त्र और हस्तशिल्प इस बाजार के विशेष आकर्षण थे। इसके विपरीत फैंसी बाजार पश्चिमी वस्तुओं से पटा हुआ था। चारों तरफ मारवाड़ी ही मारवाड़ी दिखाई दे रहे थे—पश्चिम की उपभोगवादी संस्कृति के अधकचरे प्रतीक। असमिया परिधान में इक्की-दुक्की असमिया स्त्रियाँ भी दिखाई दे जाती थीं। फैंसी बाजार का क्षेत्र अपने में एक लघु राजस्थान समेटे हुए था।

स्थानीय पत्रकार गुआहाटी के एक प्रसिद्ध व्यापारी धानुका से मिलवाते हैं। आंदोलन और रक्तपात के संबंध में बातचीत छिड़ने पर धानुकाजी बड़े अनमने भाव से तुनककर कहते हैं : "हमें किसी के संबंध में कुछ नहीं कहना। जमाना खराब है। विदेशियों की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं की गई है। हम किसी के लड़ाई-झगड़े में नहीं पड़ते। सब चोर हैं—इंका से लेकर सी.पी.एम. तक। सबको काला धन चाहिए। हमें असम में बिजनिस करना है और सभी दलों की चाकरी भी करनी है। कोई भी राजा बने, हमें कोई अंतर नहीं पड़ता। पैसा सभी को लगता है। अगर वे लोग (असमिया) हमें बिजनिस करने देंगे तो करेंगे, नहीं तो घर बैठेंगे। हम सब व्यापारी ऐसा ही सोचते हैं।" धानुका की बातचीत से लगा कि व्यापारी वर्ग अनेक आशंकाओं से ग्रस्त है। बार-बार कुरेदने पर भय की परतें दिखाई देती हैं। यह वर्ग सोचने लगा है कि विदेशियों के पश्चात कहीं आंदोलन की तोपें उनकी तरफ न मुड़ जाएँ? वैसे एक दशक पहले मारवाड़ी और असमिया लोगों के बीच हिंसात्मक दंगे हो चुके हैं।

धानुकाजी के घर से चला तो शाम हो चुकी थी। साढ़े पाँच-छः बजे तक पूरा अंधेरा हो गया था। असम में सूर्य जल्दी छिपता है। फैंसी बाजार में तो चहल-पहल थी, परन्तु पान बाजार बिलकुल वीरान था। वैसे सेना और सी.आर.पी. की जीपें बीच-बीच में दौड़ती दिखाई दे जाती थीं। जवानों की गश्त तेज हो गई थी। चारों

तरफ लौह-टोप और संगीनें दिखाई दे रही थीं। पत्रकार दास ने बताया कि नगर के बड़े-बड़े भवन, यहाँ तक कि स्कूल-कॉलेजों के भवन भी सी.आर.पी. के बैरक बन गए हैं। यह सच भी है। कई भवनों के सामने खंदक और पिल-बॉक्स (कवच कोठरी) बने दिखाई दिए, मानों गुआहाटी नगर न होकर कोई युद्ध-स्थल हो। होटल आ चुका था। उतरते-उतरते रिक्शाचालक को कुरेदने की इच्छा हुई। रिक्शाचालक बिहार के मोतीहारी जिले का है। नाम है मोहन। बीस-पच्चीस रुपए रोज कमा लेता है। असम में पिछले बीस बरस से है। वह कहता है— "सॉब ! मैं गरीब आदमी हूँ। नहीं जानता यह (आंदोलन) खराब है या अच्छा। जब हड़ताल होती है, तब नुकसान होता है। पहले-पहल जबरन चन्दा वसूला जाता था। अब नहीं लेते। आंदोलन और दूसरे लोगों (विदेशियों) से हमारा कोई मतलब नहीं। बड़े लोग जानें।"

धानुका की तटस्थता और मोहन की तटस्थता कहाँ एक-दूसरे से मिलती है और कहाँ एक-दूसरे को चीरती हुई अलग हो जाती है, यह सोचते हुए सीढ़ियों पर चढ़ता हूँ। कमरे में पहुँचकर आंदोलन-समर्थक होटल मैनेजर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है : "मैं नहीं जानता, आंदोलन का क्या अंत होगा; विदेशी नागरिक कैसे भगाए जाएँगे और कहाँ भेजे जाएँगे? हम असम की सरकार को नहीं मानते। वह धोखा है। परिणाम कैसा भी निकले, आंदोलन चलता रहेगा।

गौहाटी (गुआहाटी) की पहली दोपहर के बाद पहली सुबह रेलवे स्टेशन की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए शुरू होती है। सीढ़ी पर अर्द्ध-मृत दशा में एक पूर्ण नग्न नरकंकाल रेलिंग से चिपका हुआ है। वह अपनी ही गंदगी में सना हुआ है। व्योम में शाकाहारी नाश्ते के लिए कोहराम, सदन में बोलने के लिए चटपटा मसाला और यहाँ खामोशी। बेजान।

सीढ़ियों को लाँघता हुआ आसू कार्यालय में पहुँचा। वहीं बम्बई के प्रसिद्ध मुस्लिम विचारक और बोहरा समाज के सुधारक असगर अली इंजीनियर से मुलाकात हो गई। एक सुखद आश्चर्य हुआ। एक घंटे तक प्रतीक्षा की, टैक्सी नहीं मिली। एक आसू के कार्यकर्ता कहने लगे, "सरकार प्रचार कराती है कि हम दबाव से सहयोग ले रहे हैं। कल से कह रखा है, मगर टैक्सीवाला अभी तक नहीं आया। एक आया भी था, वह भी गच्चा देकर भाग गया। दूसरे का इंतजार है। आजकल कोई भी टैक्सीवाला साथ जाने को तैयार नहीं होता।" अंत में, असगर अली आसू के स्वयंसेवक के साथ जाते हैं और टैक्सी लेकर आते हैं। इसके बाद हम नेल्ली के लिए रवाना हो जाते हैं। साथ में होते हैं आसू के दो कार्यकर्ता शरीफुद्दीन अहमद और जगन्नाथ पातोर (मैदानी लालूंग आदिवासी)। पहला पड़ाव था—जागीरोद। यहाँ, सरकारी क्षेत्र में एक काफी बड़ी पेपर मिल का निर्माण जारी

है। आसू के कार्यकर्ता बतलाते हैं : यह पेपर मिल तनाव का केन्द्र बना हुआ है—बंगालियों और असमियों के बीच। शरणार्थी बंगाली मजदूर सस्ती मजदूरी पर काम करने को तैयार हो जाते हैं, चार-पाँच रुपए रोज मजदूरी ले लेते हैं, जबकि असमिया मजदूर की रेट 10 रुपए रोजाना है। मजदूरी के सवाल को लेकर मजदूरों के दोनों वर्गों में तनाव बना रहता है। मजदूरी के मामले में पूरे असम की यही हालत है। बंगाली और असमी मजदूर आपस में लड़ते रहते हैं। किसी ने ठीक कहा है– सत्ता और संपत्ति पर काबिज रहने के लिए यह जरूरी है कि 'धरा के अभागे' (रिचेड ऑफ दी अर्थ) आपस में लड़ते-भिड़ते मरते रहें। हम दोनों बुदबुदाए। यह स्थान नेल्ली से चंद किलोमीटर की दूरी पर था। दूसरा पड़ाव फलाहगुरी रहा। यहाँ से नेल्ली क्षेत्र चार किलोमीटर दूर रह गया था।

आसू कार्यकर्ता सड़क किनारे एक झोपड़ी में ले गए। निवासी दौलत अली चौधरी और उनके पुत्र नवाब चौधरी से मिलवाया गया। नेल्ली में हुए भयानक रक्तपात की बात चली तो साठ साला दौलत अली की आँखों में गहरे दुख की रेखाएँ साफ-साफ उभरी हुई थीं। पेशानी के तनाव सबूत थे इस सचाई के कि रक्तपात को उन्होंने पसंद नहीं किया। एक अजीब लाचारी-बेबसी महसूस कर रहे थे वो कुछ कहने में। परन्तु खामोशी तोड़ी तो हर खबरनवीसी पैंतरेबाजी का जवाब उन्होंने पूरी साफगोई के साथ दिया : "हम असमिया मुसलमान हैं। हमारा खून-खराबे से कोई संबंध नहीं। पर एक बात जरूर है, जो भी कुछ हुआ है वह मजहब के नाम पर नहीं हुआ, चुनाव को लेकर हुआ है।" असगर अली के सवालों के उत्तर में नवाब चौधरी ने हर बार यही कहा : "पहले हम असमिया हैं, बाद में हिन्दू-मुसलमान। इसलिए नेल्ली के हत्याकांड को किसी एक खास समुदाय के खिलाफ नहीं कहा जा सकता।" वृद्ध दौलत अली दुबारा बोले : "मुसलमान होने के नाते मुसलमान के मरने पर दुख होना स्वाभाविक है। परन्तु, सच्चाई यह है कि किसी भी इंसान की हत्या पर इंसान को कष्ट होगा। इस नाते हमें भी है। कोई भी असमिया रक्तपात पसंद नहीं करता।"

दोनों चौधरियों से रुखसत लेकर। चंद ही मिनटों में हम नेल्ली कत्ले-आम के क्षेत्र में थे। घटनास्थल तक कार नहीं जा सकती थी। हमने पैदल चलने का आग्रह किया। परन्तु, आसू के शरीफुद्दीन इसके लिए तैयार नहीं थे। जगन्नाथ पातोर को भी भय था कि बंगलादेशी मुसलमान हमला कर देंगे; बारूद की सुरंग बिछी हुई है। लाख समझाने पर भी दोनों कार्यकर्ताओं ने हमारे साथ चलने और कार से नीचे उतरने से इंकार कर दिया। आखिर तय किया गया कि यह प्रतिनिधि, असगर अली और गौहाटी के स्थानीय पत्रकार देवेन्द्र दास तीनों पैदल ही घटनास्थल जाएँगे। तीन-चार किलोमीटर दूर शरणार्थी शिविर दिखाई दे रहे थे। हम मुख्य सड़क से उतरकर पगडंडी मार्ग से खेतों को पार करते हुए चल पड़े।

कुछ देर पैदल चलने के बाद कच्चे रास्ते से एक जीप आती हुई दिखाई दी। रोका, लिफ्ट माँगी। जीप मजिस्ट्रेट और शरणार्थी शिविर के प्रभारी की थी। परिचय के बाद हम जीप में सवार थे। जीप में सी.आर.पी.-10 टुकड़ी के कप्तान वी.एस. रावत से बातचीत चल पड़ी। उन्होंने बताया कि 18 फरवरी को करीब 600 बंगलादेशी मुसलमान मारे गए थे। अगर, सी.आर.पी. समय पर नहीं पहुँचती, तो संख्या इससे भी अधिक हो सकती थी। असमिया आदिवासी बंगालियों को मारते गए, काटते गए, और घरों को जलाते गए। मुसलमान अपने बच्चों को छोड़ भागते रहे, कटते रहे। यह सिलसिला कई गाँवों में एक साथ चलता रहा। परन्तु सी.आर.पी. के जवानों ने तुरंत कार्रवाई की। नदी-नालों को पार करते हुए हमलावरों को खदेड़ा। इसकी पुष्टि बाद में शिविर में विस्थापितों ने भी की; उन्होंने सी.आर.पी. की भूमिका की प्रशंसा की। बातचीत से यह भी पता चला कि रावत मध्यप्रदेश के निवासी हैं, राष्ट्रीय गोलकीपर नेगी के भावी ससुर। शिविर डिमाल नदी के मुहाने पर स्थित था। यह स्थान और डिमाल नदी दो नदियों कपली और किलिंग के बीच में है। रावतजी ने बताया कि किलिंग नदी वास्तव में 'किलिंग नदी' ही सिद्ध हुई। बच्चों को मार-काटकर इसी नदी में फेंका गया। जो बचना चाहते थे, वे इस नदी को पार नहीं कर सके। इसके बाद किलिंग नदी में 'किलिंग' शुरू हो गई।

विस्थापित शिविरों में हाहाकार मचा हुआ था। प्रत्येक परिवार में से दो-दो, दस-दस इंसान बलि चढ़ चुके थे, इंसान की ही हिंसात्मक रक्तपिपासु प्रवृत्ति पर विस्थापितों का सब कुछ लुट चुका था– स्त्री, बच्चे, मरद, मवेशी, घर और सब कुछ। अब बचे थे फक्त दो ईंटों के चूल्हे, टीन के टूटे पीपे, घासलेट की किनारे टूटी बोतलें, जली हुई पेटियाँ, खुरपी, हँसिया और सब कुछ सहने का, पुनः विनाश के गर्भ में से नया अंकुरित करने का शाश्वत साहस। विस्थापितों का कहना था कि आसपास के 13 गाँवों में करीब ढाई हजार लोग मारे गए हैं। उनका सामूहिक स्वर में कहना था : "हमारा एक ही कसूर था–हम वोट देना चाहते थे।" परन्तु, किसी भी विस्थापित मुसलमान ने यह नहीं कहा कि हमलावर आदिवासी और असमिया हिन्दुओं में बंगाली हिन्दू भी शामिल थे। बंगाली हिन्दुओं की बस्तियाँ थीं, परन्तु भय से वे तटस्थ रहे।

रावतजी ने बताया कि बड़ों को प्रति व्यक्ति छह सौ ग्राम और बच्चों को चार सौ ग्राम चावल के हिसाब से राशन दिया जाता था। परन्तु अब विशेष रियायत दी गई है। अब बालिग को एक किलो धान, 70 ग्राम दाल, 40 ग्राम सरसों तेल, पाउडर का दूध और सब्जी आदि प्रतिदिन दी जाती है। इसके अलावा वस्त्र भी वितरित किए गए हैं, जिनमें साड़ी, धोती, लुंगी, जांघिया आदि शामिल हैं। पाँच हजार रुपए प्रति परिवार नकद राहत राशि भी दी गई है।

सूर्य ढलने जा रहा था। एक तरफ विस्थापितों का शिविर था, डिमाल मंद-मंद बह रही थी, और सामने थे धान के हरे-हरे खेत, जिनके बीच कपोत उड़ रहे थे। जीप पर सवार होते समय रावत ने सूचना दी : शिविरों में बच्चों ने जन्म भी लिया है।

पन्द्रह-बीस किलोमीटर दूर बोरबोरी का शिविर देखने पहुँचे। रावत ने बताया कि इस क्षेत्र में भी करीब छह सौ व्यक्ति मारे गए हैं। यहाँ के विस्थापितों ने एक स्वर से कहा कि बोरबोरी के हत्याकांड के लिए असम पुलिस जिम्मेदार है। विस्थापितों ने यह भी बताया कि आसू और गणसंग्राम परिषद ने दबाव डाला कि मतदान में हिस्सा मत लो। विस्थापित कहने लगे, हमने परिषद के लोगों को कहा कि जब सरकार ने वोट देने का आदेश दिया है तो वोट देंगे। तब परिषद के लोगों ने कहा कि "वोट दोगे तो टुकडे-टुकड़े कर देंगे।"

यहाँ एक नए तथ्य का पता चला है। इस क्षेत्र की सारी उपजाऊ भूमि पर तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान से आए मुसलमानों का कब्जा एक लंबे समय से हो गया था। विस्थापितों ने स्वयं बताया कि उन्होंने स्थानीय आदिवासियों और असमिया हिन्दुओं एवं मुसलमानों की हजारों बीघा जमीन गिरवी रखी हुई है। गिरवी के अलावा पचास प्रतिशत जमीन खरीद की भी है। एक विस्थापित परिवार के पास दस बीघा से लेकर सत्तर बीघा तक भूमि है, जिसमें से आधी गिरवी की है। विस्थापितों ने यह भी बताया कि एक बीघा भूमि तीन सौ से पाँच सौ रुपए तक रखी जाती है। विस्थापित मोहम्मद रूहल अमीन कहने लगे : "मेरे पास पैंतीस बीघा भूमि है, जिसमें से 12 बीघा 3,600 रुपए में गिरवी रखी गई थी।" विस्थापित जब्बार के शब्दों में : "मेरी 20 बीघा में से 16 बीघा असम के आदिवासी और हिन्दुओं की है।" जैनुल अबूदीर की भी कहानी यही है। उसने बीस बीघा माटी (असम में भूमि को माटी कहते हैं) सात हजार रुपए में बंधक रखी है। मगर, अब कुछ नहीं बचा। विस्थापित कहते हैं : "हमलावरों ने गिरवी और बेचने के सारे कागजात जला दिए हैं। लिखत-पढ़त के दस्तावेज किसी के पास साबुत नहीं बचे हैं। हम पूरी तरह से बर्बाद हो चुके हैं।"

यहाँ का हर परिवार युद्ध विभीषिका की कहानी की तरह है। मोहम्मद अमीन कहने लगे : "मेरे परिवार के सैंतालीस लोग मारे गए हैं जिनमें माँ, तीन पत्नियाँ, चार लड़के, चार लड़कियाँ, भाई, पुत्रवधुएँ शामिल हैं।" अजीजुर्रहमान अकेले ही रह गए हैं। उनके परिवार के सब सदस्य कत्ल कर दिए गए, जिनमें एक गर्भवती स्त्री भी शामिल थी। हर विस्थापित परिवार ऐसी ही कहानी दोहराता है।

परन्तु, यहाँ किसी भी मुसलमान ने इसे सांप्रदायिक कत्लेआम नहीं बताया बल्कि देवबंद में शिक्षित मौलवियों तक ने कहा : "दंगों से पहले हम सब हिन्दू-मुसलमान

एक अरसे से भाई-भाई की तरह रहते आ रहे थे। एक-दूसरे से हर-तरह का व्यवहार था। धर्म मजहब का तो कभी सवाल ही नहीं उठा। अलबत्ता, जमीन को लेकर मनमुटाव जरूर रहता था। शायद इस हत्याकांड की असली वजह जमीन ही रही हो !" मौलवियों ने यह भी बताया कि हमलावरों ने बंगाली हिन्दुओं के 19 परिवारों को भी जला दिया' है। अनेक उलटे-सीधे सवालों के बावजूद कोई भी विस्थापित भूल या गुस्से से 18 फरवरी के कत्ले-आम को 'फिरकाना रंग' देने को तैयार नहीं था। देखो, सूरज अस्त हो चुका है। अजान की आगाज होने लगी है सी.आर.पी. द्वारा तैयार किए गए एक चबूतरे पर–"अल्लाह के सिजदे में हैं अल्लाह के बन्दे।"

गौहाटी के लिए रवाना होते समय, रावतजी ने बताया था : "इस भयानक हत्याकांड के तुरंत पश्चात नेल्ली शिविर में सात-सात शादियाँ हो चुकी हैं। है ना कितना विचित्र इंसान की फितरत को समझना !" मुख्य सड़क पर लौटकर भयग्रस्त अहमद और पातोर को साथ लिया। गौहाटी के लिए चल पड़े। बातचीत शुरू हुई। अहमद कहने लगे : "अगर वो असमी/बंगाली मुसलमान/हिंदू हैं तो हमारे साथ होना चाहिए था। वोट नहीं देना चाहिए।" पातोर कहने लगे : "विदेशीपन, परायापन वे ही दिखाते हैं। बंगाल से आए हिन्दू, मुसलमान स्थानीय लोगों से अधिक मिलना-जुलना पसंद नहीं करते। वे अलग गाँवों में रहते हैं। जमीनें उन्होंने जरूर दबाई हैं, इसका गुस्सा गाँवों में है।" बातचीत समाप्त करते हुए असगरअली ने कहा–"कोई समझाए इंसानों को, कि असली लड़ाई मजहब को लेकर नहीं, दौलत को लेकर की जाती है। काश ! कोई इस आर्थिक संघर्ष के चरित्र को समझे, फिर कोई माकूल इलाज तलाशे।"

मैं जहाँ ठहरा हूँ, वह एक मारवाडी का चारतल्ला होटल है। होटल पहुँचने के कुछ देर बाद ही विस्फोट होता है। चारों तरफ शोर। होटल से बाहर निकल आते हैं लोग। करीब सौ फुट के फासले पर चन्द मिनटों में ही दो-तीन विस्फोट होते हैं। कुछ लोग जख्मी भी हो जाते हैं। हैरत है, विस्फोट से चंद मिनट पहले ही मैं और असगर अली उसी स्थल से गुजरे थे। हल्का-सा गुमान भी न था कि ऐसा हादसा होगा। घटनास्थल से लौटे तो होटल के एक ड्राइंग रूम में वीडियो-कैसेट का शो शुरू हो चुका था, जो सुबह चार बजे तक चलता रहा। पता चला, फैंसी बाजार में इस तरह के शो नियमित रूप से होते हैं। गुप्त रूप से ब्लू फिल्म के शो भी किए जाते हैं।

अगली सुबह दारांग की ओर निकल पड़े। आसू के कार्यकर्ता और मेडिकल छात्र शर्मा साथ में कर दिए गए। गौहाटी से पचास-साठ किलोमीटर दूर सड़क पर भीड़ जमा मिली। टैक्सी रोकी। चारों तरफ असमी मुसलमान खड़े थे। भीड़ में से एक-दो लोग चीखते हुए कह रहे थे, "अब असम के मुसलमान इस आंदोलन

का साथ नहीं देंगे।" पूछने पर पता चला कि मारोई गाँव के एक मुसलमान युवक का तीन दिन पहले सिपाझार में बस स्टैंड से अपहरण कर लिया गया था। आज उसकी लाश मिली है। अपहरण भी संग्राम परिषद के एक स्थानीय पदाधिकारी तरुण शर्मा के सामने किया गया था। भीड़ में से मोहम्मद ताहिर और शाहिर अली का कथित आरोप था कि युवक मिजालू रहमान की हत्या के पीछे तरुण शर्मा तथा अन्य चार लोगों का हाथ है। चारों ही हिन्दू हैं–डीजन बरुआ, नलोनी बरुआ, माधव बरुआ और बसन्त बरुआ। काफी दबाव डालने पर माधव बरुआ को ही गिरफ्तार किया गया है। इन लोगों का आरोप यह भी था कि इन कथित व्यक्तियों का संबंध आर.एस.एस. और विश्व हिन्दू परिषद से भी है। बाद में दूसरे दिन गौहाटी में आसू के नेताओं ने इसकी पुष्टि भी की। यह भी बताया गया कि तरुण शर्मा को पद से हटा दिया गया है, जाँच बैठा दी गई है। घटना की गंभीरता का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि मारोई गाँव के मुसलमानों की उत्तेजना को शांत करने के लिए चंद घंटों के अन्दर गौहाटी से आसू के नेता घटनास्थल पर पहुँचे, और स्थिति को बिगड़ने से रोका। यहीं यह भी पता चला कि दारांग के मंगलदोई उपसंभाग में ऐसी कई घटनाएँ हो चुकी हैं। आसू और परिषद इन हत्याओं को रोकने में असफल रहे हैं। सभी का यह मत था कि अगर ऐसी घटनाएँ आगे भी जारी रहती हैं तो आंदोलन अपने उद्देश्यों में पिट जाएगा।

यहाँ से आगे बढ़े तो शालखुआ की ओर मुड़ गए। यह गाँव घने जंगलों और नदी-नालों से घिरा हुआ है, इसलिए उस तक पहुँच पाना मुश्किल था; पास के गाँव तक पहुँचकर ही शालखुआ के बारे में जानकारी प्राप्त करके संतुष्ट होना पड़ा।

रांगामाटी और कुआपानी के असमिया हिन्दू और मुसलमान दोंनों ने बताया कि 15 फरवरी को करीब 500 विदेशी मुसलमान मार दिए गए। परन्तु, गाँव के मुखिया असमिया मुसलमान हरमोज अली ने कहा कि पहले बंगाली मुसलमानों ने असमिया हिन्दुओं पर हमला किया; इसके बाद "असमिया हिन्दू-मुसलमान दोनों ने एक साथ मिलकर शालखुआ के मुसलमानों पर हमला किया। शालखुआ में 7-8 साल से बंगाली मुसलमान रह रहे हैं। उनके पास जमीन काफी उपजाऊ है।" कुछ मुसलमानों ने यह भी बताया कि विदेशी मुसलमानों ने असमिया हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमानों के भी घर जलाए। कुछ गाँवों में असमिया मुसलमानों को जिन्दा जला दिया गया।

मंगलदोई पहुँचे तो सारा बाजार बंद था। मारोई गाँव के मिजालू रहमान की हत्या के विरोध में हिन्दू-मुसलमान दोनों दुकानदारों ने बाजार बंद कर दिए थे। मंगलदोई से ठेकराबाड़ी की ओर मुडे। रास्ते-भर सेना के स्वागत में बोर्ड लगे हुए थे, मगर सी.आर.पी. का विरोध किया जा रहा था। असमिया

हिन्दू-मुसलमान सेना के समर्थक थे, जबकि बंगाली हिन्दू-मुसलमान असम पुलिस के विरोधी और सी.आर.पी. के प्रशंसक मिले।

मुख्य मार्ग से छह किलोमीटर अंदर ठेकराबाड़ी क्षेत्र में अनेक असमिया हिन्दुओं की हत्याएँ फरवरी में कर दी गई थीं। ठेकराबाडी के इर्द-गिर्द बंगाली हिन्दुओं और मुसलमानों की बस्तियाँ थीं। मंगलदोई से ठेकराबाड़ी तक तांबूल के वन हैं। इन वनों के बीच में होती है धान की खेती। ठेकराबाड़ी बिल्कुल उजड़ चुका है। गाँव की अधिकांश जनसंख्या या तो मारी जा चुकी है या भाग गई है। शेष लोग विस्थापित शिविरों में हैं। अपने उजड़े-जले घर के बीच खड़े लोकनाथ बरुआ ने बताया कि वह अपने परिवार में अकेला बचा है। रामेश्वर बरुआ की भी यही कहानी है। सेना का एक जवान शांतिरामनाथ छुट्टी पर गाँव आया था, उसे भी कत्ल कर दिया गया। शेष बचे हिन्दुओं ने आसपास की बस्तियों में रह रहे बंगाली मुसलमानों के नाम आगजनी और हत्या के सिलसिले में लिए। यहाँ का प्रत्येक हिन्दू परिवार कत्ले-आम का शिकार हो चुका है। यहाँ के हिन्दुओं ने बताया कि बंगाली हिन्दू तटस्थ रहे; बंगाली मुसलमानों के हमलों के दौरान वे चुपचाप सब देखते रहे।

मैं जब नेल्ली में था, तब एक बात रह-रहकर कचोट रही थी : इतने निकट के संबंधी मरे—किसी का पिता, किसी की माँ, किसी का पुत्र या पुत्री, किसी का पति या किसी की पत्नी—परन्तु इतनी बड़ी त्रासदी के बाद जिस अथाह विषाद की मैंने कल्पना की थी, वह उन लोगों के चेहरों पर नहीं थी। सब कुछ रहस्यमय लग रहा था। परन्तु, ठेकराबाडी में हिन्दुओं की स्थिति भी वही लगी। क्या इन लोगों की संवेदनशीलता मर गई है? अपने-परायों की मृत्यु की त्रासदी का बोध भोथरा गया है? क्या ये सब लोग अब निर्जीव हो चुके हैं? इन सबका जवाब तरुणनाथ से मिलता है : "साब, हत्या के निशान मौजूद हैं, शव नहीं। बाबा मर गया, काम करना ही होगा—तांबूल बीनने होंगे, धान की फसल काटनी होगी; सब कुछ नए सिरे से बनाना होगा।"

सामने मैं देखता हूँ, आस-पड़ौस के स्त्री-बच्चे तांबूल के वृक्षों के नीचे तांबूल के गुच्छे बीन रहे हैं, खेत में ट्रैक्टर चल रहा है, हल से जुताई हो रही है, असमिया धोती में लिपटी स्त्री नदी से पानी ला रही है, बंगाली मुसलमान के बच्चे धान के पुआल सरों पर लादे जले घरों की ओर लौट रहे हैं। श्वेत कपोत और बगुले फिर धान की बालियों पर उड़ने लगे हैं। नेल्ली के शिविरों में है प्रसव, विवाह और पुनः मानव को अंकुरित करने की जिजीविषा।

11-12-13 अप्रैल, 1983

रक्त की अंतिम बूँद तक : हुसैन और महंत

असम में पिछले चार वर्षों से आंदोलन चल रहा है। असम आंदोलन के नेता और आसू के अध्यक्ष प्रफुल्ल कुमार महंत और उपाध्यक्ष नूरुल हुसैन से गौहाटी में मार्च के तीसरे हफ्ते में हुई अलग-अलग मुलाकातों के दौरान आंदोलन के सभी पहलुओं पर खुलकर चर्चा हुई। अलग-अलग समय पर मुलाकातों के बावजूद, आंदोलन और उससे जुड़े मुद्दों के संबंध में दोनों युवा नेताओं के दृष्टिकोणों में बला की समानता मिली। महंत और हुसैन दोनों ने आंदोलन की सफलता एवं विफलता तथा उसके भविष्य के सवालों पर बगैर किसी पूर्वाग्रह के निश्चल व सरल भाव किंतु इरादों की दृढ़ता से अपने विचार व्यक्त किए। दोनों की बातचीत से कहीं भी राजनीतिक या सत्ताकांक्षा का आभास नहीं मिला। शायद असम के किशोर युवाओं का परवान चढ़ने का यह जुनून ही आज इतने लंबे समय तक आंदोलन को जीवित रखे हुए है, जबकि पिछले तीन वर्षों में उत्तरी-पश्चिमी भारत में युवाओं के कई आंदोलन हुए, और बगैर अपनी मंजिल तक पहुँचे अधबीच में चमकते ही 'फ्यूज' हो गए। वास्तव में असम के किशोर और युवा इस आंदोलन के लिए निरंतर संजीवनी बने हुए हैं।

दोनों नेताओं के साथ लगभग साढ़े-तीन घंटे तक भूमिगत स्थान पर बातचीत हुई; बातचीत के दौरान दो प्रकार के 'भय-बोध' बार-बार उभरकर सामने आए। दोनों ही नेता इस भय एवं आशंका से ग्रस्त मिले कि शेष भारत में उनके आंदोलन को कहीं (एक) साम्प्रदायिक व (दो) भारत विरोधी तो नहीं समझा जा रहा है? फरवरी के हत्याकांडों को लेकर वे काफी चिंतित थे। दोनों ही नेता अंत तक यह जानने के लिए व्यग्र दिखाई दिए कि नौगाँव और दारांग के हत्याकांडों के

बाद दिल्ली और अन्य भागों की जनता असम आंदोलन के संबंध में किस प्रकार की राय रखती है? क्या वह इसे हिंदू-मुसलमान के बीच संघर्ष के रूप में देखती है, या फिर इसे 'भारत से अलग होने के लिए पूर्व का आंदोलन' मानती है? दोनों ही के स्वरों में पीड़ा थी। मासूमियत भरी उनकी अपील थी : "मेहरबानी कीजिए, आंदोलन के संबंध में फैलनेवाली गलतफहमियों को दूर करने में हमारी सहायता कीजिए। हम भी भारतवासी हैं और अंतिम साँस तक रहेंगे। हमारा आंदोलन अन्याय और विदेशियों के विरुद्ध है, न कि किसी धर्म या जाति के विरुद्ध।"

महंत अंतर्मुखी, अल्पभाषी और कुछ-कुछ शर्मीले किस्म के इंसान लगे। वे नेता कम, कोई शोध छात्र या प्राध्यापक अधिक दिखाई देते हैं। इसके विपरीत हुसैन बहिर्मुखी, परन्तु सिलसिलेवार ढंग से मुद्दों पर अपने विचार प्रकट करनेवाले लगे। परंतु, दोनों के विचारों में कहीं धुंध नहीं थी।

आंदोलन के मूल्यांकन और उसके सबक के सम्बन्ध में महंत का यह स्पष्ट मत था : "हमने आंदोलन से मातृभूमि के लिए त्याग करना सीखा है। हमने सीखा है—अन्याय और शोषण के विरुद्ध जनता को संगठित कैसे किया जाता है! लड़ाइयाँ कैसे लड़ी जाती हैं! कब और कैसे अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए!"

महंत के लिए आंदोलन का मूल्यांकन उसकी 'निरंतरता' पर आधारित है, न कि उसकी सफलता और विफलता पर। उनका मत था : "मैं आंदोलन का मूल्यांकन उसकी सफलताओं और विफलताओं की दृष्टि से नहीं करता और न ही मूल्यांकन का समय है। यह सही है कि आंदोलन को अभी तक सफलता नहीं मिली है—विदेशियों का सवाल अभी तक उलझा हुआ है, उनको असम से निकालने के संबंध में सरकार ने कोई फैसला नहीं लिया है; इतना रक्तपात भी हो चुका है; स्थिति लगातार बिगड़ती जा रही है, मगर हमारा आंदोलन भी जारी है। इसमें उतार-चढ़ाव हैं, आगे भी आएँगे। आंदोलन और जन-समर्थन की निरंतरता ही हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि है।"

आंदोलन की पकड़ और प्रभाव के संबंध में महंत ने निःसंकोच अपनी कमियाँ भी स्वीकार कीं। उन्होंने यह माना कि यद्यपि अखिल असम छात्र संघ (आसू) का प्रभाव असम के सभी क्षेत्रों पर है, परंतु बंगाली-भाषी क्षेत्रों में कम है, जिनमें सिलचर का क्षेत्र शामिल है। कुछ आदिवासी क्षेत्रों में भी आसू कमजोर है। यह भी सही है कि आसू की सभी शाखाओं पर आसू की पकड़ नहीं है। कहीं-कहीं वे स्वतंत्र ढंग से काम कर रही हैं, जिससे कभी-कभी अड़चनें भी पैदा हो जाती हैं। परंतु, फिर भी पकड़ हमारी पूरी है।

उन्होंने यह भी माना कि कहीं-कहीं ढीली पकड़ के कारण स्थानीय स्तर पर

सांप्रदायिक शक्तियाँ कभी-कभी हावी होने लगती हैं। आर.एस.एस. और जमायते-इस्लामी असमिया जनता की एकता को तोड़ने की कोशिश करती हैं। चोरी-छिपे पर्चे बाँटे जाते हैं। दोनों को शासक दल इंदिरा कांग्रेस का भी समर्थन मिलता रहता है। तीनों की साजिश असम में सदियों पुरानी हिंदू-मुस्लिम एकता को तोड़ने और आंदोलन को तबाह करने की है। महंत ने यह भी स्वीकार किया कि हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक ताकतें आए-दिन हिंदू-मुसलमानों को एक-दूसरे की हत्या के लिए उकसाती रहती हैं। फलस्वरूप गाँवों में एक-दो हत्याएँ रोजाना हो रही हैं। उन्होंने यह भी माना कि इन हत्याओं के निचले स्तर पर आंदोलन में हावी सांप्रदायिक तत्वों का हाथ रहता है। पता चलने पर ऐसे तत्वों के विरुद्ध कार्रवाई भी की जाती है। इसकी पुष्टि बाद में हुसैन ने भी की।

आसू के उपाध्यक्ष और एक समय के कार्यवाहक अध्यक्ष हुसैन ने बताया कि 17-18 मार्च को दारांग जिले में एक असमिया मुसलमान युवक का अपहरण कर बाद में उसकी हत्या कर दी गई थी। इस सिलसिले में हिंदू असमियों की गिरफ्तारी कराई गई। आसू और असम गण संग्राम परिषद द्वारा सारे मामले की तुरंत छानबीन कराई गई। आंदोलन से जुड़े एक हिंदू कार्यकर्ता तरुण शर्मा को आंदोलन से अलग किया गया। आरोप था कि शर्मा की मौजूदगी में उक्त मुस्लिम युवक का अपहरण हुआ था।

परन्तु हुसैन इन छुट-पुट घटनाओं को साम्प्रदायिक हत्या मानने से इंकार करते हैं। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता की कई मिसालें देकर यह साबित करने की कोशिश की कि असम आंदोलन में दोनों ही समुदायों के लोग हर स्तर पर शरीक हैं। उन्होंने बताया : कामरूप जिले के समरिया गाँव में बंगलादेशी मुसलमानों ने असमिया हिन्दुओं पर जब हमला किया तो असमिया मुसलमान उन्हें बचाने के लिए दौड़े। इसके विपरीत बंगाली हिन्दुओं ने बंगाली मुसलमानों का साथ दिया और जो असमिया मुसलमान रक्षा करने के लिए आ रहे थे, उनके रास्ते में बाधाएँ पैदा कीं। दारांग जिले के कई गाँवों में बंगाली मुसलमानों पर असमिया हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर हमले किए। बोरपेटा उपसंभाग के गाँवों में बंगलादेशी मुसलमान, हिन्दू और चायबागान के मजदूरों ने असम के हिन्दुओं पर हमला किया। इसी प्रकार तेजपुर के पास गोपुर क्षेत्र में असमिया हिन्दुओं का कत्लेआम मैदानी इलाकों के बोरो आदिवासियों ने किया। कुछ जगहों की ऐसी मिसालें भी हैं कि इंका के हिन्दू नेताओं के अलावा मार्क्सवादी पार्टी के हिन्दू नेता एवं विधायक हेमेन्द्रदास ने भी बंगाली मुसलमानों को असमिया हिन्दुओं के गाँवों पर हमला करने के लिए उकसाया है। महन्त ने भी इसकी पुष्टि की। कामरूप जिले के गोरेश्वर क्षेत्र में बंगाली मुसलमानों और असमी हिन्दुओं ने

मिलकर बंगाली हिन्दुओं पर भी हमले किए। यहाँ दो सौ बंगाली हिन्दू मरे। हुसैन की दृष्टि में नेल्ली, बोरपेटा, दारांग, गोपुर आदि के कत्लेआम साम्प्रदायिक द्वेष के कारण नहीं, बल्कि चुनाव एवं मतदान के समर्थन और विरोध को लेकर हुए हैं। हुसैन का कहना था कि जिन-जिन क्षेत्रों में बंगलादेशी मुसलमानों-हिन्दुओं ने चुनाव का बहिष्कार किया, मत नहीं डाले, वहाँ कोई दंगा नहीं हुआ। बल्कि, कुछ क्षेत्रों में बंगाली मुसलमानों ने आसू को पूरा सहयोग दिया। ग्वालपाड़ा के कई गाँवों में बंगाली मुसलमानों ने मतदान में हिस्सा नहीं लिया। इसके अलावा कई मैदानी आदिवासी ऐसे भी हैं, जिन्होंने असमिया हिन्दू-मुसलमान का साथ दिया और एक भी वोट नहीं डाला। यहाँ तक कि गोपुर हत्याकांड के मुख्य अपराधी बोरो आदिवासी भी मतदान को लेकर विभाजित रहे हैं। बोरो-बहुल कुकराजार सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्र में केवल दस-बारह प्रतिशत बोरों आदिवासियों ने वोट डाले, जबकि शेष आदिवासियों ने मतदान का बहिष्कार किया। इतना ही नहीं, बोरो तथा अन्य मैदानी आदिवासियों के कई छात्र आसू की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी हैं। आंदोलन की "यह बनावट खुद-ब-खुद इस बात की गवाह है कि असम आंदोलन साम्प्रदायिक नहीं है और न ही फरवरी के हत्याकांडों को साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। जो भी दंगा-फसाद हुआ, चुनावों को लेकर हुआ है।"

मगर, हुसैन ने महन्त की तरह यह जरूर माना कि आंदोलन में साम्प्रदायिक तत्वों की घुसपैठ हो चुकी है। इस संबंध में उन्होंने विश्व हिन्दू परिषद, आर.एस.एस., भारतीय जनता पार्टी, जमायते-इस्लामी तथा जमायते-उलेमा-ए-हिन्द के नाम लिए। हुसैन के शब्दों में : "विश्व हिन्दू परिषद और आर.एस.एस. ने पर्चे बँटवाए कि दंगापीड़ितों में राहत सामग्री केवल हिन्दुओं में ही बाँटी जाए। 1981 में हिन्दू परिषद ने असम में नारा दिया कि कोई भी हिन्दू विदेशी नहीं है। हिन्दू साम्प्रदायिकता के जवाब में मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला है। असम के मुसलमानों ने भी राहत कमेटियाँ बना ली हैं और तय किया है कि राहत की रसद सिर्फ मुसलमानों में ही बाँटी जाए। उत्तरप्रदेश और बिहार के मुसलमान नेता असम आकर हम असमिया मुसलमानों को भड़काने की कोशिश कर रहे हैं। सांसद असद मदनी असम के गाँव-गाँव घूमकर तकरीर देते हैं कि मुसलमानों की संस्कृति हिन्दुओं से अलग है। पिछले दिनों कामरूप जिले के डामपुर गाँव में मदनी ने मुसलमानों से कहा कि वे अपनी संस्कृति को फिर से जिंदा करें। इस गाँव में इक्कीस मस्जिदें हैं। मदनी को इंका की शह मिली हुई है। मैं फिर से यह कह देना चाहता हूँ कि असम में हिन्दू-मुसलमानों के धर्म अलग-अलग हो सकते हैं, मगर संस्कृतियाँ नहीं। विदेशी-विदेशी है, चाहे

मुसलमान हो या हिन्दू। एक तरफ विदेशी हिन्दू एवं मुसलमान तथा दूसरी तरफ असमिया हिन्दू एवं मुसलमान के बीच अपने-अपने जीवन की रक्षा को लेकर युद्ध छिड़ा हुआ है। विदेशी और स्वदेशी दोनों वर्गों ने अपनी जिन्दगियों की बाजी लगा रखी है। हम स्वदेशी 'शेष बिन्दु नेज थका लौके' (रक्त की अंतिम बूँद तक लड़ेंगे)।

दोनों का यह दृढ मत था कि केंद्रीय सरकार विदेशियों का मसला हल करने में पूरी तरह सक्षम है। दोनों नेताओं का कहना था कि प्रधानमंत्री अंतर्राष्ट्रीय स्तर के मुद्दों के लिए समय निकाल सकती हैं, उन्हें हल करने की कोशिश कर सकती हैं, तो फिर असम समस्या के हल के लिए कोशिश क्यों नहीं करतीं? दोनों ही नेताओं का यह मत था कि केंद्रीय सरकार समस्या को जितना लटकाएगी, उतनी ही यह पेचीदा होती चली जाएगी। इससे अशांति और फैलेगी। हालाँकि, हुसैन और महंत दोनों ही यह चाहते थे कि "असम आंदोलन अहिंसक रहे और शांतिपूर्वक चले।" महंत का कहना था : "हम कोई रक्तपात नहीं चाहते। बंगाली मुसलमान या असमी हिन्दू मारना हम पसंद नहीं करते। हमने सभी कार्यकर्ताओं को आदेश भी दे दिए हैं कि आंदोलन को हिंसा से दूर रखा जाए। परंतु, सरकार की भी जिम्मेदारी है कि वह ऐसी स्थिति पैदा न होने दे।" दोनों की बातचीत से इसका आभास जरूर मिलता है कि अगर जल्दी ही कोई हल नहीं निकाला गया तो रक्तपात की पुनरावृत्ति को रोक पाना संभव नहीं होगा। बातचीत से एक बात यह भी साफ हो जाती है कि आंदोलन के नेता असम सरकार को किसी भी रूप में मान्यता नहीं देते; अत: राज्य सरकार की कोई पहल या निर्णय आंदोलनकारियों को स्वीकार नहीं होगा। इसलिए दोनों नेता दिल्ली की पहल को महत्व देते हैं।

कुछ अन्य प्रश्नों के उत्तर में महन्त और हुसैन दोनों ने इतनी दृढ़ता के साथ कहा कि वे वर्तमान पद पर रहते हुए कभी कोई चुनाव नहीं लड़ेंगे, क्योंकि उनका मुख्य लक्ष्य असम से विदेशियों को खदेड़ देना है। लेकिन दोनों ने संकोच के साथ यह भी माना कि उनके इस निर्णय के संबंध में अंतिम फैसला जनता ही कर सकती है। हुसैन के शब्दों में : "अगर असम की जनता माँग करती है तो हम वर्तमान पदों से त्यागपत्र देकर चुनाव में भाग लेंगे, नए राजनीतिक दल का गठन करेंगे। अंतिम फैसला जनता पर निर्भर है।" महंत का भी मत था कि जनता जैसा चाहेगी, वैसा किया जाएगा। परंतु आसू को किसी भी कीमत पर राजनीतिक दल नहीं बनने दिया जाएगा।

14 अप्रैल, 1983

शांत हो रहे हैं सुलगते शिखर : मसला-ए-मिजोरम

1961 में भारत के खिलाफ मिजो आदिवासियों ने पहली बगावत की थी। छठे दशक में लुशाई पहाड़ियों में अकाल और भूख के विस्फोट के विरुद्ध शुरू हुई लड़ाई सातवें दशक में देश के खिलाफ बाकायदा सशस्त्र बगावत में बदल गई। लालडेंगा की रहनुमाई में मिजो नेशनल फ्रंट ने भारत के उत्तर-पूर्वी कोने के करीब 21 हजार वर्ग कि.मी. हिस्से से गोली और बारूद के पर्चे बिखेर दिए। और अब दो दशक बाद लालडेंगा और केंद्र सरकार के बीच हुए समझौते से मिजोरम में शांति की उम्मीदें जाग उठी हैं। अब कैसी हैं मिजोरम की गलियाँ.....क्या सोचता है आम मिजो..? गोलियों की सनसनाहट से वायलिन की मोहक धुन तक लौटने की तैयारी करते मिजोरम की अब कैसी है तस्वीर..?

"साला कहीं का ! मर गया, हिन्दुस्तानी फौज की बंदूक से?" लुशाई पहाड़ियों में दफनाने से पहले, एक जिन्दा मिजो दूसरे मृत मिजो से कहता है। मुर्दे को कई गालियाँ देता है। "दूसरे जन्म में होशियारी से काम लो। समझे?" इस चेतावनी के साथ मुर्दे को दफना दिया जाता है। यह एक कहानी नहीं, मिजो-विद्रोह का इतिहास है। यह इतिहास लुशाई पहाड़ियों-जंगलों में मिजो आदिवासी संसार का प्रतिनिधित्व करता है।

1961 में मिजो आदिवासियों ने भारत के खिलाफ पहली बगावत की थी। इसकी कमान सम्हाली थी एक मामूली मिजो ने। नाम था लालडेंगा। छठे दशक में लुशाई पहाड़ियों में अकाल व भूख के विस्फोट के विरुद्ध शुरू हुई लड़ाई सातवें

दशक में देश के खिलाफ बाकायदा सशस्त्र बगावत में बदल गई। 1961 में जन्मे मिजो फेमिन फ्रंट (मिजो अकाल मोर्चा) का दो वर्ष पश्चात कायाकल्प हो गया। 1963 में मिजो नेशनल फ्रंट के रूप में उसका नया जन्म हुआ। तब से मंगोल नस्ली लुसेई, हूमेर, राल्टेई, पाईहूते, पावी, मारा आदि मिजो जनजातियों का एक नया इतिहास इन पहाड़ियों में गूँजता है।

एक औसत ग्रामीण और शहरी मिजो आदिवासी छठे दशक की भूख और सातवें व आठवें दशक की विद्रोह गाथाएँ गर्व के साथ दोहराता है। केन्द्रशासित मिजोरम की राजधानी एजल में पहुँचने के पहले दिन ही इस इतिहास की थापें सुनाई दीं। विगत और वर्तमान दोनों ही पीढ़ियों ने इतिहास के पृष्ठ दोहराए। लालडेंगा के नेतृत्व में मिजो फ्रंट ने सरकारी खजाने को लूटा, असम राइफल्स के जवानों को कई मोर्चों पर शिकस्त दी, भारतीय सेना से जमकर टक्कर ली, और फिर हजारों मिजो विद्रोही अराकान की पहाड़ियों-जंगलों की ओर कूच कर गए, जहाँ से उनकी भूमिगत गतिविधियाँ आज तक जारी हैं।

सातवें दशक के एक प्रत्यक्षदर्शी मिजो आर.डी. खुमा ने बगावत के दिनों को याद करते हुए कहा : "फ्रंट के लोगों ने एजल शहर में असम राइफल्स और भारतीय सेना से टक्कर लेने के लिए खाइयाँ खोदी थीं। 1966 में उम्मीद थी कि तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान से फ्रंट की सहायता के लिए सेना आएगी। आकाश में जो भी सैनिक जहाज दिखाई देता, विद्रोही यही सोचते कि पाकिस्तान का जहाज हथियार लेकर आ रहा है। बर्मा, पाकिस्तान और ब्रिटेन के साथ फ्रंट के संबंध पहले ही स्थापित हो चुके थे; चुपचाप हर प्रकार की मदद मिल रही थी; कई लोग सीमा पार लगे सैनिक शिविरों में ट्रेनिंग ले चुके थे। इसलिए पूरी योजना के साथ खजाना लूटा गया, सरकारी दफ्तरों में आग लगाई गई, बाजार को जलाया गया, असम राइफल्स और भारतीय सेना पर हमले किए गए। उस समय राइफल्स और सेना की गोली से मरनेवाले को खूब गालियाँ दी जाती थीं और सैनिक का सिर लानेवाले को 'हीरो' माना जाता था, उसे नायक का दर्जा दिया जाता था। आज भी इन नायकों को सम्मान से देखा जाता है। इसीलिए लालडेंगा को मिजो जाति का हीरो कहा जाता है।"

सातवें और आठवें दशकों की गाथाओं के बीच नवें दशक की नौ जुलाई को प्रधानमंत्री राजीव गाँधी एजल पहुँचनेवाले थे। एजलवासियों की थाती केवल ये गाथाएँ ही नहीं हैं, छठे दशक की भूख और विद्रोह को कुचलने के लिए हुई सैनिक कार्रवाइयाँ भी उनके इतिहास का एक जरूरी हिस्सा बन चुकी हैं। भूख के दिन बूढ़ों की आँखों में ताजा हैं, तो जवानों के चेहरों पर सैनिक कार्रवाइयाँ गुस्से में ढली हुई हैं। बीच की उम्र के मिजो याद करते हैं : "फ्रंट के विद्रोहियों को

दबाने के लिए सेना ने गाँव के गाँव उजाड़ दिए थे। अनेक मासूमों की मौत हुई। आतंक के कारण वर्षों से पिता पुत्र से और पत्नी पति से नहीं मिल सके; अनेक जंगलों-पहाड़ियों में भटकते खो गए; भूख-प्यास से मर गए। आज भी प्रतीक्षा है उनके घरों को, वे लौटेंगे कभी पहाड़ों से।"

सात जुलाई को एजलवासी इन तल्ख यादों और लालडेंगा व सरकार के बीच शांति-समझौते की खुशी के साथ श्री गाँधी के स्वागत की तैयारी में थे। एक दिन पहले छह जुलाई को वे अपने नायक लालडेंगा का 'घर-वापसी' पर अभूतपूर्व स्वागत कर चुके थे। एक औसत एजलवासी के लिए वह दिन ऐसा था मानो कोई इतिहास लौटा हो। आम एजलवासी के अलावा, सैकड़ों की तादाद में फौजी वर्दीधारी मिजो फ्रंट के जवान नगर में फैले हुए थे। बीस-पच्चीस सालों में पहली बार वे खुले-आम सड़कों पर मौजूद थे; एक विश्वास उनके चेहरों पर था कि वे अब स्वतंत्रता से जीवन बिता सकेंगे।

सर्किट हाउस, जहाँ लालडेंगा डेरा डाले हुए थे, फ्रंट के सैनिकों से भरा हुआ था। लगभग सभी के पास हथियार थे। फ्रंट के अधिकतर सैनिक बीस से तीस वर्ष के बीच थे। उनके चेहरों पर दयनीयता या आत्मसमर्पण का भाव नहीं था, बल्कि सब चेहरे एक निश्चल गर्व और उत्सर्ग के केंद्र बने हुए थे—अपने हीरो लालडेंगा के एक संकेत पर कुछ भी कर गुजरने के लिए तैयार। उन्हें लालडेंगा के पहाड़ी मरजीवड़े कहा जा सकता है। एजल में लालडेंगा का स्वागत 'मिजो राष्ट्र के नायक' के रूप में किया गया। हजारों पोस्टर चिपकाए गए—हीरो या लीडर ऑफ दी मिजो नेशन। स्पष्ट शब्दों में, मिजोरम को भारत के एक केन्द्रशासित राज्य के रूप में नहीं, बल्कि मिजो राष्ट्र के रूप में देखा जाता है। शांति-समझौते से मिजो राष्ट्र के स्वप्न की रेखाएँ धुँधली जरूर हुई हैं, पर कब तक और कहाँ तक मिटेंगी, इसका गवाह भविष्य बनेगा।

असम का कछार क्षेत्र पार करने पर एक नए पहाड़ी भारत—मिजोरम के दर्शन होते हैं। 1971 तक यह क्षेत्र असम का एक जिला था। 1971 के उत्तर-पूर्व भारत पुनर्गठन कानून के तहत 21 जनवरी, 1972 को मिजोरम की स्थापना हुई, उसे केंद्रीय क्षेत्र का दर्जा मिला; तैंतीस सदस्यों की विधानसभा बनी, संसद में दो सदस्यों का प्रतिनिधित्व मिला। मिजोरम एक नया नाम है। पाँच लाख की आबादी वाला यह क्षेत्र पहले 'लुशाई हिल्स' के नाम से जाना जाता था। करीब 650 मील लंबी इसकी अंतर्राष्ट्रीय सीमाएँ बर्मा और बंगलादेश तक फैली हुई हैं।

इन पहाड़ी बाशिंदों यानी मिजो का अपना एक सम्पुष्ट संसार है। मिजोरम पहुँचते ही योरपीय जीवन शैली की रेखाएँ चारों तरफ फैली दिखाई देंगी; एक भ्रम पैदा

होगा, आप भारत में नहीं बल्कि योरुप के किसी पर्वतीय क्षेत्र में पहुँच गए हैं।
सौ बरस भी नहीं बीते, पूरे राज्य में ईसाइयत फैल चुकी है। 1894 से लेकर अब तक 95 प्रतिशत से अधिक मिजो अपने मूल आदिवासी धर्म और संस्कृति को त्यागकर ईसाई बन चुके हैं। छोटे से छोटे गाँव में चर्च मिलेंगे। ईसाइयत के प्रचार के कारण करीब साठ प्रतिशत मिजो शिक्षित हैं, धाराप्रवाह अँगरेजी बोलते हैं। इनकी अपनी मिजो भाषा है, पर लिपि नहीं है। ईसाई मिशनरियों ने इस भाषा को रोमन लिपि में बदल दिया है। आज पूरे मिजोरम को इस लिपि पर गर्व है।

मिजोरम की राजधानी एजल और दूसरे छोटे-बड़े पहाड़ी कस्बे एक ऐसी धुन में दिखाई देंगे जो प्रथम संपर्क में आपको हैरत में डाल सकती है। मैदानी क्षेत्रों से जानेवाला व्यक्ति कल्पना नहीं कर सकता कि इस पहाड़ी शहर और इन कस्बों के सांस्कृतिक संबंध सीधे लंदन, न्यूयार्क, पेरिस, बैंकाक, टोकियो, सिंगापुर, हांगकांग आदि से जुड़े हुए हैं। लुशाई पहाड़ियों में उपभोगवादी संस्कृति के द्वीप हर जगह उभर आए हैं।

एजल को लीजिए, पहाड़ी पर बसा एक छोटा शहर है, छोटी-सँकरी सड़कें हैं, मगर रंग-बिरंगी कारों, जीपों और मोटरसाइकिलों की रेलपेल दिखाई देगी। जितनी मारुति कारें और जीपें यहाँ मिलेंगी, किसी मैदानी शहर में नहीं। आयातित कारों की संख्या भी कम नहीं। हर मॉडल की मोटरसाइकिल यहाँ पहुँच चुकी है।

शहर का जीवन मस्ती भरा है। हर छोटे से छोटे रेस्तराँ में रंगीन टीवी और वीडियो मिल जाएगा। भारतीय फिल्में नहीं, अँगरेजी फिल्में सिनेमाघरों और वीडियोघरों में दिखाई जाती हैं। हिन्दी फिल्म वैसे ही चलती हैं जैसे किसी विदेश में दिखाई जाती हैं। पश्चिम की मारधाड़ संस्कृति वाली फिल्में खूब लोकप्रिय हैं। टीवी के राष्ट्रीय प्रसारण कार्यक्रम में अँगरेजी की न्यूज-बुलेटिन के अलावा दूसरे कार्यक्रम नहीं देखे जाते। अधिकांश मिजो परिवारों में वीडियो रहने के कारण राष्ट्रीय कार्यक्रम यहाँ लोकप्रिय नहीं हो सके। पश्चिमी संगीत बेहद लाकप्रिय है। मिजो भाषा के गीतों को भी पश्चिमी तर्ज दे दी गई है। पश्चिमी संगीत में ढला और न्यूयार्क में रिकॉर्ड किया गया मिजो गीतों का एक कैसेट साठ-साठ रुपए में बिकता है। वीडियो-गेम्स की तो अपनी एक अलग दुनिया है ही।

इत्तफाक से एक रविवार एजल में बीता। मजाल है रविवार को कोई दुकान खुली रह जाए! इस दिन पूरा सन्नाटा बाजार में रहता है। शनिवार की शाम से ही पश्चिमी तर्ज पर 'छुट्टी का मूड' शुरू हो जाता है; पाँच बजते पूरा बाजार बंद हो जाता है। रविवार के दिन मिजो अपने-अपने वाहन लेकर सैर-सपाटे के लिए निकल पड़ते हैं। कारें, जीपें और ट्रकें 'इतवारी हुल्लड़बाजों' से भरी रहती

हैं। तेजरफ्तारी मोटरसाइकिलों पर सवार युगल सर्र से निकल जाते हैं। सुबह-सुबह नियम से सभी अपने-अपने चर्च जाते हैं। वहाँ से छूटने पर इतवारी मूड शुरू। बस रात भर यही चलता रहता है। गैर-मिजो काफी डरते हैं; शनिवार और रविवार को शाम छह बजे बाद बाहर नहीं आते; भय रहता है कि नशे में धुत कोई मिजो उन्हें रोककर पैसा न माँग बैठे। छीना-झपटी और मारपीट के किस्से होते रहते हैं। गैर-मिजो लोगों की शिकायत रहती है कि पुलिस उनके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करती है। इसलिए आम दिनों में भी एजल की सड़कों पर रात्रि में बाहरी लोग कम ही दिखाई देते हैं।

चूँकि मिजोवासियों का सांस्कृतिक संसार पहाड़ियों के पार का है, इसलिए छोटे से छोटे गाँव की दुकान आयातित माल से अटी पड़ी है। पहाड़ियों के बीच सड़क किनारे खड़ी दुकान में जापान के इलेक्ट्रानिक सामान और सिंगापुर व हांगकांग के कपड़ों की भरमार है। छोटे से छोटा विदेशी सामान यहाँ उपलब्ध है; भारतीय वस्तुएँ कम दिखाई देती हैं। हालत यह है कि असम-मिजोरम प्रवेश चौकी पर जाते-आते समय कस्टमवाले प्रत्येक यात्री की सख्ती से तलाशी लेते हैं; जिस ढंग से तलाशी अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों पर ली जाती है, उसी ढंग की प्रवेश चौकी पर होती है। यह सही है कि मिजोरम देश का एक हिस्सा है, फिर भी प्रत्येक भारतीय को मिजोरम सीमा में दाखिल होने के लिए एक अनुमति-पत्र लेना होता है; बगैर इसके प्रवेश वर्जित है।

एक अलिखित विशेष दर्जा मिजोरम को प्राप्त है। कोई बाहरी व्यक्ति इस प्रदेश में व्यापार नहीं कर सकता। गैर-मिजो को बसने और संपत्ति अर्जित करने की अनुमति नहीं है। वैसे बेनामी धंधा जरूर होता है; मिजो लोगों के नाम पर बाहरी लोग व्यापार करते हैं। बाहरी लोग मिजो-स्त्रियों से विवाह करके भी व्यापार कर रहे हैं। पर ऐसे क़िस्से कम हैं। जब यह क्षेत्र असम राज्य का हिस्सा था, तब से मिजो और गैर-मिजो के बीच शादियाँ होती रही हैं। परंतु मिजो फ्रंट बनने, मिजोरम के गठन और एक अलग राष्ट्रीयता की पहचान की इच्छा पैदा होने के बाद ऐसी शादियाँ अपवाद बनती जा रही हैं।

इसीलिए आज का मिजो जीवन के हर क्षेत्र में शेष भारत से अपनी स्वतंत्र पहचान चाहता है। बर्मा और बंगलादेश के साथ सीमा लगी रहने के कारण तस्करी खूब होती है। मिजो आदिवासियों ने इसके माध्यम से बरास्ता बर्मा और बंगलादेश बाहरी अर्थव्यवस्था के साथ सीधे संबंध जोड़ रखे हैं। इन्हीं संबंधों के बल पर टिकी है पश्चिमी जीवन-शैली। ऐसा नहीं है कि मिजोरम में सभी समृद्ध हैं, निर्धन कोई नहीं। मिजो लोगों का कहना है कि मिजो समाज में विषमता की रेखाएँ तेजी से उभर रही हैं। पिछले बीस वर्षों में अभिजात मिजो वर्ग तेजी से अस्तित्व

में आया है। एजल में अनेक निर्धन मिजो परिवार देखे जा सकते हैं। शहर में अपने किस्म की पहाड़ी गंदी बस्तियाँ हैं। मोटे तौर पर एजल में मिजो समाज दो वर्गों–उच्च और निम्न में विभाजित दिखाई देता है; मैदानी समाजों के समान बहुवर्गीय समाज नहीं है। अमीर मिजो मानते हैं कि अगर विषमता की वर्तमान गति जारी रहती है तो मिजोरम में भी विषमता की कई परतें पैदा हो जाएँगी; यहाँ भी मैदानी भारत के समान बहु-श्रेणी और बहुवर्गीय समाज बन जाएगा। वह एक दुखद दिन होगा, पर आज का यथार्थ यही है कि मिजो समाज आर्थिक विघटन की ओर बढ़ रहा है, उसमें तनाव पैदा होने लगे हैं। आयातित वस्तुओं का उपभोग उच्च वर्ग में अधिक है; निम्न वर्ग मैदानी भारत से आई वस्तुओं से काम चलाता है और तन पसारने के लिए अपर्याप्त तंग पहाड़ी खोलियों में रहता है--एक तरह से तंग तहखानानुमा मकानों में। दूसरी तरफ समृद्ध मिजो के मकान के अंदर ही गैरेज होते हैं, जहाँ दो-दो, तीन-तीन वाहन एक साथ खड़े किए जा सकते हैं।

मिजो समाज की विषमता मिजो फ्रंट के जवानों में भी देखी जा सकती है। सर्किट हाउस में एकत्रित फ्रंट के हथियारबंद युवा सदस्यों में अधिकांश निम्न वर्ग के थे। खुरदरे चेहरे और सख्त चमड़ी। मिजो समाज के नव-धनिकों ने इसकी पुष्टि की। उन्होंने बताया कि फ्रंट में शामिल ज्यादातर लड़ाकू लोग गरीब घर के हैं। जिन लोगों के पास रोजगार नहीं है, वे जंगलों में चले जाते हैं; हथियार उठा लेते हैं। एजल के एक व्यापारी मिजो परिवार के युवा सदस्य के अनुसार फ्रंट के लोग जबरन अमीर परिवारों से चंदा वसूल करते हैं। चंदा नहीं देने पर परेशान किया जाता है। क्योंकि ये गरीब हैं इसलिए हथियार के बल पर अमीर मिजो लोगों से मिजो राष्ट्र के नाम पर लगातार धन ऐंठा जा रहा है। एक अन्य नव-समृद्ध मिजो ने यह भी शंका व्यक्त की कि शांति-समझौते के बावजूद फ्रंट के सभी लोग हथियार नहीं डालेंगे; लालडेंगा के चाहने पर भी युवा विद्रोही आत्मसमर्पण नहीं करेंगे। वजह बताई कि गाँवों में गरीबी काफी है; जिस अनुपात में शिक्षा है, उस अनुपात में रोजगार उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए गरीब मिजो परिवार के लोग फ्रंट में शामिल होने के साथ-साथ बर्मा और बंगलादेश सीमा पर चलनेवाली तस्करी के धंधे में लग जाते हैं। फ्रंट से उन्हें पूरा समर्थन-संरक्षण मिलता है।

इन धनी मिजो लोगों की दलील है कि पिछले बीस सालों में फ्रंट के माध्यम से निहित स्वार्थ पैदा हो गए हैं। शहर और गाँव के निर्धन मिजो परिवार कभी नहीं चाहेंगे कि मिजोरम में स्थायी शांति स्थापित हो जबकि अभिजात मिजो परिवार पूर्ण शांति चाहते हैं। खासतौर पर एजल का व्यापारी और अधिकारी वर्ग फ्रंट

की गतिविधियों को पसंद नहीं करता। इस वर्ग को यह भी आशंका थी कि लालडेंगा के मुख्यमंत्री बनने के पश्चात भी फ्रंट के सदस्यों की जबरन धन वसूलने की आदत बनी रहेगी। पहले भूमिगत रहकर यह काम किया जाता था, अब सरकारी संरक्षण में ऐसा होगा।

देखने को यह भी मिला है कि समृद्ध परिवार के ही लड़के-लड़कियाँ मिजोरम से बाहर उच्च शिक्षा के लिए जा पाते हैं। इस तरह के अनेक परिवारों के सदस्य दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, मद्रास, शिलांग, देहरादून, नैनीताल और विदेशों में पढ़ रहे हैं जबकि निर्धन मिजो परिवार अपने बच्चों को मिजोरम में भी पूरी शिक्षा देने में असमर्थ हैं। एजल में अनेक बच्चों को काम करते हुए देखा जा सकता है, खासतौर से होटलों और अमीर घरों में। इसके अलावा सड़क के किनारे अपने माता-पिता के साथ थड़ियाँ लगाकर सामान बेचते हुए मिजो बच्चों को देखा जा सकता है। कहा जा सकता है कि ऐसे परिवारों की जीवन-शैली मिजो-माटी से जुड़ी हुई है।

पाँच लाख के मिजो समाज में उठते तनाव के ये बिन्दु आदिम समानता पर आधारित समाज में तेजी से बिखराव पैदा करेंगे, यह साफ है। मैदानी समाज के दोषों से यह पहाड़ी समाज अधिक समय तक अछूता रह सकेगा, इसमें संदेह है। मिजो समाज को पश्चिमी जीवन-शैली अपनाने के लिए भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। मैदानी भारतीय समाज उत्तर-पूर्वी पहाड़ी समाजों के सामने एक स्वतंत्र विकल्प रखने में असफल रहा है। मैदानी समाज का नेतृत्व-वर्ग स्वयं पश्चिमी जीवन-शैली से प्रभावित है। मैदानी समाज के उच्च और मध्यम वर्गों में इस परायी जीवन-शैली को अपनाने के लिए आपाधापी मची हुई है। तब मिजो समाज के लिए जरूरी नहीं कि वह योरप, अमेरिका और जापान पहुँचे, बरास्ता छपरा-छत्तीसगढ़ और दिल्ली-बंबई। जब दोनों समाजों की मंजिल एक बन चुकी है, तब मिजो समाज लुशाई पहाड़ियों से सीधी उड़ान भरने की कोशिश क्यों न करे? कम से कम सीधी उड़ान में, मैदानी समाज में व्याप्त विभिन्न तनावों और विषमताओं की गर्म लूएँ तो पहाड़ी-यात्री को नहीं छू सकेंगी। ऐसा है आज के मिजो समाज का सोच-संसार।

27 जुलाई, 1986

सारांश एक परंपरागत व्यावसायिक प्रकाशन का नहीं, इस क्षेत्र में नए मूल्यों—उच्च कोटि के लेखकों व स्तरीय पुस्तकों के चुनाव तथा मुद्रण-प्रस्तुतीकरण की गुणवत्ता के लिए प्रयासरत और मौलिक हिंदी साहित्य, हिंदीतर भारतीय एवं विश्व साहित्य के अनुवादों तथा समाज-संस्कृति-अर्थ-राजनीति से जुड़े ज्वलंत सवालों पर प्रगतिशील वैचारिक लेखन से प्रतिबद्ध संस्थान का नाम है।

सारांश प्रकाशन
भारतीय एवं विश्व साहित्य का प्रगतिशील मंच